ॐ

श्री पाटनी दिगंबर जैन ग्रंथमाला पुष्प १०

समयसार प्रवचन

प्रथम भाग

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य देव प्रणीत

श्री समयसार शास्त्र पर

परम पूज्य श्री कानजी स्वामी के

प्रवचन

अनुवादक

पं. परमेष्ठीदास जैन न्यायतीर्थ

प्रकाशक

श्री मगनमल हीरालाल पाटनी दि० जैन. पा. ट्रस्ट

मारोठ (मारवाड़)

ॐ

भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य देव के विषय में उल्लेख

वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः

कुन्द-प्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः ।

यश्चारु-चारण-कराम्बुजचञ्चरीक-

श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ॥

[चन्द्रगिरि-शिलालेख]

अर्थः—कुन्दपुष्प की प्रभा को धारण करने वाली जिनकी कीर्ति के द्वारा दिशाएँ विभूषित हुई हैं, जो चरणों के-चारण-ऋद्धिधारी महामुनिओं के करकमलों के भ्रमर थे और जिन पवित्रात्मा ने भरतक्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की है, वे प्रभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किससे वंद्य नहीं हैं ?

* * * *

............कोण्डकुन्दो यतीन्द्रः ॥

रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्त-

र्बाह्येपि संव्यञ्जयितुं यतीशः ।

रजःपदं भूमितलं विहाय

चचार मन्ये चतुरंगुलं सः ॥

[विन्ध्यगिरि-शिलालेख]

श्री हंसराज बच्छराज नाहटा
सरदारशहर निवासी
द्वारा
जैन विश्व भारती, लाडनूं
को सप्रेम भेंट –

[दर्शनसार]

अर्थः—(महाविदेह क्षेत्र के वर्तमान तीर्थंकर देव) श्री सीमंधर स्वामी से प्राप्त किये हुए दिव्यज्ञान के द्वारा श्री पद्मनन्दिनाथ (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव) ने बोध न दिया होता तो मुनिजन यथार्थ मार्ग को कैसे जानते ?

* * * *

हे कुन्दकुन्दादि आचार्यों! आपके वचन भी स्वरूपानुसंधान के विषय में इस पामर को परम उपकारभूत हुए हैं। उसके लिये मैं आपको अतिशय भक्ति से नमस्कार करता हूँ।

[श्रीमद् राजचंद्र]

प्रकाशकीय

आज ग्रन्थाधिराज श्री समयसार-प्रवचन को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे बहुत ही हर्ष होरहा है। यह ग्रन्थाधिराज मोक्ष-मार्ग की प्रथम सीढ़ी है, इसके द्वारा तत्वलाभ करके अनेक भव्यात्मा मोक्षमार्ग को प्राप्त कर चुके हैं, और आगामी भी प्राप्त करेंगे। अनेक आत्माओं को मोक्षमार्ग में लगाने के मूल कारणभूत इस ग्रन्थराज की विस्तृत व्याख्या का प्रकाशन करने का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ है यह मेरे बड़े सौभाग्य की बात है।

इस ग्रन्थराज के विषय में कुछ भी कहना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। इस समयसार के स्मरण मात्र से ही मुमुक्षु जीवों के हृदयरूपी वीणा के तार आनन्द से झनझनाने लगते हैं। इसका विस्तृत परिचय प्रस्तावना में दिया हुआ है इसलिये यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि द्वादशांग का निचोड़-स्वरूप मोक्षमार्ग का प्रयोजनभूत तत्व इस समयसार में कूट-कूटकर भरा गया है, एवं यह ग्रन्थराज भगवान की साक्षात् दिव्यध्वनि से सीधा संबन्धित होने के कारण अत्यन्त प्रमाणीक है।

भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य देव का हमारे ऊपर महान् उपकार है कि जिन्होंने महाविदेह क्षेत्र पधारकर १००८ श्री सीमंधर भगवान के पाद-मूल में आठ दिवस तक रहकर भगवान की दिव्यध्वनिरूप अमृत का पेट भरकर साक्षात् पान किया; और भरतक्षेत्र पधारकर हम भव्य जीवों के लिये उस अमृत को श्री समयसार, श्री प्रवचनसार, श्री पञ्चास्तिकाय, श्री नियमसार; अष्टपाहुड़ आदि ग्रन्थों के रूप में परोसा, जिसका पान कर अनेक जीव मोक्षमार्ग में लग रहे हैं एवम् भविष्य में भी लगेंगे।

इसीप्रकार समयसार के अत्यन्त गंभीर एवम् गूढ़ रहस्यों को प्रकाशन करने वाले श्री अमृतचन्द्राचार्य देव ने भी भगवान के गण-धर (जो ॐकार रूप ध्वनि को द्वादशांगरूप में विस्तृत कर देते हैं) के समान इस ग्रन्थ के गभीर रहस्यों को खोलने का कार्य किया है, इसलिये उनका भी हमारे ऊपर उतना ही महान् उपकार है।

लेकिन आज क्षयोपशम एवम् रुचि की मदता के कारण हम लोग उस टीका को भी यथार्थरूप में नहीं समझ पाते और अपनी बुद्धि एवम् रुचि अनुसार यद्वातद्वा अर्थ लगाकर तत्व की जगह अतत्व प्राप्त करके मिथ्यात्व को और भी दृढ़ करते जाते हैं। ऐसी अवस्था देखकर कितने ही हीन पुरुषार्थी समयसार के अभ्यास का ही निषेध कर बैठते हैं। ऐसे समय में हमारे सद्भाग्य से समयसार के मर्मज्ञ एवम् अनुभवी पुरुष पूज्य श्री कानजी स्वामी के सत् समागम का महान् लाभ हम मुमुक्षुओं को प्राप्त हुआ। जैसे रुई धुनने वाला धुनिया रुई के वधे पिंड को धुन-धुनकर एक-एक तार अलग-अलग करके विस्तृत कर देता है उसीप्रकार आपने भी समयसार के एवम् उसकी टीका के गंभीर से गंभीर एवम् गूढ़ रहस्यों को इतनी सरल एवम् सादी भाषा में खोल-खोलकर समझाया है कि साधारण बुद्धि वाला भी, इसको यथार्थ रुचि के साथ ग्रहण कर लेने से, अनन्तकाल में नहीं प्राप्त किया ऐसे मोक्षमार्ग को सहज ही प्राप्त कर सकता है। इसलिये हम वर्तमान बुद्धि वाले जीवों पर तो श्री कानजी महाराज का महान् २ उपकार है, क्योंकि यदि आपने इतना सरल करके इस ग्रन्थराज को नहीं समझाया होता तो हमको मोक्षमार्ग की प्राप्ति कैसे होती? इसलिये हमारे पास आपके उपकार का वर्णन करने के लिये कोई शब्द ही नहीं हैं। मात्र श्रद्धा के साथ आपको प्रणाम करते है।

भगवान महावीर स्वामी के समय में दिव्यध्वनि द्वारा संक्षेप में ही मोक्षमार्ग का प्रकाशन होता था और उसी से पात्र जीव अपना कल्याण कर लेते थे। उसके बाद धीरे-धीरे जीवों की रुचि, आयु,

बल और क्षयोपशम क्षीण होता गया तो भगवान के निर्वाण होने के करीब पाचसौ बर्ष बाद ही मोक्षमार्ग के मूल प्रयोजनभूत तत्व का श्री कुंदकुंद देव द्वारा ग्रन्थरूप में संकलन हुआ, उसके बाद और भी क्षीणता बढ़ी तो उनके एकहजार बर्ष बाद ही श्री अमृतचन्द्राचार्य देव द्वारा उसकी और भी विस्तृत एवम् सरल व्याख्या होगई, और जब अधिक क्षीणता बढ़ी तो उनके एकहजार बर्ष बाद इस पर और भी विस्तृत एवम् सरल व्याख्या श्री कानजी स्वामी द्वारा होरही है। यह सब इस बात के द्योतक हैं कि यथार्थ जिनेन्द्र भगवान का मार्ग काल के अन्त तक अक्षुण्ण बना ही रहेगा और उसके पालन करने वाले सच्चे धर्मात्मा भी अन्त तक अदृश्य ही रहेगे।

पूज्य कानजी स्वामी द्वारा समयसार पर प्रवचन कब, कहाँ और कैसे हुए तथा उनकी सङ्कलना किसप्रकार किसके द्वारा और क्यों की गई, यह सब प्रस्तावना में खुलासा किया गया है। यह प्रवचन गुजराती भाषा में गाथा १४४ तक के प्रकाशित होचुके हैं और आगे का प्रकाशन चालू है। उन प्रवचनों का हिन्दीभाषा भाषी भी पूरा लाभ लेवे, इस भावना को लेकर श्री भाई जमनादासजी माणेकचदजी रवाणी ने बड़े उत्साह के साथ बहुत शीघ्रता से प्रबन्ध करके इनका हिन्दी भाषा में अनुवाद कराया जोकि गाथा ६८ तक का तैयार होचुका है। जिसमें से गाथा बारहवीं तक का तो इस प्रथम भाग में आपके समक्ष प्रस्तुत है शेष भाग शीघ्र ही प्रकाशित करके आपके समक्ष प्रस्तुत किये जावेगे।

पहले तो श्री रवाणीजी का यह विचार था कि समस्त अनुवाद को पाँच भागों में एक साथ ही प्रकाशित करके एक साथ ही वितरण किया जावे ताकि हरएक पाठक के पास पूरा सेट ही पहुँचे। क्योंकि अक्सर ऐसा होता है कि जबतक आगे का भाग छपकर तैयार होता है तबतक पहले के भागों का स्टाक समाप्त होजाता है, तो अंतिम भाग वालों के सेट पहले भाग बिना अपूर्ण रह जाते हैं।

लेकिन इस योजना में बहुत समय लग जाने की सम्भावना से अभी क्रम से प्रकाशन का कार्य शुरू किया गया है। श्री खाखीजी ने प्रथम भाग के प्रकाशन में मेरा सहयोग चाहा, मैंने इस अवसर को प्राप्त होने में अपना बड़ा सौभाग्य मानकर इस भाग को श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित कराया है।

इसके अनुवादक श्रीमान् पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने अति उत्साह से इस अनुवाद कार्य को किया।

तथा श्री भाई खाखीजी को बहुत-बहुत धन्यवाद है जिन्होंने सत् धर्म के प्रचार की उत्कट भावना से प्रेरित होकर इसके प्रकाशन को पूर्ण शक्ति से सम्पन्न किया है।

श्री जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट के प्रमुख एवम् ट्रस्टी गणों को भी धन्यवाद है कि जिन्होंने इस प्रवचन को हिंदी में प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की।

अंत में पूज्य उपकारी गुरु श्री कानजी स्वामी को मेरा अत्यन्त भक्ति से नमस्कार है कि जिनके द्वारा मुझको अनादि संसार को नष्ट कर देने वाले सत्धर्म की प्राप्ति हुई।

भवदीय—

नेमीचंद पाटनी प्रधान मंत्री :
श्री मगनमल हीरालाल पाटनी
दि० जैन पारमार्थिक ट्रस्ट
मारोठ (मारवाड़)

कार्तिक शुक्ला १
वीर नि० स० २४७५

ॐ

श्री वीतरागाय नमः

प्रस्तावना

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमोगणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलं ॥

भरतक्षेत्र की पुण्यभूमि में आज से २४७४ वर्ष पूर्व जगतपूज्य परम-भट्टारक भगवान श्री महावीर स्वामी मोक्षमार्ग का प्रकाश करने के लिये अपनी सातिशय दिव्यध्वनि द्वारा समस्त पदार्थों का स्वरूप प्रगट कर रहे थे। उनके निर्वाण के उपरांत कालदोष से क्रमशः अपार ज्ञानसिंधु का अधिकांश भाग तो विच्छेद होगया, और अल्प तथापि बीजभूत ज्ञान का प्रवाह आचार्यों की परंपरा द्वारा उत्तरोत्तर प्रवाहित होता रहा, जिसमें से आकाशस्तम्भ की भाँति कितने ही आचार्यों ने शास्त्र गूँथे। उन्हीं आचार्यों में से एक भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव थे, जिन्होंने सर्वज्ञ भगवान श्री महावीर स्वामी से प्रवर्तित ज्ञान को गुरु-परंपरा से प्राप्त करके, उसमें से पचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, अष्टपाहुड़ आदि शास्त्रों की रचना की. और संसार-नाशक श्रुतज्ञान को चिरजीवी बनाया।

सर्वोत्कृष्ट आगम श्री समयसार के कर्त्ता भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव विक्रम संवत् के प्रारम्भ में होगये हैं, दिगम्बर जैन परम्परा में उनका स्थान सर्वोत्कृष्ट है। सर्वज्ञ भगवान श्री महावीर स्वामी और गणधर भगवान श्री गौतमस्वामी के पश्चात् भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव का ही स्थान आता है। दिगम्बर जैन साधु, अपने को कुन्दकुन्दाचार्य की परंपरा का कहने में गौरव मानते हैं। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव के

शास्त्र साक्षात् गणधरदेव के वचनों के बराबर ही प्रमाणभूत माने जाते है। उनके पश्चात् होने वाले ग्रन्थकार आचार्य अपने कथन को सिद्ध करने के लिये कुन्दकुन्दाचार्य देव के शास्त्रों का प्रमाण देते हैं, इसलिये यह कथन निर्विवाद सिद्ध होता है। वास्तव में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव ने अपने परमागमों में तीर्थंकर देवों के द्वारा प्ररूपित उत्तमोत्तम सिद्धान्तों को सुरक्षित रखा है, और मोक्षमार्ग को स्थापित किया है। विक्रम सवत् ६६० में विद्यमान श्री देवसेनाचार्य अपने दर्शनसार नामक ग्रन्थ में कहते हैं कि– "विदेह क्षेत्र के वर्तमान तीर्थंकर श्री सीमन्धर स्वामी के समवसरण में जाकर श्री पद्मनन्दिनाथ ने (कुन्दकुन्दाचार्य देव ने) स्वतः प्राप्त किये हुए ज्ञान के द्वारा बोध न दिया होता तो मुनिजन यथार्थ मार्ग को कैसे जानते?" एक दूसरा उल्लेख देखिये, जिसमें कुन्दकुन्दाचार्य देव को कलिकालसर्वज्ञ कहा गया है। 'पद्मनन्दि, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य गृद्धपिच्छाचार्य इन पाँच नामों से विभूषित, चार अंगुल ऊपर आकाश में गमन करने की जिनके ऋद्धि थी, जिन्होंने पूर्व विदेह में जाकर सीमंधर भगवान की वन्दना की थी और उनके पास से मिले हुए श्रुतज्ञान के द्वारा जिन्होंने भारतवर्ष के भव्य जीवों को प्रतिबोध दिया है ऐसे श्री जिनचंद्रसूरि भट्टारक के उत्तराधिकारी रूप कलिकालसर्वज्ञ (भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव) के रचे हुए इस षट्प्राभृत ग्रन्थ में...... सूरीश्वर श्री श्रुतसागर की रची हुई मोक्षप्राभृत की टीका समाप्त हुई।' इस-प्रकार षट्प्राभृत की श्री श्रुतसागरसूरि कृत टीका के अंत में लिखा है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव की महत्ता को दर्शाने वाले ऐसे अनेकानेक उल्लेख जैन साहित्य में मिलते है, अनेक शिलालेख भी इसका प्रमाण देते हैं। इससे ज्ञात होता है कि सनातन जैन संप्रदाय में कलिकालसर्वज्ञ भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव का अपूर्व स्थान है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव के रचे हुए अनेक शास्त्र है, जिनमें से कुछ इस समय भी विद्यमान हैं। त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेव के मुख से प्रवाहित

श्रुतामृत की सरिता में से भरे हुए वे अमृतभाजन वर्तमान में भी अनेक आत्मार्थिओं को आत्मजीवन देते हैं। उनके समस्त शास्त्रों में श्री समयसार महा अलौकिक शास्त्र है। जगत के जीवो पर परम करुणा करके आचार्य भगवान ने इस शास्त्र की रचना की है, इसमें मोक्षमार्ग का यथार्थ स्वरूप जैसा है वैसा ही कहा गया है। अनन्तकाल से परिभ्रमण करने वाले जीवो को जो कुछ समझना शेष रह गया है वह इस परमागम में समझाया है। परम कृपालु आचार्य भगवान श्री समयसार शास्त्र के प्रारम्भ में कहते है:– 'काम-भोग-बध की कथा सभी ने सुनी है, परिचय एव अनुभवन किया है, किन्तु मात्र पर से भिन्न एकत्व की प्राप्ति ही दुर्लभ है। उस एकत्व की–पर से भिन्न आत्मा की बात इस शास्त्र में मैं निजविभव से (आगम, युक्ति, परम्परा और अनुभव से) कहूँगा।' इस प्रतिज्ञा के अनुसार समयसार में आचार्यदेव ने आत्मा का एकत्व-परद्रव्य से और परभावों से भिन्नत्व को समझाया है। आत्मस्वरूप की यथार्थ प्रतीति कराना ही समयसार का मुख्य उद्देश्य है। उस उद्देश को पूर्ण करने के लिये आचार्य भगवान ने उसमें अनेक विषयों का निरूपण किया है। आत्मा का शुद्धस्वभाव, जीव और पुद्गल की निमित्त-नैमित्तिकता होने पर भी दोनों का बिल्कुल स्वतत्र परिणमन, नवतत्त्वों का भूतार्थ स्वरूप, ज्ञानी के राग-द्वेष का अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व, अज्ञानी के राग-द्वेष का कर्तृत्व-भोक्तृत्व, साख्यदर्शन की ऐकान्तिकता, गुणस्थान-आरोहण में भाव की और द्रव्य की निमित्त-नैमित्तिकता, विकाररूप परिणमित होने में अज्ञानियों का अपना ही दोष, मिथ्यात्व आदि की जड़ता उसीप्रकार चेतनता, पुण्य-पाप दोनों की बंधस्वरूपता, मोक्षमार्ग में चरणानुयोग का स्थान आदि अनेक विषयो का प्ररूपण श्री समयसारजी में किया है। इन सबका हेतु जीवों को यथार्थ मोक्ष-मार्ग बतलाना है। श्री समयसारजी की महत्ता को देखकर उल्लसित होकर श्री जयसेन आचार्य कहते है कि 'जयवन्त हों वे पद्मनन्दि आचार्य अर्थात् कुन्दकुन्दाचार्य जिन्होंने महान तत्त्वों से परिपूर्ण प्राभृतरूपी पर्वत

को बुद्धिरूपी मस्तक पर उठाकर भव्यजीवों को समर्पित किया है। वास्तव में इस काल में श्री समयसार शास्त्र मुमुक्षु भव्यजीवो का परम आधार है। ऐसे दुषमकाल में भी ऐसा अद्‌भुत, अनन्यशरणभूत शास्त्र तीर्थंकरदेव के मुखारविंद से प्रगट हुआ अमृत विद्यमान है, यह अपना महान् सद्‌भाग्य है। निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की ऐसी संकलनबद्ध प्ररूपणा अन्य किसी भी ग्रन्थ में नहीं है। यदि पूज्य श्री कानजी स्वामी के शब्दों में कहा जाये तो 'यह समयसार शास्त्र आगमों का भी आगम है; लाखो शास्त्रों का सार इसमें विद्यमान है; जैनशासन का यह स्तम्भ है, साधकों के लिये कामधेनु कल्पवृक्ष है, चौदह पूर्व का रहस्य इसमें भरा हुआ है। इसकी प्रत्येक गाथा छट्ठे-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए महामुनि के आत्म-अनुभव से प्रगट हुई है।

श्री समयसार में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव की प्राकृत गाथाओं पर आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका के लेखक (लगभग विक्रम संवत् की १० वीं शताब्दी में होगये) श्रीमान् अमृतचन्द्राचार्य देव हैं। जिसप्रकार श्री समयसार के मूल-कर्ता अलौकिक पुरुष हैं, वैसे ही इसके टीकाकार भी महा समर्थ आचार्य हैं। आत्मख्याति के समान टीका आजतक किसी भी जैनग्रन्थ की नहीं लिखी गई। उन्होंने पंचास्तिकाय और प्रवचनसार की टीका भी लिखी है एवं तत्वसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि स्वतंत्र ग्रन्थ भी लिखे हैं। उनकी एकमात्र आत्मख्याति टीका का स्वाध्याय करने वाले को ही उनकी अध्यात्मरसिकता, आत्मानुभव, प्रखरविद्वत्ता, वस्तुस्वरूप को न्याय से सिद्ध करने की उनकी असाधारण शक्ति का भलीभाँति अनुभव होजाता है। संक्षेप में ही गंभीर-गूढ़रहस्यों को भर देने वाली उनकी अनोखी शक्ति विद्वानों को आश्चर्यचकित कर देती है। उनकी यह दैवी टीका श्रुतकेवली के वचनों के समान है। जैसे मूल शास्त्र-कर्ता ने समयसार जी शास्त्र को समस्त निज-वैभव से रचा है, वैसे ही टीकाकार ने भी अत्यन्त सावधानीपूर्वक सम्पूर्ण निज-वैभव से

टीका की रचना की है; टीका के पढ़ने वाले को सहज ही ऐसा अनुभव हुए बिना नहीं रहता। शासनमान्य भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव ने इस कलिकाल में जगद्गुरु तीर्थंकरदेव जैसा काम किया है और श्री अमृतचन्द्राचार्य देव ने मानों जैसे वे भगवान कुन्दकुन्द के हृदय में ही प्रवेश कर गये हों इसप्रकार उसके गम्भीर आशय को यथार्थरूप से व्यक्त करके उनके गणधर जैसा काम किया है। आत्मख्याति में विद्यमान काव्य (कलश) अध्यात्मरस और आत्मानुभव की तरंगों से परिपूर्ण है। श्री पद्मप्रभदेव जैसे समर्थ आचार्यों पर उन कलशों ने गहरा प्रभाव जमाया है और आज भी वे तत्वज्ञान एवं अध्यात्मरस से परिपूर्ण कलश अध्यात्मरसिकों की हृदतंत्री को झंकृत कर देते हैं। अध्यात्म कवि के रूप में श्री अमृतचन्द्राचार्य देव का स्थान जैन साहित्य में अद्वितीय है।

श्री समयसार में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव ने ४१५ गाथाओं की रचना प्राकृत में की है। उसपर श्री अमृतचन्द्राचार्य देव ने आत्मख्याति नामक तथा श्री जयसेनाचार्य देव ने तात्पर्यवृत्ति नाम की संस्कृत टीकाऐं लिखी है। उन आचार्य भगवंतों द्वारा किये गये अनन्त उपकार के स्मरण में उन्हे अत्यंत भक्तिभाव से वंदन करते है।

कुछ वर्ष पहले पंडित जयचद्रजी ने मूल गाथाओं का और आत्मख्याति का हिन्दी में अनुवाद किया और स्वत: भी उसमें कुछ भावार्थ लिखा। वह शास्त्र 'समयप्राभृत' के नाम से विक्रम संवत् १९६४ में प्रकाशित हुआ था। उसके पश्चात् पंडित मनोहरलालजी ने उसको प्रचलित हिंदीभाषा में परिवर्तित किया और श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल द्वारा 'समयसार' के नाम से विक्रम संवत् १९७५ में प्रकाशित किया गया। इसप्रकार पण्डित जयचन्द्रजी, पण्डित मनोहरलालजी का और श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल का मुमुक्षु समाज पर उपकार है।

श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल द्वारा प्रकाशित हिन्दी समयसार का अध्यात्मयोगी श्री कानजी स्वामी पर परम उपकार हुआ। वि. सं.

१६७८ में उन महात्मा के करकमलों में यह परमपावन चिंतामणि आते ही उन कुशल जौहरी ने इसे परख लिया। सर्वरीति से स्पष्ट देखने पर उनके हृदय में परम उल्लास जागृत हुआ, आत्मभगवान ने विस्मृत हुई अनन्त गुणगम्भीर निजशक्ति को संभाला और अनादिकाल से पर के प्रति उत्साहपूर्वक दौड़ती हुई वृत्ति शिथिल होगई; तथा पर-सम्बन्ध से छूटकर स्वरूप में लीन होगई। इसप्रकार ग्रन्थाधिराज समयसार की असीम कृपा से बाल-ब्रह्मचारी श्री कानजी स्वामी ने चैतन्य-मूर्ति भगवान समयसार के दर्शन किये।

जैसे-जैसे वे समयसार में गहराई तक उतरते गये वैसे ही वैसे उन्होंने देखा कि केवलज्ञानी पिता से उत्तराधिकार में आई हुई अद्-भुत निधियों को उनके सुपुत्र भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव ने रुचिपूर्वक संग्रह करके रखा है। कई वर्ष तक श्री समयसारजी का गंभीरतापूर्वक गहरा मनन करने के पश्चात् "किसी भी प्रकार जगत के जीव सर्वज्ञ पिता की इस अमूल्य सम्पत्ति को समझले तथा अनादिकालीन दीनता का नाश करदे।" ऐसी करुणाबुद्धि करके उन्होंने समयसारजी पर अपूर्व प्रवचनों का प्रारम्भ किया और यथाशक्ति आत्मलाभ लिया। आजतक पूज्य श्री कानजी स्वामी ने सात बार श्री समयसारजी पर प्रवचन पूर्ण किये हैं और इस समय भी सोनगढ़ में आठवीं बार वह अमृतवर्षा होरही है। सवत् १९९९–२००० की साल में जिस समय उनकी राजकोट में ६ महीने की स्थिति थी उस समय श्री समयसार के कितने ही अधिकारों पर उनके (छटवीं बार) प्रवचन हुए थे। इस समय श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट को ऐसा लगा कि 'यह अमूल्य मुक्ताफल खिरे जाते हैं यदि इन्हें झेल लिया जाये तो यह अनेक मुमुक्षुओं की दरिद्रता दूर करके उन्हें स्वरूपलक्ष्मी की प्राप्ति करादे।' ऐसा विचार करके ट्रस्ट ने उन प्रवचनों को पुस्तकाकार प्रकाशित कराने के हेतु से उनको नोट कर लेने (लिख लेने) का प्रबन्ध किया था। उन्हीं लेखों से श्री सम-यसार प्रवचन गुजराती भाषा में पाँच भागों में पुस्तकाकार प्रकाशित

होचुका है और उन्हीं का हिन्दी अनुवाद कराके श्री समयसार-प्रवचन प्रथम भाग (हिन्दी) को हमें मुमुक्षुओं के हाथ में देते हुए हर्ष होरहा है। इस अनुवाद में कोई न्यायविरुद्ध भाव न आजाये इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है।

जैसे श्री समयसार शास्त्र के मूल-कर्ता और टीकाकार अत्यंत आत्म-स्थित आचार्य भगवान थे वैसे ही उसके प्रवचनकार भी स्वरूपानुभवी, वीतराग के परम भक्त, अनेक शास्त्रों के पारगामी एवं आश्चर्यकारी प्रभावना उदय के धारी युगप्रधान महापुरुष है। उनका यह समयसार-प्रवचन पढ़ते ही पाठको को उनके आत्म-अनुभव, गाढ़ अध्यात्म प्रेम, स्वरूपोन्मुख परिणति, वीतराग भक्ति के रंग में रंगा हुआ उनका चित्त, अगाध श्रुतज्ञान और परम कल्याणकारी वचनयोग का अनुभव हुए बिना नहीं रहता। उनका संक्षिप्त जीवन परिचय अन्यत्र दिया गया है, इसलिये उनके गुणों के विषय में यहाँ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। उनके अत्यंत आश्चर्यजनक प्रभावना का उदय होने के कारण गत चौदह वर्षों में समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, षट्खण्डागम, पद्मनन्दिपंचविंशतिका, तत्वार्थसार, इष्टोपदेश, पंचाध्यायी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अनुभव-प्रकाश, आत्मसिद्धि शास्त्र, आत्मानुशासन इत्यादि शास्त्रों पर आगमरहस्य-प्रकाशक, स्वानुभव मुदित अपूर्व प्रवचन करके काठियावाड़ में आत्मविद्या का अतिप्रबल आन्दोलन किया है। मात्र काठियावाड़ में ही नहीं, किन्तु धीरे-धीरे उनका पवित्र उपदेश पुस्तकों और 'आत्मधर्म' नामक मासिकपत्र के द्वारा प्रकाशित होने के कारण समस्त भारतवर्ष में अध्यात्म-विद्या का आन्दोलन वेगपूर्वक विस्तृत होरहा है। इसप्रकार, स्वभाव से सुगम तथापि गुरुगम की लुप्तप्रायता के कारण और अनादि अज्ञान को लेकर अतिशय दुर्गम होगये जिनागम के गंभीर आशय को यथार्थरूप से स्पष्ट प्रगट करके उन्होंने वीतराग-विज्ञान की बुझती हुई ज्योति को प्रज्वलित किया है। परम पवित्र जिनागम तो अपार निधानों से परिपूर्ण है, किन्तु उन्हे देखने की दृष्टि गुरुदेव के समागम और उनके करुणापूर्वक दिये हुए

प्रवचन-अंजन के बिना हम अल्पबुद्धिओं को वह कैसे प्राप्त होता? पंचमकाल में चतुर्थकाल की झलक दिखाने वाले शासनप्रभावक गुरुदेव श्री कानजी स्वामी ने आगम के रहस्यों को खोलकर हमारे जैसे हजारों जीवों पर जो अपार करुणा की है उसका वर्णन वाणी द्वारा नहीं होसकता।

जिसप्रकार गुरुदेव का प्रत्यक्ष समागम अनेक जीवों का अपार उपकार कर रहा है, उसीप्रकार उनके यह पवित्र प्रवचन भी वर्तमान और भविष्यकाल के हजारों जीवों को यथार्थ मोक्षमार्ग बतलाने के लिये उपकारी सिद्ध होंगे। इस दुषमकाल में जीव प्रायः बंधमार्ग को ही मोक्षमार्ग मानकर प्रवर्तन कर रहे हैं। जिस स्वावलम्बी पुरुषार्थ के बिना-निश्चयनय के आश्रय के बिना मोक्षमार्ग का प्रारंभ भी नहीं होता- उस पुरुषार्थ की जीवों को गंध भी नहीं आई है, किन्तु मात्र परावलंबी भावों को—व्यवहाराभास के आश्रय को ही मोक्षमार्ग मानकर उसका सेवन कर रहे हैं। स्वावलंबी पुरुषार्थ का उपदेश देने वाले ज्ञानी पुरुषों की दुर्लभता है एवं समयसार परमागम का अभ्यास भी अति न्यून है, कदाचित् कोई-कोई जीव उसका अभ्यास करते भी हैं किन्तु गुरुगम के बिना उनके मात्र अक्षरज्ञान ही होता है। श्री समयसार के पुरुषार्थमूलक गहन सत्य मिथ्यात्वमूढ़ हीनवीर्य जीवों को अनादि अपरिचित होने के कारण, ज्ञानी पुरुषों के प्रत्यक्ष समागम के बिना अथवा उनके द्वारा किये गये विस्तृत विवेचनों के बिना समझना अत्यंत कठिन है। श्री समयसारजी की प्राथमिक भूमिका की बातों को ही सत्वहीन जीव उच्चभूमिका की कल्पित कर लेते हैं, चतुर्थ गुणस्थान के भावों को तेरहवें गुणस्थान का मान लेते है तथा निरालम्बी (स्वावलम्बी) पुरुषार्थ तो कथनमात्र की ही वस्तु है, इसप्रकार उसकी उपेक्षा करके सालम्बी (परावलम्बी) भावों के प्रति जो आग्रह है उसे नहीं छोड़ते। ऐसी करुणाजनक परिस्थिति में जबकि सम्यक्-उपदेष्टाओं की अधिकांश न्यूनता के कारण मोक्षमार्ग का प्रायः लोप होगया है तब युग-

प्रधान सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने श्री समयसारजी के विस्तृत विवेचनात्मक प्रवचनों के द्वारा जिनागमों का मर्म खोलकर मोक्षमार्ग को अनावृत करके वीतराग दर्शन का पुनुरुद्धार किया है, मोक्ष के महामंत्र समान समयसारजी की प्रत्येक गाथा को पूर्णतया शोधकर इन संक्षिप्त सूत्रों के विराट अर्थ को प्रवचनरूप से प्रगट किया है। सभी ने जिनका अनुभव किया हो ऐसे घरेलू प्रसंगों के अनेक उदाहरणों द्वारा, अतिशय प्रभावक तथापि सुगम ऐसे अनेक न्यायों द्वारा और अनेक यथोचित दृष्टान्तों द्वारा कुन्दकुन्द भगवान के परमभक्त श्री कानजी स्वामी ने समयसारजी के अत्यंत अर्थ-गंभीर सूक्ष्म सिद्धान्तों को अतिशय स्पष्ट और सरल बनाया है। जीव के कैसे भाव रहे तब जीव-पुद्गल का स्वतंत्र परिणमन, तथा कैसे भाव रहे तब नवतत्वों का भूतार्थ स्वरूप समझ में आया कहलाता है। कैसे-कैसे भाव रहे तब निरावलम्बी पुरुषार्थ का आदर, सम्यग्दर्शन, चारित्र, तप, वीर्यादिक की प्राप्ति हुई कहलाती है-आदि विषयों का मनुष्य के जीवन में आने वाले सैकड़ों प्रसंगों के प्रमाण देकर ऐसा स्पष्टीकरण किया है कि मुमुक्षुओं को उन-उन विषयों का स्पष्ट सूक्ष्म ज्ञान होकर अपूर्व गंभीर अर्थ दृष्टिगोचर हों और वे बंधमार्ग में मोक्षमार्ग की कल्पना को छोड़कर यथार्थ मोक्षमार्ग को समझकर सम्यक्-पुरुषार्थ में लीन होजाये। इसप्रकार श्री समयसार जी के मोक्षदायक भावों को अतिशय मधुर, नित्य-नवीन; वैविध्यपूर्ण शैली द्वारा प्रभावक भाषा में अत्यंत स्पष्टरूप से समझाकर जगत का अपार उपकार किया है। समयसार में भरे हुए अनमोल तत्व-रत्नों का मूल्य ज्ञानिओं के हृदय में छुपा रहा था उसे उन्होंने जगत को बतलाया है।

किसी परम मंगलयोग में दिव्यध्वनि के नवनीतस्वरूप श्री समयसार परमागम की रचना हुई। इस रचना के पश्चात् एकहजार वर्ष में जगत के महाभाग्योदय से श्री समयसार जी के गहन तत्वों को विकसित करने वाली भगवती आत्मख्याति की रचना हुई और उसके उपरान्त एकहजार वर्ष पश्चात् जगत में पुनः महापुण्योदय से मंदबुद्धिओं को भी समयसार

के मोक्षदायक तत्व ग्रहण कराने वाले परम कल्याणकारी समयसार-प्रवचन हुए। जीवों की बुद्धि क्रमशः मन्द होती जारही है तथापि पंचमकाल के अन्तनक स्वानुभूति का मार्ग अविच्छिन्न रहना है, इसीलिए स्वानुभूति के उत्कृष्ट निमित्तभूत श्री समयसार जी के गम्भीर आशय विशेष-विशेष स्पष्ट होने के लिये परमपवित्र योग बनते रहते हैं। अन्तर्बाह्य परमपवित्र योगों में प्रगट हुए जगत के तीन महादीपक श्री समयसार, श्री आत्मख्याति और श्री समयसार-प्रवचन सदा जयवंत रहे! और स्वानुभूति के पथ को प्रकाशित करें।

यह परम पुनीत प्रवचन स्वानुभूति के पन्थ को अत्यंत स्पष्टरूप से प्रकाशित करते हैं, इतना ही नहीं किन्तु साथ ही मुमुक्षु जीवो के हृदय में स्वानुभव की रुचि और पुरुषार्थ जाग्रत करके अंशत: सत्पुरुष के प्रत्यक्ष उपदेश जैसा ही चमत्कारिक कार्य करते हैं। प्रवचनों की वाणी इतनी सहज, भावार्द्र, सजीव है कि चैतन्यमूर्ति पूज्य श्री कानजी स्वामी के चैतन्यभाव ही मूर्तिमान होकर वाणी-प्रवाहरूप वह रहे हों। ऐसी अत्यंत भाववाहिनी अंतर-वेदन को उग्ररूप से व्यक्त करती, शुद्धात्मा के प्रति अपार प्रेम से उभराती, हृदयस्पर्शी वाणी सुपात्र पाठक के हृदय को हर्षित कर देती है, और उसकी विपरीत रुचि को क्षीण करके शुद्धात्म रुचि जागृत करती है। प्रवचनों के प्रत्येक पृष्ठ में शुद्धात्म महिमा का अत्यंत भक्तिमय वातावरण गुँजित होरहा है, और प्रत्येक शब्द में से मधुर अनुभव-रस झर रहा है। इस शुद्धात्म भक्तिरस से और अनुभवरस से मुमुक्षु का हृदय भीग जाता है और वह शुद्धात्मा की लय में मग्न होजाता है, शुद्धात्मा के अतिरिक्त समस्त भाव उसे तुच्छ भासित होते है और पुरुषार्थ उभरने लगता है। ऐसी अपूर्व चमत्कारिक शक्ति पुस्तकाकार वाणी में क्वचित् ही देखने में आती है।

इसप्रकार दिव्य तत्वज्ञान के गहन रहस्य अमृतझरती वाणी द्वारा समझाकर और साथ ही शुद्धात्म रुचि को जाग्रत करके पुरुषार्थ का आह्वान, प्रत्यक्ष सत्समागम की झाँकी दिखलाने वाले यह प्रवचन जैन

साहित्य में अनुपम हैं। जो मुमुक्षु प्रत्यक्ष सत्पुरुष से विलग हैं एवं जिन्हे उनकी निरन्तर संगति दुष्प्राप्य है ऐसे मुमुक्षुओं को यह प्रवचन अनन्य-आधारभूत है। निरावलम्बी पुरुषार्थ को समझाना और उसके लिये प्रेरणा देना ही इस शास्त्र का प्रधान उद्देश्य होने पर भी उनका सर्वांग स्पष्टीकरण करते हुए समस्त शास्त्रों के सर्व प्रयोजनभूत तत्वों का स्पष्टीकरण भी इन प्रवचनों में आगया है, जैसे श्रुतामृत का परम आल्हाद्-जनक महासागर इनमें हिलोरें ले रहा हो। यह प्रवचन ग्रन्थ हजारों प्रश्नों के सुलझाने के लिये महाकोष है। शुद्धात्मा की रुचि उत्पन्न करके, पर के प्रति जो रुचि है उसे नष्ट करने की परम औषधि है। स्वानुभूति का सुगम पथ है तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के समस्त आत्मार्थिओं के लिये यह अत्यंत उपकारी है। परमपूज्य कानजी स्वामी ने इन अमृतसागर के समान प्रवचनों की भेट देकर भारतवर्ष के मुमुक्षुओ को उपकृत किया है।

स्वरूप-सुधा की प्राप्ति के इच्छुक जीवों को इन परम पवित्र प्रवचनों का वारंवार मनन करना योग्य है। संसार-विषवृक्ष को नष्ट करने के लिये यह अमोघ शस्त्र हैं। इस अल्पायुषी मनुष्य भव में जीव का सर्व-प्रथम यदि कोई कर्तव्य हो तो वह शुद्धात्मा का बहुमान, प्रतीति और अनुभव है। उन बहुमानादि के कराने में यह प्रवचन परम निमित्तभूत है। हे मुमुक्षुओ! अतिशय उल्लासपूर्वक इनका अभ्यास करके उग्र पुरुषार्थ से इसमें भरे हुए भावों को भलीभाँति हृदय में उतारकर, शुद्धात्मा की रुचि, प्रतीति और अनुभव करके शाश्वत परमानन्द को प्राप्त करो!

रामजी माणेकचन्द दोशी
प्रमुख,
श्री जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़

अगहन वदी १२
वीर संवत् २४७५

श्री पाटनी दि० जैन ग्रंथमाला के उद्देश्य एवं नियम

— उद्देश्य —

१. आर्षप्रणीत एवं आर्षमार्गानुमोदित दिगम्बर जैन वाङ्गमय का प्रचार एवं प्रसार करना ।

२. इसमें प्रकाशित होने वाले ग्रंथों को लागत मात्र मूल्य में तथा विशेष प्रचार के लिये लागत से भी कमती मूल्य करके सर्वसाधारण में ज्यादा से ज्यादा प्रचार करना ।

— नियम —

१. इस ग्रन्थमाला में १०) दस रुपये डिपोजिट रखने वाले सज्जन इसके स्थायी ग्राहक समझे जावेंगे और हरएक पुस्तक प्रकाशित होते ही वी० पी० द्वारा उनको भेज दी जायेगी ।

२. साधारणतया, पुस्तक की लागत खर्च पर, पुस्तक विक्रेताओं को जितना कमीशन देना पड़ता है उतना बढ़ाकर पुस्तक का मूल्य निर्धारित किया जाता है, लेकिन स्थायी ग्राहकों से लागत खर्च मात्र ही लिया जावेगा ।

३. स्थायी ग्राहक जब भी चाहें अपना डिपोजिट का रुपया वापिस ले सकते हैं । डिपोजिट नहीं रहने पर वे स्थायी ग्राहक नहीं समझे जावेंगे ।

४. जो सज्जन वी० पी० वापिस लौटा देंगे उनका वी० पी० खर्च उनके डिपोजिट में से काट लिया जावेगा ।

प्रधान मन्त्री

मंगलाचरण

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमोनमः ॥

श्री पंच–परमेष्ठि को नमस्कार

प्रथम 'ॐ' शब्द है । जब आत्मा सर्वज्ञ वीतराग भगवान अरहंत परमात्मा होते हैं, तब पूर्वबंद्ध तीर्थंकर नाम कर्म प्रकृति के पुण्य प्रारब्ध के कारण दिव्य वाणी का योग होने से ओष्ठं बन्द होने पर भी आत्मा के सर्व प्रदेशों से ॐकार एकाक्षरी (अनक्षरी) दिव्य वाणी खिरती है । (उसे वचन–ईश्वरी अर्थात् वागेश्वरी कहा जाता है, वह शब्द ब्रह्मरूप है) अरहन्त भगवान सर्वथा अकषाय शुद्ध भाव से परिणमित हैं, इसलिए उनका निमित्त होने से वाणी भी एकाक्षरी हो जाती है । और वह वाणी ॐकार रूपमें विना ही इच्छा के खिरती है । इस प्रकार की ॐकार दिव्यध्वनि–सरस्वती के रूप में तीर्थंकर की वाणी सहज भावसे खिरती है ।

+ ॐकारमय ध्वनि–तीर्थंकर भगवान की अखण्ड देशना को सुननेवाला जीव अंतरंग से अपूर्व भावसे उल्लसित होकर स्वाभाविक 'हाँ' कहे कि मैं पूर्ण कृतकृत्य अविनाशी शुद्ध आत्मा हूँ, ऐसा–इतना ही हूँ। ऐसी सहज 'हाँ' कहनेवाला सुयोग्य जीव अविनाशी मंगल पर्यायको प्राप्त करता है। जो जीव नित्य स्वभाव–भावसे, नित्य मंगल पर्याय से परिणमित हुआ है, वह भव्य जीव नैगम नयसे परमार्थ का आश्रयवाला हो चुका है। पूर्णता के लक्ष्य से पुरुषार्थ करके वह अल्प काल में ही उस पूर्ण पवित्र परमात्मदशा को प्रगट कर लेता है, जो शक्ति रूपमें विद्यमान है।

यहां ॐकार से शुद्ध स्वरूपको नमस्कार किया है। उत्कृष्ट आत्म–स्वभाव पूर्ण वीतराग स्वभावमय शुद्ध सिद्ध दशा जिसे प्रकट हो गई है, उसे पहचान कर नमस्कार करना, सो निश्चय स्तुति है। परमात्मा को नमस्कार करनेवाला अपने भावसे अपने इष्ट स्वभाव को नमस्कार करना है, वह उसीकी ओर झुक जाता है।

स्वाध्याय प्रारंभ करनेसे पूर्व भगवान की दिव्य वाणी के नमस्कार के रूपमें मंगलाचरण किया है।

स्वाध्याय का अर्थ है– स्व के सम्मुख जाना; स्वभाव के अभ्यास में ही परिणमित होना। अधि–सन्मुख; आय–युक्त होना। स्वरूप में युक्त होना सो स्वाध्याय है। जो पापको गाले और पवित्रता को प्राप्त करावे, सो मंगल है। पूर्ण पवित्र सर्वज्ञ स्वभाव प्रकट है, ऐसे त्रिलोकी–नाथ तीर्थंकरदेव की अखण्ड देशना को जो भव्य जीव अंतरंग में उतार कर, अरिहन्त के द्रव्य–गुण–पर्यायको निश्चयसे जानकर, 'मैं भी

+ अ=अरिहन्त, अ=अशरीरी, सिद्ध परमात्मा, आ=आचार्य, उ=उपाध्याय, म=मुनि अ+अ+आ+उ+म=ॐ (ओम्)

इस महामन्त्रमें पंचपरमेष्ठी पद, सब शास्त्रों का सार, सर्वगुण सम्पन्न शुद्ध आत्मस्वरूप का भाव अन्तर्हित है।

ऐसा ही हूँ' इस प्रकार पूर्ण स्वाधीन स्वभाव की दृष्टि से अभेदको लक्ष्य करता है, वह स्वयं अविनाशी मांगलिक होकर पुण्य-पाप उपाधिमय सर्व कर्मों का नाश करता है।

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमोनमः ॥१॥

भावार्थ— ओम्कार वाचक है, उसका वाच्य भाव ओम्कार शुद्ध आत्मा है। उस शुद्ध आत्मस्वरूपकी पहिचान और रुचि परमात्म पद-रूप पूर्ण पवित्र इष्टको देनेवाली है। योगी पुरुष उस शुद्धात्मा का नित्य ध्यान करते हैं और उसके फलस्वरूप मोक्षको प्राप्त करते है। यदि किसी अंशमें दशा अपूर्ण हो तो स्वर्ग प्राप्त करके, फिर मनुष्य होकर, मोक्षको प्राप्त करते हैं। ऐसे 'ओम्' को बारम्बार नमस्कार हो!

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलमलकलङ्का।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥२॥

भावार्थः—जिसमें छिद्र नहीं है, ऐसी एकाक्षरी 'ॐकार' दिव्य-ध्वनि की दिव्यधारा रूपी तीर्थंकर भगवान की अखण्ड देशना, सद्बोध सरस्वती उस सम्यग्ज्ञान को कहनेवाली है। वह कैसी है? इस प्रश्न के उत्तरमें कहते हैं कि जैसे मेघ-वर्षा पृथ्वी के मैलको धो डालती है, उसी प्रकार वीतराग भगवान की दिव्यध्वनि रूपी सरस्वती को अखण्ड ज्ञानधारा के द्वारा ग्रहण करके भव्य जीवोंने दोष-दुःखरूप मल-मैल-पापको धो डाला है; अशुद्ध परिणतिका नाश कर दिया है और अनेक सन्त-मुनि उसके द्वारा तर गये हैं।

दूसरे मंगल में श्री गुरुदेवको नमस्कार किया है—

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥३॥

भावार्थः—जिन्होंने अज्ञानरूपी घोर अन्धकार में अन्ध बने हुओं की आखो को ज्ञानाञ्जन रूपी शलाका से खोल दिया है उन श्री गुरुदेवको नमस्कार करता हूँ ।

वे श्री गुरुदेव स्वरूपभ्रांति, राग द्वेष और मोहका नाश करके शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्ति करानेवाले हैं तथा सत्पुण्य के देनेवाले हैं। ज्ञानीका वचन सुयोग्य जीवको प्रतिबोध प्राप्त कराना है। उसकी निर्दोष वाणीको सावधान होकर श्रवण करो और मोहका नाश करके स्वरूपमें सावधान रहो तथा नित्य स्वाध्याय करो ।

शुद्ध साध्यकी यथार्थ निश्चयरूप शुद्ध तत्त्वदृष्टि के द्वारा असंग, निर्मल, ज्ञायक स्वभाव को जानकर उसमें स्थिर होना ही इस परमागम का सार है

श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत मंगलाचरण

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावांतरच्छिदे ॥

अर्थ—समयसार = शुद्ध आत्मा सर्व पदार्थों में सार रूप है। सार=द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्म से रहित है। ऐसे परमार्थस्वरूप शुद्ध आत्मा को नमस्कार हो। शुद्ध स्वरूपको पहचान कर भाव से नमस्कार करके अंतःस्वरूप में झुककर शुद्ध निर्मल स्वरूपका आदर करता हूँ।

द्रव्यकर्म = रजकण, सूक्ष्म धूल, ज्ञानावरणादिक आठ कर्म। यह जड़ रूपी कर्म प्रकृति है।

भावकर्म = रागद्वेष विकाररूप विभावादिक शक्ति का परिणमन; द्रव्यकर्मका निमित्त प्राप्त करके जीवमें विकार होता है, वह अशुद्ध उपादान के आश्रित है, किन्तु स्वभावमें नहीं है।

भाव = अवस्था; परिणाम। रागरूप कार्य चिद्विकार है; यह भूलरूप क्षणिक विकारी भाव है।

विभावरूप = कर्मभाव के रूपमें ढलती हुई विकारी अवस्था।

नोकर्म = शरीर, इन्द्रिय इत्यादि स्थूल पुद्गल पिण्ड।

भावाय = सत्‌रूप; अस्तिरूप, अविनाशी वस्तु। जो 'है' वह पर निमित्त रहित, पर के आधार से रहित, त्रैकालिक, सहज स्वभावरूप, स्वाधीन पदार्थ है, परसे असंयोगी वस्तु है। उसे सत् अर्थात् त्रिकाल स्थिर रहने वाला शुद्ध पदार्थ कहा गया है। उसका आदि अन्त नही है, वह स्वतंत्र शुद्ध है। जो 'है' उसे नामरूप संज्ञा के द्वारा गुण गुणी अभेद स्वतंत्र पदार्थ का लक्ष्य करके (वाचक शब्द से उसके वाच्य—पदार्थ को) जानने जाना है। त्रैकालिक अखण्ड ज्ञायक स्वरूप अनंत निर्मल स्वभाव है। उसकी ज्ञान के द्वारा पहचान करके, परसे पृथक् सम्यग्ज्ञान के द्वारा समझ कर उसे नमस्कार करता हूँ।

पदार्थ किसी अपेक्षा से भावरूप है और किसी अपेक्षा से अभावरूप है। वह इस प्रकार है कि आत्मा अपनेपन से भावरूप है; स्वद्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्वकाल, स्वभावपन से है; और परकी अपेक्षा से नहीं है, अतः उस अपेक्षा से अभावरूप है।

स्वाधीनपन से भावरूप होना अर्थात् परिणमन करना। साधक भावमें आंशिक निर्मल पर्याय प्रकट हुई है, वह भावरूप है और पूर्ण नहीं खुली है, उतने अंश में अभावरूप है। नित्य द्रव्य स्वभाव से भावरूप है।

(द्रव्य=वस्तु) क्षणवर्ति पर्याय का व्यय होना सो अभावरूप है। (पर्याय=अवस्था) 'भावाय' शुद्ध सत्तास्वरूप शाश्वत वस्तु है। मैं सहज चिदानंद त्रिकाल ज्ञायक हूँ, ऐसे असली स्वभावको भूलकर मैं रागी द्वेषी हूँ, क्षणिक कषाय वेगकी वृत्तिया ठीक है, पुण्यादिक देहादिमें सुख बुद्धि के द्वारा ठीक रहे, स्थिर रहें; ऐसी बहिरात्म दृष्टिवाले अपने स्वाधीन एकत्व विभक्त भावका अस्वीकार करते हैं, इसलिए वे नास्तिक हैं। जब आस्तिक्य गुणवाला स्वाधीन भाव से अविनाशी सहज स्वभाव की 'हाँ' कहता है, पूर्ण कृतकृत्य स्वभाव को अपने अनुभव से निश्चय के

द्वारा स्वीकार करके इस प्रकार पर-भाव का निषेध करता है कि द्रव्य कर्म, भावकर्म और नो कर्म मैं नहीं हूँ तथा असंयोगी अखण्ड ज्ञायक स्वभाव में एकत्व भावसे स्थिर होता है अर्थात् स्वभाव में परिणमन करता है, नमता है या उस ओर ढलता है, तब नास्तिक मत रूप विपरीत दशा का (विकारी पर्याय का) अभाव हो जाता है।

चित्स्वभावाय=ज्ञान चेतना जिसका मुख्य गुण है, उससे पूर्ण चैतन्य स्वभाव त्रिकाल स्वाधीन रूप है। जो 'है' उसीको पहचानने से भेद विकल्प (राग) का लक्ष्य छूट जाता है, इसलिए उस अखण्ड गुण में एकाग्र स्थिरता होनेपर शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति होती है। ज्ञान चेतना की अनुभूति के द्वारा प्राप्त की प्राप्ति होती है। पर निमित्त रहित अन्तर में, स्थिर स्वभाव में स्थिर होने से वह प्रकट होता है। बाह्य लक्ष्य से वह स्वरूप प्रकट नहीं होता। 'मैं' अखण्डित चैतन्यरूप अपार अनन्त सामर्थ्य से पूर्ण हूं। पर से भिन्न अकेला पूर्ण और स्वाधीन हूँ। इस प्रकार की श्रद्धा अंतरंग एकाग्रता से प्रकट होती है। अपना गुण किसी बाह्य निमित्त से नहीं आता, किन्तु अपने स्वभाव में से ही प्रकट होता है।

अधूरी अवस्था समस्त द्रव्य को एक ही साथ प्रत्यक्ष लक्ष्य में नहीं ले सकती, किन्तु अपने त्रैकालिक अखण्ड द्रव्य को पहचानने के लिए गुण-गुणी में व्यवहार दृष्टि से भेद करके अभेद के लक्ष्य से प्रत्येक गुण को लक्ष्य में लेकर निर्णय किया जासकता है। उससे कहीं वस्तुस्वभाव में सर्वथा भेद नहीं होता। वर्तमान मति-श्रुतज्ञान से त्रैकालिक पूर्ण आत्मस्वभाव का स्वाधीनतया निर्णय किया जा सकता है। वह असली स्वभाव क्योंकर प्रकट होता है? "स्वानुभूत्या चकासते" अर्थात् अपने ही अनुभव से प्रकट होता है। पर से भिन्न शुद्ध चैतन्य स्वरूप का अनन्त ज्ञानी सर्वज्ञदेवने जैसा निर्णय किया है, वैसा ही निश्चय करने से स्वाधीन अनुभूति रूप शुद्ध निर्मल अवस्था अन्तरंग परिणतिरूप ज्ञानक्रिया के द्वारा प्रकट होती है। उससे शुद्ध स्वभाव की

प्राप्ति होती है अर्थात् शुद्ध स्वभाव दशा प्रकट होती है। (अंतरंग स्थिति के लिए आभ्यंतर ज्ञान क्रिया में सक्रिय है और पर से अक्रिय है।) पुण्यादि विकारी भाव से, राग (विकल्प) से अविकारी स्वभाव प्रकट नहीं होता।

निश्चय से अर्थात् यथार्थ दृष्टि से स्वय निज को अपने से ही जानता है, उसमें किसी निमित्त का आधार नहीं है। अपनी सहज शक्ति से ही स्वयं परिणमन करता है, जानता है और प्रकट प्रकाश करता है। ज्ञान स्वपर प्रकाशक है। स्वाधीन सत्ता के भान में स्वय प्रत्यक्ष है, परोक्ष नही। अज्ञानी भी निजको ही जानता है, किन्तु वह वैसा न मानकर विपरीत रूप से मानता है। वास्तव में तो आत्मा ही प्रत्यक्ष है। 'मैं हूं' इस प्रकार सभी प्रत्यक्ष जानते हैं। जिनका आत्मअभिप्राय पराश्रित है वे मानते है कि मेरा ज्ञान निमित्ताधीन है। मन, इन्द्रिय, पुस्तक, प्रकाश इत्यादि निमित्त का साथ हो तो ही उसके आधार पर मैं जानता हूं, यो मानने वाले निज को ही नहीं मानते। और फिर कोई यह माने कि पहले का स्मरण हो तो जान सकूं, वर्तमान सीधी बात को मैं नहीं जान सकता, तो भी वह झूठा है। वर्तमान पुरुषार्थ के द्वारा त्रिकाल अखण्ड ज्ञान स्वरूप का लक्ष्य किया जा सकता है। अपने आधार पर वर्तमान में ज्ञान की निर्मलता में स्पष्ट ज्ञात होता है। और कोई यह मानता है कि यदि पहले का भाग्य हो तो धर्म हो, उसके लिये ज्ञानी कहते है कि तू अभी जाग और उन्हे देख। अनन्त ज्ञान दर्शन सुख और अनन्त बल स्वरूप धर्म तो आत्मा के स्वभाव में ही है; किन्तु जब प्रतीति करता है तब वर्तमान पुरुषार्थ से त्रिकाल स्वभाव को जाना जा सकता है। यदि पुरुषार्थ के लिए पूर्व स्मरण तथा किसी निमित्त के आधार पर ज्ञान धर्म होता हो तो एक गुण के लिए दूसरे पर गुण का आधार तथा अन्य पर पदार्थ का आधार चाहिए और उसके लिए तीसरा आधार चाहिए। इस परम्परा से पराश्रितपन का बहुत बड़ा दोष आता है। पराश्रित सत्ता को नित्य

स्वभाव नहीं माना जा सकता, इसलिए गुण सर्वथा भिन्न नहीं हैं। वे त्रिकाल एक रूप हैं। अवस्था शक्ति-व्यक्ति का भेद है, किन्तु वस्तु में-गुण में खण्ड-भेद नहीं है। गुणी के आधार से त्रिकाल गुण साथ ही रहते हैं। वस्तु त्रिकाल एकरूप ही है। उसे वर्तमान निर्मलता से, पुरुषार्थ से, स्वानुभव से प्रत्यक्षतया जाना जा सकता है। अपने आधार से स्वयं निज को ही जानता है, इसलिये प्रत्यक्ष है।

सर्वभावान्तरच्छिदे—अपने को तथा समस्त जीव-अजीव चराचर विश्वमें स्थित त्रैकालिक सर्व वस्तुओ को एक ही साथ जानने की स्वाधीन शक्ति प्रत्येक जीव में है। ऐसा चैतन्यस्वरूप समयसार आत्मा है। उसे पहचानकर नमस्कार करता हूँ। ऐसा, इतना ही आत्मा है। उसकी हाँ कहनेवाला ज्ञायक स्वयं अकेला महिमावान है, बड़ा है, पूर्ण स्वभाव में त्रिकाल स्थिर रहनेवाला है। अनन्त, अपार के ज्ञाता तथा अपार और अनन्तता को ध्यान में लेनेवाले की थैली (ज्ञान-समझशक्तिरूपी थैली) भाव दृष्टि से (गंभीरतामें) अमाप है; अनन्त गंभीर भावयुक्त है। इसप्रकार का माप करनेवाला स्वयं ही शक्ति रूप में पूर्ण परमात्मस्वरूप, सर्वज्ञ स्वभाव को पहचानकर नमस्कार करनेवाला स्वयं ही परमात्मा है। वह शुद्ध साध्य के लक्ष्य से प्रकट परमात्मा हो जाता है। जिसका बहुमान है, रुचि है वह उस रूप होजाता है।

पूर्ण स्वाधीन स्वरूप की प्रतीति के विना परमात्मा की भक्ति नहीं हो सकती। परमात्मा की पहचान के विना राग का-विकारका-संसार-पक्ष का बहुमान करेगा। स्वरूप की प्रतीति वाला निःशंकतया पूर्ण को (साध्यको) नमस्कार करता हुआ अखण्डता से, अखण्ड सत् के बहुमान द्वारा पूर्ण को प्राप्त हो जाता है। प्रत्येक आत्मा में एक समय में तीन काल और तीन लोक को जानने की शक्ति विद्यमान है। ऐसे आत्मा अनन्त है। प्रत्येक आत्मा पर से भिन्न अकेला पूर्ण सर्वज्ञ है। त्रैकालिक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमय अनन्त पदार्थ को सर्वरीत्या

जानने की शक्ति प्रत्येक जीव द्रव्य में विद्यमान है। प्रत्येक समय में तीनोंकाल और तीनोंलोक केवलज्ञान में सहज दिखाई देते हैं। अनन्त के वाच्यरूप भाव को भव्य जीव श्रवण करके एक क्षण भर में अनन्त का विचार कर लेते हैं। अनन्त ज्ञान की शक्ति और सर्वज्ञ स्वभाव की 'हाँ' कहने वाले समस्त जीव शक्तितः सर्वज्ञ है। ना कहने-वाला नास्तिक भी शक्तितः सर्वज्ञ है। ना कहने वाला भी अपार-अनन्त को ध्यान में लेने वाला तो है ही, इसलिए ना कहने पर भी उसमें हाँ गर्भित है। अतः प्रत्येक देहधारी आत्मा पूर्ण पवित्र सर्वज्ञ ही है। मैं पूर्ण अखण्ड आनन्दघन त्रिकाल हूँ, सर्वज्ञ हूँ, इस प्रकार स्वतः हाँ कहकर 'सर्वोत्कृष्ट' अनुपम स्वभाव को पहचान कर अपनी अपूर्व महिमा को प्राप्त करके अपने को देखने वाला अपूर्व महिमा को लाकर नम्रीभूत होता हुआ वह वैसा ही है। पूर्ण स्वभाव को माना—जाना और उसमें नत होता हुआ, वह पूर्ण ही है। वह बीचमें पुरुषार्थ के काल के अन्तर को भाव से पृथक् कर देता है। और पूर्ण परमात्मा को देखता हुआ पूर्ण स्वभाव की महिमा को गाता है। वह संसार की महिमा को नहीं देखता। बाह्य इन्द्रियों के आधीन बाह्य दृष्टि करने वाला, अपने को भूलकर दूसरे के बड़प्पन को आँकता है। किन्तु पूर्ण शक्ति को बताने वाली जो दिव्य दृष्टि है, उस पर वह विश्वास नहीं ला सकता और वर्तमान को ही मानता है।

अधूरी दशा में शक्ति की अपेक्षा से तीनकाल और तीनलोक को जानने की पूर्ण सामर्थ्य है। यद्यपि वह सीधा दिखाई नहीं देता तथापि उसका यथार्थ निर्णय निज से हो सकता है। जिस में तीनकाल और तीनलोक एक ही समय में दिखाई देते हैं, ऐसे अपने त्रैकालिक ज्ञान को ही मैं जानता हूँ। इस प्रकार सर्वज्ञ स्वभाव की 'हां' कहनेवाला वर्तमान अपूर्ण ज्ञान से सम्पूर्ण का निर्णय निःसंदेह तत्त्व में से लाता है।

मैं पर को जानूँ तभी मैं बड़ा हूँ, यह बात नहीं है; किन्तु मेरी अपार सामर्थ्य अनन्तज्ञान ऐश्वर्य के रूप में होने से मैं पूर्ण ज्ञानघन

आत्मा हूँ। इस प्रकार पूर्ण साध्य का निश्चय करके उसी में एकत्व-विभक्त, भिन्न एकाकार (पर से भिन्न, अपने से अभिन्न) परिणति को युक्त करके 'आत्म ख्याति टीका' के द्वारा प्रथम मंगलाचरण किया है।

पूर्ण उत्कृष्ट आत्मशक्ति को जानकर जो निश्चय से नमता है वही अपनी शुद्ध परिणति रूप होकर स्वाधीन स्वभाव रूप से नत हुआ है। वही परमात्मा का भक्त है। प्रतीति हीन जीव ही राग के प्रति नत होता है।

भूत, भविष्य और वर्तमान काल सम्बन्धी पर्याय सहित अनन्त गुण युक्त समस्त जीव-अजीवादि पदार्थों को एक समय में एक ही साथ प्रगट रूप से जाननेवाला शुद्ध आत्मा ही सार रूप है। उसको मेरा नमस्कार हो। शुद्ध स्वभाव से तन्मय अस्तिरूप परिणमित हुआ और नत हुआ इसलिए असारभूत संसार के रूप में नहीं हुआ। अब राग-द्वेष रूप संसार का आदर कभी नहीं करूंगा इस प्रकार की सौगन्ध विधि सहित भाव वन्दना की है।

सर्वज्ञ वीतराग स्वरूप शुद्ध आत्मा इष्ट है, उपादेय है। उसी की श्रद्धा, रुचि और प्रतीति के द्वारा सर्वज्ञ के न्याय से जिसने त्रिकाल ज्ञायक स्वभाव को स्वीकार किया वह सर्व पदार्थ, त्रिकाल की अवस्था को प्रतीति के द्वारा जानने वाला हुआ। अब यदि वह उसी भाव से स्थिर रहे तो उसे रागद्वेष हर्ष-शोक उत्पन्न न हो। 'मैं जाननेवाला ही हूँ' इस भाव से अशान्ति और असमता नहीं होती। जैसे सुन्दर रूप वाली अवस्था को लिये हुए आम (आम नाम का पुद्गल पिण्ड) पहले विष्टा के खात में से उत्पन्न होकर वर्तमान क्षणिक अवस्था में सुन्दर दिखाई देता है। स्मरण रहे कि वह पुनः विष्टारूप परिणमित होने वाला है। इस प्रकार त्रिकाल की अवस्था को देखने वाले को सुन्दर असुन्दर दिखाई देने वाले किसी भी पदार्थ के प्रति राग-द्वेष या हर्ष-विषाद नहीं होता, और इस प्रकार किसी के प्रति मोह नहीं होता। नारकी के शरीर को छोड़कर बहुत बड़ी महारानी के पद पर

उत्पन्न हुआ जीव पुनः नरक में उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार पुद्गल की विचित्रता को देखने वाले को, त्रिकाल लगातार जानने वाले को राग–द्वेष अथवा मोहरूप में अटकना नहीं होता। देहादिक अशुचि-मय–दुःखमय क्षणिक अवस्था वाले पदार्थ वर्तमान में कदाचित् पुण्य वाले, सुन्दर रूप वाले दिखाई दे अथवा कुरूप या रोगरूप दिखाई दें तो भी उनमें मोह नहीं करता। क्यो कि त्रिकाल के ज्ञान को जानने वाला वह वीतरागदृष्टि है और वह सर्वज्ञदृष्टि धर्मात्मा है।

प्रश्नः—यहाँ इष्टदेव का नाम लेकर नमस्कार क्यो नही किया? और शुद्ध आत्मा को क्यो नमस्कार किया है?

उत्तर—आत्मा अनेकान्त धर्म स्वरूप है। उसे पहचाननेवाला अनेक अपेक्षित धर्मों को जानकर (समझकर) उसे गुण–वाचक इत्यादि चाहे जिस नाम से सम्बोधित करता है।

जैनधर्म रागद्वेष, अज्ञान को जीतने वाला आत्मस्वभाव है। इस प्रकार शुद्धस्वभाव को मानने वाला धर्मात्मा जहां देखता है वहाँ गुण को ही देखता है, गुण को ही प्रधानता देता है व्यक्ति को नहीं। जैसे पंचपरमेष्ठी में पहले णमो अरिहंताणं कहकर गुण–वाचक पद की ही वन्दना की है। 'णमो महावीराणं' इस प्रकार एक नाम लेकर किसी व्यक्ति विशेष की वन्दना नहीं की है। वह जो जैसा होता है, उस व्यक्ति को वैसा ही जानता है। व्यक्ति भेद करने पर राग होता है। इसलिए गुण–पूजा प्रधान है। कभी कभी धर्मात्मा किसी एक भगवान का नाम लेकर भी वन्दना करता है, किन्तु धर्मात्मा का लक्ष्य तो गुणी के गुणों के प्रति ही होता है। व्यक्ति विशेष के प्रति नहीं होता। इसलिए गुण–पूजा प्रधान है।

ब्रह्मा—अपने सहज आनन्द गुण को ब्रह्म (ज्ञानस्वरूप आत्मा) भोगता है अथवा ब्रह्मा—स्रष्टा, अपनी स्वाधीन सुखमय अवस्था को उत्पन्न करने वाला। प्रत्येक समय नयी नयी पर्याय को उत्पन्न करता है, इसलिए

यह स्व स्वभाव परिणमन रूपी सृष्टि का कर्ता जीव है। इस दृष्टि से प्रत्येक जीव स्वयं स्वतंत्र ब्रह्मा है।

विष्णु=रागद्वेष मोहरूप विकार से रहित अपने शुद्ध स्वभाव को स्थिर रखने वाला अथवा विभाव से निज को बचाने वाला और निज गुण की रक्षा करने वाला विष्णु है। प्रत्येक समय अपने अनन्त गुण की शक्ति की सत्ता से निज ध्रुव शक्ति (सदृश अंश) को लगातार स्थिर रखने के कारण प्रत्येक आत्मा स्वभाव से विष्णु है।

महेश = जो राग-द्वेष और अज्ञान का नाश करता है अथवा पूर्ववर्ती क्षणिक पर्याय का नाश करता है, वह महेश है। जो अनुपम है अर्थात् जिसे किसी और की उपमा नहीं दी जा सकती, जो स्वयं ही समस्त पदार्थों को जानने वाला है और ज्ञान के द्वारा माप करने वाला तथा अपार ज्ञान एवं ऐश्वर्य वाला है, इसीलिए वह अनुपमेय है। तथापि कथन में वह सिद्ध परमात्मा के समान कहा जा सकता है। कैसे शुद्ध आत्मा कैसा है? जो शुद्ध बुद्ध मुक्त प्रगट सिद्ध परमात्मा हुए हैं, उन्हें। जैसा है वैसा (शाश्वत् टंकोत्कीर्ण) पर सत्ता से भिन्न स्वसत्ता में निश्चल है।

पुरुष=जो अखण्ड ज्ञान दर्शन उपयोग में एकत्व मानता और जानता हुआ उपयोग पूर्वक एकाकार होकर पूर्ण पवित्र दशा को प्राप्त करके उत्कृष्ट आनन्द रस रूपी 'शिव-रमणी' के साथ रमण करता है, तथा शुद्ध 'चेतना रूपी' के साथ निराकुलता सहित निजानन्द पूर्वक केलि करता है, वह पुरुष है।...

पुरुष=आत्मा।

सत्य आत्मा=अपने पूर्ण स्वरूप को पहिचानने वाला तथा शुद्ध-स्वरूप में सुनिश्चित भाव से रहने वाला, स्थिर होने वाला, एवं परमात्म दशा को प्राप्त सत्य आत्मा है और रागद्वेष अज्ञान भाव को प्राप्त मूढ़ आत्मा मिथ्यादृष्टि है।

अरहंत=पूज्य=त्रिकाल के इन्द्रों के द्वारा त्रिलोक पूज्य हैं, तीनों लोकों में सब के लिये वन्दनीय हैं सभी गुण निर्मल प्रगट हो गये हैं और जिनमें परम पूज्य गुण की मुख्यता प्रगट है, वे पूज्य हैं।

जिन=रागद्वेष और अज्ञान को स्वरूप की स्थिरता के द्वारा जीत लिया है ऐसे पूर्ण पवित्र वीतराग को जिन कहते हैं।

आप्त=अठारह दोषों से रहित परम हितोपदेशक सर्वज्ञ आप्त हैं।

भगवान=महिमावान । सहज आनन्द=पर निमित्त से रहित निरुपाधिक स्वाभाविक आनन्द ।

हरि=जो अपने पूर्ण स्वरूप की प्रतीति से पुण्य-पाप के राग को हर लेता है सो हरि है । जो पराधीनता का, रागादि मल का, कर्म कलंक का नाश करके पूर्ण पवित्र स्वाधीनता प्रगट करता है, पुण्य-पाप की उपाधि को हरता है और पवित्रता को प्राप्त करता है, वह हरि है । इस प्रकार जो जो गुण निष्पन्न नाम है, उन गुणों को लक्ष्य में रखकर उस अपेक्षा से आत्मा का कथन करने में कोई विरोध नहीं है (एकान्त पक्ष वाले को नामादि में विरोध होता है।) यदि कोई 'पापी' नाम रखे तो पापी अर्थात् पा+पी=दूसरे को सत्बोधरूपी धर्म अथवा अमृतरूपी उपदेश को पिलाने वाला और स्वयं पीने वाला अर्थात् स्वयं अपने ही सहज समता आनन्द गुण को धारण करने वाला सिद्ध हुआ । इस प्रकार गुण की दृष्टि को ही मुख्य करने वाले, अनेक अपेक्षाओं को समझने वाले अर्थात् इस प्रकार विशाल समझ पूर्वक स्याद्वाद स्वभाव को समझने वाले का राग-द्वेष विलीन हो जाता है।

इस समयसार में आत्मा की शुद्धि का अधिकार है।

आत्मा देहादि-रागादि से पृथक् है । जबतक आत्मा ऐसी वास्तविकता को नहीं जानता तबतक मोह कम नहीं होता । जब यथार्थता जानी जाती है, तभी अन्तरंग से पर पदार्थ की महिमा दूर होती है और निज का माहात्म्य प्रगट होता है । सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा को जैसा देखा, वैसा ही आत्मस्वभाव इस समयसार शास्त्र में वर्णित है।

दूसरे कलश का प्रारंभ

अनंत धर्मणस्तत्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः ।
अनेकांतमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥२॥

अर्थः—जिसमें अनेक अंत-धर्म हैं, ऐसा जो ज्ञान तथा वचन उस-मई मूर्ति नित्य सदा ही प्रकाशता अर्थात् प्रकाशरूप हो । वह मूर्ति ऐसी है कि जिसमें अनन्त धर्म हैं, ऐसा और प्रत्येक्—परद्रव्यों से, पर-द्रव्य के गुण पर्यायों से भिन्न तथा पर द्रव्य के निमित्त से हुऐ अपने विकारों से कथंचित् भिन्न एकाकार ऐसा जो आत्मा उसके तत्त्व को अर्थात् असाधारण सजातीय-विजातीय द्रव्यों से विलक्षण निज स्वरूप को पश्यंती—अवलोकन करती (देखती) है।

यहां पर सरस्वती को नमस्कार किया है । वह कैसी है—अनन्त धर्मणस्तत्वं पश्यन्ती । उसमें कहा है कि प्रत्येक पदार्थ सत् है । उसके स्वभाव रूप अनन्त धर्म एक दूसरे से भिन्न हैं । ऐसे सर्व पदार्थों के स्वरूप को सरस्वती रूप सम्यग्ज्ञान यथार्थ प्रकाशित करता है । आत्मा में अनन्त धर्म स्वाधीनतया भरे हुए हैं । वे आत्मा की पहिचान और स्थिरता के द्वारा आत्मा से प्रगट होते हैं ।

कोई कहता है—'अभी यह समझ में नही आ सकता' किन्तु आत्मा कब नही है ? देह, इन्द्रियादिक तो कोई जानता नहीं है । जो जानता है वही स्वयं है, इसलिये अवश्य समझा जा सकता है । अपने को सर्वज्ञ न्यायानुसार जाने तो उसमें स्थिर हो और अतीन्द्रिय आनन्द आवे ।

अनन्तगुण=अपार गुण। प्रत्येक जड़-चेतन पदार्थ में स्वतन्त्रतया अनन्त धर्म हैं । देह मंदिर में भगवान आत्मा त्रिकाल ज्ञान आनन्द स्वरूप में अनन्त गुणरूप तत्त्व है, उसे पहिचान कर स्थिरता करे तो शुद्ध स्वरूप प्रगट हो । इसका नाम है धर्म ।

सर्वज्ञ भगवानने आत्मा, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल और आकाश इन प्रत्येक में शाश्वत् अनन्त गुण देखे है । किसी के

गुण किसी के आधीन नहीं हैं। पर–वस्तु किसी के लिए मददगार नही है, इसलिए वस्तु अर्थात् पदार्थ के कोई गुण किसी के आधीन नहीं होते।

कुछ गुणों का कथन

[१] प्रत्येक पदार्थ में सत् [अस्तित्व] गुण अनादि अनन्त हैं, इसलिए प्रत्येक वस्तु अपनी अपेक्षा से सत् है, किसी के आधीन नहीं है। यह समझने से स्वाधीन सुखधर्म अपने आपसे प्रगट होजाता है। इस प्रकार पर से भिन्न ज्ञान हो जाये तो अपने सुख को स्वतः प्राप्त करले।

[२] प्रत्येक पदार्थ में वस्तुत्व नाम का गुण है। प्रत्येक पदार्थ अपने आप प्रयोजनभूत क्रिया स्वयं ही कर सकता है। आत्मा पर से भिन्न है। मन, वाणी, देहादि सर्व संयोग आत्मा से त्रिकाल भिन्न हैं। इसलिए आत्मधर्म में किसी अन्य पदार्थ की सहायताकीआवश्यकता नहीं है।

(यदि कोई कहे कि ऐसी सूक्ष्म बात मेरी समझमें नही आती, तब उसे अनन्त काल में जो महा दुर्लभ मनुष्य भव मिला वह किस काम का। आत्म प्रतीति के बिना जगत् में अनन्त कुत्ते बिल्ली कीड़े–मकोड़े उत्पन्न होते है और मरते हैं उनका क्या महत्त्व है। इसी प्रकार अनन्त काल में अनन्त प्रकार से महान् दुर्लभ मनुष्य-भव प्राप्त करके अपूर्व आत्मस्वभाव को सत्समागम के द्वारा न जाना तो उसकी कोई कीमत नही है। और यदि पात्रता के द्वारा आत्मस्वभाव को जान ले तो उसकी महिमा अपार है।)

वस्तुत्वगुण का अर्थ प्रयोजनभूत अपनी क्रिया का करना है। प्रत्येक वस्तु अपनी प्रवृत्ति अपने आप करती है, तदनुसार आत्मा की प्रत्येक प्रवृत्ति आत्मा करता है। जड़–परमाणु इत्यादि अपनी क्रिया अपने आप करते हैं, उसमें किसी की सहायता नहीं होती। इसलिए देह की

क्रिया जीव की सहायता के बिना देह स्वतंत्रतया करती है। देह की क्रिया देह में रहने वाला प्रत्येक परमाणु स्वतंत्रतया करता है। उसमें आत्मा कारण नहीं है। इसी प्रकार आत्मा की क्रिया आत्मा और जड़ देहादि की क्रिया जड़ करता है, किन्तु अज्ञानी मानता है कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ। यह कर्तृत्व का अज्ञान है। पर वस्तु की क्रिया तीन काल और तीन लोक में कोई आत्मा नहीं कर सकता।

[३] प्रत्येक पदार्थ में 'प्रमेयत्व,' अर्थात् किसी भी ज्ञान का विषय होना विद्यमान है। उसमें बताने की योग्यता है। ज्ञेय अथवा प्रमेय का अर्थ है-ज्ञान में अपने को जानने की योग्यता। यह योग्यता जिसमें न हो वह वस्तु नहीं कही जा सकती।

प्रश्नः—क्या वह आँखों से दिखाई देता है?

उत्तर—नहीं, वह ज्ञान के द्वारा ही दिखाई देता है—ज्ञात होता है। आँख तो अनन्त रजकण का पिण्ड है। उसे खबर ही नहीं कि मैं कौन हूँ। किन्तु उसे जानने वाला अलग रहकर जानता रहता है। ज्ञान के द्वारा ठंडा-गरम मालूम होता है। ज्ञान, ज्ञान में जानने की क्रिया करता है। उस ज्ञान की क्रिया में ज्ञान अर्थात् आत्मा स्वयं अपने को जानता है। और ज्ञान का ऐसा स्वभाव है कि पर उसमें भिन्न रूप से ज्ञात होता है। वह प्रत्येक आत्मा का गुण है। स्वयं अपने को ज्ञेय बनाने पर सब धर्म समझ में आजाते है।

इस देह में रहने वाला आत्मा देह से भिन्न है। यदि यह न जाने तो अतरंग में पृथक्त्व के ज्ञान का कार्य जो शांति है वह न हो, किन्तु अज्ञान का कार्य जो अशान्ति है, जिसे जीव अनादि काल से कर रहा है वही बनी रहेगी। आत्मा का त्रिकाल ज्ञान स्वभाव है। उसमें अनन्त पदार्थ को युगपत् जानने की शक्ति विद्यमान है। किन्तु अनादि से देह-इन्द्रियों में दृष्टिपात करके अपने को भूलकर राग के द्वारा पर को जानता रहता है। दृष्टिपात करने वाला तो स्वयं है किन्तु

कौनन दूसरे का चुकाता है। अपने भीतर अनन्त गुण का मूलधन किस प्रकार विद्यमान है यह ते नहीं जानता किन्तु यह बराबर जानता है कि घर पर नलियाँ, खिड़कियाँ, दरवाजे कितने हैं और कैसे है। इसी प्रकार सबको जानने वाला यह नहीं जानता कि वह स्वयं कैसा है। देह, इन्द्रियाँ स्वयं कुछ नहीं जानतीं, किन्तु वे चैतन्य पदार्थ के ज्ञान में ज्ञेयरूप हैं। जड़ नहीं जानता, क्योंकि उसमें ज्ञान नहीं है, किन्तु वह ज्ञेय है।

(४) चौथा गुण है प्रदेशत्व।

प्रत्येक पदार्थ सदा अपने आकारवाला होता है। पर क्षेत्र के सम्बन्ध से रहित अपने स्वक्षेत्र में स्वगुणरूप प्रत्येक पदार्थ त्रिकाल अपने स्वरूप में है। *कोई पदार्थ असंख्य प्रदेशी है। कालाणु और परमाणु एक प्रदेशी हैं। बहुत से परमाणु मिलकर स्कन्धरूप होनेपर संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी होजाते हैं।

(५) चैतन्य—आत्मा का जानने देखने रूप गुण है।

देह के किसी भाग में किसी वस्तु का संयोग होने पर आत्मा उसे चेतना गुण के द्वारा जान लेता है। देह जड़ में ज्ञातृत्व शक्ति नहीं है, क्योंकि जड़ में सुख दुःख का अनुभव नहीं होता। चैतन्यघन आत्मा देह से भिन्न देहाकार है। वह स्वयं स्व आकार वाला है। रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि को जानने वाला आत्मा है। जबतक वह स्व और पर का यथार्थ स्वरूप नहीं जानता, तबतक उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता।

निरंजन=रागद्वेष और रूप रहित।

निराकार=जड़ पुद्गल के आकार से रहित। आत्मा निरंजन निराकार है। वह शरीर के समस्त भाग में विद्यमान है। अपने अनन्त गुणों का पिण्ड है तथा देहाकार और देह से भिन्न है।

---

* प्रत्येक जीव, धर्मास्तिकाय, और अधर्मास्तिकाय लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है।

(६) 'अचेतनत्व'—आत्मा के अतिरिक्त पाँच द्रव्य अचेतन पदार्थ हैं। उसका गुण अचेतनत्व (जड़ता) है।

(७) 'मूर्तिकत्व'—स्पर्श, रस, गंध और वर्ण पुद्गल के गुण हैं। पुद्गल में रूपित्व (मूर्तिकत्व) है। उसके अतिरिक्त पाँच वस्तुएँ अरूपी (अमूर्तिक) है

(८) 'अमूर्तिकत्व'—स्पर्श, रस, गंध, वर्ण रहित।

उन उन गुणों में समय समय पर परिणमन होना सो पर्याय है, जो कि अनन्त हैं।

(९) प्रत्येक वस्तु में एकत्व है। अपना अपना अनन्त स्वभाव अर्थात् गुण वस्तुरूप में एक है, इसलिए एकत्व है।

(१०) अनंतगुण के लक्षण, सख्यादि भेद से देखा जाये तो प्रत्येक वस्तु में अनेकत्व भी है।

(११) वस्तु में त्रिकाल स्थिर रहने की अपेक्षा से नित्यत्व भी है।

(१२) प्रतिक्षण अवस्था का बदलना और नई अवस्था का उत्पन्न होना; इस प्रकार का अनित्यत्व भी है।

यह जानने की इसलिये आवश्यकता है कि प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है, त्रिकाल में पर से भिन्नरूप है। यदि ऐसा न माना जाये तो राग-द्वेष और अज्ञान को दूर करके स्वभाव को नहीं पहचाना जा सकता।

(१३) 'भेदत्व' प्रत्येक वस्तु में है। वस्तु अनंत गुण स्वरूप से अभिन्न है। तथापि गुण–गुणी के भेद से नाम, संख्या, लक्षण, प्रयोजन से भेद है। जैसे गुड़ नाम का पदार्थ है, उसमें मिठास, गंध, वर्ण इत्यादि अनेक गुण है, उसी प्रकार आत्मा एक वस्तु है। उसमें ज्ञान, दर्शन; इत्यादि अनन्त गुण है। गुण–गुणी के नाम से जो भेद होता है सो संज्ञाभेद है। गुणों की संख्या अनन्त है और आत्मा एक है, यह संख्याभेद है।

लक्षण भेद

आत्मा का लक्षण चैतन्य आदि गुणों का धारण करना है। ज्ञान गुण का लक्षण स्वपर को जानना है। चारित्र गुण का लक्षण स्थिर होना है। श्रद्धा गुण का लक्षण प्रतीति करना है।

इस प्रकार गुण-गुणी में लक्षण भेद है।

(१४) 'अभेदत्व'—सभी गुण एक वस्तुरूप है, इसलिए अभेदत्व है।

अपने स्वाधीन स्वभाव को समझने की यह बात है। समझ के साथ सब सरल है और बिना समझे सब मुश्किल है। अन्धकार को दूर करने के लिए मूसल अथवा सूपा की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु प्रकाश की ही आवश्यकता होती है, इसी प्रकार अनन्त काल का अज्ञान दूर करने के लिए यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता है। जैसे अंधकार में देखने पर कोयला, सोना, कपड़ा इत्यादि तमाम वस्तुएँ एकसी दिखाई देती हैं और यदि प्रकाश लेकर देखा जाये तो वे जैसी भिन्न भिन्न हैं वैसी ही दिखाई देती हैं। इसी प्रकार देह, मन, वाणी को राग-द्वेष से देखने पर अज्ञान के कारण सब एक सी दिखाई देती हैं। रागादि तथा देहादि के साथ आत्मा एक सा दिखाई देता है। उसे सम्यग्ज्ञान से देखने पर वह पृथक् दिखाई देता है। यथार्थ ज्ञान के अतिरिक्त अन्य उपाय करे तो शुद्ध स्वरूप का भान नहीं होता, इसलिये सच्चे ज्ञान के द्वारा अनेक अपेक्षाओं से अनेक धर्मों को बराबर समझना चाहिए।

(१५) शुद्धत्व—द्रव्यदृष्टि से स्वभाव की अपेक्षा से जीव के शुद्धत्व है। वर्तमान में पाई जाने वाली प्रत्येक अवस्था में अशुद्धता का अंश है। उसे देखने की दृष्टि को गौण करके त्रिकाल निर्मल स्वभाव की दृष्टि से देखें तो आत्मा का स्वभाव शुद्ध ही है। शुद्ध-अशुद्ध दोनों धर्म एक आत्मा में एक ही साथ विद्यमान हैं। जैसे पानी स्वभाव से शीतल है, किन्तु वर्तमान अग्नि के निमित्त से उष्ण अवस्था होने पर

भी वर्तमान निमित्ताधीन उष्ण अवस्था को न देखकर त्रैकालिक शीतल स्वभाव को देखे, तो जल स्वभाव से शीतल ही है। इसी प्रकार द्रव्यदृष्टि से आत्मा में सदा शुद्धत्व ही है।

(१६) अशुद्धत्व—काम–क्रोध, मोह की वृत्ति वर्तमान अवस्था में क्षणिक है। उस (अशुद्धि) का नाश हो सकता है और स्वभाव में जो निर्मलतादिरूप में अनन्त गुण है वे रह सकते हैं। वर्तमान अशुद्ध अवस्था भी है और द्रव्य स्वभाव में पूर्ण शुद्धता भी है। इन दोनों पहलुओं को जानना चाहिए। यदि आत्मा वर्तमान अवस्था में भी शुद्ध ही हो तो समझ और पुरुषार्थ करके अशुद्धता को दूर करने का प्रयोजन न रहे।

ऊपर कुछ धर्म कहे गये हैं। उनमें से सामान्य धर्म तो अपेक्षादृष्टि से वचन द्वारा कहे जा सकते हैं और कुछ ऐसे भी धर्म हैं, जो वचन से नहीं कहे जा सकते, किन्तु ज्ञान से जाने जा सकते हैं। ज्ञान में प्रत्येक वस्तु के धर्म भलीभाँति जाने जा सकते हैं। प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म है, उसी प्रकार आत्मा में भी अनन्त धर्म है। उसमें चेतनता असाधारण गुण है। यह गुण अन्य किसी भी पदार्थ में नहीं है। और फिर दूसरी सूक्ष्म बात यह है कि आत्मा में ज्ञान के अतिरिक्त अन्य अनन्त धर्म हैं, जो सब निर्विकल्प है। ज्ञातृत्व का लक्षण उन धर्मों में नहीं है। एक ज्ञान गुण ही सविकल्प अर्थात् स्वपर को जानने वाला है। ज्ञान गुण अपने को स्व के रूप में जानता है और पर को पर के रूप में जानता है। शेष गुण भी स्वतंत्र है। वे अपने को नहीं जानते तथापि प्रत्येक गुण स्वतंत्र रूप में अपनी प्रयोजनभूत क्रिया को कर सकता है। उन समस्त गुणों को एक ज्ञान गुण जानता है। वह ज्ञातृत्व अन्य अनंत अचेतन द्रव्यों में नहीं है। सजातीय चेतन अर्थात् जीव द्रव्य अनन्त हैं तथापि सबका चेतनत्व भिन्न भिन्न है। क्यों कि प्रत्येक आत्मा के अनन्त धर्म अपने अपने स्वतंत्र है। वे दूसरे चेतन द्रव्यों में नहीं हैं। प्रत्येक द्रव्य के प्रदेश भिन्न है, इसलिए कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य में नहीं

मिल सकता। यह चेतनत्व अपने अनन्त धर्मों में व्यापक है, इसलिए उसे आत्मा का तत्व कहा है।

कर्मों के निमित्त की क्षणिक उपाधि वाली स्थिति वर्तमान समय मात्र की है। उसे जो अपना स्वरूप मानता है उस जीव को स्वतन्त्र स्वतत्व की प्रतीति नहीं है। किन्तु पर से भिन्न जैसा है ठीक वैसा ही अपने को जाने तथा रागादि रहित पूर्ण शुद्ध ज्ञान–आनन्दमय जैसा है वैसा अपना स्वरूप जाने तो वह अपने स्वाधीन सुख गुण को प्रगट कर सकता है। इसलिये आत्मा का अनन्त गुण ही आत्मा का तत्त्व है। राग–द्वेष मन, वाणी और देह की प्रवृत्ति आत्मा का तत्त्व नहीं है।

आत्मा सदा पर से भिन्न रह कर अपने अनन्त गुणों से अभिन्न होने के कारण अपने में व्यापक है और इसलिए अनन्त गुणों में फैला हुआ है। उसे तत्व रूप में–जैसा है, वैसा ही इस सरस्वती की मूर्ति देखती है और दिखाती है और यदि इस प्रकार समझे तो इस से (इस सम्यग्ज्ञान की मूर्ति से–सरस्वती से) सर्व प्राणियों का कल्याण होता है। इसलिये 'सदा प्रकाश रूप रहो' इस प्रकार का आशीर्वाद-रूप वचन मात्र पर को नहीं किन्तु अपने परम कल्याण स्वरूप को लक्ष्य में रखकर कहा है।

समयसारजी में अपूर्व सत्श्रुत की स्थापना की है। यह समयसार शास्त्र परमागम है। यह परम विशुद्धता को प्रगट करने वाला है। यह अजोड़ सम्यग्ज्ञान रूपी दीपक (अद्वितीय जगत् चक्षु) परमात्म दशा को प्राप्त करने के लिए है। यह सम्यग्ज्ञान के द्वारा दी गई अपूर्व भेट है। आचार्य महाराज कहते हैं कि 'इसकी टीका के द्वारा मैं इसका स्पष्टी-करण करूँगा। इसकी टीका करने का फल अपनी वर्तमान दशा की निर्मलता के रूप में चाहता हूँ। पूजा सत्कार आदि नहीं चाहता।

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।

मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते-
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूते ॥ ३ ॥

महा-महिम भगवान अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि मेरा ज्ञान व्यापार निर्मल हो, मेरा पूर्ण वीतराग-भाव प्रगट हो। दूसरी कोई आकांक्षा नहीं है। 'इस समयसार अर्थात् शुद्धात्मा की कथनी तथा टीका से ही मेरी अनुभूतिरूप परिणति की परम विशुद्धि हो' ऐसी भावना भाई है।

शुद्ध आत्मा को जानने वाले ज्ञान अभ्यास की दृढ़ता से रागादि कलुषित भाव का अनुभव दूर होकर उत्कृष्ट निर्मल दशा प्रगट हो, ऐसी भावना करते हैं। ऐसा परमागम मेरे हाथ आया है और उसकी टीका करने का महा सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इसलिए उसके विश्वास के बल पर टीकाकार स्पष्ट घोषित करते हैं कि 'इस टीका से मेरी परिणति पूर्णतया निर्मल हो जायगी।'

जैसे पैसे की प्रीति वाला व्यक्ति धनवान के गुण गाता है वह वास्तव में धनवान के नहीं किन्तु अपने ही गीत गाता है। क्योंकि उसे धन की रुचि है। वह उस रुचि के ही गीत गाता है। इसी प्रकार जिसे अपने आत्मा के अनन्त गुण रुचिकर प्रतीत हुए हैं वह निमित्त में आरोपित करके अपने ही गुण गाता है। वाणी तो जड़ है, परमाणु है। किन्तु उसके पीछे जो अपना शुद्धभाव है वही हितकर है।

आचार्य महाराज अपनी परिणति को सुधारने की भावना करते हैं। मेरी वर्तमान दशा मोह के द्वारा किंचित् मैली है किन्तु मेरा त्रिकाल स्वभाव द्रव्यदृष्टि से मलिन नहीं है इसलिये पूर्ण शुद्ध चिदानन्द अपार सुखरूप है। उसकी प्रतीति के बल पर 'वर्तमान अशुद्धता का अंश दूर हो जायगा' आचार्य महाराज इसका विश्वास दिलाते हैं। इस प्रकार जो कोई योग्य जीव सत्समागम के द्वारा समझेगा वह भी अपनी उत्कृष्ट पवित्र दशा को प्राप्त होगा।

सर्वज्ञ भगवान ने प्रत्यक्ष ज्ञान से जैसा जाना है, वैसा आत्मस्वभाव कहा है। पूर्ण पवित्र स्वतंत्र स्वरूप जैसा है वैसा वाणी में कहा है। वह परम हितोपदेशक सर्वज्ञ वीतराग हैं। उनके इच्छा नहीं है। सहज दिव्यध्वनि खिरती है। वह सर्वज्ञ कथित परम तत्त्व (आत्मा का सच्चा स्वरूप) यहाँ कहा जा रहा है। जीव यदि उस यथार्थता को न जाने तो कदापि बंधन से मुक्ति अर्थात् स्वतन्त्रता और उसका उपाय प्रगट नहीं हो सकता। उसे समझे बिना यह जीव अनन्तबार पुण्य, क्रियाकाण्ड इत्यादि कर चुका; किन्तु पराश्रय के कारण आत्मधर्म नहीं हुआ।

आत्मा पर से निराला, निर्मल, पूर्ण ज्ञानानन्दघन है। मन, वाणी और देहादि के सम्बन्ध से रहित त्रिकाल तत्त्व है। आचार्य महाराज इस समयसार शास्त्र की टीका करते हुए कहते हैं कि 'इस टीका के फल स्वरूप मेरी वर्तमान दशा की परम विशुद्धि हो, यही चाहता हूँ।'

आचार्य महाराजने महान् गंभीर अर्थवाली स्पष्ट भाषा लिखी है। जैसे एक तार [टेलीग्राम] की डेढ़ पंक्ति में यह लिखा हो कि 'रुई की पाँच हजार गाठें चारसौ पचास के भाव में खरीदो' इसे पढ़ने वाला उस डेढ़ पंक्ति में समाविष्ट सारा भाव और तार देनेवाले व्यापारी का साहस इत्यादि सब (जो कि उस डेढ़ पंक्ति में लिखा हुआ नहीं है) जान लेता है। बाजार भाव से अधिक भाव में खरीद करने वाला और खरीद कराने वाला दोनो कैसे है ? कैसी हिम्मत वाले हैं ? इसका परस्पर दोनो को भरोसा है। किन्तु जो अपढ़ होता है, अजान होता है, उसे इसकी खबर नहीं होती। लेकिन जो जानने वाला, पढ़ा लिखा और विचक्षण दृष्टि रखकर पढ़ने वाला होता है, वह दोनो तरफ की दोनो पेढ़ी के सभी भावो को जान लेता है। ४४० का तो भाव चल रहा है, तथापि ४५० के भाव से इतनी बड़ी खरीद करने को लिखा है, इसमें किंचित् मात्र भी शंका नहीं उठती। यदि कोई अजान पढ़े तो वह उस बात को न माने। दूकान तो छोटीसी लेकर

बैठा हो, और सब कुछ लेकर न बैठा हो, तथापि उसमें सारा वैभव समाविष्ट है। इस प्रकार यदि पढ़ा लिखा हो तो देख सकता है। इसी प्रकार सर्वज्ञ के अनन्त आगम का रहस्य डेढ़ पंक्ति में हो तो भी सम्यग्ज्ञानी उसे बराबर जान लेता हैं। आचार्य कहते है कि सर्वज्ञ भगवान की वाणी के द्वारा आगत शुद्धात्मतत्व का उपदेश, उसकी व्याख्या करते हुए शुद्ध आत्मा ऐसा है, इस प्रकार ही है, यो शुद्ध आत्मा की सच्ची श्रद्धा की दृढ़ता के द्वारा मेरी स्वरूपरमणता अर्थात् एकाग्रता होगी, परम विशुद्धि होगी, इसके लिऐ मेरी टीका (तत्व की व्याख्या) है। उसके द्वारा स्वय (आचार्य) अपना परम आनन्द प्रगट करना चाहते है।

यथार्थ वक्ता की पहचान करके श्रोताओं को भरोसा रखकर खूब श्रवण-मनन करना चाहिए। समझने की पात्रता पहले चाहिए। कोई किसी को कुछ नही दे सकता। किन्तु विनय से उपचारदृष्टि से दिया हुआ कहा जाता है। आचार्य कहते है कि वस्तुस्वरूप द्रव्यस्वभाव से देखने पर त्रिकाल शुद्ध ही है। किन्तु वर्तमान में चलने वाली प्रत्येक अवस्था चारित्र मोह के द्वारा निरन्तर मलिन हो रही है। वर्तमान अवस्था में पूर्ण आनन्द नही है। (पूर्णदशा कृतकृत्य होने के बाद पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नहीं रहती) कर्म के निमित्त में युक्त होने से जितना परवस्तु की ओर जुड़ने का लक्ष्य करता है उतनी वर्तमान अवस्था मलिन दिखाई देती है। वर्तमान में चलने वाली अवस्था में क्षण क्षण करके अनन्त काल व्यतीत होगया तथापि वह अशुद्धता अनन्त गुणी नही हुई है। जैसे पानी अनन्त काल तक गरम हुआ इस-लिए त्रिकाल के लिए गरम नहीं हो गया है, इसी प्रकार आत्मा द्रव्य-स्वभाव से नित्य शुद्ध ही है। उसमें वर्तमान अवस्था में क्रोध मान आदि वृत्तियाँ उठती हैं। आत्मा उतना नहीं है, इसलिए वह क्षणिक अशुद्धता का रक्षक नहीं है प्रत्युत नाशक ही है। और अनन्त गुण का स्वभावत: ही रक्षक है। उसे भूलकर जीव यह मानता है कि 'मैं रागी, द्वेषी,

ममता वाला हूँ, देहादि संयोग वाला हूँ' किन्तु इससे वैसा पूर्ण नहीं हो गया है। वर्तमान अवस्था में अग्नि के निमित्त से पानी गरम हुआ दिखाई देता है, किन्तु वह स्वभावतः (उसका नित्य शीतलता का भाव) उष्ण नहीं हुआ है। क्यों कि वह बहुत काल से गरम है तथापि उसी समय उसमें शीतल होने का स्वभाव है इसलिए उष्णता का नाश करके शीतल हो सकता है। इसी प्रकार आत्मा स्वयं अपनी भूल से अपने को देहवान और उपाधिवान मानता है, फिर भी वह एकत्वरूप में शुद्ध हो सकता है।

आत्मा का स्वरूप किस प्रकार है, स्वभाव-विभाव क्या है, पुण्य-पाप का भाव होता है वह क्या है, मेरा एकरूप स्वभाव क्या है? इत्यादि समझ में नहीं आता, इसलिए यह कठिन मालूम होता है। किन्तु वह सब यहाँ पर बहुत सरल रीति से कहा जाता है। पानी का दृष्टांत सरल है। किन्तु आत्मा का सिद्धान्त आत्मा में अनुभव रूप में बिठाना आवश्यक है। कच्चे चने में मिठास भरी होती है। यदि उसे भूना जाय तो, उसके भीतर जो मिठास भरी हुई है वह प्रगट होती है। उसमें जो मिठास थी वह प्रगट दशा में आई है। यदि भाड़ के कड़ाहे, कण्डों और रेती से स्वाद आता हो तो कंकडों को भूनो, उनमें से भी मिठास आनी चाहिए। कच्चे चने में अम्लता विद्यमान है, इसलिए उसका स्वाद नहीं मिलता और वह उग सकता है। किन्तु यदि उसे भून डाला जाय तो वह उग नहीं सकता और उसमें स्वाद भी आता है। इसी प्रकार आत्मा में शक्तिरूप से पूर्ण आनन्द भरा हुआ है। उसमें वर्तमान अवस्था में निमित्ताधीन होकर अज्ञान के कारण से अम्लता रूपी आकुलता का स्वाद आत्मा को आता है। जैसे चने के भूनने से उसकी कचाई का नाश हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानाभ्यास के द्वारा स्वरूप की दृढ़ता से अज्ञान का नाश हो जाता है। अपनी अप्रतीति ही वास्तव में बन्धन है। 'मैं कर्मों से बद्ध हूँ, पर-वस्तु मुझे बाधा पहुँचाती है,' यह मानने से 'मैं स्वयं स्वाधीन हूँ' इस प्रकार मान-कर पुरुषार्थ करने का अवकाश नहीं रहता।

आत्मा स्वयं ही अपने अबन्धक भाव को भूलकर बन्धन–भाव करता है और स्वय ही निज को पहिचान कर अंतरंग स्थिरता के द्वारा अशुद्धता को दूर करता है। जैसे वस्त्र का मूल स्वभाव मैला नहीं है, किन्तु पर–संयोग से वर्तमान अवस्था में मैल दिखाई देता है। यदि वस्त्र के उज्ज्वल स्वभाव का ज्ञान हो जाय तो उस मैल के संयोग का अभाव हो सकता है। इसी प्रकार पहले शुद्ध आत्मा का पूर्ण–पवित्र मुक्तस्वरूप जाने, तो अशुद्धता दूर की जा सकती है। इसलिए यहाँ टीका में मुख्यतया शुद्ध आत्मा का कथन किया गया है। और यों तो इनमें अचिन्त्य आत्मस्वरूप का गुण–गान किया गया है।

आचार्य महाराज कहते है कि—पर के आश्रय, अवलम्बन से रहित जैसा मेरा शुद्ध स्वरूप पूर्ण सिद्ध समान है, उसका दृढ़निश्चय करके और अब तुम्हारी पूर्णशक्ति को देखकर तुम्हे पूर्ण का निश्चय कराता हूँ, उसकी स्पष्ट महिमा गाता हूँ। संसार में प्रशंसा करने वाले की दृष्टि और उसकी कीमत कितनी है यह जानने के बाद उसकी प्रशंसा की कीमत करनी चाहिए। कोई किसी की प्रशसा वास्तव में नहीं करता, किन्तु जो जिसके अनुकूल बैठता है, वह उसी की प्रशंसा करता है। इसी प्रकार निन्दा करने वाला भी अपने बुरे भाव को प्रगट करता है। उसमें हर्ष या विषाद कैसा? सब अपनी अपनी भावना का फल पाते हैं। उसमें दूसरो को क्या है?

जामें जितनी बुद्धि है उतनो देय बताय।
वाको बुरो न मानिये और कहाँ से लाय॥

अपनी भूल से आत्मा स्वय दुःखी होता है। आत्मा क्या है, इसकी खबर न होने से, अज्ञानी अज्ञान भाव से निन्दा करता है। उस व्यक्ति का उसमें कोई दोष नहीं है। वह व्यक्ति अर्थात् वह आत्मा क्षणभर में बदल भी सकता है।

आचार्य कहते है कि—'मैं अपने अविनाशी शुद्धस्वरूप की शुद्ध-दशा को प्रगट करना चाहता हूँ, जगत की पूजा–ख्याति नहीं चाहता;

क्यों कि कोई किसी को कुछ नही दे सकता। प्रत्येक पदार्थ अपनी सर्वशक्ति से पूर्ण है। उस पूर्ण के लक्ष्य से धर्म का प्रारंभ होता है।'

अब मूल ग्रन्थकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हुए मंगलसूत्र कहते हैं—

वन्दित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइंपत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं ॥१॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि मैं ध्रुव, अचल और अनुपम इन तीन विशेषणो से युक्त गति को प्राप्त सर्व सिद्धों को नमस्कार करके श्रुतकेवलियो के द्वारा कथित इस समयप्राभृत को कहूँगा।

यह महामत्र है। जैसे बीन के नाद से सर्प डोलने लगता है, उसी प्रकार शुद्ध आत्मा की महिमा को कहने वाला जो समयसार है, उसके कथन से 'मैं शुद्ध हूँ' इस प्रकार के आनन्द में आत्मा डोलने लगता है।

देह, मन और वाणी रूपी गुफा में छुपा हुआ यह आत्मा परमार्थ स्वरूप सर्वज्ञ की दिव्यवाणी का बोध और माधुर्य जानकर अपनी महिमा को ज्ञात करके निजस्वरूप को सुनने और सम्हालने के लिए जागृत होता है। जैसे मंत्र के द्वारा सर्प का विष उतर जाता है, उसी प्रकार आत्मा पर से भिन्न रागादि सर्व उपाधि रहित, मुक्त है। ऐसी प्रतीति के द्वारा अर्थात् सम्यग्ज्ञान रूपी मंत्र के द्वारा अज्ञान रूपी विष उतर जाता है।

संसार की चार अध्रुवगतियां हैं। सिद्धगति पूर्ण पवित्र आत्मदशा है। वह ध्रुव है, अचल है, अनुपम है, इस प्रकार की आत्मा की निर्मल दशा को प्राप्त जो सिद्ध परमात्मा है, उनके लिए जगत् के किसी भी पदार्थ की उपमा नहीं दी जा सकती। उपरोक्त तीन विशेषणो से युक्त उत्कृष्ट गति को प्राप्त सर्व सिद्धों को नमस्कार करके श्रुतकेवलियो के द्वारा कहे गये इस शुद्धात्मा के अधिकार को कहूँगा, ऐसा आचार्य महाराज कहते हैं। 'सर्व' 'अनन्त सिद्ध भगवान हो चुके हैं, यह कहने से सब मिलकर एक आत्मा हो गया यह मानना सो मिथ्या है।

'मैं उनको नमस्कार करता हूँ' इस का अर्थ यह है कि "मैं पूर्ण पवित्रदशा को ही नमस्कार करता हूँ, अन्य भावो की ओर नहीं जाता, ससार की ओर किसी भी भाव से नहीं देखता" इस प्रकार अपने पूर्ण साध्य को नमस्कार करके पूर्ण शुद्धस्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय जो सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा बताया गया है उसी को कहना चाहते है।

श्रुत-केवली= भीतर के भाव ज्ञान में पूर्ण सर्व अर्थ सहित आगम को जानने वाले। 'समय'= पदार्थ अर्थात् आत्मा। प्राभृत = भेंट। जैसे राजा से मिलने के लिए जाने पर उसे भेंट देनी होती है, उसी प्रकार शुद्ध आत्मा को अंतरंग में मिलने के लिए सम्यग्ज्ञान की भेट देनी होती है। टीका में 'अथ' शब्द मंगलसूचक है। 'अथ' साधकता का द्योतक है। पूर्णता के लक्ष्य से अपूर्व प्रारम्भ बताया है अर्थात् पहले अनन्तबार बाह्य साधनो से जो कुछ कर चुका है यदि वही हो तो वह अपूर्व प्रारम्भ नही है। यहाँ पर अपूर्व साधक दशा को प्रगट करने की बात है। सस्कृत में 'अथ' का अर्थ 'अब' होता है। अनन्तकाल से जो मानता चला आ रहा है और जो कुछ भाव करता आ रहा है वह नहीं, किन्तु सर्वज्ञ भगवान ने जो कहा है वह कहता हूँ। 'अथ' शब्द इसी का द्योतक है।

इस अपूर्व प्रारम्भ को समझे बिना यह जीव पुण्य के फल से अनन्तबार नवमें ग्रैवेयक तक गया। मैं स्वाधीन स्वरूप हूँ, पर के आश्रय से रहित हूँ, यह भूलकर जैन के महाव्रतादि भी धारण किये। वस्त्र के एक सूत से भी रहित नग्न दिगम्बरदशा धारण करके उग्र शुभभाव सहित अनन्तबार पञ्च-महाव्रत पालन किये, उत्कृष्ट तप किया। किसी ने अग्नि में जला दिया, तो भी किंचित् मात्र क्रोध नहीं किया। तथापि, सर्वज्ञ भगवान कहते है कि "ऐसा अनन्तबार करने पर भी धर्म प्राप्त नही हुआ। मात्र वह उच्च पुण्य करके स्वर्ग में गया। उसे स्वरूप की पूर्ण

स्वाधीनता की यह बात नहीं जम पाई कि आत्मा पर से निराला है और पुण्य-पाप की उद्भूतवृत्ति से परमार्थतः मैं भिन्न ही हूँ। मैं मन्त्र की सहायता से शुद्धदशा को प्रगट नहीं कर सकता।"

शास्त्र के प्रारम्भ में सर्वसिद्धों की भावस्तुति और द्रव्यस्तुति करके अपने तथा पर के आत्मा को सिद्ध समान स्थापित करके उसका विवेचन करते हैं। मन, वाणी, देह तथा शुभाशुभ वृत्ति से मैं भिन्न हूँ, इस प्रकार शुद्धात्मा की ओर उन्मुख होकर तथा रागवृत्ति से हट कर अन्तरंग में स्थिर होना सो भाव-स्तुति है। शेष शुभभाव रूप स्तुति करना सो द्रव्यस्तुति है। इसमें से पहले अपना आत्मा सिद्ध परमात्मा के समान है, इस प्रकार अपने को स्थापित करके कहे कि मुझ में सिद्धत्व-पूर्णता है। किसी को भले ही यह छोटे मुँह बड़ी बात मालूम हो किन्तु पूर्ण स्वरूप को स्वीकार किये बिना पूर्ण का प्रारम्भ कैसे होगा?

ज्ञानी कहते हैं कि 'तू प्रभु है'। इसे सुनते ही लोग बिचक जाते हैं और कहते हैं कि अरे! आत्मा को प्रभु कैसे कहा! ज्ञानी कहते हैं—'सभी आत्मा प्रभु हैं।' बाह्य विषय कषाय में जिनकी दृष्टि है वे आत्मा को प्रभु मानने से इन्कार करते हैं। किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि मैं सिद्ध हूँ इस प्रकार विश्वास करके 'हाँ' कहो। पूर्णता के लक्ष्य के बिना वास्तविक प्रारम्भ नहीं होता। मैं पामर हूँ, मैं हीन हूँ, यह मानकर जो कुछ करता है उसके परमार्थतः कोई प्रारंभ नहीं होता। 'मैं प्रभु नहीं हूँ' यह कहने से 'ना' में से 'हाँ' प्राप्त नहीं होती। यदि कोई केंचुए को दूध-शक्कर पिलाये तो वह नाग नहीं हो सकता। इसी प्रकार कोई पहले से ही अपने को हीन मानकर पुरुषार्थ करना चाहे तो वह सफल नहीं हो सकता। नाग का बच्चा केंचुए के बराबर होने पर भी फुफकारता हुआ नाग ही है। वह शक्तिशाली होता है। छोटा नाग भी फणिधर है। इसी प्रकार आत्मा वर्तमान अवस्था में भले ही शक्तिहीन दिखाई दे तथापि स्वभाव से तो वह सिद्ध समान पूर्ण-दशा वाला है, इसलिए आचार्य महाराज पहले से ही पूर्ण सिद्ध, साध्य-भाव से बात को प्रारंभ करते हैं। उन्हें कितना उमंग है!

लोग भी पूर्ण मागकर गाना गाते है । शादी के समय ममता-भाव से गीत गाये जाते है कि 'मोतियन चौक पुराये' अथवा 'मोतियन थाल भराये'। भले ही घर में एक भी मोती न हो किन्तु ऐसी भावना भाते है । इसी प्रकार कहते है कि 'हाथी झूमे द्वार पर'। भले ही घर में एक गाय भी न हो। बात यह है कि संसारी जीवो के गीत अपनी ममता, स्नेह और अनुकूलता को लेकर होते है । इसी न्याय के अनुसार आत्मा स्वय परसे भिन्न परिपूर्ण अखण्ड है । इसलिए वह पूर्ण की भावना प्रगट करता है । बाह्य में कुलाट खाकर विकार मे खड़ा है, इसलिए विकार मे पूर्ण की तृष्णा प्रगट करता है। 'मोतियन चौक पुराये, मोतियन थाल भराये' अथवा 'हाथी झूमे द्वार पर' इत्यादि अनन्त तृष्णा का भाव भीतर से आया है । स्वयं अनन्त गुणो से परिपूर्ण है। उससे कुलाट खाकर ऐसे अनन्त तृष्णा के विपरीत भाव करना है ।

कभी २ कहा जाता है कि 'आज तो सोने का सूर्य उगा है'। भला यह प्रतिदिन नही और आज क्यो? जिस बात की महिमा को जाना, उसी की महिमा के गीत गाता है । उस संसार की वृत्ति को बदलवाकर यहा पर पूर्ण पवित्रता की भावना है । आचार्य देव कहते है कि जो अपूर्व आत्मधर्म को चाहता है, उसे 'मैं सिद्ध परमात्मा हूँ' इस प्रकार की दृढ़ता की स्थापना अपने आत्मा में करनी होगी। स्वयं पात्र होकर पूर्ण की बात सुनते ही 'हाँ' कहनी होगी। किन्तु जिस-का हुलास और बीड़ी के बिना काम नही चलता, उससे कहा जाय कि तू परमात्मा है तो वह इस बात को किस मन से बिठायेगा? "पुण्य का संयोग भी मुझे नहीं चाहिए, परमाणु मात्र मेरा नहीं है, राग-द्वेष उपाधि मेरा स्वरूप नहीं है' इस प्रकार पूर्ण आत्मा के निर्णय के द्वारा अपने आत्मा में और पर आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करके कहते हैं कि मैं जिन्हे सुनाता हूँ वे सब प्रभु है। यह देखकर प्रभुत्व का उपदेश देता हूँ। आचार्य देव घोषणा करते है कि मैं पूर्ण पवित्र सिद्ध परमात्मा हूँ

और तुम भी स्वभावतः पूर्ण ही हो, यह बात तुम्हें निस्सन्देह समझ लेनी चाहिए। प्रत्येक आत्मा में पूर्ण प्रभुत्व शक्ति भरी हुई है। ज्ञानी कहते हैं कि उसकी 'हाँ' कह। उससे इन्कार करने वाला प्रभुत्व दशा को कैसे प्रगट कर सकता है?

प्रश्न—बहुत से लोग कहते हैं कि हम परमात्मा हैं, तब इस सम्बन्ध में आप क्या कहते हैं?

उत्तरः—ऐसी बातें करने से अन्तरंग अनुभव के साथ मेल नहीं बैठता। मन के पहाड़े में यह धारणा कर रखा हो कि सात पँचे पैंतीस होते हैं, किन्तु ठीक मौके पर पहाड़े का हिसाब न जमा सके तो उसका निश्चय किया हुआ ज्ञान किस काम का? इसी प्रकार मैं राग-द्वेष मोह से रहित पूर्ण प्रभु हूँ, इस प्रकार निरन्तर अखण्ड स्वभाव की प्रतीति न रहे तो मन का धारण किया हुआ विचार किस काम का?

आचार्य देव कहते हैं कि 'मैं प्रभु हूं, पूर्ण हूँ' इस प्रकार निश्चय करके तुम भी प्रभुत्व को मानो और उस पूर्ण पवित्र दशा को प्रगट करने का उपाय जिस प्रकार यहा कहा गया है उसी प्रकार उसे यथार्थ ग्रहण करो। कहा जाता है कि पूत के लक्षण पालने में मालूम होजाते हैं। यहां पर आचार्य देव कहते हैं कि हम प्रभु हैं और तुम भी प्रभु हो, पहले इस बात की स्वीकृति जमती है या नहीं। कोई कहता है कि छोटी थैली में बड़ी थैली के रुपये कैसे समा सकते हैं? किन्तु भाई! तू अनन्त ज्ञान-आनन्दरूप है, इसलिए तू इतना बड़ा 'प्रभु स्वरूप' है। ऐसी बात सुनकर समझकर और उसे जमाकर, अंतरंग से स्वीकार कर। यदि कोई भाग्यशाली पिता पुत्र से कहे कि तू इतनी रकम लेकर अमुक व्यापार कर, तो वह 'हा' ही कहेगा। इसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान और अनन्तज्ञानी आचार्यों ने सभी आत्माओं को पूर्णतया देखा है। तू भी पूर्ण है, परमात्मा के समान है। ज्ञानी स्वभाव को देखकर कहते हैं कि तू प्रभु है, क्योंकि भूल और अशुद्धि तेरा स्वरूप नहीं है। हम भूल को नहीं देखते, क्योंकि

हम भूल रहित पूर्ण आत्मस्वभाव को देखने वाले हैं और ऐसे पूर्ण स्वभाव का स्वीकार करके उसमें स्थिरता के द्वारा अनन्तजीव परमात्म दशा रूप हो चुके हैं, इसलिए जो तुम से हो सकता है, वही कहा जा रहा है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य पहले सिद्धों को नमस्कार करके पहली गाथा का प्रारंभ करते हैं। प्रत्येक आत्मा स्वभाव से सिद्ध समान है। अपने आत्मा में ऐसा निर्णय करके समयसार का स्वरूप कहते हैं। परमात्मस्वरूप सिद्ध पद को अपने आत्मा में और परके आत्मा में स्थापित करके कहूँगा,- ऐसा अर्थ 'वन्दित्तु सव्वसिद्धे' में से निकलता है।

प्रत्येक प्राणी स्वतंत्र सुख लेना चाहता है। उसमें कोई बाधा, उपाधि नहीं चाहता। आत्मा स्वभाव से शुद्ध है। उसमें मन, वचन काय अथवा राग-द्वेष नहीं है। मुक्त स्वभाव वाले आत्मा की पहिचान के साथ महिमा गाई जाती है। निर्धन आदमी धनवान की प्रशंसा करता है। वहाँपर धनवान के बड़प्पन का भाव उसके हृदय में बैठा हुआ है। लक्ष्मी की मिठास अनुकूल मालूम होती है, इसीलिए उस अनुकूलता के गाने गाता है। अतरंग में जो तृष्णा जमी है, उसके गीत गाया करता है। सामने वाले व्यक्ति की तारीफ कोई नहीं करता। कहीं कहीं राजा को ईश्वर का अवतार कहा जाता है; किन्तु यह उपमा राजा कहे जानेवाले आदमी के लिए नहीं है, किन्तु उसके (प्रशंसक के) हृदय में राजा के वैभव का प्रभाव है, इसलिए उसकी प्रशंसा करता है। इसी प्रकार जिसे सहजानन्द पूर्ण पवित्र सिद्ध स्वभाव के प्रति आदर है, वह सिद्ध भगवान के गीत गाता है। अर्थात् अपने आत्मा में जो पूर्ण सिद्ध स्वभाव जमा लिया है—स्थापित कर रखा है, उसी के गीत गाता है।

आचार्यदेवने अद्भुत मंगलाचरण किया है। अखण्ड जिनशासन को जीवित रखा है। जो स्वतंत्रता लेना चाहता है, वह ऐसा पद चाहता है जो किसी के आश्रित न हो। सिद्ध को वही वन्दना कर

सकता है जिसके स्वाधीन परमात्मदशा जम गई है। जिसके हृदय में यह बात जम गई है, वही भाव-वन्दना कर सकता है। 'मैं सिद्ध-स्वभाव पूर्ण पवित्र परमात्मा हूँ' ऐसी बात सुनते ही जिसके अन्तरंग में जिज्ञासा उत्पन्न हो गई है और जो जीव धर्म को समझना चाहता है, उसी की यह बात है। शंका में फँस जाने वाले के लिए नहीं है। वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा है। यहाँ वस्तु का अर्थ आत्मा है। आत्मा का स्वभाव; मन, वाणी, देह तथा रागादि-उपाधि से रहित है। ऐसा शुद्ध चैतन्य आत्मा का जो स्वभाव है सो धर्म है। जिसे यह स्वभाव प्रगट करना है वह सिद्ध को पहिचान कर वन्दना करता है अर्थात् राग से किंचित् मुक्त होकर एकाग्र हो जाता है।

प्रश्न—सिद्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिसके पूर्ण कृतकृत्य परमात्मदशा प्रगट हुई है, उसे सिद्ध कहते हैं।

भाव-वन्दना—'मैं पूर्ण ज्ञानघन एवं स्वभाव से निर्मल हूँ, ऐसे भाव सहित रागादि को विस्मरण करके अपने लक्ष में राग रहित अन्तरग में स्थिर होना सो अन्तरंग एकाग्रता अर्थात् भाव-वन्दना है। शुभलक्षी भक्ति-भाव द्रव्यस्तुति अर्थात् द्रव्य वंदना है। उस द्रव्यस्तुति में यद्यपि अल्प राग का भाव है तथापि वह गौण है। पहले अपने और दूसरे के आत्मा में भी सिद्धत्व स्थापित करके सबको प्रभु के रूप में स्थापित किया है। यही सर्वज्ञ वीतराग का प्रसिद्ध मार्ग है। अहा ! कैसी अद्भुत बात है और कैसा अपूर्व उपदेश है। जिसकी पात्रता हो वह 'हाँ' कहे। जो दूसरे में अर्थात् पुण्य-पाप में रुक जाये और पर का अवलम्बन ले तथा इस प्रकार पर की ओर देखने में लग जाये, उसका सच्चा हित नहीं हो सकता। जो अच्छा करना चाहता है अथवा भला करना चाहता है वह सम्पूर्ण अच्छा करना चाहेगा या अपूर्ण ? सब सम्पूर्ण ही अच्छा करना चाहेंगे। इसलिए आत्मा को पूर्ण माने बिना काम नहीं चल सकता। आत्मा को पूर्ण मानने पर ही वह पूर्ण

प्रगट होगा । अच्छा, ठीक, परमार्थ, कल्याण और आनन्द इत्यादि सब निर्मल निरुपाधिक दशा है जो कि अपने में विद्यमान है । जो सर्वोत्कृष्ट सिद्ध परमात्मदशा को याद करते हैं, उसका आदर करते हैं, उनकी आंतरिक दशा परमात्मा के बराबर ही है । मुझे पूर्ण परमात्मस्वभाव ही आदरणीय है । दूसरे पुण्य-पाप का अंश मुझे नहीं चाहिए । नित्य, निरावलम्बी, पूर्ण स्वभाव की श्रद्धा होने के बाद शुद्धदृष्टि के द्वारा वह सब मार्ग बना लेगा । दृष्टि खुलने के बाद अल्प राग रहेगा, किन्तु गुण को रोकने वाला वैसा राग नहीं रहेगा । यह विश्वास और रुचि वही कर सकता है जिसका शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति से अहंकार उठ गया है । 'मैं पुण्य-पाप, उपाधि रहित, असंग ही हूँ, ज्ञाता ही हूँ,' जिसे ऐसा ज्ञान है वह सत् के प्रति अपनी रुचि प्रगट करता है । जिसे अन्तरंग में-आत्मा में, परमात्मा की बात जम गई है, वह भविष्य की अपेक्षा से साक्षात् सिद्ध ही है। जिन्हें मुक्ति की बात सुनते ही पसीना आ जाता है और प्रभु कहते ही जो हाय-तोबा मचा देते है, उनके लिये ज्ञानी कहते है कि हम सबको प्रभु के रूप में देखकर कह रहे है। क्षणिक उपाधि के भेद को सुनकर रुक मत जाओ। मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम सिद्ध समान प्रभु हो । जबतक हमको ऐसा विश्वास अपने आप नहीं हो जाता, तबतक सर्वज्ञ परमात्मा के द्वारा कही गई बातें तुम्हारे अन्तरंग में नहीं जम सकतीं ।

भगवान कुंदकुंदाचार्य कहते हैं कि मैं तुझे परम-सत्य सुनाऊँगा । उसे श्रवण करते हुए तू एकबार अन्तरंग में इतना स्वीकार कर कि श्रवण सम्बन्धी राग मेरा नहीं है । मैं अरागी, अखण्ड, ज्ञायक प्रभु ही हूँ । दूसरी बात यह है कि जैसे सिद्ध को सुनने इत्यादि की इच्छा नहीं है, उसी प्रकार मुझे भी नहीं है । सिद्ध भगवान का आत्मा जितना बड़ा है, उतना मेरा भी है । ऐसा निर्णय कर । इस प्रकार यह-समयसार शास्त्र (आत्मस्वभाव) का कथन है । इस शास्त्र को भाव वचन से अर्थात् अन्तरंग एकाग्रता से और द्रव्य वचन से अर्थात् शुभभाव से

कहूँगा । इसके बाद कहते हैं कि मैं अनुभव प्रमाण से कहूँगा, उसे अवश्य स्वीकार कर लेना, कल्पना मत करना ।

यहाँ एक दृष्टान्त देते हैं:—

पूर्वभव में द्रोपदी का एक धनिक सेठ के यहाँ विषकन्या के रूप में जन्म हुआ था। उसमें यह विशेषता थी कि जो भी उसे पत्नी के भाव से स्पर्श करेगा, उसके शरीर में विषैला दाह उत्पन्न हो जायगा । इसलिए उस विषकन्या का धनाढ्य पिता विचार करने लगा कि इस कन्या के साथ कौन विवाह करेगा ? अपनी जाति का कोई भी व्यक्ति तो ग्रहण करेगा नहीं।

एक दिन मार्ग में एक पुण्य-हीन भिखारी जा रहा था । उसके वस्त्र फटे हुए, लकड़ी टूटी हुई और भिक्षा-पात्र फूटा हुआ था । तथा उसके शरीर पर मक्खियाँ भिनभिना रही थीं । उसे देखकर सेठने विचार किया कि इस भिखारी को अपने घर रखकर अच्छे कपड़े पहनाऊँगा, इसका शृंगार करूँगा और इसे धन देकर अपनी पुत्री के साथ विवाह कर दूँगा । ऐसा विचार करके उसने अपने नौकर को वैसा करने की आज्ञा दी ।

नौकर उस भिखारी को घर में ले आया और उसे नये वस्त्राभूषण पहनाने के लिए उसके फटे-पुराने कपड़ों को उतारने लगा, तब वह भिखारी बड़े जोर से चिल्लाने लगा । उस भिखारी के जो वस्त्र और भिक्षा-पात्र इत्यादि फेंक देने लायक थे, उन्हे नौकर फेंकने लगा कि-वह अज्ञानी भिखारी और अधिक रोने-चिल्लाने लगा । सेठ ने उसके रोने का कारण पूछा, तो नौकर ने कहा कि मैं उसका पुराना वेश उतारता हूँ इसलिए वह चिल्लाता हैं। उसके पुण्य नहीं है, इसलिए वह पहले से ही घर में प्रवेश करने से ही इन्कार कर रहा है और चिल्ला रहा है कि मेरे कपड़े इत्यादि उतारे जा रहे है; किन्तु वह यह नहीं सोच सकता कि भले आदमी के घर में बुलाया है तो इसमें कोई कारण तो होगा !

सेठ ने जान लिया कि भिखारी पुण्य-हीन और अज्ञानी है, तथापि विश्वास उत्पन्न करने के लिए उसका पुराना वेष-भूषा बाहर न फिकवाकर वहीं एक कोने में रख देने को कहा। पश्चात् उसे स्नान करवाकर और अच्छे वस्त्राभूषणादि पहनाकर लग्न-मण्डप में बिठाया। ज्यों ही उसका विष-कन्या के साथ हस्तमिलाप कराया गया त्यों ही उसके शरीर में विष-कन्या के विष का दाह उत्पन्न हो गया।

भिखारी के पुण्य तो था नहीं, इसलिए उसने विचार किया कि मैं इस कन्या को नहीं रख सकूँगा, इसलिए वह मध्यरात्रि में उठकर उन तमाम नवीन वस्त्राभूषणों को उतारकर और कोने में रखे हुए अपने उन फटे-पुराने वस्त्रों को पहनकर वहाँ से ऐसा भागा जैसे कसाई के हाथ से छूटकर कोई जानवर भागता है।

इस दृष्टान्त से यह सिद्धान्त निकलता है कि संसार की चौरासी-लाख योनियो में परिभ्रमण करने वाले भिखारियों को देख कर (जैसे उस सेठ ने नौकर को आज्ञा दी थी उसी प्रकार) केवलज्ञानी भगवान ने धर्मसभास्थित मुनियो को आज्ञा दी कि जगत् के जीवों को यह सुनाओ कि सभी आत्मा प्रभु है, सिद्धस्वरूप है; तुम पूर्ण हो, प्रभु हो, इसलिए तुम्हारा ऐसा स्वरूप नहीं है कि जिससे तुम्हे पर की कोई इच्छा करनी पडे। पर-पदार्थ की इच्छा करना भिखारीपन है। अधिक माँगे सो बड़ा भिखारी और थोड़ा माँगे सो छोटा भिखारी है। इसी प्रकार सभी जीव परवस्तुओ के छोटे बड़े भिखारी है।

लोग जबतक ससार की प्रतिष्ठा देखते है, धन, घर इत्यादि का सयोग चाहते हैं, तबतक वे सब उस भिखारी के समान है। वे बाहर से ऐसे बड़प्पन को ढूँढते है कि जिससे कोई हमारी प्रतिष्ठा के गीत गाये, प्रशसा करे और हम गण्यमान्य लोगों में गिने जाने लगे। ऐसे जो चौरासी के चक्कर में परिभ्रमण करने वाले भिखारी है, उनके लिए शाश्वत् उद्धार का उपाय बताने के लिये तीर्थंकर प्रभु ने संतो से कहा कि जगत् के लोगों से कहो कि तुम प्रभु हो। तुम अपनी पूर्ण स्वाधीन

शक्ति की महिमा को सम्हालो। हम तुम्हारा, तुम्हारी शुद्ध परिणति के साथ लग्न (लीनता) कराये देते है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने मुनियों से कहा कि इन चौरासी के भिखारियों को बुलाकर उनके हृदय में उनका सिद्धत्व स्थापित करो और कहो कि तुम प्रत्येक आत्मा प्रभु हो, अनन्त पुरुषार्थ, अनन्तज्ञान और अनन्त आनन्दस्वरूप हो। ऐसी पूर्ण स्वतंत्रता की बात सुनते ही जो आत्मार्थी है, पुरुषार्थी हैं, उन्हे तो सबसे पहले पूर्ण के प्रति श्रद्धा हो जाती है और वे पूर्ण के प्रति अपूर्व रुचि दिखाकर विशेष समझने का उत्साह दिखाते है। और उनका जो विश्वास करते है वे स्वाधीन-निज घर में प्रवेश करते है। पश्चात् अल्प-रागरूप अस्थिरता रह जाती है, उसे कैसे टाला जाय ? उस पुरुषार्थ को वह सम्हाल लेगा और निरन्तर अपने पूर्ण साध्य के गीत गायेगा। ज्ञानी के पास से सुनकर स्वीकार करके और आत्मा में निर्णय करके कहेगा कि मैं पूर्ण सिद्ध समान परमात्मा हूँ, प्रभु हूँ। उसके पूर्ण सिद्धपद शक्तिरूप में विद्यमान है। उसकी निर्मलता की परिणति प्रगट करके वह मुक्तदशा के साथ परिणमन करेगा, अखण्ड आनन्द प्राप्त करेगा, किन्तु भिखारी को अनादिकाल से परिभ्रमण करने की रुचि है। यदि उससे ज्ञानी कहे कि आत्मा पुण्य-पाप रहित प्रभु है, उसे शुभ विकल्प की सहायता की आवश्यकता नहीं है, तो वह इसे सुनकर चिल्लपों मचायेगा कि हाय! हाय! यह कैसे हो सकता है ?

किन्तु एकबार तो श्रद्धा पूर्वक कह कि मुझे पुण्यादि कुछ भी नहीं चाहिए, क्यों कि सिद्ध परमात्मा में किसी उपाधि का अश नहीं है, और मेरा स्वरूप भी वैसा ही है।

पर के लिए जो चाह उत्पन्न होती है वह भी विकारीभाव है, मेरा स्वभाव नहीं है। इस प्रकार अन्तरग से एकबार स्वीकार करना चाहिए। किन्तु जो सुनते ही इन्कार कर देता है और चिल्लाता है, उसे ससार में पुण्यादि पराश्रय की मिठास से भटकना अच्छा

लगता है । उसे मुक्त होने की बात नहीं जमती । इसलिए कहता है कि इतने लम्बे समय से हमारा जो किया कराया है, उस सब पर पानी फिरता है । इसलिए हमारे कृतपुण्य की रक्षा करते हुए यदि कोई बात हो तो कहो ! किन्तु जो जैसा मार्ग हो उससे विरुद्ध कैसे कहा जा सकता है ? आत्मा तो पर से भिन्न चिदानन्द स्वरूप है। पुण्य-पाप की वृत्ति अथवा दया, हिंसा की वृत्ति तेरा स्वरूप नहीं है । पहले ऐसा विश्वास कर, फिर शुभ वृत्ति भी आयेगी । किन्तु इसे सुनते ही जो चिल्लाता है, इन्कार करता है, उसके मन में भगवत्ता की मान्यता नही जमती ।

जैसे पहले भिखारी के पूर्व–पुण्य नहीं था, इसलिए उसके मन में सेठ की बात नहीं जमी, उसी प्रकार ज्ञानी ने अनन्त दुःख से छूटकर अनन्त सुख का उपाय बताया कि वहाँ वह सबसे पहले इन्कार कर बैठता है । क्यों कि उसे अपनी महत्ता का और पूर्णता का विश्वास नहीं है । अन्तरंग में पुरुषार्थ दिखाई नहीं देता, इसलिए वह भविष्य में अनन्त संसार का भिखारी रहना चाहता है । जितना वीर्य पुण्य–पापरूप बन्धन–भाव में लगा रहता है वह आत्मा का स्वभाव नही है । जैसे हिंसा, झूठ, अव्रत आदि अशुभ भाव से पापबन्ध होता है उसी प्रकार दया, सत्य, व्रत आदि शुभ भाव से पुण्य–बंध होता है, धर्म नहीं । मात्र आत्मा के शुद्धभाव से ही धर्म होता है । इस प्रकार पहली बात के सुनते ही अज्ञानी चिल्लाहट और घबराहट मचा देता है तथा कहता है कि इससे तो स्वर्ग या पुण्य भी नहीं रहा; हमें यह प्रारंभ में तो चाहिए ही है; उसके बाद भले ही छोड़ने को कहो ! किन्तु ज्ञानी कहता है कि उसे श्रद्धा में पहले से ही छोड़ दे । मैं सिद्ध समान हूँ, मुझे कुछ नहीं चाहिए, इस प्रकार एक बार तो स्वीकार कर, फिर तू राग को दूर करने का उपाय समझे बिना न रहेगा ! तू मोक्षस्वरूप है, इसे एकबार स्वीकार कर ।

आचार्यदेव मोक्ष का मंडप तानकर तुझमें मोक्षपद स्थापित करते है। एकबार धर्म अर्थात् स्वभाव का निश्चय कर, तो तुझे ऐसी महिमा स्वतः प्रगट हो जायगी कि मै पूर्ण परमात्मा हूँ। जैसे सिद्ध परमात्मा है वैसा ही तू है। वर्तमान क्षणिक अपूर्णता को न देखकर अपने अविनाशी पूर्ण स्वभाव को देख। यदि ऐसा विश्वास अतरंग में लाये और उसकी महिमा को समझे तो वह सिद्ध परमात्मा हुए बिना न रहे। किन्तु जिसे पहले से ही यह विश्वास जमा हुआ है कि यहाँ न तो प्रभुता है और न पुण्य के बिना अकेला आत्मा रह सकता है, वह केवली के पास रह कर भी कोरा का कोरा ही रहा! वह क्रियाकाण्ड करके थक गया और पुण्य के भाव में चकर लगाता रहा। पुण्य तो क्षणिक सयोग देकर छूट जायगा। उससे आत्मा को क्या मिलने वाला है? मै पर से भिन्न हूँ, पुण्यादि की सहायता के बिना अकेला पूर्ण प्रभु हूँ, इस विश्वाससे जिसने अंतरग मे काम नही लिया, वह पुण्यादि में मिठास मानकर बाह्य में संतुष्ट होकर रुक रहा है। मुक्ति की श्रद्धा के बिना पुण्य-बध किया, किन्तु अवसर आने पर सत्य को सुनते ही चिल्लाता है कि ऐसा नहीं हो सकता। उसके मन में यह बात नहीं जमती कि पुण्यादि अथवा परावलम्बन इष्ट नहीं है, अथवा कोई पर-वस्तु इष्ट नहीं है।

जिसकी रुचि होती है, उसकी भावना की हद नही होती। तू अखण्डानन्द अकेला परमात्मा प्रभु ही है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि सुनो! त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर देव की यह आज्ञा है कि पूर्ण की रुचि और अपार स्वभाव को स्वतन्त्ररूपमें घोषित करो। भाव और द्रव्यस्तुति से मोक्ष के उपाय का प्रारंभ होता है। परम कल्याण स्वयं ही अपने पूर्ण पद को मानने-जानने से और उसमें एकाग्र होने से ही होता है।

यह अद्भुत बात कही है। यह बात जिसके जम जाती है, उसके सब झगड़े दूर हो जाते हैं। सभी आत्मा सिद्ध समान प्रभु हैं और

स्वतंत्र हैं। यह जानने में विरोध कहाँ है ? जिसने सिद्ध परमात्मा के साथ अपना मेल किया उसने यह जान लिया कि वह स्वयं सिद्ध समान है। तब फिर वह किसके साथ विरोध करेगा ? सिद्ध में जो नही है वह मेरा स्वरूप नहीं है, और सिद्ध में जो कुछ है वह मेरा स्वरूप है। ऐसा परमात्मभाव दिखाई देने पर उससे विरुद्ध जो शुभाशुभ परिणाम दिखाई देते है, उन्हे निकाल देने से मात्र पूर्णस्वरूप रह जायगा। जिस–जिसने अपने पूर्ण परमात्मपद को पहचानकर अपने में उसकी दृढ़ता की स्थापना की है, वह पुण्य–पापादि अन्य किसी की स्थापना नही करेगा। लोकोत्तर-स्वरूप के माहात्म्य के लिए सिद्ध हमारे इष्ट हैं, उन्हे हम अपने आत्मा में स्थापित करते हैं, अखण्ड ज्ञायकरूप, निर्मल, निर्विकल्प, सिद्धत्व मेरा स्वरूप है और वह सदा रहेगा। इसके अतिरिक्त जो शुभ–अशुभ राग की वृत्ति उठती है वह पर है। यह जानकर जिसने यह स्थापित किया कि मैं सिद्धात्मा अशरीरी हूँ, उसने अपने में महा–मांगलिक मोक्ष का प्रारंभ किया है। और अपने को भूलकर पूजा, व्रत, दान इत्यादि में शुभभाव के द्वारा जो कुछ पुण्य किया वह स्वामीभाव से किया है, इसलिए वह पर का बन्धन और अभिमान करता है।

आत्मा शुद्ध ज्ञाता है। उसमें पूर्ण प्रभुत्व को स्थापित किये बिना मुक्ति के लिए तीन काल और तीन लोक में दूसरा कोई उपाय नहीं है।

भाव–वचन का अर्थ है—अंतरंग एकाग्रता। द्रव्य–वचन का अर्थ है शुभभाव और शुभ विकल्प। इन दोनों के द्वारा शुद्धात्मा का कथन किया जायगा।

आचार्य कहते हैं कि यह सिद्ध भगवान, साध्य जो शुद्ध आत्मा है, उसके प्रतिच्छन्द के स्थान पर है। साध्य का अर्थ है–साधन करने योग्य। जो पूर्ण निर्मलदशा है वह स्वरूप-साध्य है। धर्मो का ध्येय हितस्वरूप आत्मा का सिद्ध स्वरूप है। अशरीरी शुद्ध आत्मा उसका लक्ष्य है। ध्येय का अर्थ है–निशान, साध्य। पूर्ण पवित्र सिद्ध स्वरूप आत्मा का ध्येय आत्मा स्वयं ही है। जिसने यह निश्चय किया,

वह सिद्ध भगवन्त सिद्धत्व के कारण, शुद्ध आत्मा के प्रतिच्छन्द के स्थान में है। मैं शुद्ध, चिदानन्द, पूर्ण, कृतकृत्य, परमात्मा हूँ। इसी प्रकार ज्ञान में उठता हुआ ज्ञानभाव स्वभाव की घोषणा के द्वारा कहता है कि हे सिद्धभगवान! आप परमेश्वर है। और उधर सामने से आवाज आती है कि आप परमेश्वर हैं। इस प्रकार मानो प्रतिध्वनित होकर उत्तर आता है। इसी प्रकार सिद्धभगवान प्रतिच्छन्द के स्थान पर हैं।

हे सिद्धभगवान्! आप मेरे स्वभाव स्वरूप हैं। हे सिद्ध परमात्मन्! मैं आपकी वन्दना करता हूँ। इसी प्रकार की प्रतिध्वनि ज्ञान में प्रतिच्छन्द के रूप में स्थापित हो जाती है।

सिद्ध तो कृतकृत्य होते है। उन्हे कुछ भी करना शेष नही होता। मैं द्रव्यस्वभाव से सर्व जीवो को सिद्ध परमात्मा के समान देखता हूँ। सर्वज्ञ वीतराग जगत् के सभी प्राणियों के लिए स्वतंत्रता की घोषणा करते हैं। जो सिद्ध भगवान में नही है, वह मुझमें नहीं है और जो सिद्ध भगवान में है वह मुझमें है। इस प्रकार की निःशंक दृढ़ता किसी के साथ वातचीत करते हुए अथवा किसी भी प्रसंग पर दूर नहीं होनी चाहिए। किसी भी क्षेत्र में, किसी भी काल में आत्मा का विश्वास आत्मा से पृथक् अर्थात् विस्मरणरूप नही होता, ऐसी रुचि निरंतर रहनी चाहिए। धर्मी अपने को निश्चय से ऐसा ही मानता है कि जैसे सिद्ध परमात्मा के सकल्प-विकल्प अथवा रागादिक कोई उपाधि नहीं होती, वैसे ही मेरे भी नहीं है। मैं अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त गुण और अनन्त बल के द्वारा स्वाभाविक तत्त्व हूँ, क्यों कि मैं सिद्ध परमात्मा की जाति का हूँ। वे अनन्त ज्ञान-आनन्द के रसकन्द हैं, वैसा ही मैं हूँ। इस प्रकार पहिचान कर उनका चिन्तवन करके उन्हीं के समान अपने स्वरूप का ध्यान करके योग्य संसारी जीव उन्हीं जैसे हो जाते है।

ध्यान करके अर्थात् शक्ति में से खींचकर अन्तरंग एकाग्रता के द्वारा अपनी पूर्ण पवित्र दशा को प्रगट करते हैं।

पर से भिन्न अपने परमार्थ स्वरूप की जो प्रतीति है, सो निश्चय है और पुरुषार्थ के द्वारा मोक्षमार्ग को सिद्ध करना सो व्यवहार है। यहाँ पर—इसमें दोनो कहे गये है। पहले मैं सिद्धस्वरूप हूँ, परमात्मा के समान ही हूँ, ऐसी जो द्रव्यदृष्टि है सो निश्चय है और उसमें भाव-वन्दनारूप स्वभाव में एकाग्र होकर अनन्त जीव सिद्ध भगवान के समान हो गये हैं सो मोक्ष का उपाय है। उसे व्यवहार कहा जाता है।

यह अन्तरग में स्थिर होने की (एकाग्र होने को) ज्ञान की क्रिया कही है। देहादि वाह्य की प्रवृत्ति आत्मा की क्रिया नहीं है, क्यो कि जहाँ गुण हो, वहाँ अवगुण दशा हो सकती है और वह परावलम्बी, क्षणिक विकारीभाव है। स्वभाव की स्थिरता से उसे दूर किया जा सकता है। तीनो काल में एक ही उपाय और एक ही रीति है। अहो! कितनी विशाल दृष्टि है! प्रभु होने का उपाय अपने में ही है! यथा:—

चलते फिरते प्रगट प्रभु देखूँ रे!
मेरा जीवन सफल तब लेखूँ रे!
मुक्तानन्द के नाथ विहारी रे!
ओधा जीवन डोरी हमारी रे!

पुण्य-पाप इत्यादि जो पर है वे मेरे है। मै पर का कुछ कर सकता हूँ, इस प्रकार की मान्यता पाप है। उसे जो हरता है सो हरि है, (हरि=आत्मा)। विशाल दृष्टि का अर्थ है स्वतन्त्र स्वभाव को देखने की सच्ची दृष्टि। मैं भी प्रभु हूँ, तुम भी प्रभु हो। कोई एक दूसरे के आधीन नहीं है। इस प्रकार जहाँ स्वतत्र प्रभुत्व स्थापित किया, वहाँ किसके साथ वैर-विरोध रह सकता है? सबको पवित्र प्रभु के रूप में देखने वाला आत्मा के निर्विकारी स्वभाव को देखता है। वह उसमें छुटाई-बड़ाई का भेद नहीं करता। जगत् में कोई शत्रु उत्पन्न नहीं हुआ है; वैर-विरोध तो अज्ञानभाव से—कल्पना से मान लिया गया है।

त्रैकालिक ज्ञानस्वभाव में जानने रूप क्रिया होती है। उसे भूलकर पर को अच्छा या बुरा मानकर आकुलता क्यों करता है ? हे भाई ! इस अनन्तकाल में दुर्लभ मानव-जीवन और उसमें भी महा-मूल्य सत्समागम तथा उनकी वाणी का श्रवण प्राप्त होता है, तथापि अपने स्वतंत्र स्वभाव को न माने, यह कैसे चल सकता है ?

बाप बेटे से कहे कि 'बेटा ! यह कमाई के दिन हैं। यदि अभी न कमायेगा तो फिर कब कमायेगा। अभी दो महीने परिश्रम से बारह महीने की रोटियाँ निकल सकती हैं।' सो यह तो धूल समान है, किन्तु यहाँ त्रिलोकीनाथ वीतराग भगवान कहते हैं कि मनुष्य-जीवन और सत्य को सुनने का सुयोग प्राप्त हुआ है। मोक्ष का मंडप तैयार है, तेरा सिद्ध–मुक्त स्वभाव है; उसमें तुझे स्थापित किया जाता है। उसमें कहीं भी बैर–विरोध नहीं है। चैतन्य आत्मा के स्वभाव में विरोध नहीं है, इसलिए मेरा स्वभाव भी बैर–विरोध रखना नहीं है; किन्तु अवगुणों का नाशक है, क्यों कि सिद्ध में अवगुण नहीं है। पूर्ण होने से पूर्व पूर्ण के गीत गाये हैं। जहाँ शंका है, वहाँ रोना है। ज्ञानी तो प्रभुता को ही देखता है।

आत्मा का पूर्ण अविकारी स्वरूप लक्ष्य में लेना निर्मल परिणामी की डोरी का साध्य (लक्ष्य–ध्येय) शुद्धात्मा ही है। दूसरे के प्रति लक्ष्य नहीं करना है। ऐसे निर्णय के बाद जो अल्प अस्थिरता रह जाती है, उससे गुण का नाश नहीं होने देगा। संसारी योग्य जीव को सिद्ध के समान स्थापित किया है। उसका आश्रय लेने वाले को बाद में उसमें यह सन्देह नहीं रहता कि मैं एकाग्रता के द्वारा निर्मलभाव प्रगट करके अल्पकाल में साक्षात् सिद्ध होऊँगा।

संकल्प–विकल्प और इच्छा मेरा स्वरूप नहीं है। मैं पर से भिन्न हूँ। इस प्रकार स्वतंत्र स्वभाव को प्रगट करके जाग्रत होता है। उसमें काल और कर्म बाधक नहीं होते। कर्म तो जड़–मूर्तिक हैं। वे

स्वभाव में प्रविष्ट नही हुए है। क्यो कि आत्मा सदा अपने रूप में है, पर रूप में नहीं है। जो तुझमें नही है, वह तुझे तीन काल और तीन लोक में हानि नहीं पहुँचा सकता। प्रत्येक पदार्थ अपनी अपेक्षा से है, पर की अपेक्षा से नहीं है। इसलिए कोई एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ के हानि लाभ का कारण नही है। तथापि विपरीत कल्पना करके विपरीत मान्यता ने घर कर लिया है। जो यह कहता है कि मेरे लिए कर्म बाधक है, जड-कर्मों ने मुझे मार डाला, उन्हे सुधरना नहीं है। तेरी भूल के कारण ही राग द्वेष और विकाररूप ससार है। अपने बड़प्पन को भूलकर दूसरे को बड़प्पन देता है, मानों तुझमे पानी ही नही। तू मानता है कि पर तुझे हैरान करता है या कुछ तुझे दे देता है, किन्तु ऐसा कभी नहीं होता। अपने को पूर्ण और स्वतंत्र प्रभु न माने तो भी स्वय वैसा ही है। अपने स्वभाव से विपरीत मानने पर भी स्वभाव कहीं बदल नहीं जाता। जो अपने आत्मा को परमार्थत· सिद्ध समान जानकर निरन्तर ध्याता है, वह उन्हीं जैसा हो जाता है। त्रिकाल के ज्ञानी प्रथम ही शुद्ध आत्मा की स्थापना का उपदेश देते है। जो साहूकार होता है, वह सोलहों आना चुकाता है; आठ आने वाले की आड नहीं लेता। वह अशक्त की बात को याद नहीं करता। वैसे ही मैं पूर्ण निर्मल सिद्ध समान हूँ और वैसा ही होने वाला हूँ। उसमें तीन काल और तीन लोक में कोई विघ्न नहीं देखता। आत्मा के लिए कर्म बाधक है, इस प्रकार चिल्लाहट मचाने वाले को भी याद नही करता, और जानता है कि इस प्रकार सिद्धस्वरूप का ध्यान करके अनन्त जीव सिद्ध होते हैं।

सिद्धगति कैसी है? = ससार की चारों गतियो से विलक्षण (विपरीत लक्षण) पंचमगति अर्थात् मोक्ष है, उसे अनन्त जीवों ने प्राप्त किया है। जिसकी जैसी रुचि होती है वह उसी के गीत गाता है। इसी प्रकार ज्ञानी (धर्मात्मा) जगत् के सुपात्र जीवों को अपने समान-सिद्ध समान बनाते हैं और कहते है कि ऐसे त्रिकाल अखण्ड स्वाधीनता

के आन्तरिक स्वभाव में से 'हाँ' कहकर उस बात को श्रवण करने वाले, तथा श्रवण कराने वाले सभी मोक्ष के मोती हैं, तीर्थंकर भगवान नेमी, हमारा – तुम्हारा और सबका सिद्धत्व स्थापित किया है।

इस टीका में परम अद्भुत् अलौकिक बातें भरी पड़ी है। अपूर्व सत् की स्थापना करके सर्वप्रथम मोक्ष का मंगलगान गाया है और यही सर्वोत्कृष्ट मंत्र है। उसकी घोषणा करके आचार्य महाराज संसार में सोये हुए प्राणियों को जगाते हैं। जैसे बीन के नाद से सर्प जाग्रत होकर आनन्द से डोलने लगता है, उसी प्रकार इस देह रूपी गुफा में त्रिलोकीनाथ आत्मा विराजमान है और तेरी महिमा के गीत गाये जा रहे है, तब फिर तू क्यों न नाच उठेगा? तू पूर्ण है, प्रभु है; इसे उमंगपूर्वक सुनकर एकबार मत्त होकर कहदे कि मुझे इस पूर्ण स्वभाव के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं चाहिए। सर्वज्ञ वीतराग भगवान ने तो तेरी स्वतंत्रता के सिंहासन की घोषणा की है। जैसे राजा डोंडी पिटवाकर घोषित करता है कि अब यहाँ मेरा राज्य है, इसी प्रकार ज्ञानी होकर और आत्मलीन होकर तू घोषित करदे कि मेरा सिद्धपद का राज्य है और इसमें संसारपद का नाश है। हम पहले गद्दी पर बैठे है और घोषणा की है; तू भी ऐसा ही कर।

अहा! पंचम काल में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने और श्री अमृतचन्द्राचार्य ने अमृत वर्षा की है। उसके श्रवण की मिठास और माधुर्य का क्या कहना? जिसे सुनते ही तत्त्व के प्रति बहुमान उत्पन्न होता है कि अहो! ऐसी बात तो कभी सुनी ही न थी। कैसी स्पष्ट बात है! जिसके आत्मा में ऐसी निर्मल-स्पष्ट बात जम गई वह कभी पीछे नहीं रह सकता। मैं देख भाल कर कहता हूँ कि यह स्वीकार कर कि मैं सिद्ध हूँ और तू भी सिद्ध है। ऐसे सुपात्र जीव को ही यह रहस्य सुनाया है।

सिद्धगति स्वाभाव से उत्पन्न हुई है। उसे किसी बाह्य आश्रय या अवलम्बन की आवश्यकता नहीं है। जो पराश्रय से उत्पन्न होता है वह स्वाभाविक अर्थात् स्वाधीन नहीं कहलाता। इसलिए पर निमित्त

के बिना स्वभाव से उत्पन्न सिद्धगति ध्रुव और निश्चल है; चारों गतियाँ पर निमित्त से अर्थात् पुण्य-पाप से, विकार के कारण संयोग से उत्पन्न होती है, इसलिए देव, इन्द्र आदि पद मिले तो भी वह ध्रुव नहीं है। इसलिए चारो गतियाँ नाशवान हैं। और इसलिए इस पंचम गति में विनाशीकता का अभाव है।

और फिर वह गति अचल है। चैतन्य उपयोग में अशुद्धता, चलता जो कि पर निमित से अपनो भूल से थी वह अपने स्वभाव की प्रतीति और पुरुषार्थ से सर्वथा नष्ट कर दी गई है। इसलिये अचल गति प्राप्त हुई है। पुन: अशुद्धता आने वाली नहीं है, इसलिए वह गति अचल है। जीव पहले परमात्मदशा में था, पश्चात् अशुद्ध हुआ है सो बात नहीं है। किन्तु अनादिकाल से अपनी ही भूल के कारण आत्मा में ससार दशा थी, उसका आत्मस्वभाव प्रतीति से सर्वथा नाश करके सिद्धगति प्रगट की है। वह कभी पलट नहीं सकेगी, इसलिए अचल है। प्रत्येक आत्मा का स्वभाव ध्रुव, अचल और शुद्र है, इसलिए यदि स्वभाव के प्रति लक्ष हो तो अशुद्धता नहीं हो सकती। किन्तु यह जीव परलक्ष से विकार करके चारों गतियों में अनादिकाल से भ्रमण कर रहा है। यदि वह एकबार सिद्ध-ध्रुवस्वभाव का आश्रय ले तो विश्राति मिले। पुण्य-पाप की ओर का जो पर भाव है उसके निमित्त से चौरासी में परिभ्रमण हो रहा था। अब यदि वह स्वभाव के घर में आये तो शाति मिले। अज्ञानी जीव भी अपने द्वारा माने गये कल्पित घर में आकर शानि का अनुभव करते हैं।

जैसे एक आदमी धन कमाने के लिए परदेश गया। वहां वह एक नगर से दूसरे नगर में और दूसरे नगर से तीसरे नगर में गया, वहाँ उसे अच्छी सफलता प्राप्त हुई। पश्चात् वह द्रव्य कमाकर अपने घर आया जहाँ उसे विश्राति का अनुभव हुआ और वह वहाँ पर जम गया, तथा विचार करने लगा कि इस जगह बंगला बनाना चाहिए, क्यों कि मुझे जीवन-पर्यन्त यहीं रहना है, किन्तु उसे यह खबर नही है कि उसकी

आयु कब पूर्ण हो जायगी और वह यहाँ से कब, कहाँ चला जायगा! ज्ञानी कहते है कि वह अपनी वाणी, विचार और प्रवृत्ति के अनुसार दूसरे भव में जायगा। यदि इस समय भव के अभाव का निर्णय न किया तो यह जीवन किस काम का? विपुल द्रव्य कमाया और कदाचित् देवपद प्राप्त किया, तो भी किस काम का? अनेक धर्मात्मा गृहस्थ दशा में रहकर भी एकावतारी हो गये हैं। जो सिद्ध भगवान ऐसी गति को प्राप्त हुए हैं, उस सिद्धपद को पहिचानकर उसे हृदय मे स्थापित कर वन्दना करते हैं। पहचाने बिना कोरी वन्दना किस काम की?

समय-सार अर्थात् आत्मा शुद्धस्वरूप है परनिमित्ताधीन जो शुभाशुभ वृत्तियाँ उठती हैं वे मूलस्वभाव नहीं है। जैसे-पानी का मूलस्वभाव निर्मल है, उसी प्रकार आत्मा का मूलस्वभाव पवित्र, ज्ञान आनन्दस्वरूप है। भूल और आकुलता आत्मा का स्वरूप नहीं है। ज्ञाता, दृष्टा और स्वतंत्रता भाव क्या है, यह बतलाने के लिए इस शास्त्र की व्याख्या की गई है। पहले "वन्दित्तु सव्वसिद्धे" कहकर प्रारभ किया है। जिसकी पूर्ण पवित्र स्वभावदशा प्रगट हो गई है, उसे मुक्तदशा अर्थात् परमात्मभाव कहा जाता है। उसका अंतरग से आत्मा में आदर होना चाहिए। जैसा परमात्मा का स्वरूप है वैसा ही मेरा है। मैं उसका आदर करता हूँ। पुण्य-पाप आदि का आदर नहीं करता। इस प्रकार अन्तरग से निर्णय होना ही प्रारम्भिक धर्म है।

मैं बन्ध-विकार रहित हूँ। यह निश्चय करते ही मैं परमात्मा-सिद्ध समान हूँ; यह स्थापित किया अर्थात् सिद्धपरमात्मा को भाव से अपने आत्मा में स्थापित किया, उसीका आदर करके 'मै ही वैसा आत्मा हूँ, इस प्रकार का दृढ़ निश्चय करना सर्व प्रथम उपाय है, अथवा बन्धन से मुक्त होने का मार्ग है। सिद्धभगवान नीचे नही आते; किन्तु जिसके अंत:करण में, ज्ञान में ऐसी दृढ़ता हो गई कि मैं सिद्ध परमात्मा के समान हूँ, उसके विरुद्धभाव का नाश होकर ही रहता है।

श्रद्धा से मैं पूर्ण, परमात्मा, अशरीरी, अबन्ध हूँ; इस प्रकार मोक्ष स्वभाव का निर्णय करने के वाद अल्प राग-द्वेष और अस्थिरता रह सकती है। किन्तु वह उसे दूर करना चाहता है, इसलिए वह रहेगी नहीं; लेकिन दूर हो जायगी। उसके बाद मात्र पूर्ण आनन्द रह जायगा। यह समझकर ध्रुव, अचल, अनुपम गति को अपने में देखकर भाव से एकाग्ररूप वन्दना करता है। जिस मोक्ष गति को सिद्ध भगवान ने प्राप्त किया है वह अनुपम है, अर्थात् जगत् में जितने पदार्थ हैं, उसकी उपमा से रहित है। इसलिए जैसे उनमें कोई उपाधि अथवा कमी नहीं है वैसा ही मैं हूँ। इस प्रकार समझ कर परमात्मा की वन्दना करता है। इसलिए वह अपरमात्मत्व–विरोधभाव, राग, द्वेष और अज्ञानभाव को आदर नहीं देना चाहता। एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ के साथ मिलाने पर किंचित् उपमा मिल सकती है, किन्तु भगवान आत्मा को जगत् की किसी भी वस्तु की उपमा नहीं दी जा सकती। वह ऐसा परम अनुपम पद है।

अज्ञानी ने जड़ में आनन्द मान रखा है, किन्तु कहीं जड़ में से सुख नहीं आता। मात्र कल्पना से मान रखा है। उस कल्पना से भिन्न अपना शुद्ध चिदानन्दरूप ज्ञातृत्वभाव है। उसीका आदर करे और उस स्वरूप में स्थिरता करे तभी अनुपम मोक्षदशा प्रगट होती है। संसार के किसी पदार्थ की कोई उपमा उस दशा को नहीं दी जा सकती। जैसे–गाय का ताजा घी कैसा है? यह पूछने पर उस घी को दूसरे पदार्थ की उपमा नहीं दी जा सकती, क्यों कि उसकी ताजगी और उसकी मिठास की उपमा के योग्य दूसरा पदार्थ नहीं मिलता। प्रायः सभी को घी प्रारम्भ से प्राप्त है। उसे कई वार चखा है, तथापि उसका स्वाद वाणी में पूरा नहीं कहा जा सकता। तब फिर जो आत्मा परमानन्दस्वरूप, अतीन्द्रिय है, वह वाणी में कैसे आ सकता है?

आत्मा का स्वरूप अनुपम है, इसलिए उसकी प्राप्ति और उसका उपाय बाह्य साधन से नहीं हो सकता। 'पुण्य की प्रवृत्ति अथवा मन'

वाणी और देह की प्रवृत्ति इत्यादि कोई मेरी वस्तु नहीं है, इसलिए मेरे लिए सहायक नहीं है। हित-अहित का कारण मैं ही हूँ।' इस प्रकार धर्मात्मा अपने शुद्धस्वरूप को पहिचानकर वन्दना करता है, आदर करता है।

अज्ञानी जीव आमरस और पूरी तथा गुलाबजामुन इत्यादि खाता है, तब खाते खाते चप-चप आवाज होती है, उसमें वह लीन होकर स्वाद मानकर हर्षित होता है। किन्तु वह आमरस, पूरी अथवा गुलाब-जामुन मुँह में डालकर और चबाकर गले में उतारने से पूर्व दर्पण में देखे तो मालूम हो कि मैं क्या खा रहा हूँ? वह कुत्ते की कै (वमन) जैसा दृश्य मालूम होगा! किन्तु रस का लोलुपी स्वाद मानता है और यह नहीं देखता कि मैं गले में क्या उतार रहा हूँ। मिठास की उपमा देकर वह गद्गद् हो जाता है, किन्तु यह नहीं सोचता कि धूल जैसे परमाणुओं की अवस्था का वह रूपान्तर मात्र है। क्षणभर में मिठाई, क्षणभर में जूठा और क्षणभर में विष्टा हो जाता है। इस प्रकार परमाणु की त्रैकालिक वस्तुस्थिति को देखे, तो उसको पर में सुखबुद्धि न हो। और फिर पर में सुख है, ऐसी अपनी मानी हुई कल्पना किसी अन्य वस्तु में से नहीं आती; किन्तु अपने शुभ गुण को विकृत करके स्वयं हर्ष-विषाद मानता है और अच्छे बुरे की कल्पना करता है। यदि उस विकार को दूर करदे तो पूर्ण आनन्दरूप मोक्षगति आत्मा में से ही प्रगट होती है। उसके लिए कोई उपमा नहीं मिलती। विकार अथवा उपाधिरूप मैं नहीं हूँ; इस प्रकार पहले श्रद्धा से विकार का त्याग करना चाहिए।

जैसे गुड़ और शक्कर दोनों की मिठास का अनुभव होता है और उन दोनों की मिठास का पृथक्–पृथक् अन्तर भी ज्ञान में जाना जाता है, किन्तु वाणी द्वारा उसका सन्तोषकारक वर्णन नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार सिद्धपद ज्ञान में जाना जाता है, किन्तु वह कहा नहीं जा सकता। सबसे अनुपम, आत्मा का पवित्र स्वरूप वह अचिन्त्य पद सबसे विलक्षण है। इस विशेषण से यह बताया गया है कि चारों गतियों में

जो परस्पर किसी प्रकार समानता दिखाई देती है, वैसा कोई प्रकार इस पंचमगति में नहीं है।

देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी; ये चारों गतियाँ सदा विद्यमान हैं, कल्पित नही हैं। वे जीवों के परिणाम का फल है। जिसने दूसरे को मार डालने के क्रूर भाव किये उसने अपनी अनुकूलता के साधन के लिए बीच मे विघ्न करनेवाले न जाने कितने जीव मार डाले, उनकी सख्या की कोई सीमा नही है। तथा मैं कितने काल तक मारता रहूँगा, इसकी भी सीमा नहीं है। इसलिए उसका फल असीम—अनन्त दुःख भोगना ही है। और उसका स्थान है नरक। यह कहीं वृथालाप नहीं है। जो भी प्रतिकूलता को दूर करना चाहता है वह अपने तमाम बाधक-विरोधियों को मारना चाहता है। भले ही मरने वाले अथवा बाधा डालने वाले दो चार हों या बहुत हों, वह सबको नाश करने की भावना करता है। उसके फलस्वरूप नरक-गति प्राप्त होती है। यह कोरी गप्प नहीं है। देह, मकान, लक्ष्मी, प्रतिष्ठा इत्यादि सब मेरे है, इस प्रकार जो मानता है, वह पर में ममत्ववान होता हुआ महा हिंसा के भाव को सेवन करता है। क्यों कि उसके अभिप्राय में अनन्त काल तक अनन्त भव धारण करने के भाव विद्यमान है। उन भवों की अनन्त सख्या में अनन्त जीवों को मारने का— उनके संहार करने का भाव है। इस प्रकार अनन्त काल तक अनन्त जीवों को मारने के और उनके बीच बाधक होने के भावो का सेवन किया है। जिसके फलस्वरूप तीव्र दुःख के संयोग की प्राप्ति होती है और वह नरकगति है। लाखों हत्याये करने वाले को लाखों बार फाँसी होना इस मनुष्यलोक में सभव नहीं है। यहाँ उसे अपने क्रूर भावों के अनुसार पूरा फल नहीं मिलता; इसलिये बहुत काल तक अनन्त दुःख भोगने का क्षेत्र नरक स्थान शाश्वत् विद्यमान है। युक्ति पूर्वक उसे सिद्ध किया जा सकता है। तिर्यंचों के वक्र शरीर होते हैं। उन्होने पहले कपट या वक्रता बहुत की थी; वे मध्यम पाप करके पशु हुए हैं। मनुष्यों के भी मध्यम पुण्य है। देवों को बहुत से पुण्य का फल प्राप्त है, इसलिए मनुष्यों के

साथ आंशिक पुण्य की उपमा मिलती है। किन्तु पुण्य पाप, और विकार भाव से रहित मोक्षगति अनुपम है। इसलिए उस पंचम गति से विरोधी भाव—पुण्य पाप, देहादि की जो क्रिया है उससे मुक्ति नहीं मिलती। क्यो कि जिस भाव से बन्धन मिलता है उसी भाव से मुक्ति नही मिल सकती। और उससे प्रारम्भ भी नहीं हो सकता। जिस भाव से मुक्ति होती है, धर्म का प्रारम्भ होता है, उससे किंचित् मात्र बन्धन नहीं होता। इसलिए मोक्ष के मार्ग को भी किसी पुण्यादिक की उपमा नहीं मिलती, क्यों कि पुण्य-पाप की सहायता के विना वह आंतरिक मार्ग है। वह बाह्य क्रियाकाण्ड का मार्ग नही है। अत: आत्मस्वभाव में धर्म-साधन के लिए प्रारम्भ में ही पुण्य-पाप की उपाधि से रहित पराश्रय-हीन स्वतंत्र सिद्ध परमात्मा का स्वभाव ही एक उपादेय है, ऐसा मानना होगा। उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसके स्वरूप में स्थिरता करनेरूप अन्तरंग क्रिया ही स्वतंत्र उपाय है। यह समझकर अन्तरंग में स्थिर हो जाना चाहिए। यह अन्तरंग स्वाभाविक क्रिया है। निर्णय में पूर्ण स्थिरता उपादेय है, किन्तु साधक एक साथ सारी स्थिरता नहीं कर सकता, इसलिए क्रम होता है। मोक्षमार्ग की भी बाह्य शुभप्रवृत्ति के साथ कोई समानता नहीं है। इसलिए मोक्ष और मोक्षमार्ग को कोई उपमा नहीं दी जा सकती; क्यों कि दोनों स्वरूप और आत्मा के परिणाम आत्मा में ही है। मोक्ष और मोक्ष का उपाय दोनों पराश्रयरहित स्वतंत्र हैं। पर से भिन्न जो मुक्तिस्वरूप अपने में निश्चय क्रिया, उसमें मन, इन्द्रिय इत्यादि कोई बाह्य वस्तु साधन नही है। इसी प्रकार उसके चारित्र में भी समझना चाहिए। इसलिए मोक्ष के साधनरूप में, अन्तरंग में तू है और साध्य-पूर्ण पद में भी तू है। उसकी श्रद्धा, उसका अन्तर्ज्ञान और उसरूप स्थिरता का चारित्र एव उसकी एकता और उसके फल इत्यादि के लिए कोई उपमा लागू नहीं होती।

मोक्षगति का नाम अपवर्ग है। धर्म, अर्थ और काम वर्ग हैं। उनसे रहित अपवर्ग कहलाता है।

यहाँ पर धर्म, आत्मा के स्वभाव के अर्थ में नहीं किन्तु पुण्य के अर्थ में है । दया, दान, व्रत इत्यादि पुण्यभाव है । मोक्षगति और उसके प्रारम्भ का मार्ग पुण्यादि शुभ से परे है । हिंसादि पापों को छोड़ने के लिये शुभभाव के द्वारा पुण्य होता है । वह भी आतरिक धर्म में सहायक नहीं है । अर्थात् रुपया पैसा भी ममता का वर्ग है ।

काम अर्थात् पुण्यादि की इच्छा भी एक वर्ग है । यह सभी वर्ग संसार सम्बन्धी हैं । काम भोग की वासना से मोक्षगति भिन्न है । ऐसी वर्ग से भिन्न मोक्षरूप, शुद्ध, सिद्ध कृतकृत्य पचमगति है । इस प्रकार अन्तरंग में निश्चय करके स्थिर होनेवाले अनन्त आत्मा उस गति को प्राप्त हुए हैं । इसलिए तुम भी अन्तःकरण में अर्थात् ज्ञानस्वरूप में सिद्ध परमात्मदशा को पहिचान कर उसका आदर करो, तो उसमें स्थिरता के द्वारा मोक्षदशा प्रगट होगी । रुपये—पैसे से, पुण्य से, अथवा पर के आश्रय से अविकारी आत्मा का स्वभाव नहीं मिलता । किन्तु यदि कोई आत्मा को समझे तो उससे मिलना है । सम्पूर्ण स्वतंत्रता की यह कैसी सुन्दर बात कही है !

ऐसे सिद्ध परमात्मा की पहिचान कराके, स्व-पर के आत्मा में सिद्धत्व को स्थापित करके, पुण्य-पाप से रहित-पराश्रय रहित, शुद्ध आत्मा का ही आदर करने को कहा है । यहाँ पर प्रथम निर्णय या श्रद्धा करने की बात है । पश्चात् राग-द्वेष घटाने का कार्य और अंतरंग स्थिरता अर्थात् चारित्र क्या है यह स्वयमेव समझ में आ जायगा; और उससे राग को दूर करने वाले ज्ञान की क्रिया अवश्य होगी । किन्तु आत्मा की सत्ता कैसी होती है यह ज्ञात न हो तो उपयोग अन्यत्र चक्कर लगाता रहता है । और मानता है कि मैंने इतनी क्रिया की है इसलिए मुझे धर्मलाभ होता है । किन्तु ज्ञानी इसे नहीं मानता और कहता है कि हे भाई ! पहले तू अपने को समझ । आचार्यदेव ने ग्रन्थ का बहुत ही अद्भुत प्रारंभ किया है । और कहा है कि पहले सच्ची समझ को पाकर अपनी स्वतन्त्रता का निर्णय कर । इससे तुझमें पूर्णता का स्थापन किया है ।

कोई कहता है कि यह तो छोटे मुँह बड़ी बात हुई। अभी मुझमें कोई पात्रता नहीं है और मुझे भगवान बना देना चाहते है? किन्तु अभी 'हाँ' कह कर उसका आदर तो कर। तू परम शुद्धस्वरूप है। थोड़ी सी बात में (अच्छे-बुरे में) अटक जाने से तुझे शुद्ध आत्मा का प्रेम कहाँ से हो सकता है? जिसे देहादि में अत्यधिक आसक्ति है, उसे ऐसा पवित्र ज्ञाता-दृष्टा पूर्ण आनन्दस्वरूप कैसे जमेगा? किन्तु एकबार तो इस ओर कुलांट लगा! यदि सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कहे गये सत्य को सुनना चाहता है तो यह स्वीकार कर कि जैसे परमात्मा पूर्ण पवित्र हैं वैसा ही तू भी है। इसे स्वीकार कर; इन्कार मत कर! पूर्ण का आदर करने वाला पूर्ण हो जायगा। मैं विकार रहित हूँ और तू भी विकार या उपाधि रहित ज्ञानानन्द भगवान है। इस प्रकार अपने आत्मा में भगवत्ता स्थापित करके-निर्णय करके मोक्षगति कैसी है, यह सुनाते हुए आचार्य देव मोक्ष-मंडली का प्रारंभ करते हैं। और कहते है कि अब परमपूज्य सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कहे हुए तत्व को कहता हूँ, सो सुनो।

समय का प्रकाश अर्थात् सर्व पदार्थ अथवा जीव पदार्थ का वर्णन करने वाला जो प्राभृत यानी अर्हत् प्रवचन का अवयव (सर्वज्ञ भगवान के प्रवचन का अंश) है उसका मैं अपने और तुम्हारे मोह तथा कालुष्य का नाश करने के लिये विवेचन करता हूँ।

जिनमें रागद्वेष, अज्ञान नहीं है वे पूर्ण ज्ञानी परमात्मा हैं। उनके मुखकमल से (वाणी से) साक्षात् या परम्परा से जो प्रमाणरूप मिला है उसे ही मैं कहूँगा; कुछ अपने घर का-मनमाना नहीं कहूँगा। जैसे, कोई मकान खरीद कर दस्तावेज लिखवाता है, तो उसमें पूर्व, पश्चिम आदि की निशानी लिखवाता है, और इस प्रकार तमाम प्रमाण को निश्चित कर लेता है। उसमें चाहे जिस आदमी के दस्तखत नहीं चल सकते। इसी प्रकार आचार्यदेव यहाँ कहते हैं कि मैं सर्वज्ञ के आगम-प्रमाण से यह 'समयप्राभृत' शास्त्र कहूँगा। मुझे कुछ मनमानी, ऊपरी या व्यर्थ की बातें नहीं कहना हैं; किन्तु जो कहूँगा वह साक्षात् और परम्परा से

आगत परमागमसे ही कहूँगा। उसमें सम्पूर्ण प्रमाणपूर्वक सम्पूर्ण सत्य बताऊँगा। जैसे दोज का चन्द्रमा तीन प्रकारों को बताता है—दोज की आकृति, सम्पूर्ण चन्द्रमा की आकृति और कितना विकास शेष है; इसी प्रकार यह परमागम आत्मा की पूर्णता, प्रारंभिक अंश और आवरण को बतलाता है। अनादि, अनन्त, शब्दब्रह्म से प्रकाशित होने से, सर्व पदार्थों को साक्षात् जानने वाले सर्वज्ञ के द्वारा प्रमाणित होने से, अर्हन्त भगवान के मुख से निकले हुये पूर्ण द्वादशांग भाग को प्रमाण करके अनुभव प्रमाण सहित कहते हैं; इसलिये वह परमागम सफल है। उसमें जगत् के सर्व पदार्थों का विशाल वर्णन है। ऐसी वाणी साधारण, अल्पज्ञ प्राणी के मुख से नहीं निकल सकती।

जहाँ दो चार गाड़ी ही अनाज उत्पन्न होता है उसके रखवाल को अधिक अनाज नहीं मिलता, किन्तु जहाँ लाखों मन अनाज पैदा होता है उसके रखवाल को बहुत सा अनाज मिल जाता है, इसी प्रकार जिसके पूर्ण केवलज्ञान दशा प्रगट नही हुई है ऐसा अल्पज्ञ ज्ञानी थोड़ा ही कह सकता है, और उसके रखवाल (श्रोता) को थोड़ा ही प्राप्त होता है, तथा दोनों को एक सा ही प्राप्त होता है। इसी प्रकार त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव के केवलज्ञान की खेती हुई है, इसलिये वहाँ अनन्त भाव और महिमा को लेकर वाणी का बोध खिरता है। उसके सुनने वाले—रखवाल गणधरदेव हैं। वे बहुत कुछ ग्रहण करके ले जाते हैं।

सर्वज्ञ भगवान, तीर्थंकर, देवाधिदेव का प्रवचन निर्दोष है। उनकी सहज वाणी खिरती है। मैं उपदेश दूँ, इस प्रकार की इच्छा उनके नहीं होती। जैसे मेघ की गर्जना सहज ही होती है उसी प्रकार 'ॐ' की भी सहज ध्वनि उद्भूत होती है; वह द्वादशाग सूत्ररूप में रची जाती है। उसे जिनागम या जिनप्रवचन कहा जाता है। उस शास्त्र के फलस्वरूप हम अनादिकाल से उत्पन्न मोह, राग, द्वेष आदि का नाश होना कहेगे। संसार में पुण्य, देह, इन्द्रिय आदि मेरे हैं, यह अनादिकालीन अज्ञानभाव है। यह बात नही है कि जीव पहले शुद्ध आनंदरूप

था और बाद में अशुद्धदशा वाला हो गया है। अवस्था में-पर में अहंपने को लेकर अशुद्धता भी है, और त्रिकाल द्रव्यस्वभाव में पूर्ण शुद्धत्व भी है। इसका वर्णन आगे अनेक प्रकार से आयगा। वह वर्णन स्व-पर के मोह का नाश करने के लिये है। इस शास्त्ररचना में पुजवाने, मान-बड़ाई तथा मतमनातर की बाड़ बाँधने का अभिप्राय नहीं है।

परिभाषण का अर्थ है- यथास्थान अर्थ के द्वारा वस्तुस्वरूप को सूचित करने वाली शास्त्र रचना। पुरुष की प्रामाणिकता पर वचन की प्रामाणिकता निर्भर है। केवलज्ञानी निर्दोषस्वरूप निश्चित होने पर उनके वचन से परमार्थ- सत्यस्वरूप जाना जा सकता है। शब्द से अर्थ ज्ञात होता है। जैसे 'मिश्री' शब्द से मिश्री नामक पदार्थ का ज्ञान होता है उसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान की वाणी से वाच्य पदार्थ का स्वरूप ज्ञात होता है। आगम का अर्थ है, ज्ञान की मर्यादारूप, पूर्णस्वभावरूप मर्यादा। वह जैसी है वैसा ही बतलाती है। यह समयसार शास्त्र अनेक प्रकार से सर्वोत्तम प्रमाणता को प्राप्त है।

किन्तु जिसकी बुद्धि में दोष है उसे शास्त्र की बात नहीं जमती, वह निषेध करता है। वादविवाद या तर्क से वस्तु का पार नहीं आ सकता। पत्थर की कसौटी हो तो सोने की कीमत हो, किन्तु कोयले पर सोने की परीक्षा नहीं हो सकती। उसी प्रकार सर्वज्ञ के अपूर्व न्याय (वचन) पात्र जीवों को हृदय की परीक्षा के द्वारा निश्चित होते हैं। कदाग्रही अपात्र से निश्चय नहीं हो सकता। आचार्यदेव शास्त्र की बहु-प्रतिष्ठा करते हुये, कहते है कि "सर्वज्ञ भगवान ने ऐसा कहा है और यह अनादि-अनन्त परमागम शास्त्र चला आ रहा है, उसी का यह भाग है।" मनुष्य की समझ में नहीं आता तब वह कहता है कि-यह नया है, यह मिथ्या है; इत्यादि। किन्तु किसी के कहने से कुछ मिथ्या नहीं हो जाता।

पहले अनन्त भव धारण किये हैं, उनमें यह बात अनन्त काल में भी कभी सुनने को नहीं मिली कि आत्मा पर से निराला है। यदि कभी अच्छा समागम मिलता है, सत्य सुनने को मिलता है तो सबसे पहले इन्कार कर देता है। जैसे लक्ष्मी टीका करने आती है तो अभागा मुंह धोने चला जाता है, इसी प्रकार वह ऊँची बात सुनकर मोक्ष की बात सुनकर पहले ही इन्कार करता है कि हम तो पात्र नहीं है; किन्तु आचार्यदेव सबकी पात्रता बनाते हुये कहते हैं कि तुम अनन्तज्ञानस्वरूप भगवान हो, स्वतंत्र हो।

जैसे बहुत समय से पानी गरम किया हुआ रखा हो तथापि वह सारा का सारा उष्णरूप नहीं हो गया है; उष्ण अवस्था होने पर भी उसका शीतल स्वभाव विद्यमान है। यदि वह चाहे तो जिससे गरम हुआ है उसी को मिटा सकता है। अग्नि को बुझाने की शक्ति पानी में कब नहीं थी? वह तो उष्ण होकर भी अग्नि को बुझा सकता है; अपने स्वभाव को व्यक्त कर सकता है। इसी प्रकार आत्मा त्रिकाल पूर्णज्ञान-आनन्द स्वरूप है। देह, इन्द्रिय, राग-द्वेष और पुण्य-पाप की उपाधिरूप नहीं है। जड़कर्म के निमित्ताधीन वर्तमान क्षणिक अवस्था में राग की तीव्रता मालूम होती है, उसे नष्ट करने की शक्ति आत्मा में प्रतिक्षण स्वाधीनतया विद्यमान है। इसलिये यह बात स्पष्ट समझ में आ जायगी कि जैसे गर्म पानी का घड़ा यदि टेढ़ा हो जाय और अग्नि पर कुछ गर्म पानी गिर जाय तो अग्नि बुझ जाती है, और फिर शेष पानी ठण्डा हो जाता है; और तब पानी के स्वभाव पर विश्वास जम जाता है। कोई कहता है कि हम तो कर्म के संयोग के वश में पड़े हुये है, क्या करें; कर्मों का जोर बहुत है, कर्म हैरान करते हैं; किसे खबर हैं कि कल कर्म का कैसा उदय आयगा! इसलिये हमें तो रुपयों-पैसों की सम्हाल करनी चाहिये; इत्यादि।

इस प्रकार जो कर्म दिखाई नहीं देते उनका तो विश्वास है और स्वयं सबको जानने वाला होने पर भी अपना विश्वास नहीं करता! भविष्य-

के फल की कारणरूप शक्ति का विश्वास करता है, पर का विश्वास करता है और इधर अपनी सुध नहीं है! इसलिये सत् की बात सुनते ही कह उठता है कि हम अभी पात्र नहीं हैं। अतः आचार्यदेव उन्हीं को उपदेश देते हैं जो यह स्वीकार करे कि आत्मा त्रिकाल, पर से भिन्न, पूर्ण है और सिद्ध भगवान के समान है। पहले श्रद्धा में पूर्ण का आदर करने की बात है। अनन्त जीव इसे स्वीकार करके मोक्ष गए हैं। शास्त्र में कथा है कि 'काल का कठियारा अपूर्व प्रतीति करके ४८ मिनिट में मोक्ष गया, इसी प्रकार और भी अनन्त जीव मोक्ष गए है; उन्हे तो याद नहीं करता और कर्म को यह कहकर याद किया करता है कि ढके-मुँदे कर्मों की किसे खबर है? ऐसे अपात्र जीवों को यहाँ नही लिया है। जिन्होंने ज्ञानी से सुनकर आत्म-प्रतीति की है कि 'अहो! मैं ऐसा शुद्ध पूर्ण आत्मा हूँ, मेरी भूल से अनन्त शक्ति रुकी हुई थी; ऐसी श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता के द्वारा ४८ मिनिट में ही अनन्त जीव मोक्ष को प्राप्त हुये हैं। उनके हजारों दृष्टात शास्त्रों में विद्यमान है। उनका स्मरण करके मैं भी वैसा हो जाऊँ' इस प्रकार विश्वास लाना चाहिये। किन्तु अज्ञानी जीव उसका निर्णय नहीं करता और पर का निर्णय करता है। जो बात जम गई है उसी के विश्वास के बलपर उसमें संभावित विघ्न को वह याद नही करता। परवस्तु का तो विश्वास है, किन्तु तू उससे भिन्न, अखण्ड, ज्ञायक तत्व है यह सुनाने पर भी उसका विश्वास अथवा रुचि नहीं करता, और कहता है कि 'हम पात्र नहीं हैं!' छूटने की बात सुनकर हर्ष क्यों नहीं होता? योग्य जीव तो तत्व की बात सुनकर उसका बहुमान करता है कि जितनी प्रशंसा के गीत शास्त्र में गाये जाते हैं वह मेरे ही गीत गाये जाते हैं।

सूक्ष्मबुद्धि के बिना सर्वज्ञ का कथन नहीं पकड़ा जाता, जैसे मोटी सुंसी से मोती नहीं पकड़ा जाता। इसी प्रकार स्वयं जैसा है वैसा समझने की रीति भी सूक्ष्म है। वह भूलकर दूसरा सब कुछ करे, किन्तु उसका फल संसार ही है। इस अवतार को रोकने के लिये अनन्त-तीर्थंकरों ने पुण्य-पाप रहित की श्रद्धा, उसकी समझ तथा स्थिरता का

उपाय कहा है। उसे तो नहीं समझता है और कहता है कि 'हमें यह कथन बारीक मालूम होता है, यह नही समझा जाता।' यह बात सज्जन के मुख से शोभा नही देती; इसलिये मुक्तस्वभाव का ही आदर कर। मुक्तस्वभाव का आदर करने वाला कर्म अथवा काल का विघ्न नही गिनता। यह सर्वज्ञप्रणीत शास्त्र है अर्थात् केवली भगवान के द्वारा यह शास्त्र कहा गया है और उनके पास रहने वाले साक्षात् श्रवण करने वाले संत–मुनियों की परम्परा से समागत है। तथा केवली के पास रहते हुये साक्षात् श्रवण करने वाले अथवा स्वयं ही अनुभव करने वाले श्रुतकेवली गणधरदेवो से कहा हुआ होने से (जैसा सर्वज्ञ भगवान ने कहा वैसा ही सुना और उनसे आया हुआ परमागम शास्त्र होने से) यह आगम प्रमाणभूत है। इसलिये कई लोग जैसे निराधार पौराणिक बाते करते हैं, वैसी कल्पना वाला यह शास्त्र नहीं है।

इस प्रकार पहली गाथा में आत्मस्वभाव का जो वर्णन किया है, उसकी प्रमाणता बताई है। उसमें साध्य–साधकभाव तथा अनत आत्माओं में से प्रत्येक आत्मा पूर्ण प्रभु है, स्वतंत्र है, यह स्थापित किया है। यदि कोई कहे कि आत्मा मोक्ष जाकर वापिस आजाये तो क्या हो? उसकी यह शंका वृथा है। क्यों कि यहाँ पर भी अल्प-पुरुषार्थ से जितना राग छेदता है उसे फिर नहीं होने देता, तो फिर जिसने पूर्ण रागद्वेष का नाश करके अनंत–शक्ति प्रगट की है वह फिर से राग क्यो उत्पन्न होने देगा? और जब राग नही होता तो फिर वापिस कैसे आयेगा? मोक्ष जाकर कोई वापिस नहीं आता। एकबार यथार्थ पुरुषार्थ किया कि फिर पुरुषार्थ नहीं करना होता। मक्खन का घी बन जाने पर फिर उसका मक्खन नहीं बन सकता। इसी प्रकार एकबार सर्व–उपाधि और आवरण का विनाश किया कि फिर संसार में आना नहीं होता। इसलिये जिनने ध्रुवगति प्राप्त की है उनमें चार गतियों से विलक्षणता कही गई है और उनकी अचलता कहकर संसारपरिभ्रमण का अभाव बताया गया है; तथा अनुपम कहकर उन्हे संसार की उपमा से रहित बताया है।

आचार्यदेव कहते हैं कि मैं अपनी कल्पना से कुछ नहीं कहूँगा। किन्तु जो सर्वज्ञ वीतराग से आया हुआ है उस मूलशास्त्र का रहस्य आचार्य परंपरा से चला आरहा है, और जो सर्वज्ञ कथित है तथा जो अर्थ को यथास्थान वताने वाला है; ऐसा परिभाषण-सूत्र कहूँगा।

आचार्यदेव ने मंगल के लिये सिद्धों को नमस्कार किया है।

मंगल (मंग+ल) मंग = पवित्रता, ल = लाये। अर्थात् जो पवित्रता को लाता है सो मंगल है। आत्मा की पूर्ण पवित्रता आत्मभाव से प्राप्त होती है, वह भाव मांगलिक है। आत्मा ज्ञानानंद, अविकारी है, उसे भूलकर रागादि में अहंभाव या ममकार करता है; उस ममतारूपी पाप को आत्मस्वभाव की प्रतीति से टालकर जो पवित्रता लाता है सो मंगल है। सर्व उपाधियों से रहित पूर्ण शुद्ध सिद्धको ही-पूर्ण साध्य को ही नमस्कार करता हूँ। अर्थात् उस वास्तविक स्वभाव का ही आदर करता हूँ और उससे विरुद्ध भाव का (पुण्य पाप इत्यादि का) आदर नही करता।

इन्द्रों के पास बहुत वैभव है तथापि वे वीतरागी और त्यागी-मुनियों का आदर करते हैं। इसके अर्थ में 'हमें जो संयोगी वस्तु मिली है उसका हमारे मन में आदर नहीं है,' यह समझकर शुद्धात्मा का आदर करता है वही यथार्थ वंदना है, शेष सब रूढ़िगत वंदना है। 'पर के संबंध से रहित, अखंड, ज्ञानानंद, पवित्र, जो परमानंद वीतरागपना है सो सत्य है,' ऐसा निश्चय करके जो उसका आदर करता है तभी वह वंदना करने वाला, उस भाव में सच्ची वंदना करता है और शुभ-अशुभ विकार-विरोधभाव का आदर नहीं करता। इस प्रकार अविरोध की 'अस्ति' में विरोधभाव की 'नास्ति' आगई।

संसार में-चौरासी में परिभ्रमण करते हुये आत्मा को शुद्ध-आत्मा ही साध्य है। स्त्री पुत्रादि में संसार नहीं है, किन्तु आत्मा की अज्ञान, रागद्वेषरूप वर्तमान एक अवस्था में संसार है। वह विपरीत अवस्था जीव

में होती है, वह विकारी अवस्था है। आत्मा में संसारदशा और सिद्ध-निर्मलदशा दोनों होती है।

जड़ के संसार नहीं होता, क्यों कि उसे सुख-दुःख का संवेदन नहीं होता और उसमें ज्ञातृत्व भी नहीं है, इसलिये मैं देहादि, रागादि से भिन्न हूँ, इस प्रकार स्वरूप को समझे विना देह, इंद्रिय, पुण्य-पाप इत्यादि में जो अपनेपन की दृष्टि होती है वही अज्ञानभाव है; और उसी को परमार्थ से संसार कहा है। संसारभाव कहाँ है यह निश्चय करो! जैसे मिश्री शब्द के द्वारा मिश्री पदार्थ का ज्ञान होता है इसी प्रकार संसार शब्द भी वाचक है। उसका वाच्यभाव यह है कि परवस्तु मेरी है, पुण्य पाप और देहादि की क्रिया मेरी है और इस प्रकार अपनेपन की मान्यता ही संसार है। इस विकार अवस्था में शुद्ध आत्मा साध्य है। पानी अग्नि के निमित्त से उष्ण अवस्थारूप हुआ है। उस उष्ण अवस्था के समय भी पानी की शीतलता पानी में रहती है। संसारी जीव को अज्ञान-आकुलता से रहित निराकुल, शान्तस्वभाव साध्य है। जैसे तृषातुर को उष्ण जल में से शीतल स्वभाव प्रगट करना साध्य है। इसी-प्रकार यदि गरम पानी में शीतलता के गुण को माने तो फिर पानी को ठंडा करने का उपाय करके प्यास भी बुझा सकता है। इसी प्रकार वर्तमान पर्याय में अशुद्धतारूप उष्णता के होने पर भी चैतन्य द्रव्य स्वभाव से शुद्ध-शीतल है, यह माने तो उष्णता को दूर करके शीतलता को भी प्रगट करने का उपाय कर सकता है।

निमित्त पर दृष्टि न दे तो अशरीरी, अविकारी, अनादि-अनन्त, पूर्ण-ज्ञानानन्दघन है। उस शुद्धता का अपार सामर्थ्यरूप आत्मतत्व भरा हुआ है, वह शुद्ध आत्मा साध्य है। आत्मा में त्रिकाल शक्ति से शुद्धता है। और वर्तमान में रहने वाली प्रत्येक अवस्था में निमित्त के आधीन विकार भी है। विकार के कहते ही अविकारी का ज्ञान हो जाता है, क्यों कि आत्मा अकेला विकारी ही हो तो अविकारी नहीं हो सकता। जैसे भैंस खूँटे के बल पर घूमती है, लोग उसे न देखकर भैंस की क्रिया का

बल देखते हैं, किन्तु अक्रिय खूँटा जो वहाँ विद्यमान है उसके बल को नहीं देखते। इसी प्रकार लोग बाहर से चालू क्रिया को ही देखते हैं, वे पुण्य-पाप की वृत्ति से उत्पन्न विकार को ही देखते हैं, किन्तु अक्रिय, शुद्ध, त्रिकाल आत्मा को नहीं देखते। आत्मा त्रिकाल विकाररहित अक्रिय खूँटे की तरह स्वभावरूप से विद्यमान है, उसे न देखकर क्षणिक पराश्रितवृत्ति की क्रिया को देखते हैं, और जो त्रिकाली एकरूप आत्मा शुद्धशक्ति में विद्यमान है उसे नहीं देखते। राग–द्वेष और मोह के आधीन होने वाला क्षणिकविकार नाशवान है और सर्व उपाधिरहित अबाधित ज्ञायकतत्त्व अविनाशी है; इसलिये वही आदरणीय है। जो उसे साध्य करता है वह सिद्ध होता है और जो रागद्वेष की क्षणिक वृत्ति के बराबर आत्मा को मानता है वह वर्तमान सक्रियता पर अटक जाता है और संसार में परिभ्रमण करता है। इसलिये प्रथम ही शुद्धता की स्थापना करके उसी को साध्य बनाने का उपदेश है। यह बात अनन्त काल में जीवों ने नहीं सुनी; वे बाह्यक्रिया या पुण्य की क्रिया में संतुष्ट हो रहे हैं। धर्म के नाम पर बाह्यक्रिया तो अनन्तबार की है और उससे शरीर को सुखाया है, किन्तु शरीर के सूख जाने से आत्मा को क्या लाभ है? पर के अवलंबन से तो धर्म माना, किन्तु यह नहीं माना कि मैं पर से भिन्न स्वतंत्र हूँ। आत्मा असंयोगी तत्व है, अनादि–अनन्त है। जो है उसका भविष्य में अन्त नहीं है। संसार की विकारी अवस्था क्षणिक है। वर्तमान एक समयमात्र की अवस्था में परनिमित्ताधीन भाव से युक्त होता है, वह क्षणिक अवस्था उत्पन्नध्वंसी है, उसके लक्ष को छोड़कर त्रिकाल शुद्धस्वभावी परमात्मस्वरूप को साध्य बनाने की आवश्यक्ता है; और यह संपूर्ण सुखस्वरूप होने से संसारी जीवों के लिए ध्येयरूप है।

जैसे पानी में उष्ण होने की योग्यता के कारण अग्नि के निमित्त से वर्तमान उष्णता है, उसी प्रकार संसारी जीवों में अपनी योग्यता के कारण क्षणिक अशुद्धता है, उसका अभाव करने वाला साध्यरूप जो

शुद्धात्मा है वही ध्येय—करने योग्य है। और सिद्ध साक्षात् शुद्धात्मा हैं, इसलिये उनको नमस्कार करना उचित है। आत्मा की पूर्ण निर्मलदशा को जिनने प्राप्त किया है, उन्हे पहचानकर उनको नमस्कार करना और उनका आदर करना उचित है। आत्मा अपने स्वरूप में रहता है। यह कहना कि आकाश में रहता है, केवल उपचार और कथनमात्र है। गुड़ मटके में नहीं, किन्तु गुड़, गुड़ में है, और मटका मटके में है, दोनो भिन्न भिन्न है। कोई वस्तु किसी परवस्तु के आधार से रहती है, यह कहना वैसा व्यवहार है जैसे पीतल के घड़े को पानी का घड़ा कहना। उसी प्रकार भगवान आत्मा रागद्वेष और कर्मों के आवरण से रहित है, उसे देह वाला, रागी, द्वेषी कहना सो व्यवहार है।

प्रश्न—यदि पतेली का आधार न हो तो घी कैसे रहेगा?

उत्तर—घी और पतेली भिन्न ही है। घी, घी के आधार से है, और पतेली, पतेली के आधार से है। घी के बिगड़ने पर पतेली नहीं बिगड़ जाती। प्रत्येक पदार्थ अपने अपने क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अपनेरूप में है, पररूप में नहीं है। इसलिये सिद्धभगवान देह के आधार के बिना अपने आत्मा के आधार से ही हैं। सिद्धों को 'सर्व' विशेषण दिया गया है, इसलिये सिद्ध अनंत हैं यह अभिप्राय व्यक्त किया है। अत: 'ज्योति में ज्योति मिल जाती है, सभी आत्मा एक हैं अथवा शुद्धात्मा एक ही है,' यह कहने वाले अन्य मतावलंबियों का निषेध हो गया। क्यों कि जो संसार में पराधीनतारूप सुख—दुःख को स्वतंत्रतया प्रथक् रखकर सत्ता का अनुभव करता है वह किसी की सत्ता में मिल नहीं जाता, वह उस विकार का नाश करके पूर्ण शुद्धोपयोगी होने के बाद परसत्ता में एकमेक होकर स्वाधीन सत्ता का नाश कैसे होने- देगा?

यहाँ भी प्रथक् तत्त्व है। दुःख भोगने में तो अलग रहे और अनंतसुख, स्वाधीन, आनंददशा प्रगट करके परसत्ता में मिलकर पराधीन हो जाय यह कैसे हो सकता है? किसी को बिच्छू काटे तो उसकी

वेदना को दूसरा आदमी नहीं भोग सकता इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा को दुःख का संवेदन देह की प्रीति के कारण स्वतंत्रतया होता है, परंतु उस रागद्वेष, अज्ञानरूप ससारी–विकारी अवस्था की आत्मप्रतीति और स्थिरता के द्वारा नाश करने पर अनतकाल तक अव्याबाध, शाश्वत् सुख को भोगता रहता है। उसे सर्व सिद्ध स्वतत्रतया भोगते है। इसलिये 'सब एक ही शुद्धात्मा हैं।' यह कहने वाले अन्य मतावलंबियो का व्यवच्छेद हो गया।

'श्रुतकेवली' शव्द के अर्थ में, श्रुत का अर्थ 'अनादि अनंत, प्रवाहरूप आगम' है। श्रुतकेवली अर्थात् 'सर्वज्ञ भगवान के श्रीमुख से निकली हुई वाणी (समस्त द्वादशाग) को जानने वाले। गणधरदेव आदि जो श्रुतकेवली है उनसे इस समयसार शास्त्र की उत्पत्ति हुई है। आचार्य कहते है कि मैंने यह कोई कल्पना नहीं की है, किन्तु अनादि-अनतशास्त्र, शव्दरूप रचना, त्रिकाली प्रवाहरूप आगम, जैसा है उसी प्रकार कहा है। इस परमागम को समझने के लिये अतरंग का अनुभव चाहिये। वादविवाद से पार नहीं आ सकता। सूक्ष्मज्ञान का अभ्यास चाहिये, बाहर से कहीं नहीं जाना जा सकता।

श्रुत का अर्थ है आगम शास्त्र; अर्थात् 'सर्वज्ञ से आई हुई वाणी, उस श्रुतसे गूंथे गये सूत्र।' एक व्यक्ति के द्वारा निमित्तरूप से जो वाणी कही गई है उस अपेक्षा से वह आदि कहलाता है, और एक व्यक्ति के द्वारा कहने से पहले भी आगमरूप शास्त्र की वाणी थी। इस अपेक्षा से अनादि के प्रवाहरूप आगम–वाणी हुई। केवली के उपदेश से विनिर्गत शास्त्र, अर्थात् उस केवलज्ञानी के द्वारा कथित आगम अनादिकाल से है। सर्वज्ञ अर्थात् निरावरण ज्ञानी। जिसका स्वभाव ज्ञान है उसमें नहीं जानना हो ही नही सकता। जो आवरण (उपाधि) रहित, निर्मल, अखण्ड ज्ञान प्रगट हुआ उसमें कुछ अज्ञात नहीं रहता। जिसका स्वभाव जानना है उसमें क्रम रहित, सीमातीत जानना होता है, इसलिये जिसके पूर्ण, निरावरण, ज्ञायक–

स्वभाव प्रगट है वह सर्वज्ञ है। फिर श्रुतकेवली से जो सुना, आत्मा से अनुभव करके जाना, वह परम्परा से आचार्य द्वारा आया हुआ श्रुतज्ञान है, और जो उस सर्वश्रुतज्ञान में पूर्ण है वह श्रुतकेवली है। सर्वज्ञ-वीतरागदशा प्रगट होने के बाद जिसको वाणी का योग हो उसकी सर्व अर्थसहित वाणी होती है। उसको साक्षात् गणधरदेव द्वादशांग सूत्र में गूथते हैं। उसमें भी अन्तरंग में भावज्ञान — भावशास्त्रज्ञान के तर्क की बहुलता से पूर्ण छद्मस्थ ज्ञानी - द्वादशांग के जानने वाले श्रुतकेवली कहलाते हैं। इस प्रकार शास्त्र की प्रमाणता बताई है और अपनी बुद्धि से कल्पित कहने का निषेध किया है। और अन्यमती अपनी बुद्धि से पदार्थ का स्वरूप चाहे जिस प्रकार से कहता है; उसका असत्यार्थपना बताया है।

प्रारंभ में कहा गया है कि इस शास्त्र में 'अभिधेय' तथा 'संबन्ध' पूर्वक कहेंगे। अभिधेय अर्थात् कहने योग्य वाच्यभाव। पवित्र, निर्मल, असंयोगी, शुद्ध आत्मस्वभाव कहने योग्य है, वह वाच्य है और उसका बताने वाला शब्द वाचक है। जैसे 'मिश्री' शब्द वाचक है, और मिश्री पदार्थ वाच्य है। उस वाच्य — वाचक सम्बन्ध से आत्मा का स्वरूप कहेंगे। उसमें आत्मा कैसा है? यह बताने के लिए शब्द निमित्त है, इसलिये वस्तु को सर्वथा अवाच्य न कहकर जैसा त्रैकालिक वस्तु का स्वभाव है उसी क्रम से कहा जायगा। ॥१॥

पहली गाथा में समय का सार कहने की प्रतिज्ञा की है। वहाँ शिष्य को ऐसी जिज्ञासा होती है कि "समय क्या है?" इसलिये अब पहले समय अर्थात् आत्मा को ही कहना चाहिये। जिसको रुचि (आदर) है उसी के लिये कहते हैं। यदि आकांक्षा बलात् कराई जाय तो प्रस्तुत जीव पराधीन हुआ कहलायगा। किन्तु ऐसा नियम नहीं है। जिसे अन्तरंग से स्वरूप को समझने की चाह है वह पूछे और उसके लिये हम शुद्धात्मरूप समय को कहेंगे। इसलिये वह समय क्या है? यह समझने की जिज्ञासा जिस शिष्य को हुई है वही समझाने के योग्य है।

जिस स्वाभाविक आनन्द में परावलम्बन की आवश्यकता नहीं है और जो पूर्ण प्रभु स्वाधीनस्वरूप है वह कैसा होगा ? वैभव की और कमाई की बात सुनकर जैसे पुत्र पिता से पूछता है कि वह कैसे होगी ? उसी प्रकार शिष्य प्रथम तत्व की महिमा को सुनकर आदरपूर्वक पूछता है। जिसे सत्य की चाह है उसे पराधीनता के दुःख की प्रतीति होनी चाहिये। दुःखरहित क्या है ? इसके विचार सहित जिसे पराधीनता का दुःख हुआ है कि अरे ! मैं कौन हूँ, मेरा क्या होगा ? कोई भी संयोगी वस्तु मेरी नही है, इस प्रकार प्रतीति होनी चाहिये; किन्तु यह कहाँ से सूझ सकता है ? बाह्य विषयों में सुख मान रखा है, प्रतिष्ठा, पैसा, और हलुवा, पूरी में सुख मान रखा है, किन्तु उसमें सुख नहीं है। जितनी पराधीनता है वह सब दुःखरूप है। पराधीनता की व्याख्या यह है कि एक अंश भी राग की वृत्ति उत्पन्न हो, पर का आश्रय लेना पड़े तो संपूर्ण स्वाधीनता नहीं है। सम्यग्दृष्टि भी वर्तमान पर्याय की अशक्ति की अपेक्षा से अस्थिरता के कारण संपूर्ण स्वाधीन नहीं है। पर की जितनी आवश्यक्ता होती है उतना ही दुःख है। इसलिये पर के अवलबन में स्वाधीनता नहीं हो सकती। रात-दिन जीव पराधीनता भोगता है, किन्तु उसपर ध्यान नहीं देता।

सिद्ध भगवान का पराश्रयरहित, स्वाधीन सुख कैसा होता है, इसे कभी नहीं जाना। यदि उसे एकबार रुचिपूर्वक सुनले तो संसार में सर्वत्र आकुलतामय भयंकर दुःख ही दुःख दिखाई देगा। इस प्रकार पराधीनता का दुःख देखकर पूछने वाले को ऐसी अपूर्व जिज्ञासा होगी कि हे प्रभु ! सर्वदुःखरहित स्वाधीन समय का स्वरूप कैसा होगा ? और वह इस समयसारशुद्धात्मा बराबर समझ लेगा। जिसे आकांक्षा नहीं है वह तो पहले से ही इन्कार करेगा कि जो यह शुद्ध, देह-इन्द्रिय-रहित आत्मा कहते हो सो वह क्या है ? जहाँ ज्ञानी 'शुद्ध आत्मा नित्य है' इसके अस्तित्व को स्थापित करना चाहता है, वहाँ वह पहले ही शंका करके विरोधभाव को प्रगट करता है। किन्तु जो सुयोग्य जीव है वह आदर

से बहुमानपूर्वक उछल उठता है कि अहो! यह अपूर्व बात है, और इस प्रकार स्वीकार करके प्रश्न करता है, 'न्याय' से बात करता है। न्याय शब्द में 'नी' धातु है, 'नी' का अर्थ है ले जाना। जैसा वास्तविक स्वभाव है उस ओर ले जाना। जहाँ जिज्ञासा है वहाँ ऐसी अपूर्व-रुचि वाली आकांक्षा होती है। 'है' इस प्रकार आदरवाली जिज्ञासा से समझना चाहे तो वह संपूर्ण सत्य को समझ लेगा। किन्तु यदि पहले से ही इन्कार करे तो नास्ति में से अस्ति कहाँ से आयगी? अस्ति में से ही अस्ति आती है।

कोई कहे कि ज्ञानियों ने आत्मा की बहुत महिमा गाई है, लाओ, मैं भी देखूँ और आँखें बंद करके, विचार करके देखने जाये तो मात्र अन्धकार या धुंधला ही दिखाई देगा, और बाहर जड़ पदार्थ का स्थूल-समूह दिखाई देगा। किन्तु उस अन्धेरे को, धुंधले को, तथा देह, इन्द्रिय इत्यादि को जानने वाला, नित्यस्थिर रहने वाला कैसा है? इसके विचार में आगे नही बढ़ता; क्यों कि अतीन्द्रिय आत्मा इस देह से भिन्न परमात्मा है, उसका विश्वास नही करता। परन्तु जिसने अन्तरग से आदर किया है उस श्रोता की पात्रता से यहाँ बात कही गई है। हाँ कहने के बाद यदि वास्तविक शका से पूछे तो बात दूसरी है। अन्तरंग से आदरपूर्वक आकांक्षा से प्रश्न होने पर उत्तर प्राप्त होता है।

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं ॥ २ ॥

जीवः चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः तं हि स्वसमयं जानीहि।
पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं च तं जानीहि परसमयम् ॥ २ ॥

अर्थ—हे भव्य! जो जीव दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित हो रहा है उसे निश्चय से स्वसमय जान, और जो जीव पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित है उसे परसमय जान।

यहाँ यह नही कहा है कि 'अभी तू पात्र नहीं है, कर्म बाधक है,' किन्तु पात्रता का स्वीकार करके समझाते हैं कि पुण्य–पाप का भाव विकार है, अपवित्र है, और आत्मभाव पवित्र है, इसलिये अपवित्र भाव के द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट नही होता। चारित्र का अर्थ है अन्तरंग स्वरूप में स्थिर होना, गुण की एकाग्रता के स्वभाव में जम जाना। ऐसे शुद्धभाव को भगवान ने चारित्र कहा है। बाह्य में अर्थात् क्रियाकांड, पुण्य-पाप, वस्त्र अथवा किसी वेष इत्यादि में आत्मा का चारित्र नहीं होता, बाह्यक्रिया में तप नहीं होता, किन्तु इच्छारहित अतीन्द्रिय ज्ञान में लीन होने पर इच्छा के सहज निरोध होने को भगवान ने तप कहा है। ऐसी श्रद्धा होने के बाद जितनी लीनता करता है उतनी ही इच्छा रुकती है। क्रमशः सर्व इच्छा दूर होकर पूर्ण-आनंद प्रगट होता है।

पानी में वर्तमान अग्नि के संबंध से उष्णता होने पर भी उसमें प्रति-क्षण अग्नि को बुझाने की शक्ति रहती है, इसी प्रकार आत्मा में प्रतिक्षण विकार का नाश करने की शक्ति विद्यमान है। जैसे अग्नि के संयोग की क्षणिक अवस्था के लक्ष्य को छोड़े तो पानी शीतल स्वभावी ही दिखाई देगा, इसी प्रकार पुण्यपाप और पर के संबंध का लक्ष्य छोड़े तो आत्मा का शुद्धस्वभाव दिखाई देगा। चैतन्य–स्वभाव शुद्ध दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप है। हे शिष्य! तू उसे स्वसमयरूप जान। यही बात यहाँ कही गई है।

आचार्यदेव कहते है कि तुझमें शक्ति है यह देखकर आत्मा ऐसा है यह समझ। इसीलिये कहा है कि जो नित्य, शुद्ध, दर्शन, ज्ञान, चारित्र-रूप है वह आत्मा है। जिसमें यह शक्ति देखते हैं उसी से ज्ञानी कहते हैं, किसी पत्थर, जड़ अथवा भैंसे से नही कहते कि तू इस बात को समझ। इसलिये यह कहकर इन्कार मत कर कि मैं समझता नहीं हूँ, और इस-प्रकार का बहाना भी मत बना कि मैं अभी तैयार नहीं हूँ, या मेरे लिये अच्छा अवसर अथवा अच्छा संयोग नहीं है। भलीभाँति न्याय, युक्ति और प्रमाण से कहा जायगा, सो उसे उमंगपूर्वक स्वीकार कर। जब रणभेरी सुनकर शरीर के साढ़ेतीन करोड़ रोमों में राजपूत का शौर्य उछलने लगता

है। इसी प्रकार तत्त्व की महिमा को सुनते ही आत्मचैतन्य की शक्ति उछलने लगती है।

जो सिद्ध भगवान पूर्ण निर्मलदशा को प्राप्त हुये है उन्हीं की जाति का उत्तराधिकारी मैं हूँ। मैने अपनी स्वतंत्रता की रणभेरी सुनी है। इसप्रकार स्वतंत्रता की बात सुनकर उसकी महिमा को समझ। श्री कुन्द-कुन्दाचार्यदेव समयसार की रणभेरी बजाकर गीत गाते है; उसे सुनकर तू न उछलने लगेगा, यह कैसे हो सकता है?

जो जीव अपने दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थिर हुआ उसके स्वसमय जान, और जो पुद्गल कर्मप्रदेश में स्थित हुआ उसके परसमय जान। जो जीव अपने गुण में स्थिर न रहकर परद्रव्य के संयोग में अर्थात् पुद्गल-कर्म के प्रदेश में स्थित हो रहा है उसे अज्ञानी कहा है।

प्रश्न—क्या अल्पज्ञ जीव सूक्ष्म कर्म के प्रदेशों को देखता है?

उत्तर—नहीं, नहीं देखता; किंतु मोहकर्म की फलदायी शक्ति के उदय में युक्त हो तो ही वह परसमय स्थित कहलाता है। अपने में युक्त होने से अर्थात् स्थिर रहने से विकार उत्पन्न नहीं होता, विकार तो परनिमित्त का संयोग पाकर होता है। स्वयं निमित्ताधीन होने पर अपनी अवस्था में विकारभाव दिखाई देता है। यदि मात्र स्वभाव से विकार हो तो विकार दूर नही होता। कर्म संयोगी-विकारी पुद्गल की अवस्था है, उस ओर झुकनेवाला भाव विकारी जीवभाव है; वह पुद्गलकर्मप्रदेश में युक्त होने से उत्पन्न होता है। जड़कर्म बलात् विकार नहीं करा सकते; किन्तु स्वयं अपने को भूलकर पुद्गलप्रदेशों में स्थित हो रहा है। रागद्वारा स्वयं परावलंबीभाव करता है। कर्मों ने जीव को नहीं बिगाड़ा किन्तु जब जीव स्वयं अशुद्धता धारण करता है तब कर्मो की उपस्थिति को निमित्त कहा जाता है। इसलिये बंधना या मुक्त होना अपने भावो के आधीन है, और यह अपनी शक्ति के बिना नही हो सकता। पुद्गल कर्मप्रदेश की ओर स्वयं रुका, इसलिये उस विकार के द्वारा व्यवहार से परसमय में

स्थित कहलाया। स्वभाव से अपने में ही स्थिर है, किन्तु यदि अवस्था में स्वरूपस्थित हो तो यह प्रश्न ही नहीं हो सकता कि आत्मा क्या है। इसीलिये अवस्था में विकार हुआ है।

प्रश्न—जब कि कर्म दिखाई नहीं देते तो उन्हें कैसे माना जाय? क्यों कि लोकव्यवहार में भी किसी का देखा हुआ या अपनी आँखों से देखा हुआ ही माना जाता है?

उत्तर—अज्ञानी जीवों ने बाह्य विषयों में सुख है यह पर में अपनी दृष्टि से देखकर निश्चय नहीं किया है, किन्तु अपनी कल्पना से मान रखा है। इसी प्रकार कर्म सूक्ष्म हैं, इसलिये वे आँखों से भले दिखाई नहीं देते, किन्तु उनका फल अनेकरूप से बाहर दिखाई देता है। उस कार्य का कारण पूर्वकर्म है। जैसे यदि सोना मात्र अपने आप ही अशुद्ध होता तो वह शुद्ध नहीं किया जा सकता। वह स्वभाव से तो शुद्ध ही है, किन्तु वर्तमान अशुद्धता में दूसरी वस्तु का संयोग है तथा आत्मा की वर्तमान अवस्था में निमित्त होने वाली दूसरी वस्तु विकार में विद्यमान है, उसे शास्त्र में कर्म कहा है। दूसरी वस्तु है इसलिये दोनों वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान कर; क्यों कि आत्मा की ज्ञान सामर्थ्य स्वपरप्रकाशक है। जिसने इसे समझने की शक्ति का विकास किया है और जो आदरपूर्वक सुनता है उसे सुनाते है। वह यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करता है, किन्तु जिसकी पर के ऊपर दृष्टि है; और जिसे मैं जुदा हूं यह प्रतीति नहीं है ऐसा जीव कर्म की उपस्थिति की जहाँ बात आई वहाँ निमित्त के पीछे ही पड़ता है और बाहर से सुनकर कल्पना कर लेता है कि कर्म मुझे हैरान करते हैं। शास्त्रों में कर्म को निमित्त मात्र कहा है, वह आत्मा से परवस्तु है। परवस्तु किसी का कुछ बिगाड़ने में समर्थ नहीं है।

शास्त्र श्रवण करके खोटी कल्पना करली है कि कर्म मुझे अनादिकाल से बाधा पहुँचा रहे हैं, राग-द्वेष कर्म कराते है तथा देह, मन और वाणी की प्रवृत्ति मुझसे होती है; इस प्रकार की विपरीत मान्यता

से पर में उलझ गया सो परसमय है। और जो पराश्रय रहित, पुण्य-पाप रहित, शुद्ध दर्शन, ज्ञान और स्वरूपस्थिरता से आत्मा में स्थिर है वह स्वसमय है। अर्थात् वह स्व-सन्मुख है। पर की ओर झुकाव होने से जिसने पर के साथ सम्बन्ध मान रखा है, और जो पर में अटक रहा है, वह पर-सन्मुख अर्थात् परसमय है।

जिसे स्वत: जिज्ञासा प्रगट हुई है वह विचार करता है कि यह क्या है? अनादिकाल से स्वरूप का विस्मरण क्यों हो रहा है? अनादि-काल से विकार और जड़ का ही स्मरण क्यों हो रहा है? यदि वास्त-विकतया अपना स्मरण हो तो परिभ्रमण न हो। जानने वाले को जाने बिना जो जानने वाले में ज्ञात होता है उसे जीव अपना स्वरूप मान लेता है, इसलिये यहाँ यह बताते हैं कि जानने वाला पर से भिन्न कैसा है, जिससे पराधीनता न रहे। जो 'है' उसे यदि पराश्रय की आव-श्यकता हो तो वह जीवन सुखी कैसे कहला सकता है? जहाँ राग का आश्रय लेना पड़ता है वह भी वास्तविक जीवन नहीं है। इसी प्रकार अन्तरंग में जिसे जिज्ञासा उत्पन्न हुई है उसे गुरु मिले बिना नही रहते। जिसे अन्तरंग से जिज्ञासा हो वह बराबर सुनता है। जिसके पात्रता होती है उसे गुरु ही मिलते हैं। जिसे ज्ञान में शुद्ध-मुक्तस्वभाव का आदर होता है उसे जिज्ञासा होती है, उसके व्यवहार में श्रद्धा, ज्ञान और आचरण हो जाता है। पहले तो साधारणतया आर्य जीव के अनीति तथा क्रूरता का त्याग होता ही है, साधारण आर्यत्व, लौकिक सरलता, परस्त्री त्याग, अन्तरंग में ब्रह्मचर्य का रंग, आजीविका के लिये छल-कपट तथा ठगाई का त्याग, नीति और सत्यवचन इत्यादि जीवन में बुने हुये या एकमेक होना ही चाहिये। देहादिक परविषयों में तीव्र आसक्ति का त्याग इत्यादि तो साधारण नीति में होता ही है, उसके बाद लोकोत्तरधर्म में प्रवेश हो सकता है।

दूसरी गाथा प्रारंभ करते हुये कहा है कि जो पुण्य-पापरहित आत्मा के दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुण में स्थिर हुआ वह स्वसमय है,

और पर मेरे हैं, पुण्य-पाप आदि विकार मैं हूँ, इस प्रकार स्थिर होना सो परसमय है। इस प्रकार कहते हुये गुरुदेव ने जाना है कि जिज्ञासु जीव के बाह्य साधारण नीति का जीवन, मन के द्वारा बुना हुआ होना ही चाहिये। उसके सत्य को समझने की सच्ची आकांक्षा है, इसलिये उसे सत्य ही समझ में आता है। जब कि क्रूरता, अनीति, असत्य आदि इष्ट नहीं है, तब जो सत्य है वही उसे इष्ट है! 'छोड़ना है' यह कहने से यह सिद्ध हुआ कि वह संयोग सम्बन्ध है और उससे अपना प्रथक्त्व भी है। एक वस्तु बंधन में हो तो वह दूसरी वस्तु के सम्बन्ध से है, इसलिये परवस्तु भी है, यह सिद्ध हुआ। जिस प्रकार अपना पार-मार्थिक स्वभाव है, उसी प्रकार यदि अपने जानने में न आये तो स्वयं कहीं अपना अस्तित्व मानकर टिकेगा तो अवश्य। इस प्रकार मैं रागी-द्वेषी आदि हूँ, यह मानकर पर में अस्तित्व मानता हुआ जीव रुका हुआ है और इसीलिये अनेक गतियों में भव-भ्रमण हो रहा है। यह सब दुःख ही है। समस्त प्रकार के दुःखों से मुझे छूटना है तो दुःखरहित क्या है? वही मुझे चाहिये है। ऐसा सामान्य भूमिका का ज्ञान प्राथमिक शिष्य के होना ही चाहिये। पश्चात् विशेष स्पष्टीकरण के लिये पूछने पर कहा जाता है।

जिसे सत्य को समझने का मूल्य है उसे तत्त्व का माहात्म्य सुनाते हैं। जिसे कुछ कमाने की चाह है उसकी शक्ति को देखकर यदि कोई कमाने की बात कहे तो उसे कमाने की या धनवान होने की बात सुनकर कितना आनंद होता है! जब उससे यह कहा जाय कि तुझे ५ हजार रुपया प्रतिमास मिलेंगे तो वह दोनों कान खोलकर आश्-चर्य पूर्वक सुनता है; क्यों कि उसके मन में वैभव की महिमा है और उसके प्रति प्रीति भरी हुई है। इसी प्रकार अनंत जन्म-मरण के अनंत दुःखों के नाश का उपाय शुद्धात्मा को पहिचानकर और उसमें स्थिर होने से होता है, उससे अल्पकाल में अनतसुख प्रगट होता है। इस-प्रकार श्री गुरु सुनाते हैं और पात्र शिष्य बड़ी ही उमंग से सुनता है।

स्वरूप से तू सिद्धभगवान के समान ही है अर्थात् आत्मा पर से निराला, अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप है, पुण्य-पाप उपाधिरूप नहीं है। विपरीतदशा से, कल्पना से पर में आनंद मानकर सुखगुण को आकुलतारूप किया था, उससे मुक्त होकर अनंतसुखरूप दशा प्रगट करने के लिये श्री गुरु करुणा करके शुद्धात्मा की बात सुनाते है। सुनने वाले और सुनाने वाले दोनों योग्य होना चाहिये।

अब 'समय' शब्द का अर्थ कहते हैं:- 'सम्' उपसर्ग है। समय=सम् + अय। सम्= एक साथ, एक काल में 'अय गतौ' धातु है, उसका अर्थ गमन होता है, और ज्ञान भी होता है। गमन अर्थात् गमन करना या गमन होना। इसलिये सम् + अय का अय यह हुआ कि एक साथ एकरूप रहकर जाने। एक अवस्था से एक समय में दूसरी अवस्थारूप होना सो समय है। किसी आत्मा में वर्तमान अवस्थारूप में बदलने का स्वभाव न हो तो कोई विशेषता नहीं हो सकती। यह कहना वृथा सिद्ध होगा कि दोष को दूर करके गुण को प्रगट कर। तीव्रराग में से मंदराग होता है तथा विकारीभाव का परिवर्तन अर्थात् बदलना होता है, उस विकार को निकालदे तो ज्ञानगुण इत्यादि का निर्मलतया बदलना होता है। दूसरे पदार्थों से आत्मा का लक्षण भिन्न है। इसलिये यह बताया है कि जो जीव के स्वरूप को एक समय में जाने और परिणमे वह जीव चेतनास्वरूप है।

जीव के अतिरिक्त पुद्गल, धर्म, अधर्म; आकाश, और काल; यह पाचों पदार्थ अजीव—अचेतन पदार्थ हैं। उनकी भी अपने अपने कारण से समय समय पर अवस्था बदलती रहती है, किन्तु उनमें ज्ञातृत्व नहीं है और जीवमें ज्ञातृत्व है, इसलिये यह जीव नामका पदार्थ एक ही समय जानता है और प्रतिक्षण नई नई अवस्था के रूप में अपनेपन से बद-लता है, इसलिये वह समय है।

अब वह आत्मा कैसा है सो बताते हैं। उसकी दो दिशायें बतानी हैं। वह जिसे हितरूप और आदरणीय मानता है उसी ओर तो वह

झुकेगा ? जीव में दो प्रकार की अवस्थाये होती हैं- (१) अनादिकालीन अशुद्ध अवस्था, जो पर की ओर झुकी होती है, (२) रागद्वेष-अज्ञान-रहित स्वाभाविक शुद्ध अवस्था, जो स्व-स्वभावरूप है। ऐसी दो अवस्थायें बताई हैं; क्योंकि आत्मा त्रिकाल है, उसकी संसार और मोक्ष यह दो दशाये है। संसाररूप भी सारा आत्मा नहीं है और मोक्षरूप भी सारा आत्मा नहीं है; दोनों अवस्थाये मिलकर त्रैकालिक आत्मा है। जो आत्मा वर्तमान में है वह त्रिकाल है। उसकी दो अवस्थाये है। उनमें से अनादिकालीन अपनी कल्पनारूप, रागद्वेषरूप जो अशुद्धदशा है, वह संसारदशा है। पर से भिन्न अपना शुद्धस्वरूप है, उसकी प्रतीति करके उसमे स्थिरता के द्वारा एकाग्र होकर शुद्धता प्रगट करना सो शुद्धतारूप मोक्ष-अवस्था है। दोनों आत्मा की अवस्थाये है। यदि यह बात बहुत सूक्ष्म मालूम हो तो परिचय करना चाहिये; किन्तु पहले यह कहकर रुक नहीं जाना चाहिये कि मेरी समझ में ही नही आता। जिज्ञासु जीव को आत्मा समझ में न आये, यह नहीं हो सकता। जो काम अनंत आत्माओं ने किया है वही यहाँ कहा जा रहा है। जो नहीं किया जा सकता, वह नहीं कहा जा रहा है। कम कर सकता है और कम जानता है, इसका कारण अपनी वर्तमान अशक्ति है, किन्तु यदि वह पराश्रित रहने वाली क्षणिक अवस्था स्वभाव की प्रतीति से दूर कर दी जाय तो जो परमानंद शुद्धस्वभाव है वह पूर्ण निर्मलता से प्रगट हो जाता है। अर्थात् आत्मा जैसा स्वभाव से स्वतंत्र है, उसकी समझ और शुद्धदशा प्रगट करने के लिये ही कहा जाता है।

पहले तो यह निश्चय होना चाहिये कि आत्मा है, वह अनादि-अनन्त वस्तु है। जो है सो सत् है। जो है वह जा नहीं सकता, और जो नहीं है वह नया उत्पन्न नहीं हो सकता। अर्थात् वस्तु नित्य है, उसकी अवस्था क्षण-क्षण में बदलती है, किन्तु वस्तु का मूल वस्तुत्व नहीं बदलता; वह पराश्रित नहीं है, किन्तु अनादिकाल से पर की ओर रुचि और पर की ओर झुकाव होने से अज्ञान के कारण आत्मा में राग-

द्वेषरूप मलिनभाव भासता है। संसार आत्मा की विकारी अवस्था है। जो जड़–देहादि का संयोग है उसमें संसार नहीं है। जैसे पानी में तरंगें होती हैं, उनमें से कुछ तरंगे मैली सी होती है और कुछ तरंगे निर्मल होती है; किन्तु वे सब तरंगे मिलकर पानी हैं। इसी प्रकार जबतक आत्मा में अनादिकाल से अज्ञानपूर्वक प्रवर्तमान अवस्था कर्म के निमित्ताधीन होती है तबतक वह मैली है, और रागद्वेष विकारी अवस्था का नाश करके सादिअनंत, प्रगट, निर्मल, मोक्ष अवस्था प्रगट होती है, इन सभी अवस्थाओं के रूप में आत्मा है; किन्तु यदि स्वभाव को देखा जाय तो सभी अवस्थाओं के समय शुद्ध ही है। इसलिये यह नहीं मानना चाहिये कि आत्मा समझ में नहीं आ सकता। इस बात को समझने की योग्यता सभी जीवों में है, सभी केवलज्ञान के पात्र हैं।

अब यह जीव पदार्थ कैसा है, यह सात प्रकार से कहेंगे। वस्तु का अस्तित्व सिद्ध हुये बिना उसमें बंध दशा और मोक्ष दशा कैसे बताई जा सकती है? इसलिये आत्मा का स्वतंत्र वास्तविक स्वरूप कैसा है, यह पहले निश्चय कराते है।

जीव को पदार्थ कहा है, क्योंकि 'जीव' पद से अर्थ को जाना जा सकता है ('पद' के साथ व्यवहार से वाच्य-वाचक सम्बन्ध है इसलिये) जीवपदार्थ सदा परिणमनस्वभावयुक्त है। विकार का नाश करके पूर्ण, अनंत, अक्षय, आनंदस्वरूप को प्रगट करने से त्रिकाल के सुख का अनुभव एक ही समय में नहीं हो जाता। यदि एक समय में सारा आनंद भोग लिया जाय तो दूसरे समय में भोगने को शेष क्या रहेगा? किन्तु यह बात नहीं है। प्रत्येक समय परिणमन होता है, इसलिये अनंतकाल तक अनंतसुख का अनुभव होता है। आत्मा स्वयं अनुभवस्वरूप है।

प्रत्येक बात समझने योग्य है, अंतरंग में खूब घोलने योग्य है। यदि अंतरंग के तत्व को सभी पहलुओं से यथार्थरूप में समझकर उसमें स्थिर हो तो स्वाधीन शुद्ध दशा प्रगट हो जाय। जिसे जिस विषय संबंधी (जिस साध्य में) रुचि है, उस ओर राग के द्वारा माना गया प्रयोजन सिद्ध

करने का प्रयत्न किया करता है। इसीप्रकार लोग धर्म के नाम पर माने हुये प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये बहुत कुछ करते हैं, किन्तु वास्तविक पहचान के बिना सच्चा उपाय हाथ नहीं आता। जैसे यदि राजा को उसकी समृद्धि और बड़प्पन के अनुसार मानपूर्वक बुलाये तभी वह उत्तर देता है, इसी प्रकार भगवान आत्मा को जिस प्रकार जानना चाहिये उसीप्रकार मेल करके एकाग्रता का संबंध करे तो उत्तर मिले, अर्थात् वह जाना जाय। आत्मा सदा परिणमनस्वभावी है; इसलिये जो आत्मा को अवस्था के द्वारा परिणमन वाला नहीं मानते उनका निषेध हो गया। 'परिणमनस्वभावी है' यह कहने पर तू जिस भाव में उपस्थित है, उस भाव को बदल सकता है। जो पहले कभी नहीं जाना था, उसे जान लिया और जाननेवाला नित्य रहा। इससे सिद्ध हुआ कि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की अनुभूति जिसका लक्षण है वह सत्ता है। सत्ता लक्ष्य (जानने योग्य) है, और सत्ता का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है। क्षण के असंख्यातवें भाग में प्रतिसमय अवस्था बदलती है। जैसे लोहे को घिसने पर उसकी जंग का व्यय हो जाता है, उज्ज्वलता अथवा प्रकाश का उत्पाद हो जाता है, और लोहा बराबर ध्रुव बना रहता है। इसी-प्रकार प्रत्येक समय में अपनी पूर्वदशा का व्यय होता है, नई अवस्था उत्पन्न होती है, और वस्तु वस्तुरूप में स्थिर बनी रहती है। यह तीनों अवस्थाएँ एक ही समय में होती हैं। उत्पन्न होना, व्यय होना, तथा स्थिर रहना, इनमें कालभेद नहीं है। तेरा नित्यस्वभाव प्रतिक्षण अवस्थारूप में स्थिर रहकर बदलता रहता है; इस प्रकार पर से सर्वथा भिन्नत्व को जो न समझे और विरोध करें तो वह किसका विरोध करता है; यह जाने बिना ही विरोध करता है। जैसे बालक ने किसी कारण से रोना प्रारंभ किया, फिर उसे चाहे जो वस्तु दो, तो भी वह रोता ही रहता है। यहाँ तक कि जिस वस्तु के लिये वह रो रहा था उस वस्तु के देने पर भी वह रोता ही रहता है, क्योंकि वह उस कारण को ही भूल जाता है, जिस कारण से उसने रोना प्रारंभ किया था। इसलिये उसका समाधान कैसे हो सकता है?

पहले उसकी इच्छा चूसनी की थी, जिसे वह चूस रहा था, वह कोई ले गया है,—यह बात उसके जम नहीं पाई, बस, वहीं से रोना शुरू हो गया। उसके बाद वह उस बात को भूल गया और रोना बराबर चालू रहा। इसी प्रकार ज्ञानी कहते है कि हे भाई! तूने अनादिकाल से अज्ञान-भाव से (बालभाव से) रोना शुरू किया है, इसलिये तुझे कहीं भी शाति नहीं मिलनी। ज्ञानी यदि सच्ची वस्तु को बताते हैं तो उसे भी तू ग्रहण नहीं करता और अपने अज्ञान के कारण रोता रहता है? जबतक सच्ची जिज्ञासा से समझने योग्य धीरज और मध्यस्थता नहीं लायगा, तब-तक कोई उपाय नहीं है। तेरी रुचि होगी तो उस ओर तेरी भावना की उत्पत्ति होगी।

पहले स्वाधीन, निर्दोष सत् की रुचि कर तो अनादिकालीन पर की ओर झुकी हुई पुरानी अवस्था का व्यय और स्वोन्मुखरूप नई अवस्था की उत्पत्ति तथा स्वभावरूप में स्थिर रहने वाला ध्रौव्य तू ही है, यह समझ में आ जायगा। तेरी अवस्था का बदलना और उत्पन्न होना तेरे ही कारण से है। पराश्रय के बिना स्थिर रहनेवाला भी तू है: इसलिये मेरे ही कारण से मेरी भूल थी उसे ज्ञानस्वभाव के द्वारा दूर करने-वाला मैं ही हूँ, यह जानकर खोटी मान्यतारूप असत्य का त्याग, सच्ची समझ का सद्भाव और मैं नित्य ज्ञानस्वभाव आत्मा ध्रुव हूँ, इस प्रकार का निश्चय कर। जैसे स्वर्ण सदा स्थिर रहता है, उसकी पूर्व अवस्था का नाश होकर नई अवस्था (अंगूठी आदि) बनती है, उसमें सोना प्रत्येक दशा में ध्रुव रहता है, इसी प्रकार भगवान आत्मा अनादि-अनंत, स्वतंत्र है, उसमें तीनों प्रकार (उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य) एक ही समय में विद्यमान हैं। यह बात पहले कभी नही सुनी थी, किन्तु यह ज्ञातव्य है। 'है' यह सुनकर उसमें कुछ अच्छी दृष्टि करके उस ओर झुके कि उसमें यह तीनों प्रकार आ जाते हैं। प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-स्वरूप में नित्य है। जीव जैसा है वैसा अपना स्वरूप अनादिकाल से नहीं जाना। जैसे कडुवे स्वाद से मीठे स्वाद की ओर लक्ष जाने पर

कड़ुवे स्वाद के लक्ष का व्यय, और मिठास के लक्ष की उत्पत्ति होती है। किन्तु स्वयं ज्ञान में स्वाद और रस को जाननेवाला ध्रुवरूप में स्थिर रहता है; इसी प्रकार प्रतिसमय निज अर्थक्रिया करने का स्वाधीन लक्षण आत्मा में विद्यमान है।

आत्मा स्वयं उत्पन्न नहीं होता और स्वयं नही बदलता, किन्तु आत्मा में प्रत्येक क्षण की अवस्था बदलती है और नई उत्पन्न होती है। अपनी और पर की होनेवाली प्रत्येक अवस्था बदलती है, किन्तु उस सबको जाननेवाला स्वय एकरूप स्थिर रहता है। इसप्रकार अपने नित्य ज्ञान-स्वरूप को जानने पर, पर से भिन्नत्व का निर्णय किया। उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान का उत्पाद, पूर्व की अज्ञान अवस्था का व्यय और स्थिर रहने वाला जीव ध्रुव है। इसप्रकार आत्मा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की सत्ता से युक्त है। इस विशेषण से जीव की सत्ता को नहीं माननेवाले नास्तिकवाद का खंडन हो गया। और परिणमनस्वभाव कहने से आत्मा को अपरि-णामी माननेवाले सांख्यवादी के मत का निषेध हो गया। सत्ता एकांत नित्य ही है, अथवा एकांत वस्तुमात्र अनित्य ही है; इसप्रकार माननेवाले एकांत-वादियों का भी निषेध हो गया। आत्मा है, यह कहने से उससे विरुद्ध आत्मा नहीं है, अथवा स्वतंत्र नहीं है, ऐसा कहने वाले परमत (अज्ञान) का खंडन हो गया।

कोई कहता है कि आत्मा है ही नहीं, किन्तु वह यह तो बताये कि आत्मा नहीं है यह किसने निश्चय किया है? पहले जिसने यही निश्चय नहीं किया कि आत्मा है, वह यह विचार ही कैसे कर सकता है कि आत्मा कैसा है? जो यह मानते हैं कि जो वर्तमान में दृष्टिगोचर है उतना ही है, वे दृश्य को अदृश्य और अतीन्द्रिय आत्मा को अदृश्य कैसे कह सकते हैं। सबको देखनेवाला स्वयं है, जानने–देखने का कार्य, स्व–पर का निर्णय, देखने वाले तत्त्व की सत्ता में होता है। देह और इन्द्रिय पर को तथा अपने को नहीं जानते, किन्तु जानने-वाला जानता ही रहता है।

पुद्गल नामक वस्तु नित्य है, उसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण इत्यादि स्वतन्त्र गुण हैं। वह वस्तु की शक्ति है। इसी प्रकार आत्मा सर्व पर-वस्तु से भिन्न है, उसमें ज्ञानादि शक्तिरूप अनन्त गुण हैं, इसलिये आत्मा का लक्षण चैतन्य अर्थात् जागृतिस्वभाव है।

हे प्रभु! तू चैतन्य जागृतिस्वरूप है। तेरे गुण की उत्पत्ति मन, वाणी, देहादि से नहीं है, उसमें अन्धेरा नहीं है, अजागृति और अजानपन नहीं है। अन्धेरा है, यह किसने निश्चय किया? आषाढ़ी अमावस्या की मेघगर्जित घोर अन्धकारमय रात्रि हो, और रजाई से सारा शरीर ढक रखा हो तथा आँखे बिल्कुल बंद हों तथापि अन्धकार का कौन निश्चय करता है? अन्धेरे का जाननेवाला तद्रूप नहीं हो जाता, किन्तु उस अन्धकार को जाननेवाला आत्मा उस अन्धकार से भिन्न है।

आत्मा निर्मल, स्पष्ट, दर्शन, ज्ञानज्योति–स्वरूप है। भगवान आत्मा ज्ञानप्रकाशस्वरूप सदा प्रत्यक्ष है। ऐसा यथार्थ ज्ञान होने से जानता है कि मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ, मैं ही जानने–देखने वाला हूँ। मेरी सत्ता (भूमिका) में ही जानने–देखने के भाव हुआ करते हैं, पर में घुसकर नहीं जानता, किन्तु अपनी सत्ता में रहकर स्व–पर को जानता हूँ।

दर्शन= किसी भी पदार्थ को जानने से पूर्व सामान्य झुकता हुआ जो निर्विकल्प अन्तर व्यापार है सो दर्शन है, और उसके बाद विशेष जानने का जो कार्य है सो ज्ञान व्यापार है। जैसे संसार की बातें सरल हो गई हैं वैसे ही जीव इसका परिचय करे तो यह भी सरल हो जाय। जड़, देह, इन्द्रियों के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श जड़स्वभाव हैं। वे कहीं आत्मा में घुस नहीं गये हैं।

ज्ञान का स्वभाव जानना है, इसलिये स्व–पर को जानता ही रहता है। कोई कहता है कि मोक्ष हो जाने पर स्व–पर का जानना मिट जाता है। जैसे दीपक के बुझने पर प्रकाशक्रिया बंद हो जाती है, उसी प्रकार निर्वाण होने पर जानने की क्रिया बन्द हो जाती है। किन्तु उसकी यह मान्यता मिथ्या है। क्योंकि जानना तो गुण है और गुण का कभी नाश

नहीं हो सकता। जानना दुःखदायी नहीं है, किन्तु जानने में उपाधि कल्पित करना दुःख है। कोई कहता है कि अधिक जानना दुःख है, किन्तु क्या गुण कभी दोष अर्थात् दुःख का कारण हो सकते हैं? कदापि नहीं। किसी बालक ने लाठी मारदी, किन्तु बालक का स्वभाव जानने पर कि उसका भाव मात्र खेल कूद ही का था, उस ओर ध्यान ही नहीं जाता। यथार्थ ज्ञान का कार्य समाधान है। आत्मा का स्वभाव जानना है, उसे रोका नहीं जा सकता। ज्ञानगुण का कार्य जानना अथवा ज्ञान करना है। राग-द्वेष करने का कार्य तो विपरीत पुरुषार्थ-रूप विपरीतता का है, इसलिये पुण्य-पाप के भेद से रहित स्व-पर का ज्ञाता अपने स्वभावरूप धर्म है, और उसमें स्थिर होना स्वसमय है।

"जीओ चरित्तदंसणणाणठ्ठिउ" इस पद में प्रथम शब्द 'जीवो' है। जिसने यह जान लिया हो कि आत्मा कैसा है, उसे संसारी अशुद्ध अवस्था और मोक्ष की निर्मल अवस्था—इन दोनों को एकत्रित करके एक अखंड पूर्णरूप आत्मा का निर्णय करना होगा। आत्मा मन-वाणी और देह से भिन्न, अन्य जीव-अजीव आदि वस्तुओं से त्रिकाल भिन्न, अनादि-अनंत पदार्थ है। अपनी विपरीत मान्यता से रागद्वेष, पुण्य पाप, देह इंद्रिय इत्यादि परवस्तु को जीव ने अपना मान रखा है, और यही संसार है। परवस्तु में संसार नहीं है, संसार तो जीव का अवगुण है। उसे जाने बिना यह नहीं समझा जा सकता कि भव तथा रागद्वेष रहित स्वतंत्र तत्व क्या है? जैसे मनुष्य की बाल, युवा और वृद्ध यह तीन अवस्थाये होती हैं, उसी प्रकार आत्मा की भी तीन अवस्थाये होती हैं। अज्ञान अवस्था बाल्यावस्था है, साधकभावरूप निर्मल दर्शन, ज्ञान, चारित्र अवस्था धर्म अवस्था अर्थात् युवावस्था है, और अनुकूलता में राग तथा प्रतिकूलता में द्वेष होता है उसका नाश करने के लिये मैं शुद्ध हूँ, पर से मुझे लाभ हानि नहीं है, मैं पुण्य-पाप रहित अखण्ड ज्ञायक अलग ही हूँ; इस प्रकार की प्रतीति के द्वारा स्थिर होने से राग-द्वेष का नाश होकर पूर्ण निर्मल केवलज्ञान तथा अनंत आनंद अवस्था प्रगट होती

है, वह वृद्धावस्था है। आत्मा सदा अरूपी, ज्ञानानंदघन है। उसमें प्रति-समय पूर्व पर्याय को बदलकर, नई अवस्था को उत्पन्न करके, ध्रौव्यरूप तीन अवस्थाओं को लेकर सत्ता होती है। अस्तिरूप में जो वस्तु है उसमें ज्ञाता-दृष्टापन है। पर को जानना उपाधि नहीं है, किन्तु जानना-देखना आत्मा का त्रिकाल स्वभाव है। स्व-पर को जानना ज्ञानगुण का कार्य है, और राग-द्वेष करना दोष का कार्य है।

अनंत धर्मों में रहने वाला जो एक धर्मीपन है, उससे उसके द्रव्यत्व है और नित्यवस्तुत्व है। आत्मा का स्वतंत्र स्वरूप पर के आधार से रहित और पुण्य-पापरहित है, इसलिये उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसका आचरण भी पुण्य-पापरहित है। ऐसी बात को जीव ने न तो कभी सुना है और न माना है। यदि एक क्षणमात्र को भी ऐसे आत्मधर्म का आदर किया होता तो फिर दूसरा भव नहीं होता। जिसे सत् को सुनते हुये अपूर्व आत्ममाहात्म्य ज्ञात होता है उसके उस ओर अपने वीर्य का रुख बदले बिना नहीं रहता, क्योंकि जिसकी रुचि जिधर होती है उसी ओर उसका रुख हुये बिना नहीं रहता, ऐसा नियम है। जहाँ आवश्यकता मालूम होती है वहाँ जीव अपने वीर्य (पुरुषार्थ) को प्रस्फुटित किये बिना नहीं रहता। जिसका मूल्य आँका गया या जिसकी आवश्यक्ता प्रतीत हुई उसका ज्ञान में विचार करके जीव उस ओर पुरुषार्थ किये बिना नहीं रहता। जिसकी जैसी रुचि और पहचान होती है उसका वैसा ही आदर होता है। उससे विरोधी का आदर नहीं हो सकता। इसलिये जिसमें जिसने माना, उसमें उसे उसका मूल्य और आवश्यक्ता प्रतीत हुई, उसका ज्ञान में विचार करके जीव उस ओर पुरुषार्थ किये बिना नहीं रहता। जिसकी जैसी रुचि और पहचान होती है उसका वैसा ही आदर होता है। उससे विरोधी का आदर नहीं हो सकता। इसलिये जिसमें जिसने माना उसमें उसे उसका मूल्य और आवश्यक्ता प्रतीत होने पर उस ओर उसके वीर्य की गति हुये बिना नहीं रहती।

'जीव पदार्थ है' यह कहने के बाद अब यह बतलाते हैं कि उसकी दो प्रकार की अवस्थाएं कैसी हैं? क्योंकि प्रथम 'अस्ति' अर्थात् 'है'

इसप्रकार वस्तुत्व का निश्चय करने के बाद वह वर्तमान में किस अवस्था में है यह बताया जा सकता है। 'वस्तु है' वह अनादि-अनंत है, पर से भिन्न है, इसलिये किसी के आधार से किसी का बदलना नहीं होता यह कहा गया है। और फिर, वस्तु में अनत धर्म भी हैं। उनमें द्रव्यत्व, प्रभुत्व प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व, वस्तुत्व, अस्तित्व, एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व आदि वस्तु के धर्म अर्थात् गुण उस वस्तु के आश्रित है, परवस्तु के आश्रित नहीं है। जैसे स्वर्ण एक वस्तु है, वह अपने अनत गुणों को धारण करता है। उसमें पीलापन, चिकनापन, और भारीपन इत्यादि शक्ति है, जिसे गुण कहा जाता है। इसीप्रकार आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य अस्तित्व, द्रव्यत्व इत्यादि अनंत गुण हैं। आत्मा अनंत वस्तुओं के साथ रहने पर भी अनंत वस्तुओं से भिन्न है। अनंत परपदार्थ होने से अनत अनोखापन नामक अनंतगुण आत्मा में है।

'आत्मा क्या है?' यह जाने बिना आत्मा का धर्म कहाँ से हो सकता है? जो सत्ता क्षेत्र में अवगुण कहलाती है वहीं वह गुण भी है। गुड़ की मिठास गुड़ में होती है या उसके बर्तन में? इसी प्रकार देहरूपी बर्तन में अरूपी ज्ञानघन आत्मा विद्यमान है, तब फिर उसमें उसके गुण होंगे कि देहादि परसंयोग में? परसंयोगी वस्तु का वियोग होने पर आत्मा का संबंध मन, वाणी, देह, इन्द्रिय इत्यादि में दिखाई नहीं देता। इसलिये आत्मा पर से भिन्न ही है। आत्मा एक है वह अनादिकाल से शरीर तथा परवस्तु से भिन्न है। आत्मा ऐसे अनंत शरीर के रजकणों से तथा परवस्तु से भिन्न रहता है। इसलिये अनत पररूप से नहीं होता, उसमें अनंत नास्तित्व तथा अनंत अन्यत्व नामक अनंत गुण हैं। आत्मा अनंतकाल से अनन्त पुद्गलों, अनंत शरीरों के साथ एकत्रित रहा, फिर भी वह उनके किसी भी गुण-पर्याय के रूप में परिणत नहीं हुआ। किसी के साथ मिला-जुला नहीं है। इस प्रकार अनंत के साथ एक नहीं हुआ, इसलिये अनन्त पर से भिन्न रहा। रजकण में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श की अवस्था बदलती है, किन्तु रजकण बदलकर आत्मा नहीं हो जाते, और आत्मा बदलकर जड़ नहीं हो जाता।

अनन्त धर्मों में रहने वाला जो एक धर्मीपन है उसके कारण जीव के द्रव्यत्व प्रगट है। अनन्त गुणों का एकत्व अनादिकाल से एकत्रित रहना सो द्रव्यत्व है। इस विशेषण से वस्तु को धर्म से रहित मानने-वाले अभिप्राय का निषेध हुआ। जो यह नहीं मानते कि गुण आत्मा से प्रगट होते हैं उनका भी निषेध हुआ। वास्तव में बाहर से गुण नहीं आते। जो भीतर हैं वे ही प्रगट होते हैं, क्योंकि यदि अनन्तगुण नहीं थे तो वे सिद्धों में कहा से आ गये? जो नही होता वह कहीं से आ नहीं सकता, इसलिये प्रत्येक आत्मा में स्वतंत्रतया अनंतगुण स्वभावरूप में विद्यमान हैं। आत्मा धर्म के नाम पर अनंतबार दूसरा बहुत कुछ कर चुका है, किन्तु उसने आत्मा को अनंत धर्मस्वरूप स्वतंत्र यथार्थरूप में जैसा है वैसा कभी नहीं जाना। कहा भी है कि–'जबतक आत्मतत्व को नहीं पहचाना तबतक सारी साधना वृथा है'। एक 'स्व' को नहीं जाना इसलिये अपने को भूलकर जगत् को देखता है। एक 'स्व' को जहाँ तक नहीं जाना है वहाँ तक कुछ नही जाना। एक के जानने से सब जाना जाता है।

जब लग एक न जानियो, सब जाने क्या होय।
इक जाने सब होत है, सबसे एक न होय॥

सभी को जानने वाला स्वयं ही है। इसप्रकार जाने बिना किसको पहचानकर–मानकर उसमें स्थिर हो? इसलिये पहले आत्मा को यथार्थ स्वरूप में निश्चय करना चाहिये। वस्तु का विचार किये बिना किसमें अस्तित्व मानकर टिकेगा? जैसा देहानुसार देह से भिन्न असंयोगी आत्मा सर्वज्ञ भगवान ने जाना है मैं वैसा ही पूर्ण हूँ, यह स्वीकार करने पर सभी समाधान हो जाते हैं।

क्रमरूप–अक्रमरूप प्रवर्तमान अनेक भाव जिसका स्वभाव है इसलिये जिसने गुण–पर्यायों को धारण किया है, ऐसा क्रमरूप आत्मा प्रतिक्षण अवस्था को बदलता है। जैसे पानी में एक के बाद दूसरी लहर उठती

है, उसी प्रकार जीव में प्रतिक्षण नई अवस्थायें क्रमशः होती हैं। उसमें जब राग होता है तब गुण की निर्मलदशा नहीं होती, और जहाँ वीत-रागता होती है वहाँ राग दशा नही होती। राग-विकार मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार जहाँ अरागी तत्व का लक्ष किया वहाँ राग मंद हुआ अर्थात् तीव्रराग की अवस्था बदली। इस प्रकार क्रम क्रम से अवस्था बदलती है। जैसे सोने में रहने वाले गुण एक ही साथ होते हैं, इसलिए वे अक्रमरूप कहलाते है, इसी प्रकार आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, आनन्द इत्यादि गुण एक साथ होते हैं, इसलिये उन्हे अक्रम अथवा सहभावी गुण कहा जाता है। सभी गुण त्रिकाल एकरूप आत्मा में साथ रहते है, इसलिये वे सहभावी हैं। अवस्था एक के बाद एक बद-लती है, इसलिये वह क्रमभावी है। जबतक विकार में युक्त होता है तबतक वह माने रहता है कि 'मैं विकारी हूँ,' जब अविकारी ज्ञान-स्वभाव के लक्ष से 'मैं विकारी नहीं हूँ' यह मानता है तब 'मैं अवि-कारी हूँ,' जैसा परमात्मा का स्वभाव पूर्ण है वैसा ही 'मैं हूँ'। इस प्रकार का अभ्यास बढ़ने पर अवस्था क्रमशः बदलती जाती है। पहले राग-द्वेष मानता था, पीछे यह माना कि मैं रागरूप नहीं हूँ। यहाँ पर श्रद्धागुण की अवस्था बदलती है। स्थिर रहकर बदलना स्वभाव है। 'यह सूक्ष्म कथन है, मेरी समझ में नहीं आता' इस प्रकार कहकर इन्कार मत करो। ज्ञानस्वरूप आत्मा कौन है, इसका ज्ञान तो करना नहीं है और धर्म करना है, भला यह कैसे हो सकता है?

अनादिकाल से बाह्यदृष्टि रखकर बाहर से दूसरा माना सो यह सब अज्ञान है, असत्य है। जीव अनादि-अनन्त वस्तु है। 'है' इसलिये आत्मा में अवस्था बदलती है। जैसे मनुष्य के शरीर में अवस्था बदलती है, उसी प्रकार रागदशा बदलकर निर्मल वीतरागदशा होती है और गुण सदा आत्मा के साथ टिके रहते हैं। जैसे सुवर्ण और उसके गुण सदा बने रहते हैं और अवस्था बदलती रहती है, इसी प्रकार आत्मारूपी सुवर्ण में ज्ञान, दर्शन, सुख इत्यादि गुण बने रहते हैं, उसमें अपनापन भूलकर,

पर में अपनापन मानकर जो विपरीत रुचि की सो गुण की विपरीत अवस्था है। वह बदलकर सीधी दशा हो सकती है, और गुण तो सदा साथ में ही स्थिर रहते हैं। शुद्ध और अशुद्ध दोनों अवस्थायें एक साथ नहीं होतीं। जब रागद्वेष अज्ञानदशा होती है तब शुद्धदशा नहीं होती, और जब शुद्ध वीतरागदशा होती है तब अशुद्ध दशा नही होती। यहाँ पर यह बात बहुत ही सरल ढग से और सादी भाषा में कही जा रही है; फिरभी उसे समझना तो स्वयं ही होगा। वस्तु की महिमा होनी चाहिये। संसार की रुचि के लिये चार आने की दर से ५ लाख रुपये का चक्रवृद्धि व्याज लगाना हो तो बराबर ध्यान रखकर प्रतिदिन का व्याज बढ़ाते हुए नया लगाता जाता है, जो कि ससार में परिभ्रमण करने की प्रीति की विपरीत बात है। यदि आठ आने की भूल हो गई तो चार आने का तेल जलाकर भी उसकी पूरी जाँच करना है, किन्तु यहाँ पर धर्म की कोई चिंता या कीमत नहीं है। लोग यह चाहते है कि मुफ्त में ही धर्म मिलता हो तो लेलिया जाये, किन्तु यह कैसे हो सकता है ? विशेष निवृत्ति पूर्वक अभ्यास करना चाहिये।

आत्मा एक नित्य वस्तु है, पर से भिन्न और अनत गुणों से अभिन्न है। उसमें से जिसमें सभी गुण एक साथ रहते हैं वह अक्रम कहलाता है, और जहाँ गुण की अवस्था क्रम क्रम से बदला करती है उसे क्रम-वर्ती कहते है। इस विशेषण से आत्मा को निर्गुण मानने वाले सांख्य-मत का निषेध होगया। निर्गुण किस प्रकार कहलाया ? सो कहते हैं कि – रजोगुण, तमोगुण और सत्वगुण प्रकृति के है, वे आत्मा में नहीं हैं। जो विकार है सो रागभाव है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है, उसका अभाव हो सकता है। किन्तु अपने में ज्ञान, दर्शन, सुख, शांति, वीर्य इत्यादि स्वभाविक गुण हैं, उनका अभाव नहीं होता। आत्मा वस्तु है, इसलिये उसमें अनंत शक्तिरूप ज्ञान-आनंद इत्यादि अनंतगुण है। उन्हें पहिचानकर उनमें एकाग्र होने पर वे प्रगट होते हैं। आम पड़ा पड़ा खट्टे से मीठा हो जाता है वहाँ आम में रसगुण ज्यो का त्यों है, मात्र

उसकी अवस्था बदल जाती है। आम खट्टे से मीठा हो जाता है, उसमें उसे ज्ञान की आवश्यक्ता नही होती अथवा उसे किसी की सहायता की आवश्यक्ता नही होती। इसीप्रकार आत्मा अपने ही कारण से पर में ममता करता है और ममतारहित होता है, इसमें किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। विपरीत रुचि को मिथ्या-रुचि कहते हैं, और सच्चा पुरुषार्थ करके जो प्रतीति होती है उसे सम्यग्दर्शन कहते है। दर्शनगुण आत्मा के साथ स्थिर रहता है और अवस्था बदलती रहती है। यहाँ सब सरल रीति से कहा जा रहा है; लेकिन लोगों ने उसे बहुत कठिन मान रखा है। 'मेरी समझ में नहीं आता, मैं नहीं समझ सकता' इत्यादि कहना मानों अपने को गाली देना है। आत्मा को अपात्र कहना उसे कलंकित करना है। जो अनंत सिद्ध परमात्मा कर चुके है वही कहा जा रहा है, और अधिक कुछ नहीं।

प्रत्येक आत्मा निजमें अनत कार्य कर सकता है, पर में कुछ भी नहीं कर सकता। हाँ, यह मानता अवश्य है कि मैं पर में भी कुछ कर सकता हूँ। स्वतंत्रता जैसी है वैसी ही बताई जा रही है, तू इन्कार मत कर, तेरी प्रभुता के गीत गाये जा रहे हैं। जैसे बालक को सुलाने के लिये माता लोरी गाती है और बालक अपनी बड़ाई सुनकर सो जाता है, उसी प्रकार आत्मा को जागृत करने के लिये यह कहा जाता है कि तू परमात्मा के समान है, सदा चैतन्यज्योति है। बालक को सुलाने के लिये पालने में लिटाया जाता है और बालक लोरी गीत सुनकर सो जाता है, इसी प्रकार ज्ञानी सबोधित करते है कि-चौरासी के झूले को अपना मानकर अज्ञानरूप में सो रहा है, तुझे जागृत करने के लिये गीत गाये जा रहे हैं, तुझे जागना होगा। माता के गीत तो सुलाने के लिये होते हैं, किन्तु यह गीत तुझे जगाने के लिये है। ससार और मोक्ष की रीति में इतना ही उल्टा सीधा अन्तर है। बालक की प्रशसा करने पर वह सो जाता है, क्योंकि उसकी गहराई में बड़प्पन की मिठास भरी हुई है, वह उसमें से बड़प्पन का आदर पाकर संतुष्ट हो जाता है,

इसी प्रकार यह जीव मिथ्याबुद्धि के झूले में अनादिकाल से सो रहा है। अब तुझे तेरी प्रभुता की महिमा गाकर जागृत किया जा रहा है, यदि तू इन्कार करे तो यह नहीं चलेगा। त्रिलोकीनाथ सिद्ध भगवान ने जिस पद को पाया है उसी पद का अधिकारी तू भी है, इस प्रकार तेरे गीत गाये जा रहे हैं। शास्त्र भी तेरे गीत गाते है। जाग रे जाग! यह महामूल्य क्षण वृथा चले जा रहे हैं। तू अपने को न पहचाने, यह कैसे हो सकता है?

जो स्वाधीन ज्ञानानंदस्वरूप को अपना मानकर—जानकर उसमें स्थिर होता है वह स्वसमय आत्मा है, और पर को जो अपना मानता है जानता है और रागद्वेष में परवस्तु की ओर के झुकाव के बल से स्थिर होता है वह परसमयरूप होता हुआ अज्ञानी आत्मा है। एक की अवस्था का झुकाव स्व की ओर है और दूसरे का पर की ओर। अवस्था में उल्टा फिरने से संसारमार्ग और सीधा फिरने से मोक्षमार्ग होता है।

अपने और परद्रव्यों के आकारों को प्रकाशित करने की सामर्थ्य होने से, जिसने एक साथ विश्व के समस्त रूप का ज्ञान प्रगट किया है। ऐसा भगवान आत्मा है। संपूर्ण पदार्थों का स्वरूप ज्ञात हो ऐसा गुणवाला होने से उसने लोकालोक को झलकाने वाला एकरूप ज्ञान प्राप्त किया है। दर्पण में लाखों वस्तुएं प्रतिबिम्बित होती है, किन्तु इससे दर्पण उन लाख वस्तुओ के रूप में नहीं हो जाता। दर्पण में कोई वस्तु प्रविष्ट नहीं है, किन्तु उसकी स्वच्छता से ही ऐसा दिखाई देता है। इसी प्रकार आत्मा का ज्ञानगुण ऐसा स्वच्छ है कि उसमें जानने योग्य अनंत पर-वस्तुऐं ज्ञात होती है। जानने वाला अपनी शक्ति को जानता है और वह दूसरे को जानता हुआ पररूप नहीं हो जाता, किन्तु अज्ञानी को अपने स्वभाव की खबर नहीं है। कुछ लोगों का ऐसा अभिप्राय है कि केवलज्ञान होने के बाद आत्मा स्व को ही जानता है, पर को नहीं जानता। ऐसे एकाकार को मानने वालों का यहाँ निषेध किया गया है। तथा कोई कहे कि ज्ञान निज को नहीं जानता, पर को ही जानता है,

तो इस प्रकार अनेक आकार मानने वालों का भी निषेध किया गया है। जीव का स्वरूप जैसा है वैसा विरोधरहित न जाने तो जीव जागृत नहीं होगा ।

और फिर आत्मा कैसा है, सो बताते है । अन्य द्रव्यों के जो मुख्य गुण हैं उनसे विलक्षण, असाधारण गुणवाला चैतन्यस्वरूप है। आत्मा के अतिरिक्त जो अन्य पदार्थ हैं उनके विशेष गुण कहे जाते हैं। जैसे एक आकाश नामक पदार्थ है, उसका विशेष गुण अवगाहना है, इसीप्रकार गतिसहायक, स्थितिसहायक और वर्तनासहायक इत्यादि लक्षणों को धारण करने वाले धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और कालद्रव्य है। यह पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं। प्रत्येक आत्मा अपनी अपेक्षा से त्रिकाल है, परापेक्षा से त्रिकाल नहीं है । छहों द्रव्य जगत में विद्यमान हैं, उन्हे युक्ति आगम और अनुभव से सिद्ध किया जा सकता है। रूपित्व पुद्गलपरमाणु का गुण है। पाँचों पदार्थों के गुणों का आत्मा में अभाव है, किसी के साथ संबंध नहीं है, किन्तु विपरीत मान्यता ने घर बना रखा है। एकबार पात्र होकर अपने अनंत केवलज्ञान स्वरूप को सुने और जाने तो उसकी महिमा आये बिना न रहे। अब यहाँ अस्ति-नास्ति को बतलाते हैं कि परवस्तु के गुण तुझमें नहीं हैं और तेरे गुण पर में नहीं हैं। तू ज्ञायक है, इसलिये तेरा मुख्य लक्षण जानना है। तुझसे ही तेरा धर्म प्रगट होना है, पर से गुण प्रगट नहीं होता । आत्मा का कोई गुण यदि पर से आये तो आत्मा निर्माल्य सिद्ध होगा। किन्तु तू अनंत गुण-स्वभाव से परिपूर्ण तत्त्व है । यदि उसे भूलकर पर का आश्रय ले तो क्या तू निर्माल्य वस्तु नहीं कहलायगा ? आत्मा स्वयम् ही संपूर्ण सुख से परिपूर्ण है।

असाधारण चैतन्यरूपता, चैतन्यस्वरूपत्व, अरूपित्व तथा ज्ञानघनता इत्यादि स्वभाव का अस्तित्व होने से आत्मा अन्य द्रव्यों से भिन्न है। उन विशेषणों से एक ब्रह्म वस्तु को ही मानने वालों का निषेध हो गया। जगत में अनंत परवस्तुएं हैं। जगत, जगत में है, आत्मा में नहीं।

आत्मा पर से भिन्न है, परवस्तु आत्मा से त्रिकाल भिन्न है। इस प्रकार जहाँतक निर्णयपूर्वक न जाने वहाँतक जीव पृथक्त्व का भेदज्ञानज्योति का पुरुषार्थ नहीं कर सकेगा।

आत्मा अन्य अनंत द्रव्यों के साथ एक क्षेत्रावगाह में व्याप्त होकर व्यवहार से विद्यमान है; निश्चय से प्रत्येक आत्मा परक्षेत्र से नास्तिरूप है। द्रव्य अर्थात् अनंत गुण–पर्यायरूप वस्तु। क्षेत्र अर्थात् आत्मा की असंख्यप्रदेशरूप चौड़ाई। काल अर्थात् वर्तमान में प्रवर्तमान अवस्था। भाव अर्थात् त्रिकालरूप में द्रव्य की शक्ति अथवा गुण।

इस प्रकार आत्मा स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावरूप से–अपने–पन से है और परवस्तु के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से त्रिकाल में भी नहीं है। जैसे पानी के साथ बहुत समय से कंकड़ पत्थर भी एकत्रित चले आ रहे हैं तथापि पानी और कंकड़ पत्थर भिन्न भिन्न हैं। इसी प्रकार एक स्थान में प्रत्येक वस्तु के एकत्रित रहने पर भी कोई अपने स्वभाव से अलग नहीं होती। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा टंको-त्कीर्ण चैतन्य एक स्वभावरूप है। इस विशे- षण से वस्तुस्वभाव का नियम बताया है। ऐसा जीव नाम का पदार्थ समय है। समय अर्थात् [सम्+अय] एक साथ जाने और परिणमने की क्रिया करे सो समय–आत्मा अथवा जीव है।

अब मोक्षमार्ग बतलाते हैं;–जीव का झुकाव किधर है यह बताते हैं। जब जीव का सीधी ओर झुकाव हो तब भेदविज्ञानज्योति प्रगट होती है, तथा जब जीव स्वयं पुरुषार्थ करता है तब वह प्रगट होती है। यहाँ साधक भाव का वर्णन किया है। जब इस आत्मा में सर्व-पदार्थों के स्वभाव को प्रकाशित करने में, जानने में समर्थ केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेदविज्ञानज्योति का उदय होता है तब वह सर्व परभावों से अपने को भिन्न जानने लगता है। मैं पर से निराला हूँ, शरीर, मन, वाणी, पुण्य, पापरूप नहीं हूँ; चैतन्यज्ञानज्योतिस्वरूप हूँ, रागादिरूप नहीं हूँ। अर्थात् पर से भिन्न हूँ। इस प्रकार की भेदज्ञान-

ज्योति के द्वारा पुण्य-पाप उपाधिरहित पूर्ण ज्ञानघन स्वभाव के लक्ष्य से, पर से भिन्न रागरहित होने की क्रिया साधक जीव करता है।

जैसे अग्नि में पाचक, प्रकाशक और दाहक गुण हैं। इसीप्रकार आत्मा में दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुण हैं। जैसे अग्नि पाचक गुण के द्वारा अनाज पकाती है उसीप्रकार आत्मा अपने दर्शन गुण से अपने सम्पूर्ण शुद्धस्वभाव को पका सकता है। जैसे अग्नि अपने प्रकाशक गुण के द्वारा स्व-पर को प्रकाशित करती है वैसे ही आत्मा अपने ज्ञान गुण के द्वारा स्व-पर प्रकाशक है। जैसे अग्नि अपने दाहक-गुण के द्वारा दाह्य को जलाती है उसीप्रकार आत्मा का चारित्र गुण विकारी भाव को सर्वथा जला देता है। अंधेरे में जाकर देखो तो सभी वस्तुऐं एकसी मालूम होंगी, उनमें भेद मालूम नहीं हो सकता, किन्तु दीपक के प्रकाश में देखने पर वे जैसी भिन्न भिन्न होती हैं वैसी ही दिखाई देती हैं। इसीप्रकार आत्मा को पर से भिन्न जानने के लिये पहले सम्यग्ज्ञानरूपी प्रकाश चाहिये। यह सबसे पहली आत्मधर्म की इकाई है। सम्यक्‌दर्शन, ज्ञान और अंतःचारित्र की एकता से ही धर्म होता है और वही यहाँ कहा जा रहा है।

आत्मा का स्वभाव कैसा है? शिष्य के इस प्रश्न का उत्तर सात प्रकार से कहा गया है।

विपरीतदृष्टि से संसार और सीधी दृष्टि से मोक्ष होता है। यहाँ यह बताया जारहा है कि धर्म क्योंकर होता है, इसलिये ध्यान रखकर सुनो! यह अंतरंग की अति सूक्ष्म बात है। भेदज्ञानज्योति को प्रगट करने से ही सर्व पदार्थों को जानने वाला केवलज्ञान प्रगट होता है। केवलज्ञान का अर्थ है, पूर्ण-निर्मलज्ञानदशा। उसे प्रगट करने में जीव तब समर्थ होता है जब भेदज्ञानज्योतिरूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है। मोक्ष का सर्वप्रथम उपाय आत्मा में भेदज्ञानज्योति को प्रगट करना है, उसे सम्यग्ज्ञानज्योति कहते हैं। जैसे अंधकार के कारण सभी वस्तुऐं प्रथक् प्रथक् मालूम नहीं होती, उसीप्रकार अज्ञानरूपी अंधकार में मन,

वाणी, देह, पुण्य, पाप इत्यादि जो कि आत्मा से भिन्न हैं, भिन्न नहीं मालूम होते। किन्तु जब भेदज्ञान से पृथक्त्व के बोध का उदय होता है, तब जीव सर्व परद्रव्यों से छूटकर निरालंबी होकर दर्शन, ज्ञानस्वभाव में प्रवृत्ति करता है। जब इसप्रकार की श्रद्धा होती है कि मन, वाणी, देह, पुण्य, पाप राग इत्यादि मैं नहीं हूँ तब श्रद्धा में पर से छूटना होता है। यहाँ तो अभी मोक्षदशा कैसे प्रगट हो उसकी श्रद्धा अर्थात् पहिचान करने की बात है, वह प्रगट तो बाद में होती है। जैसे सूर्योदय से अंधकार का नाश होने पर प्रत्येक पदार्थ अलग अलग मालूम होता है, उसीप्रकार अंतरंग ज्ञानस्वरूप की ज्ञानज्योति से पहचान होने पर प्रत्येक स्व–पर वस्तु पृथक् पृथक् मालूम होती है। जैसे अग्नि का प्रकाश होता है वैसे ही यहाँ ज्ञान का प्रकाश है। परमाणु, देहादि और राग का अंश मेरा नहीं है। मन के संबंध से राग–द्वेष उत्पन्न होता है, उस संबंध से रहित अविकारी आत्मधर्म है। इसप्रकार की प्रतीति के अनुसार पुण्य-पापरहित और दर्शनज्ञानस्वरूप–स्थिरतारूप आत्मतत्त्व में एकाग्र होकर मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति होती है और क्रमशः वीतरागदशा प्रगट हो जाती है।

जिसे मुक्त होना है उसे उसकी परिभाषा जानना चाहिये। बंधनभावरूप अशुद्धदशा से मुक्त होता है या स्वभाव से मुक्त होता है? यह निश्चय करना होगा। अज्ञानी पर को मानता है इसलिये कभी बंधनभाव से नहीं छूट सकता। कोई कहे कि अभी पुण्य-पाप, देहादि से पृथक् आत्मा कैसे माना जा सकता है? उसके लिये ज्ञानी कहते हैं कि–मैं परमार्थतः मुक्त हूँ, पर से बद्ध नहीं हूँ, यह निर्णय तो पहले करना ही होगा। पहले श्रद्धा में से सर्व परद्रव्यों का संबंध छोड़ने पर यह प्रतीत होता है कि परवस्तु के साथ तीनकाल और तीनलोक में भी आत्मा का कोई संबंध नहीं है, इसलिये मेरा हित मुझमें मेरे ही द्वारा होता है। इसप्रकार अंतरंग में दृढ़ता हो जाती है।

पहले पात्रतानुसार खूब श्रवण करना चाहिये और सुने हुये भाव का मनन करना चाहिये, क्योंकि स्वयं कौन है, इसका अनादिकाल से

विस्मरण हो रहा है। और पर मेरे हैं, मैं पर काम कर सकता हूँ, पर मेरी सहायता कर सकते हैं, इसप्रकार की विपरीतदृष्टि के कारण अनादिकाल से पर का स्मरण बना हुआ है। जगत में ऐसी बातों का परिचय भी बहुत है, इसलिये पहले सत्य को सुनकर सत्य–असत्य की तुलना करना आना चाहिये, तथा खूब श्रवण करके आदरपूर्वक अंतरंग से हाँ कहना सीखना चाहिये। सत्समागम से सुनकर 'मैं सिद्ध परमात्मा ही हूँ,' यह समझकर हाँ कहते कहते उसका अभ्यास हो जायगा और उससे आत्मस्वभाव की स्थिति प्रगट हो जायगी।

आत्मस्वभाव पर से भिन्न है, यह बात सुनते ही तत्काल भेद–ज्ञान हो जाता है, किन्तु पर से भिन्न आत्मा कैसा है और कैसा नहीं, इसकी यथार्थ पहचान की बात होने पर जो जो न्यायपुरस्सर कहा जाता है उसे सुनकर मोक्षस्वभाव का प्रेम बढ़ना चाहिये। जिसे जिसका प्रेम है उसकी बात श्रवण करते हुये वह उकता नहीं सकता, इसीप्रकार आत्मा की सत्य बात का प्रेम होने पर आत्मा पर का कर्ता नहीं है, पर से निराला है, ऐसी बात सुनते हुये उकताना नहीं चाहिये, किन्तु उसे रुचिपूर्वक सुनना चाहिये। सर्वज्ञ द्वारा कथित यह सत्य है कि तेरा तत्व पर से निराला है, तूने उसका यथार्थ स्वरूप पहले कभी नहीं सुना था, इसलिये उसे सुनने के लिये प्रीतिपूर्वक ऐसा भाव होता है कि अरे ! यह बात तो अनंतकाल में कभी नहीं सुनी थी–ऐसी अपूर्व है। समझ पूर्वक उसके प्रति आदर होता है, उससे विरुद्ध बात का आदर नहीं होता। अनंतकाल में धर्म के नाम पर जो कुछ किया है वह कुछ अपूर्व नहीं किया है, उसकी सत्य बात पहले ही अंतरंग में रुचिगत होनी चाहिये।

असंयोगी ज्ञानघन तत्व उस राग और परमाणु से भी भिन्न, पराश्रय-रहित, पूर्ण ज्ञानानंदरूप है। आत्मा स्वाधीनतया सदा जानने वाला है। ज्ञानमात्र मेरा स्वरूप है, जो क्षणिक मलिनता दिखाई देती है वह मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार पहले ज्ञान में स्वीकृति हो और राग

को टालने के लिये स्थिरतारूप क्रिया मुझमें, मेरे द्वारा हो सकती है, ऐसी श्रद्धा होने के बाद सर्व परद्रव्यों से, परावलम्बन से मुक्त होकर स्व में एकाग्र लीनतारूप चारित्र हो सकता है। किन्तु अभी स्थूल मिथ्यात्वरूप मान्यता से, अनादिकाल से यह मानता चला आ रहा है कि मैं पर की प्रवृत्ति कर सकता हूँ, पर मेरी सहायता कर सकता है, पुण्य से गुण होता है, उससे धीरे धीरे धर्म प्रगट होता है; और ऐसी कल्पना किया करता है कि शरीर मेरा है, पर वस्तु मेरी है। इसप्रकार मानने वाले के धर्म कहाँ से हो सकता है? आत्मा बदलकर कभी जड़ नहीं होता, और जड़ पदार्थ आत्मा के नहीं हो सकते। परद्रव्य को छोड़ने की बात व्यवहार से है। वास्तव में तो आत्मा को किसी पर ने ग्रहण किया ही नहीं है। केवल मान्यता में ही पर की पकड़ थी कि राग मेरा है, पुण्य मेरा है, जड़ पदार्थ मेरे हैं, और इसप्रकार जड़ की अवस्था का स्वभाव मेरा है। इस विपरीत मान्यता से छूटना समस्त परद्रव्यो से छूटना है। आत्मा के भीतर कोई घुस नहीं गया है। भ्रम से पर में कर्तृत्व मान रखा है कि जड़–देहादि कि क्रिया मेरे द्वारा होती है और पर से मुझे हानि–लाभ होता है, इसप्रकार जो पर को और अपने को एक करके मान रहा था, उस विपरीत मान्यता का स्वभाव की प्रतीति से प्रथम त्याग करना चाहिये। उसके बाद ही वर्तमान में दूसरे की ओर झुकती हुई अस्थिर अवस्था को स्वरूप स्थिरता से छोड़ा जा सकता है।

मैं परमात्मा के समान अनंत आनंद और अपारज्ञान स्वभाव हूँ। जैसे भगवान हैं वैसे ही परमार्थतः मैं हूँ, ऐसी दृढ़ प्रतीति होने से सम्यग्दर्शन गुण प्रगट होता है। त्रैकालिक अविकारी स्वभाव का लक्ष होने पर वर्तमान क्षणिक अवस्था में जो अल्पराग का भाव रहता है उसे नहीं गिनता। ज्ञान की तीव्र एकाग्रतारूप ध्यानाग्नि के द्वारा सर्व राग के नाश करने की श्रद्धा विद्यमान है; इसलिये उसके बल से राग हटता हुआ दिखाई देता है। जैसे अग्नि में पाचक, प्रकाशक और दाहक शक्तियाँ विद्यमान हैं उसीप्रकार आत्मा में दर्शन, ज्ञान, चारित्रगुण विद्यमान हैं। आत्मा त्रिकाल पर से भिन्न है, उसकी अनंत चैतन्यशक्ति भी शुद्ध है।

वर्तमान अवस्था में कर्म का निमित्त है, उसे लक्ष में न लेकर त्रिकाल ज्ञानस्वभावरूप में देखा जाय तो वह शुद्ध ही है। आत्मा में जो अशुद्ध अवस्था होती है उसकी स्थिति एक समयमात्र की है। विकारी भाव दूसरे समय में करता है सो वह भी मात्र उस समय के लिये ही करता है। उस क्षणिक अवस्थारूप मैं नहीं हूँ, मैं तो नित्य हूँ। शुद्धता अथवा अशुद्धता वर्तमान पर्याय में होती है, द्रव्यदृष्टि से देखने पर द्रव्य में वह भेद नहीं है। आत्मा अनंतगुणों का पिण्ड है, उसकी एक समय की वर्तमान अवस्था प्रगट होती है, और दूसरी त्रिकाली अवस्था अप्रगट होती है, अर्थात् शक्तिरूप से होती है। संसारी आत्मा में भी अनंतज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य इत्यादि गुण अप्रगट शक्तिरूप से हैं।

आत्मा में समय समय पर होने वाली विकारी अवस्था प्रवाह से अनादि की है, वह अवस्था क्षणिक होने से दूर की जा सकती है। आत्मा का स्वभाव रागद्वेष का नाशक है, किन्तु उत्पादक नहीं। चैतन्य का स्वभाव अवगुण को जानने वाला है, अवगुणरूप होकर जानने वाला नहीं है। न्यायपूर्वक विचार करने से मालूम होता है कि जिसको दूर करना चाहता हूँ वह मेरा स्वभाव नहीं है। इसका यह अर्थ हुआ कि पर से भिन्न अकेला रहना निज का स्वभाव है। और मैं पर में एकत्व-बुद्धि को दूर कर स्व में रहना चाहता हूँ। पूर्ण होने से पहले पूर्णस्वभाव की श्रद्धा करना चाहिये, क्योंकि उसके विना पूर्ण की ओर का पुरुषार्थ नहीं आ सकता।

मैं त्रिकाल अनंत गुणों का पिंड हूँ। एक समयमात्र की स्थिति का जो विकार है वह मेरा स्वभाव नहीं है। दोष और दुःख का ज्ञाता दोष अथवा दुःखरूप नहीं है। यदि मैं अवगुणों को दूर करना चाहता हूँ तो वे दूर हो सकते हैं और मुझमें उन्हें दूर करने की शक्ति विद्यमान है। जिसे ऐसा भेदज्ञान नहीं होता उसके व्रत और चारित्र कहाँ से हो सकते हैं। सम्यग्दर्शन से पूर्व सच्चे व्रतादिक नहीं हो सकते, और सम्यग्दर्शन के विना भव-भ्रमण दूर नहीं हो सकता। यदि कषाय की मंदता हो

तो पापानुबंधी पुण्य का बंध होता है। स्वतंत्र, निरावलंबी तत्त्व को समझे बिना धर्म नहीं होता, ऐसा नियम है। सर्वज्ञ कथित इस त्रैकालिक नियम में अपवाद नहीं हो सकता।

यथार्थ आत्मस्वरूप को समझे बिना देहादि की क्रिया की बातों में और उसके झगड़े में जगत लगा रहता है। आत्ममार्ग तो अतरंग अनुभव में है। अनादि से विपरीतता के कारण जीव ने जो कुछ मान रखा है वह यथार्थ नहीं है।

सुख अथवा दुःख जड़ में नही है, किंतु परवस्तु की ओर झुकने का जो भाव है वही दुःखरूप है। तीव्रकषाय अधिक दुःख है और मंदकषाय थोड़ा दुःख है। उसे लोग सुख मानते हैं, किंतु वे दोनों आत्मगुणरोधक हैं। जैसे धुआँ अग्नि का स्वभाव नही है, किन्तु गीली लकड़ी के निमित्त से वर्तमान अवस्था मे जो धुआँ दिखाई देता है, वह अग्नि का स्वरूप नहीं है। क्योंकि अग्नि के प्रज्वलित होने पर जैसे धुआँ दूर हो जाता है, उसी-प्रकार चैतन्य स्वभाव राग-द्वेष के धुवे से रहित है। वर्तमान अवस्था में कर्म के निमित्त से शुभ या अशुभवृति का मैल उठता है, किन्तु वह आत्मस्वरूप नहीं है। अल्प मैल का फल अल्प दुःख है, जिसे पुण्य कहा जाता है और अधिक मैल का फल अधिक दुःख है, जिसे पाप कहा जाता है। शुद्ध चैतन्य स्वभाव में जीव के एकाग्र होने पर और ध्यान-रूपी अग्नि के प्रज्वलित होने पर वह मैल दूर हो जाता है। शुभ और अशुभ दोनों भाव विकार हैं, दोनों को कर्म के निमित्त से उत्पन्न हुआ मैल जानकर जो उसे दूर करना चाहता है वह दूर करने वाला मैं निर्मल हूँ। जिसकी ऐसी दृष्टि होती है वह उसे दूर कर सकता है।

त्रिकाल पूर्ण, निर्मल, निराकुल स्वभाव के लक्ष से वर्तमान क्षणिक शुभाशुभ आकुलतारूप भाव दूर किया जा सकता है, इसलिये पहले ही पूर्णस्वभाव की प्रतीति करने का कथन किया है। संपूर्ण दशा प्रगट होने से पहले आत्मा अपारआनन्दरूप, निर्मल, पवित्र है, ऐसी जो सम्यक्-प्रतीति करता है वह संपूर्ण दशा को प्राप्त करता ही है,। यहाँ कोई

कहता है कि प्रगट होने के बाद मानूँगा, उसके लिए कहते हैं कि परमात्मदशा प्रगट होने के बाद मानने को क्या रहेगा?

मैं परमात्मस्वरूप ही हूँ, पुण्य-पाप के बंधनवाला नहीं हूँ, ऐसी सम्यक्-श्रद्धा में पूर्ण केवलज्ञान प्रगट करने की सामर्थ्य है और उसके बल से वह पूर्णता को प्रगट करता है; इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय कोई बताये तो वह सत्य नहीं है।

जिस वस्तु की आवश्यकता हो वह कैसी है, कैसे मिले, और कहाँ से मिले? इत्यादि बातों का जीव पहले से ही निश्चय करता है। जैसे किसी को हलुवा बनाना है वह उसके बनाने से पहले अमुक वस्तुओं से वह बनेगा ऐसी प्रतीति करता है, और फिर आटा, घी, शक्कर लेकर बनाने का परिश्रम करता है, उसीप्रकार आत्मा चिदानंद भगवान, निर्मल, वीतराग है, पर से त्रिकाल भिन्न है; उसको यथार्थरूप से पहचानने का अभ्यास करे उसके लिए निवृत्ति लेकर सत् समागम, श्रवण-मनन करे तो अपूर्व सत्य समझ में आता ही है, किन्तु जिसे इस बात की रुचि नहीं है वह इस बात के कान में पड़ते ही कहता है कि यह बात हम नहीं मान सकते, क्योंकि जो देखने में नहीं आता वह कैसे माना जा सकता है? किन्तु यदि स्वभाव का विश्वास करके देखे तो सभी समय पूर्ण परमात्मस्वभाव हैं। आत्मा मनुष्य भी नहीं है, ऐसा जानकर और वर्तमान विकारी अवस्था का लक्ष्य छोड़कर, अखंड ज्ञायकरूप को ही मानकर यदि उसमें स्थिर हो तो संयोग और विकार दूर हो जाता है।

"मैं पूर्ण परमात्मा हूँ, राग और पुद्गल-परमाणुमात्र मेरे नहीं हैं, मुझे पर का आश्रय नहीं है," ऐसी श्रद्धा सम्यग्दर्शन, ऐसा ज्ञान सम्यग्ज्ञान तथा ऐसे दर्शन ज्ञान से जाने हुए स्वरूप में स्थिरतारूप क्रिया चारित्र है।

जैसे वकील अपने ही पक्ष का समर्थन करता है, उसके विरोधी का चाहे जो हो इसे वह नहीं देखता; इसीप्रकार सर्वज्ञभगवान का न्याय

आत्मा के ही पक्ष में होता है। लौकिक न्याय (नियम) में तो देश, काल के अनुसार परिवर्तन होता है, किन्तु आत्मधर्म में वैसा नहीं होता। कहा है कि:—

"एक होय त्रणकाल मां, परमारथ नो पंथ।
प्रेरे ते परमार्थ ने, ते व्यवहार समंत॥"

(आत्मसिद्धि पद ३६)

पूर्ण अखण्ड स्वभाव का लक्ष परमार्थ है। पुण्य-पाप परिणामरहित, पराश्रयरहित, दर्शन, ज्ञान, चारित्र का साधकत्व उस परमार्थ का साधक व्यवहार परमार्थ का पंथ है।

जब यह जीव भेदज्ञानज्योति प्रगट करके परभाव से छूटकर स्वरूप में स्थिर होता है अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चारित्र में अन्तरंग से एकत्वरूप में लीन होकर रमणता करता है, तब केवलज्ञानज्योति प्रगट होती है।

प्रश्न—क्या वास्तव में मन सहायक है?

उत्तर—नहीं, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य स्व अपेक्षा से है, और पर अपेक्षा से नही है। आत्मा स्वरूप से सत् है और पररूप से असत् है। आत्मा में परवस्तु असत् है। जो उसमें नहीं है वह उसका क्या कर सकता है? जो प्रथक् वस्तु है, उसे परवस्तु तीनकाल और तीनलोक में सहायक हो ही नहीं सकती, अर्थात् मन जो कि आत्मा से भिन्न है, आत्मा का सहायक हो ही नही सकता।

जीव नाम का पदार्थ 'समय' है। जब जीव समस्त पदार्थों के स्वभाव को प्रकाशित करने में समर्थ केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेदज्ञानज्योति का उदय होने से, समस्त परद्रव्यो से छूटकर दर्शन-ज्ञान-स्वभाव में निश्चित प्रवृतिरूप आत्मतत्व के साथ एकत्वरूप में लीन होकर प्रवृत्ति करता है तब दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित होने से अपने स्वरूप को एकतारूप से एक ही समय जानता हुआ तथा परिणमन करता हुआ 'स्वसमय' है; ऐसी श्रद्धा का होना मोक्षमार्ग कहा है।

अब अनादि का बंधमार्ग कैसा है सो कहते हैं:-पहले अनुकूलता के गीत गाये, अब प्रतिकूलता की बात कही जाती है। अनादि अविद्या-रूपी केलस्तंभ की तरह पुष्ट हुआ मोह है, उसके उदयानुसार प्रवृत्ति की आधीनता से दर्शन-ज्ञानस्वभाव में निश्चित प्रवृत्तिरूप आत्मतत्व से छूटकर, परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न मोह-रागद्वेषादि भावों में एकत्वरूप से लीन होकर जीव जब प्रवृत्ति करता है तब पुद्गलकर्म के कार्मण-स्कन्धरूप प्रदेशों में स्थित होने से परद्रव्य को अपने (आत्मा के) साथ एकरूप से एक काल में जानता हुआ और रागादिरूप परिणमन करता हुआ 'परसमय' है। इसप्रकार प्रतीति की जाती है।

अनादिकालीन मोह के उदयानुसार परवस्तु को अपनी माननेरूप जो पराश्रित भाव होता है वह आत्मा में सदा नहीं रह सकता। अज्ञान भी नित्य नहीं रहता, तथापि जीव में वह अनादि से है; इसलिये यह निश्चय हुआ कि जीव पहले शुद्ध था और बाद में अशुद्ध हुआ हो ऐसी बात नही है।

प्रश्न—जब कि अज्ञान अनादि से है तब उसका नाश कैसे होगा?

उत्तर—जैसे चने से पौधा होता है, और पौधे से चने होते हैं; किन्तु यदि चना भून लिया जाये तो वह फिर नहीं उगता, इसीप्रकार रागद्वेष-अज्ञानरूप अवस्था है, उसका एक बार नाश होने पर वह फिर उत्पन्न नही होती।

जिसकी अनादि से देहादि के ऊपर दृष्टि है उससे कहते हैं कि "वह तेरे नहीं हैं, तू पुण्य-पाप-देहादि के संयोग से भिन्न है," सो तो उसे रुचता नहीं है, तथापि ज्ञानी कहता है कि हम स्वयं अनुभव करने के बाद कह रहे हैं कि तू अपार सामर्थ्यवान अनंतगुणरूप है, उसकी ओर दृष्टि कर। पर के आश्रय से होने वाला विकार क्षणिक है, वह तेरा स्वरूप नहीं है, तू तो मुक्त, सिद्ध के समान है।

ऐसी सच्ची बात कभी नहीं सुनी, इसलिए 'हाँ' कहने में कठिनाई मालूम होती है। यदि बाह्य की बात की जाय तो तत्काल ही हकार करता है।

यहाँ अनादि अविद्या (पर को अपना मानना और स्वयं को भूल जाना) को केल की उपमा क्यों दी गई है? सो कहते हैं—जैसे केल की गांठ में से केल के अनेक पुर्त फूटते जाते है, उसीप्रकार अज्ञान–रूपी केल में से राग-द्वेष–तृष्णारूपी अनेक प्रकार के पुर्त फूटते रहते है, और उनका फल चौरासी लाख का अवतार ग्रहण होता है।

यदि अपनी मानी हुई कोई बात आती है तो तुरन्त ही 'हाँ' कहता है, और यदि अपनी मान्यता से भिन्न बात कही जाय तो डंके की चोट नकार देता है।

मोह का अर्थ है स्वरूप की असावधानी। उसके द्वारा अनादि से परवस्तु मेरी है, पुण्य पाप मेरे हैं, इसप्रकार जीव मानता है। ऐसी पराधीनदृष्टि होने से उसको स्वतंत्र होने की बात अच्छी नहीं लगती। तू प्रभु है, पूर्ण है, निर्विकारी है; उसकी श्रद्धा कर। स्वभाव की 'हाँ' भरने से अंतरंग से अनन्त बल आयेगा।

शुभ भाव भी आत्मस्वभाव में सहायक नहीं है। ऐसी समझ के बिना मात्र पुण्य की क्रिया की, और इसीलिये जो यह जीव अनन्तबार नवमें ग्रैवेयक तक गया उसकी श्रद्धा व्यवहार से तो बहुत स्पष्ट होती है, क्योंकि सम्पूर्ण व्यवहार शुद्धि के बिना नवमें ग्रैवेयक तक जा नही सकता, किन्तु अन्तरंग में परमार्थ श्रद्धान नही हुआ, इसलिये इसका भव–भ्रमण दूर नहीं हुआ।

जैसे किसी ने पहला घड़ा उल्टा रक्खा हो तो उसके ऊपर रखे गये सभी घड़े उल्टे ही रहते है, इसीप्रकार जिसकी श्रद्धा विपरीत है उसका ज्ञान–चारित्र भी विपरीत होता है। इसलिये पहले से ही सच्चा स्वरूप समझने की आवश्यक्ता है। सत्य के समझने में देर लगती है

इसलिए कोई हानि नहीं है, किन्तु यदि जल्दी करके विपरीत मानले तो हानि अवश्य होगी ।

बाह्य मान्यता ने घर कर लिया है, इसलिए जीव को लौकिक प्रवृत्ति में मिठास मालूम होती है और पुण्य-पाप रहित शुद्ध आत्मधर्म की मिठास मालूम नहीं होती; प्रत्युत वैसी बात सुनकर बाह्यदृष्टि वाले जीव निन्दा और द्वेष करते हैं ।

यह जीव जितना समय पर के लिये लगाता है उतना समय यदि अपने लिये लगाये तो कल्याण हुए बिना न रहे । हे भाई ! अनन्त-काल में यह महादुर्लभ मनुष्य भव मिला है, इसमें यदि कल्याण नहीं किया तो फिर कब करेगा ?

यद्यपि पुण्य को धर्म मानने का निषेध किया गया है, किन्तु पाप से बचने के लिए पुण्य करने का निषेध नहीं है । हाँ, पुण्य से धीरे धीरे आत्मगुण प्रगट होगा, ऐसी अनादि कालीन विपरीत मान्यता का निषेध मोक्षमार्ग में है । अज्ञानी जीवों ने राग की प्रवृत्ति को कर्तव्य मान रखा है। पुण्य-पाप का भाव मुझे सहायक होगा, शरीर, मन, वाणी, मेरे सहायक होंगे, पर का मैं कुछ कर सकता हूँ, पर मेरा कुछ कर सकता है, इसप्रकार पर में एकत्व की मान्यता से पुष्ट हुई मोहरूप भ्रांति चली आरही है। इसलिए अनुकूलता में राग और प्रतिकूलता में द्वेष करके, विकार भाव में एकत्व भाव से लीन होकर जो जीव प्रवृत्ति करता है, पर में कर्तृत्वरूप पराधीनता के द्वारा निर्मल दर्शन-ज्ञानस्वभाव से छूटकर परवस्तु को निजरूप मानता हुआ परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष, मोह में एकत्वरूप से लीन होकर परिणमन करता है, वह परसमय है, वह जीव अधर्मी है, अनात्मा है और अपनी हिंसा करने वाला है ।

समय का अर्थ है आत्मा; उसका जो पूर्ण-पवित्र स्वरूप है सो समयसार है। आत्मा के अनन्त-आनन्दमय शुद्ध पवित्र स्वरूप का निर्णय

करना सो सम्यक्दर्शन है। यहाँ अन्धश्रद्धा से मान लेने की बात नहीं है, किन्तु भलीभाति परीक्षा करके निःसंदेहरूप से स्वरूप को मानना सो सम्यक्श्रद्धा है।

आत्मा में मन के अवलम्बन से जो शुभ-अशुभ वृत्तियाँ उठती हैं, वे आत्मा का स्वरूप नहीं हैं। मन जड़ है, वह आठ पाखुड़ी के कमल के आकार वाला है, उसका स्थान हृदय में है, जैसे स्पर्श इत्यादि को जानने में इन्द्रियाँ निमित्त होती हैं, उसीप्रकार विचार करने में मन निमित्त होता है। वह बाह्य-स्थूल इन्द्रियों जैसा दिखाई नहीं देता।

प्रश्न:—तब फिर मन है, यह कैसे जाना जायगा?

उत्तर:—यदि ज्ञान अकेला स्वतंत्र कार्य करता हो तो परावलबन न हो, और क्रम भी न हो, किन्तु जब विचार में क्रम पड़ता है तब मन का निमित्त होता है। पाँच इन्द्रियों के द्वारा जो विषयों का ज्ञान होता है उन इन्द्रियों के सबंध का ज्ञानोपयोग बंधकर अंतरंग में विचार करने पर एक के बाद दूसरा क्रम पूर्वक विचार आता है, तब इन्द्रियों में प्रवृत्ति नहीं होती, तथापि विचार में क्रम पड़ता है। वह परावलंबन को सिद्ध करता है। बाह्य परावलंबनरूप द्रव्य-मन है। वह विचार में सहायता नहीं करता, किन्तु वह निमित्त मात्र है। ज्ञान अपने ज्ञान-स्वभाव के द्वारा ही जानता है। परवस्तु आत्मा की सहायता कर ही नहीं सकती।

लोगों में आजकल सच्चे तत्व की बात नहीं चलती। धर्म के नाम पर बहुत सा परिवर्तन हो रहा है, कुछ लोग आत्मा को देह और वाणी से पृथक् कहते हैं, किन्तु वह मन से भी भिन्न है; सकल्प-विकल्परूप पुण्य-पाप की वृत्ति से भी भिन्न है। वह पर के आश्रय के बिना स्व में रहने वाला है, और स्वतंत्रतया सबको जानने वाला है, ऐसा नहीं मानते; इसलिये उनको धर्म का प्रारम्भ भी नहीं होता। धर्म बाह्य में नहीं किन्तु अपने में ही है। जिसे 'यह' ज्ञात नहीं है कि

देह, वाणी और मन से रहित धर्मस्वरूप आत्मा स्वयं ही है। जो पर के ऊपर लक्ष रखता है, तथा यह मानता है कि पर सहायक होता है, पर के अवलम्ब से लाभ होता है, वह झूठा है। निमित्त पर है, और पर की स्व में नास्ति है; इसलिए निमित्त पर का कुछ नहीं करता, किन्तु स्वयं परावलम्बन में (रागादि में) रुककर हीन हो जाता है। जब वह विकार करता है तब सन्मुख जिस वस्तु की उपस्थिति होती है उसको निमित्त कहा जाता है। निमित्त किसी को बिगाड़ता अथवा सुधारता नहीं है, किन्तु अज्ञानी जीव स्वयं अपने को भूलकर पर के ऊपर आरोप करता है। इन्द्रिय विषयों में या स्त्री, मकान, आभूषणादि में सुख नहीं है, किन्तु स्वयं अज्ञान से कल्पना करता है कि पर में सुख है, संयोग में सुख–दुःख है। स्त्री पुत्रादि इसप्रकार चले तथा इसप्रकार बोले तो ठीक और इसप्रकार चलें तथा इसप्रकार बोले तो ठीक नहीं, इसप्रकार अपनी रुचि के अनुसार अच्छे–बुरे की कल्पना करता है। कहीं सुख–दुःख दृष्टि से नहीं देखा मात्र कल्पना से मान लिया है। सुख का निर्णय मैंने कहाँ किया है, यह भी किसी दिन विचार नहीं किया, तथापि वहाँ शंका नहीं करता। विषयों में सुख की कल्पना करना अरूपी भाव है, वह दिखाई नहीं देता, फिर भी बिना विचार किए उसको मान लेता है। वहाँ यह तर्क नहीं करता कि आँखों से देखूँगा तभी मानूँगा। पर में सुख है, यह जिसप्रकार विपरीत ज्ञान से निश्चय किया है, उसीप्रकार मन, इन्द्रिय, देहादि मेरा स्वरूप नहीं है, मैं सभी को जानने वाला हूँ, मैं ज्ञानस्वरूप सदा पर से भिन्न हूँ, मैं क्षणिक विकाररूप नहीं हूँ, मैं पूर्ण स्वतंत्र सुख-रूप हूँ, ऐसा विचार पूर्वक यथार्थ निर्णय स्वतः ही कर सकता है। यथार्थ निर्णय करके उसमें एकाग्र होने से सच्चा सुख प्रगट होता है।

यदि वर्तमान में ही पूर्ण स्वतन्त्रदशा प्रगट हो तो अविकारी दशा प्रगट हो, और अविकारी दशा हो तो अनन्त–आनन्द दशा प्रगट हो। किन्तु वर्तमान में विकार है, इसलिए भेदज्ञानज्योति के द्वारा राग–द्वेष–मोह से आत्मा को पृथक् करने का प्रयत्न करना पड़ता है।

एक बार सत्य श्रद्धा करने से, भेदज्ञानज्योति के द्वारा समस्त परद्रव्य और परभाव से मुक्ति होती है। यदि एक बार स्वतंत्र, स्वसमय को मानले तो संसार न रहे। सम्यक्ज्ञान क्या है? यह अनन्त काल में कभी नहीं जाना और अज्ञान भाव से धर्म के नाम पर पाप को कम करके पुण्य-बंध किया, किन्तु उससे धर्म नहीं हुआ और इसलिये भव-भ्रमण नहीं रुका।

मोह अनादि, अज्ञानरूपी केलस्तम्भ के समान है। मोह का अर्थ है—स्वरूप में भ्रांति अर्थात् निज को भूल जाना और पर को अपना मानना, यही अनन्त संसार का कारण है। सम्यग्दर्शन के द्वारा उसका नाश होता है।

श्रेणिक राजा, क्षायिक सम्यक्त्वी थे। गृहस्थ दशा में यथार्थ स्वरूप की प्रतीति हो सकती है। श्रेणिक राजा अभी पहले नरक में है, वहाँ से निकलकर, मनुष्य भव प्राप्त करेंगे और आने वाली चौबीसी के प्रथम तीर्थंकर होंगे। उन्होंने चारित्र न होने पर भी एकावतारित्व प्राप्त किया। पहले अज्ञान अवस्था में नरकायु का बंध हो गया था, उससे मुक्त नहीं हुआ जा सकता। किन्तु तब साक्षात् तीर्थंकर परमात्मा महावीरस्वामी के निकट आत्मप्रतीति होने के बाद शुभराग उत्पन्न हुआ और उसमें तीर्थंकर नामकर्म का बंध हुआ। ऐसा उच्च पुण्य सम्यग्दृष्टि के ही बन्धता है।

मैं पुण्य-पाप के विकार से भिन्न हूँ, राग मेरा स्वरूप नहीं है। शुभराग आत्मधर्म में सहायक नहीं है, क्यों कि वह विकार है, जो कि अविकारी स्वरूप धर्म में सहायक नहीं होता; ऐसी समझ जिसको होती है उसको तीर्थंकर नामकर्म सहज ही बंध जाता है। श्रेणिक राजा के कोई व्रत अथवा चारित्र नहीं था तथापि मैं पर का कर्ता नहीं हूँ, मात्र ज्ञाता ही हूँ, ऐसी श्रद्धा के बल से वे एकावतारी हो गये, वे भविष्य में तीर्थंकर होंगे। उनके अंतरंग में निश्चय स्वरूप का यथार्थ भाव था, पर का स्वामित्व नहीं था, और इसीलिये एकावतारित्व हुआ। यह मात्र सम्यग्दर्शन की ही महिमा है। उसके बिना

अनंतबार धर्म के नाम पर व्रतादि क्रियाएं की, शरीर में कांटे लगाकर उसे जला दिया जाय तो भी क्रोध ना करे, ऐसी क्षमा रखने पर भी धर्म नहीं हुआ, मात्र शुभ भाव हुआ। इतना करने पर भी आत्मा, मन, वाणी, देह से पर है, पुण्य-पाप के विकल्प से रहित है; ऐसी श्रद्धा नहीं जमी।

अनादि से पर में कर्ता-कर्मरूप प्रवृत्ति की आधीनता से पराधीन हो गया, स्वाधीन नहीं रहा। अपने स्वाभाविक दर्शन, ज्ञान, चारित्र भाव की एकता से छूटकर परद्रव्य के आश्रित होने वाला जो विकार, पुण्य-पाप मोह भाव है वही मैं हूँ, इसप्रकार उसमें एकत्वबुद्धि करके प्रवृत्ति करता है, पर के स्वामित्व से परद्रव्य की प्रवृत्ति में लीन होकर प्रवृत्त होता है। इसप्रकार कर्म के फल में अटक रहा है। पर को अपने साथ एकरूप माननेवाला, जाननेवाला और रागादिरूप से परिणमन करने वाला 'परसमय' है, अशुद्ध अवस्था वाला है। आत्मा अकेला हो तो अशुद्धता नहीं आ सकती, किन्तु पुद्गलकर्म का निमित्त है, इसलिए उसके आरोप से अशुद्ध अवस्था कहलाती है। मूल द्रव्य में अशुद्धता घुस नहीं गई है। स्वभाव से देखें तो वर्तमान क्षणिक अशुद्धता के समय भी आत्मा शुद्ध ही है। सोना सौटंची ही होता है। परधातु के संयोग के समय भी वह सौटची शुद्ध था, इसलिए वह शुद्ध हो सकता है। जब सोने में तांबा मिला हुआ था तब भी तांबा सोने का नहीं था, इसलिए वह उससे अलग किया जा सकता है। उसीप्रकार पर के निमित्त से रहित स्वभाविक वस्तु के ऊपर लक्ष करने पर जीव क्षणिक विकार दूर कर सकता है। अखंड गुण की प्रतीति के बिना विकार का नाशक हूँ, ऐसी श्रद्धा के अभाव से मैं पुण्य वाला हूँ, विकारी हूँ, न्यून हूँ ऐसा मानकर पुण्यादि पर का आश्रय ढूंढता है। यदि इस विपरीतदृष्टि को बदलकर पूर्ण-पवित्र स्वभाव का लक्ष करे तो परमात्मदशा प्रगट होती है।

"पुद्गल कर्म प्रदेश स्थित है" इसका अर्थ है कर्म विपाक में युक्त होना। जैसे चावल पकते हैं, वृक्ष में फल लगते हैं, उसीप्रकार कर्म परमाणु में विपाकरूपी फल देने की शक्ति प्रगट होती है तब अज्ञानी उसमें राग-द्वेष भाव से युक्त होता है, उसको अपना स्वरूप मानता है और उसमें उसकी प्रवृत्ति–स्थिरता होती है। इसलिए यह 'परसमय' अधर्मी है, ऐसा जानना चाहिए। सम्भव है यह वचन कठोर मालूम हो, किन्तु वे सच्ची वस्तु-स्थिति को दिखाते है, इसलिये सत्य हैं। जिसने निज को स्वतन्त्र, निर्मल ठीक नही माना, उसने परको ठीक माना है, और इसलिये निज को भूलकर वह पर के राग में अटक रहा है।

यदि यह बात सूक्ष्म मालूम हो तो पूर्ण ध्यान रखकर समझना चाहिए, आत्मा सूक्ष्म है इसलिए उसकी बात भी सूक्ष्म ही होती है। एक 'स्व की समझ' के बिना अन्य सब अनन्त वार किया है। आत्मा की परम सत्य बात किसी ही विरले स्थानपर सुनने को मिलती है, यदि कोई धर्म सुनने जाये तो वहाँ कथा कहानियां सुनाई जाती हैं, बाह्य की प्रवृति बताई जाती है, बाह्य क्रिया से संतोष मनवाकर–धर्म के स्वरूप को शाक-भाजी कि भांति सस्ता बना दिया गया है। जो बात अनन्त काल में नहीं समझी गई उसे समझने के लिए तुलनात्मक बुद्धि होनी चाहिये। लौकिक बात और लोकोत्तर बात बिल्कुल भिन्न होती है। यदि यह बात जल्दी समझ में न आये तो इन्कार मत करना, जो अपना स्वाधीन स्वरूप है वह ऐसा कठिन नहीं हो सकता कि समझ में ही न आये, मात्र सत् समझने का प्रेम चाहिए। आचार्यदेव ने कहा है कि मैं अपनी और तुम्हारी आत्मा में सिद्धत्व स्थापित करके यह तत्त्व बतलाता हूँ।

अनजान व्यक्ति को ऐसा लगता है कि प्रति दिन एक ही बात क्यों की जाती है। किन्तु अरे भाई! आत्मा तो सभी को जानने वाला है, पर का कर्ता नहीं है। अजीव के ऊपर किसी आत्मा की सत्ता नहीं चलती। भगवान आत्मा तो पर से भिन्न, ज्ञाता, साक्षी, अरूपी है, देहादि जड़ रूपी हैं, उनका कार्य अरूपी जीव कभी नहीं

कर सकता । ऐसी ' दो और दो चार ' जैसी स्पष्ट बात बुद्धि वालों को कठिन कैसे लगती है? रूपी का कार्य अरूपी के नहीं होता, क्यों कि दोनों पदार्थ त्रिकाल भिन्न हैं । एक जीव दूसरे जीव का किसी समय कुछ नही कर सकता ।

लोग कहते हैं कि जैसी इच्छा की जाय उसीप्रकार जड़ की क्रिया होती है, वह स्पष्ट दिखाई देती है । किन्तु यही विपरीतदृष्टि का भ्रम है। " मैं करता हूँ, मैं करता हूँ, " यही मान्यता अज्ञान है । जैसे गाड़ी के नीचे चलता हुआ कुत्ता ऐसा मानता है कि गाड़ी मेरे द्वारा चल रही है, उसी तरह जीव को देह से प्रथक्त्व का–साक्षीपने का भान नही है, इसलिए परका कर्ता होकर ऐसा मानता है कि " मैं करता हूँ, मै करता हूँ । " शरीर अनंत परमाणुओं से बना हुआ है । उसका परिणमन तेरे आधीन नहीं है । शरीर, मन, वाणी से आत्मा पृथक् है, ऐसा न मानकर पर में एकत्वबुद्धि करके, विकार को अपना मानकर जीव रागरूप से परिणमन करता है, उसके ' परसमय ' बताया गया है ।

भावार्थः—जीव नामकी वस्तु को पदार्थ कहा है । ' जीव ' शब्द जो अक्षरो का समूह है सो पद है, और उस पद से जो द्रव्य–पर्यायरूप अनेकातपना निश्चित किया जाता है सो पदार्थ है ।

आत्मा पर अपेक्षा से नहीं है, और स्व अपेक्षा से है, यह अनेकात है । प्रत्येक पदार्थ स्व अपेक्षा से है सो ' अस्ति ' और पर अपेक्षा से नहीं है सो ' नास्ति ' है । प्रत्येक वस्तु में ऐसे दो स्वभाव हैं । जो स्व अपेक्षा से है वह यदि पर अपेक्षा से हो जाय तो स्वयं प्रथक् न रहे । और जो पर अपेक्षा से नहीं है, उसी प्रकार स्व अपेक्षा से भी नहीं है, ऐसा माना जाये तो स्व का अभाव हो जाय । लकड़ी लकड़ी की ही अपेक्षा से है, और दूसरी अपेक्षा से ' नहीं है । इसप्रकार लकड़ी को देखकर निश्चय होता है। इसीप्रकार अस्ति–नास्ति दोनों एक पदार्थ के स्वतंत्र धर्म हैं ।

गुड़ शब्द से गुड़ पदार्थ का निश्चय होता है। शब्द में पदार्थ नहीं है। इसी प्रकार जीव शब्द में जीव वस्तु नहीं है, और जीव पदार्थ में शब्दादि नहीं हैं। यहाँ जीव शब्द कहा है, उसके द्वारा जीव पदार्थ को द्रव्य-पर्यायस्वरूप से निश्चय किया जाता है। उसे सात बोलों में कहा है:—

(१) प्रत्येक आत्मा का स्वतंत्र द्रव्य, द्रव्य—पर्यायस्वरूप से अनेकांत-त्व निश्चय किया जाता है।

(२) जीव पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी सत्तास्वरूप है। क्षण-क्षण में एक के बाद एक पर्याय बदलकर नित्य स्थिर रहता है।

(३) दर्शन-ज्ञानमयी चेतना स्वरूप है।

(४) द्रव्य अनंत गुणमयी, अनंत धर्मस्वरूप होने से गुण-पर्याय वाला है।

(५) स्व-पर को जाननेवाला स्वभाव से अनेकाकाररूप एक है, अर्थात् अनेक को जानकर अनेकरूप नहीं हो जाता।

(६) और वह आकाशादि से भिन्न, असाधारण चेतन्यगुणस्वरूप है।

(असाधारण अर्थात् पर से भिन्न गुण। यह उसका स्थूल अर्थ है। असाधारणगुण का सूक्ष्म अर्थ ऐसा है कि ज्ञानगुण के अतिरिक्त अनतगुण जो आत्मा में हैं वे सब निर्विकल्प हैं, वे स्व-पर को नही जानते। मात्र एक ज्ञानगुण ही स्व को और स्व से भिन्न समस्त गुण—पर्यायों को जानता है, इसलिये असाधारण है।

(७) अन्य द्रव्य के साथ एक क्षेत्र में रहने पर भी वह अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता, ऐसा जीव नामक पदार्थ 'समय' है। जब वह अपने स्वभाव में स्थिर रहता है अर्थात् स्व में एकत्वस्वरूप से परिणमन करता है तब तो 'स्वसमय' है और जब पर में एकत्वपने से लीन होकर राग-द्वेषरूप से परिणमन करता है तब 'परसमय' है।

इसप्रकार जीव के द्विविधत्व होता है। अब समय के द्विविधत्व में आचार्य बाधा बतलाते हैं। मैं पुण्य-पापरहित निर्मल हूँ, ऐसा मानकर जो ठहरना है सो स्वसमयरूप मोक्ष भाव है और पर मेरे हैं ऐसा मान कर पुण्य-पाप के विकारी भाव का कर्त्ता होकर उसमें परिणमित होता है-स्थिर होता है सो वह पर समयरूप बंध भाव है।

जीव में जब मोक्षभाव होता है तब बंध भाव नहीं होता। जीव स्वभाव से एकरूप है तथापि उसे दो प्रकार बतलाना सो दोष है।

ज्ञान, श्रद्धा, स्थिरतारूप एक ही प्रकार से रहना ठीक है। इसलिये अपना जैसा स्वरूप है वैसा एकत्व समझकर प्राप्त कर लेना ही सुंदर है, और उससे विपरीतता शोभारूप नहीं है। इस अर्थ की गाथा निम्न प्रकार है:

एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई ॥ ३ ॥

एकत्वनिश्चयगतः समयः सर्वत्र सुंदरो लोके।
बंधकथैकत्वे तेन विसंवादिनी भवति ॥ ३ ॥

अर्थ—एकत्व निश्चय को प्राप्त जो समय है वह लोक में सर्वत्र सुंदर है, इसलिये एकत्व में दूसरे के साथ बंध की कथा विसंवाद—विरोध करने वाली है।

इस गाथा में बहुत बड़ी गहरी बात है, अपार रहस्य भरा है। प्रत्येक गाथा में मोक्ष का अमोघ मंत्र भरा है, किन्तु वाणी में सब नहीं आ सकता। जिसके ४-५ गाड़ी अनाज पैदा होता है उसके काम करने वाले थोड़ा अनाज ले जाते हैं, किन्तु जहाँ हजारों मन अनाज पैदा होता है उसके काम करने वाले अधिक ले जाते है। इसीप्रकार जिसके मति-श्रुतज्ञान सम्यक् होता है, उसके विचार, वाणी और व्यवहार की अमुक निर्मलता के पाक में से थोड़ासा कथन प्राप्त होता है, किन्तु जिनको साक्षात् केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है उन सर्वज्ञ भगवान की धारा-

प्रवाही वाणी साक्षात् श्रवण करने वाले गणधर देवों को अधिकाधिक मिलती है। यह समयसार शास्त्र साक्षात् भगवान की वाणी से आया है। वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव श्री सीमंधर भगवान साक्षात् विराजते हैं, उनके मुखकमल से वाणी का प्रवाह छूटता है। सर्व द्रव्य क्षेत्र काल भाव को एक समय में वे जान रहे हैं। चार कर्मों को नाश कर तेरहवीं भूमिका में (गुणस्थानमें) सर्वज्ञ वीत-रागदशा में परमात्मपद पर विराज रहे हैं। धर्मसभा में उनकी दिव्य-ध्वनि सहज छूटती है। हजारों धर्मात्मा संत मुनि उसका लाभ ले रहे हैं। पहले भरत क्षेत्र में भी ऐसा ही था।

विक्रम संवत् ४९ के लगभग श्री भगवान कुंदकुंदाचार्य देव भरतक्षेत्र से महाविदेहक्षेत्र में श्री सीमंधर भगवान के पास गये थे, वहाँ आठ दिन रहकर खूब श्रवण,-मनन करके भरतक्षेत्र में वापिस आए और 'समय-सार', 'प्रवचनसार' इत्यादि शास्त्रों की रचना की। भगवान के पास श्री कुंदकुंदाचार्य गये थे, यह बात सत्य है। साक्षात् तीर्थंकर भगवान के श्रीमुख से निकला हुआ 'समयसार' का भाव उनने ४१५ गाथाओं में सूत्ररूप से गूंथा है। वर्तमान काल के जीव उनका कहा हुआ समस्त ज्ञान सम्पूर्ण भाव से समझ नहीं सकते। जितने में अपना पेट पूरा भरे उतना ग्रहण कर सकते हैं; उनके जैसा चारित्र नहीं पाल सकते, किन्तु एकावतारी हो सकने के लिए वैसी सामर्थ्य वर्तमान में भी है। अपनी तैयारी के बिना कौन मानेगा और उसे स्वयं जाने बिना क्या खबर पड़ सकती है? घी की प्रसंशा सुनने वाला घी का स्वाद नहीं जानता, और खाने वाले को देखने से भी घी का स्वाद नहीं आता, किन्तु स्वयं घी का लौंदा मुंह में डालकर एकाग्र हो तो उसके स्वाद का अनुभव कर सकता है। उसीप्रकार अतीन्द्रिय-आनन्दस्वरूप आत्मा की प्रशंसा सुने अथवा उसकी कथा सुने तो उतने मात्र से उसका आनन्द नहीं आता, और उस वस्तु के जानकार जीव को देखे तो भी खबर नहीं पड़ती. किन्तु उसे जान-कर स्वरूपलीनता के द्वारा स्वयं अनुभव करे तब उसके आनन्द का अनुभव कर सकता है।

आत्मा का सत्स्वरूप भलीभांति श्रवण करना चाहिये, श्रवण करने के बाद उसका गूढ़ भाव अंतरंग में प्राप्त करके वस्तु का स्वय निर्णय करके अनुभव करना चाहिए। उसके लिए विशेष निवृत्ति लेना चाहिए, बारंबार स्वाध्याय और चर्चा करनी चाहिए। उससे उकताना नहीं चाहिए। बारहवें स्वर्ग में से देव भी बड़े पुण्य की समृद्धि को छोड़कर यहाँ मनुष्य लोक में धर्म श्रवण करने को आते हैं। स्वयं ज्ञानी होने पर भी तत्व की रुचि में विशेष निर्णय करने और तीर्थंकर भगवान की वाणी सुनने के लिए वे धर्मसभा में आते हैं।

यहाँ यह कहते हैं कि जो स्वाश्रय है सो सुन्दर है, किन्तु पराश्रय में बंधन होने से वह असुन्दर है। लोक में कहा जाता है कि "पराधीन सपने हु सुख नाहीं।" स्वाधीनता में दूसरे का मुख नहीं ताकना पड़ता। एकत्वदशा कितनी सुन्दर है! कर्म सबन्ध के विकार का कथन विसंवाद करने वाला है। एकमात्र चिदानन्द की बात सुन्दर है, और पर के साथ बन्धन भाव की कथा असुंदर है। एक में बन्ध नहीं होता। परवस्तु के संयोग से, पराश्रय से बन्ध होता है। आचार्य कहते है कि चैतन्य भगवान आत्मा को हीन या पर की उपाधि वाला कहना पड़े यह बात शोभा नहीं देती, किन्तु क्या किया जाय! अनादि से बन्धन भाव हैं, इसलिए ऐसा कहना पड़ता है।

सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा को शक्ति की अपेक्षा से सबका ज्ञाता होने से "महान्" कहा है। इसलिये 'पर मुझे हैरान करता है' ऐसा जो मानता है उसको यह बात शोभा नहीं देती। तेरी अपार सामर्थ्य की महिमा गाई जा रही है। श्रीमद् राजचंद्र ने कहा है कि:—

"जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञान मां,
कही शक्या नहिं पण ते श्री भगवान जो।
तेह स्वरूप ने अन्य वाणी ते शुं कहे?
अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो॥"

(अपूर्व अवसर, गाथा २०)

आत्मा का अरूपी निर्मल ज्ञानानंद स्वरूप साक्षात् केवलज्ञान में भगवान ने जाना है, वह स्वरूप लक्ष्य में पूर्ण होने पर भी वाणी से पूरा नहीं कहा जा सकता। ऐसा भगवान आत्मा मन और इन्द्रियों के अवलंबन के बिना केवल अंतरंग के अनुभव से ही जाना जा सकता है।

लोक में कहा जाता है कि मुझ जैसा कोई बुरा नहीं है, किन्तु ऐसा क्यों नही कहता कि मुझ जैसा कोई भला नहीं है? कोई किसी को बुरा नहीं कर सकता। स्वय अपने में बुरा भाव कर सकता है, और उससे अपना ही अहित होता है। आचार्य देव कहते हैं कि स्वतंत्र चैतन्यस्वरूप निजमें एकरूप है, उसमें बंधपने की बुरी बात करना लज्जाजनक हैं। संसार में पर को बुरा कहकर आनन्द माना जाता है, तब आचार्य देव को आत्मा को विकार और बंधन वाला कहने में लज्जा मालूम होती है। संसार में परिभ्रमण करने वाला बुराई में-विकार में पूरा होना चाहे तो भी उसमें पूर्ण नहीं हो सकता, क्योंकि विकार आत्मा का स्वरूप नहीं है, एकतत्त्व में बंध कहने पर स्वतंत्रता के ऊपर प्रहार होता है। भाई! दृष्टि को बदल, स्वतंत्रता की ओर देख तो बंधन नहीं रहेगा। एकत्व निश्चय को प्राप्त; स्वतंत्र सिद्धदशा में स्थित रहता है, सो तो सुंदर है, किन्तु जो पर में एकत्वरूप दृष्टि को प्राप्त संसारदशा में-बंधदशा में है जो कि असुंदर है।

लोगों में ऐसा कहा जाता है कि ससुराल के नाम से जमाई की पहचान होना लज्जाजनक है। वह स्वयं जिसकी संतान है उस पिता के नामसे पहचाना जाय तो ठीक है; उसीप्रकार भगवान आत्मा अपनी सजातीय संतान, निर्मल पर्याय जो शुद्धात्मा है उसके संबध से पहचाना जाय तो यथार्थ है, किन्तु कर्म के निमित्त से विकार पर्याय के द्वारा पहचाना जाय तो यह बहुत बुरी बात है। बंध भाव के द्वारा पहचाने जाने में तेरी शोभा नही है। अन्तरग से निर्मल दर्शन ज्ञान चारित्र का प्रवाह बहता है, उससे आत्मा की पहचान होना सुंदर है, किन्तु पराधीनता-कलक के द्वारा पहचान होना सुदर नहीं है।

सर्वज्ञ भगवान ने देखा है कि इस जगत् में यह वस्तुऐं अनादि-अनत और भिन्न भिन्न रूप से विद्यमान है-जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्ति काय, आकाश और काल। इन छह द्रव्यों में से एक आत्मा के ही संसार रूप बंधन है। विभाव रूप पर समयत्व विरोधरूप है। शुद्ध स्वरूप में स्थिर होना सो स्वसमय है, और पर मेरे हैं ऐसा मानकर पर में स्थिर होना सो पर समय है। आत्मा वस्तु एक है और उस में अवस्थायें दो हैं,-निर्मल और मलिन। ऐसे पर के संबंध की विकारी दशायुक्त आत्मा को समझना सो झंझट में डालने वाली बात है।

एकत्व-निश्चय को प्राप्त जगत के संपूर्ण पदार्थ शोभा को प्राप्त होते हैं। आत्म पदार्थ अनादि-अनत-स्वतत्र है, उसे पर के संबंध से बंधनवाला कहना, कर्म के आधीन कहना सो पराधीनता है, स्वतंत्रता को लूटने का भाव है। जैसे गाय के दोनो पैरों के बीच में डेंगुर (लकड़ी) डाला जाता है तब ऐसा समझा जाता है कि यह गाय सीधी नहीं है, इसी प्रकार भगवान चैतन्य तत्व स्वतंत्र है, वह कर्म के डेंगुर से बंधन भाव में रहता है। उसे ज्ञानी कभी भी ठीक नहीं मानता। पुण्य अच्छे हैं, शरीर आदि की अनुकूलता अच्छी है, यों कहना चैतन्य के लिये शोभा की बात नहीं है। पराधीनता को लाभरूप मानना शोभनीक नहीं है। बंध कथा स्वय विरोधवाली नही है, किन्तु आत्मा बंधन वाला है। इसप्रकार की मिथ्या मान्यता विरोध वाली है, क्योंकि संयोगी पदार्थ तो क्षणिक है। आत्मा सर्व संयोग से पृथक् ही है। तथापि भिन्नता और स्वतत्र तत्व को भूलकर पर का आश्रय मानना ठीक नहीं है।

साधारण—लौकिक नीति में मानने वाले को भी किसी अनीति का आदर नहीं होता। लौकिक नीति में पूर्ण—अच्छे कुल का कोई पुत्र यदि नीच के घर जावे तो पिता उससे कहता है कि "भाई! अपना कुल जैसा है उसे यह कुशील का साथ शोभा नही देता, यह बात अपनी कुल और जाति के लिए कलकरूप है;" उसीप्रकार त्रिलोकी-

नाथ पिता संसार में अटके हुए आत्मा से कहते हैं कि "तेरी सिद्ध की जाति है; जड़-देहादि, पुण्य–पाप विकार में रहना तुझे शोभा नही देता।

जो लोग अनीति करते हैं उन्हे भी नीति के नाम की ओट लेनी पड़ती है, और वे कहते हैं कि क्या हम झूठ बोलते हैं ? इसप्रकार नीति की ओट के बिना जगत का काम नहीं चलता । जिसके साधारण नीति और सज्जनता है उसे कुशील शोभा नहीं देता । किसी भी प्रकार की अनीति कलंकरूप है । और जबकि लौकिक नीति में भी ऐसा है तब आत्मा के लिए उत्कृष्ट लोकोत्तर नीति तो आवश्यक है ही । उसे भूलकर बधन के प्रति उत्साहित होकर कहे कि मैंने पुण्य किया, पुण्य के फल से बड़ा राजा होऊंगा, देव होऊंगा, संसार में ऐसी व्यवस्था करूंगा, वैसा करूंगा, इत्यादि; सो सब कलंकरूप है ।

अब 'समय' शब्द से, सामान्यरूप से (भेद किये बिना) सर्व पदार्थ कहा जाता है, क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार 'समयते' अर्थात् एकीभाव से अपने गुण-पर्यायों को प्राप्त होकर जो परिणमन करता है सो 'समय' है । प्रत्येक पदार्थ अपने गुण और अवस्था को प्राप्त होकर नित्य-ध्रुव रहता है, सो समय है।

जगत में इन्द्रियग्राही पदार्थ पुद्गल-अचेतन हैं। जो दिखाई देता है वह जड़ की स्थूल अवस्था है, क्योंकि मूल परमाणु इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता। परमाणु में भी प्रतिक्षण अवस्था बदलती रहती है। रोटी, दाल, भात इत्यादि में रजकणता स्थायी रहती है, और अवस्था (पर्याय) बदलती रहती है । रजकण स्वतंत्ररूप से रहकर अपनी अवस्था को बदलते है; उनके जो वर्ण, गंध, रस, स्पर्श गुण हैं वे स्थायी बने रहते हैं । इसी प्रकार जीव भी अनंत गुणों से युक्त, स्थिर रहकर अपनी अवस्था को बदलता रहता है ।

लोक में छह पदार्थ हैं; वे यहाँ कहे जाते हैं :—

१—धर्मास्तिकाय—यह अनादि अनतं पदार्थ है, अरूपी है, लोकाकाश प्रमाण है, एक अखंड द्रव्य है । यह द्रव्य स्वयं गमन नहीं

करता, किन्तु जीव पुद्गल को गमन करने में निमित्त है। जैसे मछली को गमन करने में जल निमित्त है, उसीप्रकार यह धर्मद्रव्य है।

२–अधर्मास्तिकाय– यह द्रव्य लोकाकाश प्रमाण है, और जीव–पुद्गल को गति में से स्थितिरूप होने में निमित्त है। जैसे पथिक को वृक्ष की छाया ठहराने में निमित्त है।

३–आकाशास्तिकाय–यह अनत क्षेत्ररूप अरूपी पदार्थ अनादि–अनन्त है। जो कि सर्वव्यापक है, अचेतन है। इसके दो भेद हैं (१) लोकाकाश (२) अलोकाकाश।

(अ)––धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गल, कालाणु और जीव जितने क्षेत्र में रहते है उतने क्षेत्र को लोकाकाश कहा है।

(ब)––लोकाकाश के अतिरिक्त अनन्त आकाश को अलोकाकाश कहते हैं।

लोग जिसे आकाश कहते हैं वह वास्तविक आकाश नही है, क्योंकि आकाशद्रव्य तो अरूपी है, और जो यह दिखाई देता है वह आकाश में केवल रंग दिखाई देता है, जो कि परमाणु की अवस्था है। आकाश के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं होते।

४–काल––यह एक अरूपी पदार्थ है। चौदहराजु लोक में असंख्यात कालाणु है।

यह चार (धर्म, अधर्म, आकाश, काल) अरूपी द्रव्य हैं, जो कि युक्ति और न्याय से जाने जा सकते हैं।

५–पुद्गल––पुद्= पूरण, एक दूसरे में मिलना और गल= जुदा होना। अथवा पुद्+गल= जैसे अजगर अपने पेट में मनुष्य को गल (लील) जाता है, उसीप्रकार अरूपी–चैतन्यपिंड आत्मा ने शरीर की ममता की, इसलिऐ शरीर के रजकण के दल में, सारे शरीर में ऐसा व्याप्त हो रहा है कि मानों शरीर ने आत्मा को निगल लिया हो,

और वह ऐसा ही दिखाई देता है। अज्ञानी की दृष्टि मात्र देहादि के ऊपर होती है, जब ज्ञानी की दृष्टि देहादि से भिन्न अरूपी-चैतन्य के ऊपर होती है। प्रत्येक रजकण में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श की अवस्था बदला करती है—घटाबढ़ी हुआ करती है। जड़—देहादि पुद्गल की अवस्था की व्यवस्था जड़ स्वयं ही करता है। जो देहादि स्थूल परमाणुओं का समूह बदलता दिखाई देता है उसमें प्रत्येक मूलपरमाणु भी अपनी अवस्था में बदलता है। यदि सूक्ष्मपरमाणु अकेले न बदलते होते तो स्थूल आकार कैसे बदलता? इसलिये अनादि—अनन्त रहते हुए अवस्था को बदलने का स्वभाव पुद्गल का भी है।

६—जीवद्रव्य— यह अरूपी चैतन्यस्वरूप है। जानना—देखना इसका लक्षण है। ऐसे जीव अनन्त हैं। प्रत्येक जीव एक संपूर्ण द्रव्य है, इसलिए संपूर्ण ज्ञान उसका स्वभाव है; जिसे वह प्रगट कर सकता है।

जगत में जो जो पदार्थ हैं उन सबको जानने की ज्ञान की सामर्थ्य होती है, और फिर वह ज्ञानस्वरूप—चैतन्य परपदार्थ के लक्षण से भिन्न है, वह भी यहाँ बताना है। जबकि यह खबर रखता है कि घर में क्या क्या वस्तु है, तो लोकरूपी घर में भी क्या क्या वस्तुयें हैं, यह भी जानना चाहिए। मुझसे भिन्न तत्त्व कितने और कैसे हैं यह जानने की आवश्यकता है। यथार्थ लक्षण से निज को भिन्न नहीं जाना, इसलिए दूसरे के साथ एकमेक मानकर अपनी पृथक् जाति को भूल गया है। जिसे सुखी होना हो उसे पराधीनता और आकुलता छोड़कर अपनी स्वाधीनता तथा निराकुलता जाननी चाहिये।

"लोक्यंते जीवादयो यस्मिन् स लोकः।" अर्थात्—जिस स्थान में छह पदार्थ जाने जाते हैं वह लोक है। और जहाँ जड़-चैतन्य इत्यादि पांच द्रव्य नहीं हैं, किन्तु मात्र आकाश है वह अलोकाकाश है। लोक में अनन्त जीव, अनन्तानन्त परमाणु इत्यादि छहों द्रव्य हैं। वे सब द्रव्य निश्चय से एकत्व-निश्चय को प्राप्त है। उनमें जीव को ही बंध भाव से द्वित्व आता है, वह विसंवाद उत्पन्न करता है। प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है,

इसलिये वह अपने में स्वतंत्र, प्रथक् स्व एकत्वरूप से प्राप्त है। वह सुन्दर है, क्योंकि अन्य से उसमें संकर, व्यतिकर इत्यादि दोष आ जाते है।

चौदह राजु के लोकरूपी थैले में प्रत्येक पदार्थ त्रिकाल भिन्न भिन्न विद्यमान हैं; यदि उनकी खिचड़ी (एकमेक) हो जाय तो संकरदोष आ जाता है।

" सर्वेषा युगपत् प्राप्तिस्संकर· " अर्थात् एक काल में ही एक वस्तु में सभी धर्मों की प्राप्ति होना सो सङ्करदोष है।

" परस्परविषयगमनं व्यतिकर: " अर्थात् परस्पर विषय-गमन को व्यतिकर कहते हैं।

यदि एक वस्तु दूसरी वस्तु में मिल जाय तो वस्तु का ही अभाव हो जाय। प्रत्येक पदार्थ प्रथक् प्रथक् है, ऐसा कहने से आत्मा पर से भिन्न है, ऐसा भी समझना चाहिए; उसे प्रथक्, स्वतंत्र, शुद्धरूप में समझना ही ठीक है। कर्म के निमित्त का आश्रय वाला तथा विकारीरूप में समझना ठीक नहीं है।

धर्मास्तिकाय आदि चार द्रव्य त्रिकाल शुद्ध हैं; तब फिर तू आत्मा शुद्ध क्यों नहीं है? इसमें शुद्ध कारण पर्याय की ध्वनि है। तेरा तत्व पर से भिन्न है, तथापि तुझमें यह उपाधि क्यों है? यदि तू अपने को पर से भिन्नरूप में देखे तो तुझे यह दिखाई देगा कि तुझमें तेरे अनन्तगुण विद्यमान है, उनकी निर्मल पर्याय से तीनोंकाल में तेरा एकत्व-लीनपना है।

प्रत्येक वस्तु अपने अनन्त धर्मों में अन्तर्मग्न है। परमाणु उनके वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श में लीन—एकरूप रहते हैं। जीव में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अस्तित्व इत्यादि अनन्तगुण लीनपने से रहते हैं। जीव अपने ही अनन्त गुणों को स्पर्श करता है, उनमें ही परिणमन करता है। आत्मा रजकण को स्पर्श नहीं करता, और रजकण आत्मा को स्पर्श नहीं करते। आत्मा के गुण-पर्याय आत्मा में है, जड़ के जड़ में हैं। लोग पुद्गल–

जड़ को अशक्त मानते है, और यह मानते है कि उसमें कोई शक्ति नहीं है, किन्तु यह भूल है, क्योंकि रजकण तो जड़ेश्वर है, उनका कोई कर्ता नही है। उन जड़ रजकणों की अवस्था प्रत्येक क्षण अपनेआप बदलती रहती है। उस अवस्था की व्यवस्था स्वतन्त्ररूप से होती है। इसीप्रकार जगत में प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है। छहों द्रव्य एक क्षेत्र में रहने पर भी कभी एकरूप नहीं होते। ऐसे पर से नास्तिरूप गुणवाले 'अन्यत्व' आदि नाम के अनन्तगुण प्रत्येक पदार्थ में है। वैसे अनन्तगुण अपने स्वभाव को स्पर्श कर रहे है, अपने स्वभावरूप में परिणमन करते है, पररूप में परिणमन नहीं करते।

प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की अपेक्षा से है, पर की अपेक्षा से नहीं है। इस प्रकार अस्ति–नास्ति दोनों स्वतन्त्र स्वभाव कहे गये है। किसी द्रव्य की कोई भी अवस्था किसी पर के आधीन नहीं है।

यहाँ धर्म कहा जाता है। वह इस प्रकार है कि प्रत्येक वस्तु भिन्न है, इसलिए पर से अपना धर्म नहीं होता। प्रत्येक वस्तु पृथक्–पृथक् है, इसलिए यह मानना सर्वथा अयथार्थ है कि एक वस्तु दूसरे की कुछ भी सहायता करती है।

असत्य के फलस्वरूप सच्चा सुख नहीं मिलता। प्रत्येक आत्मा पृथक् पृथक् है। दूसरे आत्मा को कोई आत्मा सहायता नहीं कर सकती, क्योंकि कोई आत्मा पररूप से नहीं हो सकता। इसप्रकार यहाँ स्वतंत्रता की घोषणा की गई है।

प्रश्न—जड़ में कौन से भाव है?

उत्तर—वर्ण, गंध, रस और स्पर्श; पुद्गल–जड के भाव है। प्रत्येक परमाणु में अनन्तगुण हैं।

चेतन के ज्ञान–दर्शन आदि भाव हैं। प्रत्येक पदार्थ अत्यंत निकट एक ही क्षेत्र में व्यापक होने पर भी भिन्न भिन्न है। यद्यपि सभी एक

क्षेत्र में है तो भी वे सदा स्वस्वरूप से रहते हैं, परवस्तुत्व में कभी कोई नहीं होता।

एक थैले मे सुपारी, मिश्री इत्यादि इकट्ठे भरे हों, इसलिए वे उस भाव से एकरूप नहीं हो जाते; इसीप्रकार प्रथमभाव से समस्त वस्तुओं का प्रथक्त्व कहा है।

अब सभी का क्षेत्र से प्रथक्त्व बताते है:-दूध और पानी आकाश के एक क्षेत्र में एकत्रित कहलाते हैं, तथापि स्व-क्षेत्र में भिन्न भिन्न हैं, इसलिए पानी जल जाता है और दूध मावारूप में परिणत हो जाता है। जो स्व-क्षेत्र की अपेक्षा से पृथक् थे वे पृथक् ही रहे, जो अलग हो जाते है वे एकमेक नहीं होते। अग्नि की उष्णता अग्नि में एकमेक है, इसलिए कभी पृथक् नहीं होती। गन्ने में रस और मिठास एकरूप है इसलिए वह कभी पृथक् नही होते। धान्य से छिलका अलग है, इसलिए वह मशीन में डालने से अलग हो जाता है, इसीप्रकार देहादि से चेतन स्व-क्षेत्र की अपेक्षा से भिन्न है, इसलिए वह पृथक् रहता है। अज्ञानी को पर से पृथक्त्व का ज्ञान नहीं है, इसलिये पृथक्त्व या स्वतंत्रता को नहीं मानता। दूध को उबालने से पानी जल जाता है और मावा सफेद पिंडरूप रह जाता है, इसीप्रकार जीव में वर्तमान क्षणिक-अवस्था में जो अशुद्धता है, वह शुद्धस्वभाव की प्रतीति के द्वारा स्थिर होने से दूर हो सकती है। राग-द्वेष-विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिए वह दूर हो सकता है, तब फिर रजकण-देहादि आत्मा के कैसे हो सकते हैं?

अतरग में अपनी स्वाधीनता की जिसे कुछ चिन्ता नही है उसकी समझ में यह कुछ नहीं आता। कोई वस्तु पररूप परिणमित नहीं होती, इसलिये स्वतंत्र है। जो 'है' वह पररूप नहीं होने के कारण है। अपनी अनन्तशक्ति नाश को प्राप्त नहीं होती। प्रत्येक पदार्थ टंकोत्कीर्ण शाश्वतस्वरूप से, स्पष्ट, प्रगट एकरूप, स्व-अपेक्षा से स्थिर रहता है।

प्रत्येक जीव-अजीव का धर्म प्रगट है, पर से पृथक्त्व है। विरुद्ध-कार्य अर्थात् वस्तु पर से-असत्‌रूप से है, और अविरुद्ध-कार्य अर्थात् वस्तु स्वत्व से सत्‌रूप से है। सत् अर्थात् अस्तिरूप कार्य, और असत् अर्थात् नास्तिरूप कार्य। दोनों स्वभाव के कारण सदा विश्व में रह रहे हैं। स्व से स्वयं है, और पर से स्वय नहीं है, ऐसी प्रत्येक वस्तु पर से नास्ति और स्व से अस्ति होने से विश्व को सदा स्थिर रखती है। इसप्रकार प्रत्येक वस्तु में अस्ति-नास्ति धर्म हैं, और वे प्रत्येक वस्तु की स्वतंत्रता को बतलाते है।

इसप्रकार सर्व पदार्थों का पृथक्त्व और स्व में एकत्व निश्चित होने से इस जीव नामक समय (पदार्थ) के बंध की कथा विरोधरूप आती है, वह ठीक नहीं है।

आत्मा से भिन्न चार अरूपी द्रव्य स्वतंत्र हैं, निरपेक्ष, एकत्व को प्राप्त हैं, इसलिये वे शोभा पाते हैं। तब तुझे बंधन (पर की उपाधि) युक्त कैसे कहा जाय? धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जो पृथक् पृथक् रजकण हैं उनके तो पर का सम्बन्ध नहीं होता, और तेरी आत्मा के बंधनभाव हैं, यह कहना घोर विसंवाद की बात है। मैं पर से बंधा हुआ हूँ यही विचार अपनी स्वतंत्रता की हत्या करना है। पर के लक्ष से राग-द्वेषरूप विकार करना कहीं शोभारूप नहीं है, किन्तु आपत्तिजनक है। पृथक्-स्वतंत्र आत्मा को पर का बंधनवाला कहना परमार्थ नही है।

प्रश्न—किन्तु यह सामने तो बन्ध दिखाई देता है?

उत्तर—वर्तमान क्षणिक संयोगाधीनदृष्टि को छोड़कर अपने त्रैकालिक असंयोगी-अरूपी ज्ञानस्वभाव को देखे तो आत्मा बंधरहित, स्वतंत्र ही दिखाई देगा। देह और पर को देखने की जो दृष्टि है सो बाह्यदृष्टि है, वह आत्मा की निर्मलता को रोकनेवाली है। अज्ञानी जीव अपने स्वतंत्र स्वभाव को भूलकर पर के कार्य मैंने किये, मैं देहादि का काम कर सकता हूँ, मैंने समाज में सुधार किये, मैं था तो चंदा लिखा गया,

बड़ी रकम भरी गई, मैं था तो वह कार्य हुआ, इत्यादि मान्यता के अभिमान से स्वयं अपनी हत्या कर रहा है। इसलिए हे भाई! तू पर के अभिमान को छोड़ दे, पर कार्य के अभिमान से चैतन्य की संपत्ति लुट रही है; वह पराधीनता है तथापि उसे उत्साहसहित मानना पागलपन है।

पुण्य-पाप का बंध भाव मुझे लाभ करता है, पुण्य से गुण का विकास होता है, इसप्रकार पर से लाभ माननेवाला बंध को प्राप्त होता है। यह विसंवाद क्योंकर उपस्थित होता है, सो आगे कहा जायगा।

आत्मा सदा अरूपी, ज्ञान-दर्शन-सुखस्वरूप से है। उससे भिन्न जो पुद्गल है उसमें वर्ण, गंध रस, स्पर्श है। ये गुण अरूपी द्रव्यों में नहीं है। आत्मा के अतिरिक्त दूसरे चार पदार्थ अरूपी हैं, उनमें चेतना-गुण तथा सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता, किन्तु उसकी अनन्तशक्ति उसमें उसके आधार से है। प्रत्येक वस्तु की पृथक् सत्ता है। आत्मा का धर्म शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र की एकता है। आत्मा स्वयं धर्म स्वरूप है; पुण्य-पापरूप नहीं है। इसलिए पुण्य से आत्मा का धर्म नहीं होता। पुण्यादि परवस्तु हैं। देह, मन, वाणी, पैसा इत्यादि पर-वस्तु से आत्मा का धर्म नहीं होता। दान-भक्ति द्वारा तृष्णा को घटाये तो वह पुण्यरूपी शुभभाव हुआ। वह भाव अरूपी आत्मा के होता है। धर्मभाव तो रागरहित है। परवस्तु से, रुपये-पैसे आदि से दान देने की जड़क्रिया से पुण्य-पाप या धर्म नहीं होता। पर के प्रति जो तीव्र राग है वह अशुभ-पापभाव है। यदि तीव्र राग को कम करके शुभभाव करे तो वह पुण्य कहलाता है। धर्म-उससे भिन्न वस्तु है, राग-द्वेष भी चैतन्यस्वभाव के नहीं है।

प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म हैं; उनमें से कोई धर्म कम नहीं हो सकता। प्रत्येक वस्तु का पर की अपेक्षा से नास्तित्व और अपनी अपेक्षा से अस्तित्व है, इसलिए वह पर-अपेक्षा से नहीं है और स्व-अपेक्षा से

है। इसप्रकार प्रत्येक वस्तु पर की सहायता के विना स्वतंत्ररूप से सदा स्थिर रहती है। इसप्रकार सपूर्ण पदार्थों का भिन्न भिन्न-एकत्व निश्चित हुआ।

यद्यपि प्रत्येक पदार्थ पृथक् है, तथापि पृथक्त्व को भूलकर जो यह मानता है कि मै पर का कार्य कर सकता हूँ, मैं सयाना हूँ, मैंने इतने काम किये, यह सब व्यवस्था मेरे हाथ मैं है, इत्यादि। वह समस्त पर को अपना माननेवाला है। किसी भी परवस्तु की प्रवृत्ति मेरे द्वारा होती है, मेरे आधार से होती है, इसप्रकार जो मानता है उसने पर को अपना माना है। कई लोग मुँह से तो यह कहा करते है कि हम पर को अपना नही मानते, तथापि वे ऐसा तो मान ही रहे है कि हमने घर में सभी को सुधार दिया, हमने इतनों को सहायता दी है इत्यादि। जो पर की अवस्था स्वतंत्रतया हुई है उसे मैंने किया है, इसप्रकार उसने मान ही रखा है, और यही अनादि का अहंकार है। संसार के सयाने का मान छोड़ना कठिन होता है।

मैंने ऐसी चतुराई से काम किया है कि वह आदमी चक्कर में आ गया, इसप्रकार कई लोग मानते हैं, किन्तु वास्तव में तो वे स्वयं ही चक्कर में है। उस मनुष्य को उसके पुण्य के हीन होने के कारण तेरे जैसा निमित्त मिला, किन्तु तूने पर का कुछ किया नहीं है, मात्र अपने में राग-द्वेष—अज्ञान किया है।

आत्मा को राग-द्वेषरहित, ज्ञाता—साक्षीरूप मानना सो भेदज्ञान है, और भेदज्ञान होने पर उसके अभिप्राय में जगत् के लोगों के अभिप्राय से अन्तर पड़ जाता है।

जीव नामक पदार्थ जो चिदानंद रसरूप से स्वतंत्र है, उसे पर का सम्बन्ध वाला मानना, तथा उस पर के सम्बध से पुण्य—पाप विकार होता है, ऐसा संपूर्ण आत्मा को मान लेना सो मिथ्यादृष्टित्व है। पराश्रय से जो क्षणिक बंध अवस्था होती है उसे आत्मा के त्रैकालिक निर्मल स्वभाव में स्वतया लेना सो मिथ्यादृष्टित्व है। थोड़े समय के लिये किसी के पास से

जो वस्तु उधार लाई गई हो उसे घर की संपत्ति में जमा नहीं किया जा सकता; इसीप्रकार आत्मा त्रिकालशुद्ध—आनंदघन है, उसमें पर जो मन, वाणी, देह अथवा पुण्य-पाप के संयोग हैं उन्हे अपने हिसाब में नहीं गिना जा सकता। आत्मा सदा अरूपी—ज्ञाता है, वह ज्ञान और शांति अथवा अज्ञान और रागद्वेष के भाव के सिवाय कुछ भी नहीं कर सकता, तथापि यह मानता है कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ। आत्मा के हाथ, पैर, नाक, कान नहीं होते तथापि वह उनका स्वामी बनता है। यह अनादि की मिथ्या-शल्य है।

संसार के प्रेम के कारण झूठी बातों को जहाँ तहाँ सुनने जाता है, अखबारों में लड़ाई की बाते पढ़ता है, उत्साह से उसकी चर्चा करता है, किन्तु यह सब संसार में परिभ्रमण करने के कारण हैं।

हे भाई! तू प्रभु है, तूने अपने मुक्तस्वभाव की बात कभी नहीं सुनी, धर्म के नाम पर भी काम-भोग-बंध की ही कथा ही सुनी है। जिसने पाचलाख रुपये कमाये हों उससे धर्मगुरु कहते हैं कि दान करो। और वह मानता है कि पांच-दस हजार का दान देने से मुझे धर्म होगा और उससे सुखी हो जाऊंगा। इसीप्रकार यदि यह कहा जाय कि देहादि की क्रिया से धर्म होता है, तो उसे वह भी रुचता है। इस-प्रकार सस्ते में जीव ने धर्म मान लिया है। किन्तु देह की क्रिया से धर्म नहीं होता, क्योंकि, देह आत्मा से भिन्न है।

जो ज्ञानी है वह दान देते समय ऐसा मानता है कि मैंने तो धन से तृष्णा घटाई है, लेनेदेने की क्रिया का मैं कर्ता नहीं, स्वामी नहीं, मैं तो तृष्णारहित ज्ञानस्वभावी हूँ। और अज्ञानी जड़ का स्वामी होकर पांच हजार का दान देगा तो जगत् में घोषित करेगा कि मैंने दान दिया, मैंने रुपये दिये; और कैसी प्रशंसा होती है उसे सुनने के लिये तत्पर रहेगा। देखो तो यह रंकभाव! स्वयं अपनी महिमा दिखाई नहीं देती, इसलिये दूसरे के पास से महिमा की इच्छा करता है।

गृहस्थदशा में रहने वाला ज्ञानी दान देता है, किन्तु किंचित्मात्र अभिमान नहीं करता। यदि कोई प्रशंसा करता है कि तुमने अच्छा दान दिया है, तो वह मानता है कि यह मुझे पर का कर्ता कह रहा है, जो कि कलंक है। लोग कहते हैं कि 'तुमने अपनी वस्तु दान में देदी है; किन्तु ऐसा कहकर तो वे मुझे जड़ का स्वामी बनाते हैं। पर का स्वामित्व चोरी का कलंक है।

जड़ मेरी वस्तु नहीं है, इसलिये मैंने नहीं दी है। जड़ पदार्थ का एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जाना उस उस पदार्थ के आधीन है। तृष्णा घटाने का भाव मेरे आधीन है। किसी रजकण का अथवा मन का अवलंबन रहे तो वह मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा जानने से पर से पृथक्त्व का पुरुषार्थ प्रगट होता है। यदि पर का स्वामित्व रखता है, पुण्य के बंधन भाव को ठीक मानता है तो उसके विपरीत पुरुषार्थ है। मैं पुण्य-पाप से रहित पर से भिन्न हूँ, पूर्ण पवित्र ज्ञायकमात्र हूँ, किसी के अवलम्बन के बिना स्थिर रहने वाला हूँ, जो ऐसा मानता है उसके अपूर्व पुरुषार्थ प्रगट होता है। पहले श्रद्धा में यह निर्णय करना सो अनंत सीधा पुरुषार्थ है। जो पर का कर्ता होकर जड़ का स्वामी होता है वह पर की क्रिया से लाभ माने बिना कैसे रहेगा ?

जो अनंतकाल की अज्ञात वस्तुस्थिति है उसका अधिकार प्राप्त होने पर उसके स्वरूप को ज्यों का त्यों स्पष्ट करना सो व्याख्यान है।

ज्ञानी दान देगा तब अपूर्वतृष्णा घटेगी और अज्ञानी अल्पपुण्य के होने पर अभिमान करेगा। जो तृष्णा को कम नहीं करता उसे समझाने के लिये श्री पद्मनन्दि आचार्य ने कौवे का दृष्टान्त दिया है— खराब और बचीखुची वस्तु घूरे पर डालदी जाती है तो कौवा वहा खाने के लिये आता है और काँव, काँव करके दूसरों को इकट्ठा करके खाता है, स्वयं अकेला नहीं खाता, इसीप्रकार पहले जीव के गुणों को जलाकर, शुभभाव करके जिसने पुण्य बाधा है वह बचीखुची और जली हुई वस्तु है। ऐसी वस्तु को जो मनुष्य अकेला खाता है अर्थात् दूसरे को दान

नहीं देता, दूसरे को दान लेजाने के लिये नहीं बुलाता, वह कौवे से भी गया बीता है। गुण के जलने से पुण्य बंधता है, आत्मभाव से पुण्य-पाप नहीं बंधते। आत्मा के गुण से बंध नहीं होता। जली-भुनी वस्तु को भी कौवा अकेला नहीं खाता; किंतु तेरे गुण जलकर जो पुण्यबंध हुआ है उसके उदय से तुझे जो कुछ मिला है उसमें से किसी को कुछ नहीं दे तो तू कौवे से भी हलका है। ज्ञानी लट्ठ नही मारता, किन्तु तृष्णा के कुएँ में डूबे हुए को उसमें से बाहर निकालने के लिये करुणा से उपदेश देता है। प्रत्येक बात न्याय से कही जाती है। जिसे जो अनुकूल मालूम हो उसे वह ग्रहण करले।

जिसे सच्ची श्रद्धा है उसे परवस्तु का स्वामित्व नहीं है, इसलिये दानादि देते हुए भी उसे उसका अभिमान नही होता। दान, भक्ति इत्यादि प्रत्येक सयोग में राग कम होकर उसके स्वभाव में निराकुलता तथा स्थिरता बढ़ती जाती है।

आत्मा अकेला स्व में लीन हो तो राग-द्वेष विकार नहीं होता, किन्तु पर के आधीन हुआ इसलिये विसंवादरूप, उपाधिभाव वाला कहलाता है। विकारी भाव को अपना मानना सो जड़-पुद्गल कर्म के प्रदेश में रत होना है। जब अज्ञान से परवस्तु में युक्त होने का स्वयं भाव करता है तब जीव के राग-द्वेष का कर्तृत्व आता है। पर को माहात्म्य दिया और अपना माहात्म्य भूल गया। तू स्त्री-पुत्रादि को मेरा-मेरा कर रहा, किन्तु वे तेरे नहीं है।

एक तत्व को-एक आत्मा को अपनेरूप और कर्म के संबन्धरूप-दोरूप कहना सो बंध की विकारीदृष्टि है। विकारीदृष्टि वाला बंधन की बातें आनन्दपूर्वक करता है और कहता है कि अब मात्र कहकर बैठे रहने का समय नहीं, किन्तु सक्रिय काम करके हमें जगत् को बता देना चाहिये, ऐसा कहने वाले का अभिप्राय मिथ्या है। क्योंकि पर का स्वयं कर सकता है ऐसा वह मानता है। शरीर, मन, वाणी का कण कण भिन्न है। उसकी प्रवृत्ति मुझसे होती है-ऐसा

मानना तथा उसको अपना मानना सो स्वतंत्र चैतन्य आत्मा की हत्या करने की मान्यता है। आत्मा स्वतंत्र, भिन्न है। उसको पृथक् न मानकर पर का कर्ता हूँ, ऐसा मानने वाले सभी लोगों का अभिप्राय सर्वथा मिथ्या है। वे असत्य का आदर करने वाले हैं। एकबार यथार्थ रीति से समझे कि जीव अजीवादि सर्व पदार्थ तीनोंकाल में पृथक् हैं, तो फिर किसी पर का कुछ कर सकता है या नहीं, ऐसी शंका नहीं हो सकती। अपना कार्य किसी की सहायता से नहीं हो सकता।

एक परिणाम के कर्ता दो तत्व नहीं होते; क्योंकि जड़—चेतन सभी पदार्थ सदा स्वतंत्ररूप से अपनी अपनी अर्थक्रिया कर रहे हैं, फिर भी जो ऐसा नहीं मानते हैं वे जीव अपने चैतन्य की स्वतंत्रता की हत्या करते हैं।

आत्मा को पराश्रयता शोभारूप नहीं है। जिस भाव में तीर्थंकरत्व बंधता है वह भी रागभाव है, ऐसा जानकर पुण्य-पापरहित निरावलंबी आत्मा का जो एकत्व है वही शोभारूप है।

मैं सदा स्वावलंबी—मुक्त हूँ, ऐसा जाने बिना जो कुछ जाने—माने और कहे सो सब व्यर्थ है। मैंने पर का ऐसा किया, सेवामण्डल का ऐसा किया, हम थे तो ऐसा हुआ इत्यादि, कर्तृत्व की बात सुनना, उसका परिचय करना, उसका अनुभव करना, इस जीव को अनादि से सुलभ हो रहा है। इसलिये आचार्यदेव एकत्व की असुलभता बताते हैं:—

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥

श्रुतपरिचितानुभूता सर्वस्यापि कामभोगबंधकथा।
एकत्वस्योपलम्भः केवलं न सुलभो विभक्तस्य ॥ ४ ॥

अर्थ— समस्त लोक को काम-भोग संबंधी बंध की कथा सुनने में आगई है, परिचय में आगई है, और अनुभव में भी आगई है, इसलिये

सुलभ है। किन्तु भिन्न आत्मा का एकत्व न कभी सुना है, न उसका परिचय प्राप्त किया है, और न वह अनुभव में ही आया है; इसलिये वह सुलभ नहीं है।

'मैं पर का कुछ कर सकता हूँ,' ऐसी मान्यता 'काम' और संसारी पदार्थ भोगने का भाव भोग है। पर का मैं कर सकता हूँ, ऐसा अनादिकाल से जीव ने माना है। किन्तु कर कुछ नहीं सकता। मैंने पुण्य किया है; इसलिये भोगना चाहिये, पुण्य का फल मीठा लगता है, ऐसा जो मानते है वह इस विशाल गृहरूपी भोंयरे में ऐसे पड़े रहते हैं जैसे विशाल पर्वतों की गुफाओं में जीव-जंतु पड़े रहते हैं। आत्मा की प्रतीति के बिना दोनों समान हैं।

इतना करो तो पुण्य होगा, फिर अच्छा संयोग मिलेगा देवभव में ऐसे सुख मिलेगे; ऐसा सुनकर जीव पुण्य को धर्म मानता है, किन्तु पुण्य का फल तो धूल है, उससे आत्मा को कलंक लगता है। मनुष्य अनाज खाता है, उसकी विष्टा भूड नामक प्राणी खाता है। ज्ञानी ने पुण्य को-जगत की धूल को विष्टा समझ कर त्याग दिया है, उधर अज्ञानीजन पुण्य को उमंग से अच्छा मानकर आदर करता है। इसप्रकार ज्ञानियों के द्वारा छोड़ी गई पुण्यरूप विष्टा जगत के अज्ञानी जीव खाते हैं। ज्ञानीजनों ने पुण्य-पापरहित आत्मा की सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-आचरण से मोक्ष प्राप्त किया है।

लोग मानते हैं कि श्रीपाल ने व्रत धारण किया था, इसलिये उनका रोग मिट गया था, किन्तु शरीर का रोग दूर करने का कार्य धर्म का नहीं है। पूर्व का पुण्य हो तो शरीर निरोगी होता है। धर्म के फल से रोग दूर होता है, ऐसा माननेवाला धर्म के स्वरूप को समझा ही नहीं है। पुण्य शुभपरिणाम से होता है, और धर्म आत्मा का शुद्धस्वभाव प्रगट करने से होता है इसकी उसे खबर नहीं है। सनत्कुमार चक्रवर्ती ने दीक्षा ग्रहण की उसके बाद उन महान धर्मात्मा-मुनि को बहुत वर्षों तक तीव्र रोग रहा तथापि शरीर के ऊपर धर्म का कोई प्रभाव नहीं हुआ।

यह बात नहीं कि धर्म से शरीर निरोगी रहता है, किन्तु धर्म के फल से पुण्य और शरीर इत्यादि का बंध ही नही होता। मोक्षमार्ग में पुण्य का भी निषेध है, तब आजकल लोग धर्म के नाम से अपनी मनमानी हाकते रहते है और कहते हैं कि पुण्य करो, उससे मनुष्य या देव का शरीर मिलेगा और फिर परंपरा से मोक्ष प्राप्त होगा।

जीव राग-द्वेष का कर्ता है; उसके फल का भोक्ता है इत्यादि काम-भोग-बन्ध की कथा जीव ने अनन्त बार सुनी हैं, इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि जड़ के संयोग की रुचि छोड़ो; पुण्य से धर्म नहीं होता।

शंका—आपने तो पुण्य को जुलाब ही दे डाला है?

समाधान—जमालगोटा का जुलाब दिये बिना विकार (विपरीत-मान्यता) दूर नहीं हो सकता। पुण्य मेरा है, शुभभाव करते करते धीरे धीरे धर्म होगा, ऐसी विषैली मान्यता का अर्थात् रागद्वेष-अज्ञानभाव का वीतराग के निर्दोष वचन विरेचन करा देते है। किसी भी बन्धनभाव का आदर नहीं होना चाहिये।

यदि कोई आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से विरुद्ध भाव को धर्म कहे तो वह विकथा है। अजान को सत्य बात कठिन मालूम होती है, क्योंकि उसने वह पहले कभी सुनी नहीं है, इसलिऐ कदाग्रही को वह विरोधरूप लगती है, परन्तु सरल जीव अपनी शुद्धता की बात सुनकर हर्ष से नाच उठते हैं और कहते हैं कि अहो! ऐसी बात हमने कभी भी नहीं सुनी थी।

"हमने तुम्हारे लिये इतना किया है," ऐसा कहने वाला असत्य कहता है, क्योंकि तीन काल और तीन लोक में कोई पर का कुछ कर नहीं सकता, मात्र वह ऐसा मानता है। ज्ञानी अथवा अज्ञानी पर का कुछ कर ही नही सकता। अनादिकालीन विपरीतदृष्टि खण्ड को बदल कर नये माल (सच्ची दृष्टि) को भरने के लिये नया खण्ड बनाना चाहिए।

वर्तमान में धर्म के नाम पर बहुत सी गड़बड़ी दिखाई देती है पुण्य से और पर से धर्म माना जाता है। किन्तु अनादि से जीव जो मनाता

आया है उससे यह बात भिन्न है। सत्य बात तो जैसी है वैसी ही कहनी पड़ती है और उसे माने बिना छुटकारा नहीं है। सत्य को हल्का-सस्ता बनाकर छोड़ा नहीं जा सकता। यदि कोई कहता है कि यह तो बहुत उच्चकोटि की बात है, सो ऐसा नहीं है; क्योंकि यह धर्म की सर्वप्रथम इकाई की बात है।

आत्मा को पुण्यादि पर-आश्रय की आवश्यक्ता प्रारंभ में भी नहीं है। सच्ची समझ के बिना व्रत-तप इत्यादि से पुण्य बाधकर जीव नवमें ग्रैवेयक तक गया, फिर भी स्वतंत्र आत्मस्वभाव को नहीं जाना, और इसीलिये भवभ्रमण दूर नहीं हुआ।

जीव ने ऐसा परम सत्य इससे पूर्व कभी नहीं सुना कि अनंतगुणों का पिंड, चैतन्य आत्मा पर से प्रथक् है। एक रजकण भी मेरा नहीं है, रजकण की अवस्था या देह, मन, वाणी की प्रवृत्ति मेरी नहीं है; मैं तो ज्ञाता ही हूँ इत्यादि। इसलिये कहता है कि प्रारम्भ में कोई आधार तो बताओ, कोई आश्रय लेने की तो बात करो; देव, गुरु, शास्त्र कुछ सहायता करते है, ऐसा तो कहो। किंतु भाई! तू प्रथक् है और देव, गुरु, शास्त्र; प्रथक् हैं एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की कुछ सहायता नहीं कर सकता। जब स्वयं समझे तब देव, गुरु, शास्त्र निमित्त कहलाते है। उपादान की तैयारी न हो तो देव, गुरु, शास्त्र क्या करेंगे? जैसे पिंजरा-पोल के जिस पशु के पैर में शक्ति न हो उसे यदि लकड़ी के सहारे बलात् खड़ा करे तो भी वह गिर पड़ता है, और गिरने से जो धक्का लगता है, उससे वह अधिक अशक्त हो जाता है। इसीप्रकार जो यह मानता है कि मैं शक्तिहीन हूँ, उसे देव, गुरु, शास्त्र के सहारे खड़ा किया जाय तो भी वह नीचे गिर पड़ता है, और पछाड़ खाकर अधिक अशक्त हो जाता है। देव, गुरु, धर्म वीतरागी स्वतंत्र तत्त्व है, उसीप्रकार मैं भी स्वतंत्र-अनन्तशक्ति वाला हूँ। पर के आश्रय के बिना मै अपने अनन्त गुणों को प्रगट कर सकता हूँ, ऐसी यथार्थ मान्यता सम्यग्दर्शन है। ऐसा होने पर भी जो यह मानते है कि देव, गुरु, शास्त्र मुझे तार देगे वे

मानों यह नहीं मानते कि वीतरागदेव के द्वारा कही गई यह बात सत्य है कि आत्मा स्वतंत्ररूप से अनन्त पुरुषार्थ कर सकता है।

सर्वज्ञ वीतराग कहते हैं कि हम स्वतंत्र और भिन्न हैं, तू भी पूर्ण स्वतंत्र और भिन्न है। किसी की सहायता की तुझे आवश्यकता नहीं है। ऐसा निःस्पृही वचन वीतराग के बिना दूसरा कौन कहेगा?

बहुत से लोग कहा करते है कि हमारा स्वार्थत्याग तो देखो, हम जगत् के लिये मरे फिरते हैं, हम अपनी हानि करके भी जगत् का सुधार करते हैं, किंतु लोगों को यह खबर नही है कि ऐसा कहने वाले ने औरों को पराधीन तथा अशक्त ठहराया है।

कोई किसी का उपकार नहीं करता, मात्र वैसा भाव कर सकता है। स्वयं सत्य को समझे, और फिर सत्य को घोषित करे, उसमें जो भी तत्पर जीव हो वह सत्य को समझ लेता है, ऐसी स्थिति में व्यवहार से कहा जाता है कि उसका उपकार किया है। साक्षात् तीर्थंकर देव पृथक् हैं और तू पृथक् है; उनकी वाणी अलग है; इसलिये वह तुझे कदापि सहायक नहीं हो सकती। ऐसा माने बिना स्वतंत्र तत्त्व समझ में नहीं आयगा।

प्रश्न—ऐसा मानने के बाद, क्या फिर कोई दान, सेवा, उपकार आदि न करे?

उत्तर—कोई किसी पर का कुछ कर नहीं सकता, किंतु पर का जो होता है, और जो होना है वह तो हुआ ही करेगा; तब फिर दान, सेवा, उपकार आदि न करने का तो प्रश्न ही नहीं रहता। ज्ञानी के भी शुभभाव होता है, किन्तु उसमें उसका स्वामित्व नहीं होता।

अनादि की विपरीत मान्यता को लेकर पर में एकत्व सुलभ हो गया है और पर से पृथक्त्व का श्रवण, परिचय, अनुभव कठिन हो गया है। भूतकाल के विपरीत अभ्यास की अपेक्षा से मंहगी बताई है, किन्तु पात्रता प्राप्त करके परिचय करे तो ज्ञात हो कि यह अपनी स्वाधीनता की बात है, इसलिये सस्ती है।

टीका—इस समस्त जीवलोक को काम-भोग सम्बन्धी कथा एकत्व से विरुद्ध होने से अत्यन्त विसंवादी है अर्थात् आत्मा का अत्यन्त बुरा करने वाली है; तथापि पहले यही अनन्तबार सुनने में आई है, परिचय में आई हैं और अनुभव में भी आ चुकी है।

मैं पर का कर सकता हूँ, पर मेरा करदे, ऐसी इच्छा जीव ने अनादि से सेवन की है, किन्तु मैं पर के कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित हूँ, इसलिये स्व में ठहरूँ, ज्ञान की अन्तर श्रद्धा, ज्ञान और रमणता करूँ, यही ठीक है। ऐसी बात पहले अनन्तकाल में जीव ने यथार्थरूप से नहीं सुनी।

स्पर्शन और रसना इन्द्रियों को काम का मुख्यत्व है, घ्राण, चक्षु और कर्ण को भोग की मुख्यता है।

आत्मा सदा ज्ञानस्वरूप है, उसे भूलकर पर पदार्थ की ओर का जो लक्ष है वह विषय है। जीव जितनी शुभाशुभवृत्ति करता है वह परलक्ष से होती है, इसलिये चाहे जिस पदार्थ की ओर वृत्ति करके उसमें अच्छा-बुरा भाव करना सो विषय है! परवस्तु के प्रति रागद्वेष, मोहवाला जो भाव है सो विषय है।

परवस्तु विषय नहीं है, वस्तु तो वस्तु ही है। वर्ण, गंध, रस, स्पर्श में विषय नहीं, किन्तु उसकी ओर का जो रागभाव है सो विषय है। इसका रूप सुन्दर है, ऐसा मानकर वहाँ ज्ञानस्वरूपी आत्मा जो रूप सम्बन्धी राग करता है सो रूप सम्बन्धी विषय है। उसीप्रकार गंध, रस और स्पर्श के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। परद्रव्य के ऊपर लक्ष करके जीव जब राग-द्वेष करता है तब परद्रव्य विकार का निमित्त होने से, उपचार से परद्रव्य को विषय कहा जाता है। ज्ञानभाव से परद्रव्य को जाने, उसमें रागद्वेष न करे तो वह परद्रव्य ज्ञेय कहलाता है। स्व-पदार्थ का लक्ष करना सो स्व-विषय है। यदि स्व का लक्ष करे तो जीव को रागद्वेष न हो।

देव, गुरु, शास्त्र पर हैं, उनके प्रति भी जीव रागरूप भाव रखे तो वह भी राग का व्यापाररूप परविषय है। शास्त्र में कहा है कि आत्मा पर के आश्रय से रहित है, पुन्य-पाप से भिन्न है, मन और इन्द्रियों से भिन्न है, किसी भी पर के साथ उसे सबन्ध नही है, शुभ-विकल्प भी आत्मा को सहायक नही है। निमित्ताधीन होने पर शुभाशुभ भाव का होना भी आत्मा का कार्य नही है। किन्तु ऐसा जिसने नहीं माना उसने राग द्वारा ही शास्त्रों को सुना है, और इसलिये उसने शास्त्रों को भी इन्द्रिय का विषय बनाया है। शास्त्र के शब्दो के द्वारा धर्म प्रगट होता है, ऐसा जिसने माना उसने शास्त्र के शब्द को शुभ-राग का विषय बना लिया। आत्मा चैतन्यमूर्ति–ज्ञाता ही है, शब्दादि पाँचों विषयों से भिन्न है, ऐसा शास्त्र के कहने का आशय है। उसे भूलकर जो जीव देव, शास्त्र, गुरु के संयोग में आता है वह वहाँ भी राग का विषयरूप व्यापार करता है।

तीर्थंकर भगवान को भी आखों से अनन्तवार देखा, वहाँ भगवान को भी शुभराग का विषय बनाकर पुण्य बन्ध किया; निमित्त अथवा राग के बिना स्वावलंबीदृष्टि से भगवान को कभी देखा नहीं; इसलिये वह भी परविषय होगया।

अशुभ से बचने के लिये देव, गुरु, शास्त्र की विनय-भक्तिरूप शुभ-भाव करने का निषेध नहीं है, किन्तु वह शुभभाव पुण्य है; धर्म भिन्न वस्तु है। स्वात्मलक्ष के बिना सब परलक्ष है। अनादि से पर के ऊपर दृष्टि है दूसरा मेरी सहायता करे ऐसी जिसकी मान्यता है उसने अपने को निर्माल्य माना है। "हे भगवान्! कृपा करो, अब तो तारो" इसका अर्थ तो यह हुआ कि अब तक बन्धन में रखकर तुमने परिभ्रमण कराया सो यह दोष भी तुम्हारा है। आत्मा में अनन्त शक्ति है, सदा स्वावलम्बी है, पुण्यपाप की वृत्ति जो कि पर है उससे भिन्न है, ऐसी बात जीव ने पूर्व में कभी नहीं सुनी थी, उसका परिचय–अनुभव नहीं किया था, मात्र पर के कर्ता–भोक्ता की ही बात सुनी थी।

मैं पर का कर सकता हूँ, पर मेरा कर सकते हैं, ऐसा 'कर्तृत्व-भाव' और हर्ष-शोक सुख-दुःख का अनुभव 'भोक्तृत्वभाव' इत्यादि सब बंध-कथा है, और इसलिये वह सुलभ है, किन्तु पुण्य-पापादि रहित स्व-कथा सुलभ नहीं है, पुण्य-पापादि करने योग्य हैं-यह विकारभाव की कथा निर्विकारी चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा की विरोधी है। अनन्त-गुण के रसकंद आत्मा को मन के अवलम्बन की भी आवश्यक्ता नहीं है, किन्तु जीव बाह्य में वृत्ति दौड़ाता है, इसलिये राग होता है, पुण्य का जो विकल्प है वह भी गुण की विपरीतता से होता है। गुण की विपरीतता से आत्मा में अविकारी गुण प्रगट होता है, ऐसा मानना-मनवाना सो विकथा है। बाह्य के किसी अवलम्बन से अथवा पर के कारण से लाभ होता है, पुण्य से धर्म होता है, ऐसी अहित करनेवाली बंध-कथा जीव ने अनन्तबार सुनी है, अनुभव की है, किन्तु पुण्य-पाप रहित आत्मकथा सुनना बड़ा दुर्लभ है।

जिस भाव से बंध न हो उस भाव से मोक्ष नहीं होता; और मोक्षमार्ग भी नहीं होता। धर्म के नाम से बंध-कथा अनेकबार सुनी, इसलिये जीव बंध में अभ्यस्त हो गया है। अनभ्यस्त बैल गाड़ी के जुए को जल्दी धारण नहीं करता, किन्तु अभ्यस्त बैल जुए के उठाते ही तत्काल अपनी गर्दन आगे लाकर जुत जाता है। जब बालक से सर्वप्रथम दुकान पर बैठने को कहा जाता है तब उसे वह नहीं रुचता, किन्तु थोड़ा परिचय होने पर, कुछ कमाई दिखाई देने पर जब लोभ लग जाता है तब वह व्यापार में से क्षणभर का भी समय नहीं निकाल पाता। उसे फिर निवृत्ति अच्छी नहीं लगती। यह बंधन में अभ्यस्त हो जाने के उदाहरण हैं।

आत्मा पुण्य-पाप से रहित, अतींद्रिय-आनन्दघनस्वरूप है, ऐसी बात जीव ने कभी नहीं सुनी। पुण्य-पाप के बंधन से जीव अभ्यस्त हो गया है। 'साधु' नाम धारी कितने ही जीवों को यह खबर नहीं होती कि आत्मतत्त्व पर से सर्वथा भिन्न है; इसलिये वे लोगों को बाहर

की बातें सुनाते हैं। किसी राजा–रानी की कथा सुनाकर अन्त में कह देते हैं कि उसने दीक्षा लेली। संसार में ऐसी बातें तो प्रत्येक जीव ने अनन्तबार सुनी हैं, इसलिये वे सुलभ हैं।

आत्मा अनन्त गुणों का स्वामी, अविनाशी, प्रभु है, उसका मुक्त-स्वभाव कैसे प्रगट हो? उसका अन्तरंग वैभव क्या है? यह न जानने के कारण जीव को पराधीनता की कथा-पुण्यपाप बन्ध की कथा रुचिकर लगती है, क्योंकि वह उससे अभ्यस्त हो गया है।

अनन्तबार मनुष्य हुआ, वहाँ भी धर्म के नाम से विकथा ही सुनी। कभी सत्य सुनने को भी मिला, किन्तु आन्तरिक श्रद्धा नहीं हुई, शुभराग में अटका रहा इसलिये उसके लिये तो वह बंध-कथा ही हुई।

एकगुना दान करने से हजारगुना पुण्य होता है, ऐसा सुनकर दान के चिट्ठे में अपना नाम लिखाता है। वास्तव में तो तृष्णा कम करने को दान कहा गया है, किन्तु इसमें तो तृष्णा बढ़ाने की बात है। जहाँ लेने की भावना है वहाँ त्यागभावना कैसे हो सकती है? स्मरण रहे कि संसार के पापों में लगे रहने से पुण्य भाव अच्छे हैं। पूजा, भक्ति और दानादि के द्वारा तृष्णा कम करने का निषेध नहीं किया गया है, किन्तु वह शुभभाव है, आत्मस्वभाव नहीं; इसलिये वह धर्म नहीं है ऐसा समझाया है। आजकल बहुत से लोग पुण्य में धर्म बताते हैं 'पुण्य करो' ऐसी बातें संसार में जहाँ तहाँ सुनने को मिलती है और जीव के अनुभव में भी वे आगई हैं। जैसे सट्टा करने वाले को सट्टे की बात का ऐसा तीव्र वेदन (अनुभव) होता रहता है कि उसे दूसरी बात सुनने का अवकाश ही नहीं होता, इसीप्रकार देव, नरक, मनुष्य और तिर्यंच के भव की बात अनन्तबार सुनी है, इसलिये उसे आत्मा की बात नहीं रुचती।

जीवलोक संसारचक्र के मध्य में स्थित है। अज्ञानी जीव क्षणभर पाप में तो क्षणभर पुण्य में, फिरा ही करता है, किन्तु पुण्य-पाप से भिन्न आत्मतत्त्वस्वरूप निर्णय नहीं करता, इसलिये उसका भवभ्रमण नहीं रुकता।

अनादि से देहदृष्टि है, स्त्री-पुत्रादि को देह के आकार मानता है, कर्मफलरूप देह को समझता है, किन्तु अबन्ध आत्मा को नहीं समझता, इसलिये द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव के पंचपरावर्तनरूप संसार-चक्र में भ्रमण किया करता है।

पंच परावर्तन का स्वरूप

(१) द्रव्यपरावर्तन—प्रत्येक आत्मा के प्रत्येक परमाणु देहरूप से-संयोगरूप से आये और गये; वाणी, मन, कर्म वर्गणारूप से समस्त परमाणुओं का अनन्तबार संयोग किया, पुण्य-पाप के संयोग से अनन्त-प्रकार के आकारवाला शरीर जीव ने अनन्तबार धारण किया, किन्तु असंयोगी आत्मतत्व की बात नही सुनी।

(२) क्षेत्रपरावर्तन—लोकाकाश का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जहाँ जीव अनन्तबार जन्मा और मरा न हो। पुण्य-पाप के विकारीभाव किये और उसके भोग्यस्थानरूप असंख्यात क्षेत्र में अनन्त जन्म-मरण किये; किन्तु आत्मा पर से भिन्न, अतींद्रिय ज्ञानमूर्ति है, उसे नहीं जाना।

(३) कालपरावर्तन—बीस कोड़ाकोड़ी सागर के जितने समय होते हैं, उन एक एक समय में परिभ्रमण करके जीव अनन्तबार जन्मा और मरा।

(४) भवपरावर्तन—नारकी, तिर्यंच, मनुष्य तथा देव के भव अनंत-बार धारण किये। कभी सड़ा कुत्ता हुआ तो कभी बहुत बड़ा राजा हुआ और ऐसी राज्य-संपदा प्राप्त की जहाँ क्षणभर में करोड़ों रुपया आते हैं; वहाँ से मरकर नरक में भी गया और वहाँ से निकलकर सिंह, सूकर इत्यादि हुआ, इसप्रकार संसारचक्र चलता रहता है, किन्तु निर्विकारी-अनन्त सुखमूर्ति आत्मा पर से भिन्न है, ऐसी अपूर्व बात जीव ने कभी नहीं सुनी।

(५) भावपरावर्तन—जीव ने अनन्तप्रकार के शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप के भाव किये, प्रत्येक क्षण में अरबों रुपयों के दान देने का शुभ

भाव किया, तो कभी तीव्र मूर्च्छा से महापाप बाधकर नरक में जाने का भाव किया। शुभाशुभ भाव के द्वारा निरन्तर परिभ्रमण किया। ऐसा परिभ्रमण अनादि से चल रहा है; किन्तु सम्यग्ज्ञान के द्वारा कभी भी दोनों के बीच भेद नहीं कर सका। 'मैं ज्ञानज्योति, चिदानन्द, पर से भिन्न हूँ' ऐसा भेदज्ञान हो जाय तो फिर मोक्षदशा प्रगट हुए बिना नहीं रहे। जीव ने यथार्थ आत्मज्ञान के अतिरिक्त दूसरे सब कार्य अनंतबार किये हैं। शरीर पर काटे रखकर उसे जला डाला तो भी क्रोध नहीं किया, छह महीने के उपवास किये, और पारणा में मात्र एक चावल खाकर फिर छह महीनों के उपवास किये, अज्ञान से उत्कृष्ट पुण्यभाव करके नवमें ग्रैवेयक तक गया, किन्तु पुण्य-पापरहित आत्मस्वभाव को नहीं जाना, इसलिये एक भी भव कम नहीं हुआ।

शुभ–अशुभभाव के असंख्यप्रकार हैं, उनमें मिथ्यादृष्टि के द्वारा होनेवाला ऊँचे से ऊंचा पुण्य और घोर से घोर पाप प्रत्येक जीव ने अनन्तबार किया है।

नवमें ग्रैवेयक में जानेवाले जीव के व्यवहार से श्रद्धा–ज्ञान और शुभप्रवृति होती है। बाह्य से नग्नदिगम्बर मुनित्व होता है, पंचमहाव्रत का पालन सावधानीपूर्वक होता है, किन्तु अन्तरंग में "मैं पर से निराला हूँ, पुण्य-पाप के विकल्प से रहित हूँ, किसी का मुझे आश्रय नहीं है।" ऐसी स्वावलबी तत्वश्रद्धा नहीं हुई, इसलिये भवभ्रमण दूर नहीं हुआ।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप अनंत परावर्तनों के कारण निरन्तर भ्रमण करके जीव ने परमार्थ से पर से पृथक्त्व की और स्व में एकत्व की बात कभी नहीं सुनी। पुण्य-पाप के बंधन में रहने की टेव पड़ गई है, इसलिये पर से पृथक्त्व की बात नहीं रुचती। मोहरूपी महाभूत ने सबको वश कर रखा है और वह लोगों से बैल की तरह भारवहन कराता है। विपरीत मान्यता मिथ्यात्व गुणस्थान है। हम पर का कुछ कर सकते हैं, ऐसी मान्यता से कोई अज्ञानी इन्कार नहीं कर सकता। पुण्य से धर्म

होता है अर्थात् विकार से आत्मगुण प्रगट होता है, ऐसी विपरीत मान्यता ने अज्ञानी जीवों को वश में कर रखा है।

जिसे सच्ची समझ होती है वह तृष्णा को कम किये बिना नहीं रहता। अशुभराग कम करने के लिये गृहस्थ के शुभभाव की वृत्ति होती है, किन्तु पुण्य-पापादि से आत्मा को भिन्न माने बिना जो अल्प-पुण्य बंधता है, उसका स्वामित्व मानकर कभी तो देवभव पाता है और फिर पशु तथा एकेन्द्रिय में जाता है।

पर मेरे आधीन हैं, पर मेरे है, पर का मैं कर सकता हूँ, पर मेरा करदे, मैं ससार में अपनी प्रतिष्ठा से बड़ा होऊँ, पुण्य मे बढ़ूँ; ऐसी भावना अज्ञानी जीव करता है। कोई नामधारी साधु होकर लोक में बड़प्पन लेना चाहता है, किन्तु वह देहादि से भिन्न निर्विकल्प, ज्ञानमूर्ति आत्मा को नहीं जानता। वह धर्म के नाम पर विकथा कहनेवाला, अनंत-ज्ञानी-वीतराग भगवान का द्रोही है।

अज्ञानी जीव मोह के वशीभूत होकर पुण्य-पापरूपी भारी बोझ उठा-कर अनन्तभव में भ्रमण करता रहता है, अनन्तकाल तक भ्रमण करके किसी समय मनुष्य हुआ तो भी सत्य के लिये प्रयत्न नही करता। सांसा-रिक कार्यों का तो समय विभाग बनाता है, सोने का, खाने-पीने का और बातें करने का समय निकालता है, जगत की मान-मर्यादा के लिये सब कुछ करता है, किन्तु ऐसा विचार तक नही करता कि अनन्त जन्म-मरण को दूर करने का सुयोग फिर नहीं मिलेगा, इसलिये शीघ्र ही आत्म-कल्याण करलूँ। मिथ्यात्व के अहंकारभाव को वहन करनेवाले को बैल के समान कहा है। क्योंकि वह स्वय वर्तमान में बैल के समान भावों का सेवन कर रहा है।

संसार का सयान परिभ्रमण करने के लिये है। अधिक कपट-चालाकी से संसार भले ही चला ले, किन्तु मरण के समान उसका लेखा-जोखा मालूम होगा। जैसे कोई बढ़ई चोरों के साथ चोरी करने गया, उसने सोचा कि चोरी तो करनी ही है, किन्तु साथ ही अपनी कारीगरी भी

बतांता जाऊँ, यह सोचकर उसने दरवाजे को कलापूर्वक काटा, उसमें कंगूरे बना दिये और फिर घुसने के लिये भीतर पैर रखा कि भीतर से मकान मालिक ने और बाहर से चोरों ने उसे खींचना शुरू किया। इस प्रकार अपने द्वारा की गई कारीगरी उसे स्वयं दुःखदाई हो गई; और उसका सारा शरीर छिल गया। इसीप्रकार संसार के सयान की—कपट की कारीगरी अपने को ही हानि पहुँचाती है।

निज को भूलकर परवस्तु का मोह किया, उसमें से तृष्णारूपी रोग निकल पड़ा, अब वह बाहर परेशान होता है और सुख को ढूंढ़ता है। परपदार्थ अनन्त हैं अनन्त परपदार्थों के साथ राग करने पर कहीं समाधान नहीं मिलता, इसलिये आकुलता होती है। स्वयं सुखस्वरूप है, उसमें अन्तर्लीन हो जाने का विचार नहीं करता, इसलिये संसार में अनादि से परिभ्रमण कर रहा है।

पुण्य-पाप कैसे होता है, यह बात जीव ने अनंतबार सुनी है, किंतु मैं देहादि से; पुण्य-पाप से भिन्न परावलंबन रहित हूँ, ऐसे भिन्न आत्मा के शुद्धस्वरूप की बात पहले श्रवण नहीं की। अज्ञानरूपी भूल जीव को अनादि से लगी होने से बैल की भाँति भार ढोता है। स्वयं ही मोह के द्वारा तृष्णारूपी आकुलता का भार ढोता है और तीव्र राग-द्वेष से पीड़ित होता है। पर में ममत्व छोड़ने के बाद जो अल्पराग रहता है वह मुख्य बंधन नहीं है। आत्मा चिदानंदस्वरूप है, उसको भूलकर स्वयं मोह में लग जाता है। जड़कर्म आत्मा को भूल नहीं कराते।

पुण्य करो! पुण्य करो! पुण्य से धीरे धीरे धर्म होगा! यह बात त्रिकाल में मिथ्या है। पुण्य विकार है, इसलिये बंधन है, उससे धर्म नहीं होता; धर्म तो पुण्य-पापरहित आत्मा में है। उसकी पहले श्रद्धा करने के लिये भी पुण्य सहायक नहीं होता। जो पुण्य-पापरहित स्वभाव है सो धर्म है। यह सुनकर कितने ही लोगों को ऐसा लगता है कि अरे! यह तो पुण्य का भी निषेध करते हैं। किन्तु उन्हें यह खबर नहीं है कि पुण्य के बिना आत्मा से ही धर्म होता है; उन्होंने ऐसी बात न

तो कभी सुनी है और न उन्हें रुचती ही है। एक परमाणु मात्र मेरा नही है, ऐसा माननेवाला ज्ञानी जितनी तृष्णा दूर करेगा उतनी अज्ञानी दूर नही कर सकता। कायक्लेश से आत्मधर्म नहीं होता। धर्म तो आत्मा का सहज स्वरूप हैं, उसमें जो स्थिरता है सो क्रिया है। भगवान आत्मा की श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसमें स्थिरता ही ज्ञान की आन्तरिक क्रिया है।

लोगों ने बाह्य में धर्म माना है; उपदेशक भी वैसे ही मिल जाते है। पुण्य बाधकर देवलोक में जाऊँगा, वहाँ सुख भोगूँगा और भगवान के पास जाकर धर्म सुनूँगा, इत्यादि विकल्प करता है, किन्तु वह स्वयं भगवान है, पर से भिन्न है, निरावलम्बी है, ऐसे अपने स्वतंत्र स्वभाव को नहीं मानता, तब फिर वह भगवान के पास क्यों जायगा? और कदाचित् गया भी तो वहाँ क्या सुनेगा?

निरपेक्ष आत्मतत्त्व के ज्ञान के बिना जीव मोह में लगे हुए है और संसार का भार ढोते है। भले ही त्यागी नामधारी हो, साधु हो अथवा गृहस्थ हो, किन्तु जिसकी दृष्टि शरीर पर है वह देहक्रिया अपनी मानकर पुण्य–पाप का भार ढोकर अनंत संसार में परिभ्रमण करता है। कोई माने या न माने, किन्तु सत्य तो कहना ही पड़ता है, सत्य को छिपाया नहीं जा सकता।

आत्मा पूर्ण–निर्मल है, उसमें रमण करूँ, ऐसा न मानकर बाह्य में कुछ करूँ तो ठीक, ऐसे पर के कर्ता–भोक्तापने का भाव करता है, इसका मूल कारण मोह है। मोह अर्थात् स्वरूप में असावधानी और पर में साव–धानी। मेरा स्वरूप राग-द्वेष की क्रिया से रहित है, ऐसी प्रतीति न होना सो मोह है। इसी कारण से पर में रमणता करता है। पर की जो कर्तृत्व-बुद्धि है सो पर में सावधानी है।

जीव को मोह से उत्पन्न–तृष्णारूपी रोग हुआ है उसकी दाह से व्याकुल होकर विषयों की ओर ऐसे दौड़ता है जैसे मृग मृगजल की ओर दौड़ता है। भगवान आत्मा शांतरस वाला है, उसे भूलकर बाह्यप्रवृत्ति के द्वारा सुख

माननेवाले को आकुलता के कारण आन्तरिक आत्मतत्त्व को देखने का धैर्य नहीं है। असन्तोषरूपी अग्नि अन्तरंग में सुलग रही है। मैंने इसका काम किया, इतनों को सहायता दी, मुझे इसकी सहायता मिले तो ठीक हो यदि ऐसे साधन मिलें तो बहुतों का भला करदूँ; इसप्रकार आकुलता किया ही करता है। कोई जीव किसी दूसरे का कुछ भी करने के लिये तीनकाल में समर्थ नहीं है। भाग्यानुसार बाह्य के कार्य हुआ करते हैं, यह बात नहीं विचारता। किसी की ओर से सहायता मिलने का किसी के पुण्योदय हो और उसका सहायता देने का शुभभाव हो, ऐसा मेल कभी कभी दिखाई देता है; किन्तु इसलिये मैंने पर का उपकार या कार्य किया ऐसा मानना सो अभिमान है। यदि कोई कहे कि मैंने इतनों को समझा दिया, तो क्या वह सच है? समझने की अवस्था स्व से होती है या पर से? तब फिर यदि कोई माने कि मैंने पर की ऐसी निंदा की सो उसका अहित हुआ, प्रशंसा की सो भला हुआ, मुझसे पूछो, मुझसे मार्गदर्शन प्राप्त करो, मेरा आशीर्वाद मांगो, हम व्यवहारकुशल हैं, मैं ऐसा समाधान करादूं, और उसका विरोध करादूं; बहुतों की सेवा करने से उसका आशीर्वाद मिलता है, इसलिये लाभ होता है, इत्यादि मान्यता त्रिकाल मिथ्या है। किसी के आशीर्वाद से किसी का भला नहीं होता, और किसी के श्राप से किसी का बुरा भी नहीं होता। इसप्रकार लौकिक की मान्यता में पद-पद पर अन्तर है। इष्ट-वियोग अथवा अनिष्ट-संयोग पाप के बिना नहीं होता, और इष्ट-संयोग पुण्य के बिना नहीं होता। अपने किये गए राग-द्वेष-अज्ञान से बन्ध होता है, और राग-द्वेष-अज्ञानरहित भाव से मुक्ति होती है। इसप्रकार प्रत्येक जीव स्वतन्त्ररूप से अपने भाव से बंध और अपने भाव से मोक्षदशा को प्राप्त करता है।

पर से सुख की इच्छा करनेवाला सदा पराधीन बना रहता है। उसके अन्तरंग में तृष्णा के दाहरूपी रोग की पीड़ा रहती है। बाहर से कदाचित् करोड़ों रुपयों का संयोग दिखाई दे, तो भी वह अन्तरंग से दुःखी है। अज्ञानी भले ही बाहर से त्यागी, साधु जैसा दिखाई दे तथापि वह

अन्तरंग में मोह से आकुलित होता है। कौन प्रशंसा करता है, कौन निंदा करता है, ऐसी दृष्टि होने से वह अपने शांतसुख को भूलकर आकुलता का भोग किया करता है।

पर के प्रति लक्ष करके उसमें इष्ट—अनिष्ट भाव करना सो विषय है। अज्ञानी ऐसे परवृत्तिरूप विषयों में लगकर सदा व्याकुल रहता है। दूसरे के ऊपर दबाव न रखें, फटाटोप न करे, तो सभी छोटे बड़े सिर पर चढ़ आये; दो दिन कठोर रहकर तीक्ष्ण वचन कहे तो सब सीधे रास्ते पर आ गये; स्त्री—पुत्रादि ठीक हो गये; इत्यादि मिथ्यामान्यता का सेवन करता है। पुण्य के कारण कदाचित् इच्छानुसार होता हुआ दिखाई दे तो सत्ताप्रियता को पुष्ट करता है। नौकरों के प्रति ऐसा किया जाय और वैसा किया जाये तो बराबर चले, ऐसा मानता है। किन्तु हे भाई! पर का काम तेरे आधीन नहीं है, और तेरे काम पर के आधीन नहीं हैं।

मुझसे लाखों जीवों ने धर्म लाभ प्राप्त किया है, ऐसा माननेवाला तृष्णा में जल रहा है। दूसरा समझे या न समझे, उसका लाभ-अलाभ किसी दूसरे को नहीं होता, अपना लाभ—अलाभ अपने से ही होता है। ऐसी स्वतंत्रता की जिसे खबर नहीं है वह पर से सन्तोष लेना चाहता है। पर जीव समझे तो ही मेरा उद्धार हो, ऐसा नियम हो तो समझ सके, ऐसा दूसरे जीवों को ढूंढ़ने के लिये रुकना पड़े। मुझसे कोई नहीं समझा अथवा बहुत से लोग समझ गये, ऐसी मान्यता मोहरूपी भूल है। श्रोता समझे या न समझे अथवा विपरीत समझे तो उसका फल वक्ता को नहीं है। पर से किसी को लाभ—हानि नहीं होती। यह मान्यता सर्वथा मिथ्या है कि यदि बहुतों की सेवा करूँगा तो तर जाऊंगा। 'जनसेवा ही प्रभु सेवा है' यह मान्यता भी मिथ्या है। हजारों दीपकों का प्रकाश एक घर में इकट्ठा हुआ हो तो किसी एक दीपक का प्रकाश किसी दूसरे में मिल नहीं जाता, इसीप्रकार किसी जीव के भाव में दूसरे का भाव मिल नहीं जाता।

यदि कोई माने कि मुझसे बहुत से लोग समझें तो मुझे पाथेय प्राप्त हो जाय; किन्तु यह मान्यता भ्रममात्र है। यदि कोई न समझे तो अपने को रुकना नहीं पड़ता।

अज्ञानी जीव का अनादि से पर के ऊपर लक्ष है, इसलिये यह मानकर या मनवाकर कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, पराधीनता को अंगीकार करता और करवाता है। साधु नाम धारण करके दूसरों को बंधन की प्रवृत्ति बताता है। "करूँगा तो पाऊँगा" जवानी में कमालें, फिर वृद्धावस्था में शांति से धर्म करेंगे, इसप्रकार बहुत से लोग मानते और मनवाते हैं। बाहर का मिलना न मिलना तो पूर्व प्रारब्ध के अधीन है। 'अधिक पुण्य करने से बड़े होते हैं' ऐसी तृष्णा-मोह बढ़ाने का उपदेश बहुत जगह सुनने को मिलता है। पर के द्वारा अरूपी आत्मा की महत्ता का गुण गानेवाले सर्वत्र पाये जाते है। 'यदि पर का कुछ नहीं करें, और जहाँ तहाँ आत्मा ही आत्मा करते फिरें तो बड़े स्वार्थी कहलायेंगे,' ऐसा माननेवाले लोग जगत के प्रत्येक द्रव्य के स्वतंत्र स्वभाव को भूल जाते हैं। कोई किसी का कुछ कर नहीं सकता। बाहर का जो होना होता है वैसा ही उस उस वस्तु के कारण से होता है। यह बात सुनने को नहीं मिलती, इसलिये समझने में मेल नहीं बैठता। दूसरे को लाभ करदे, ऐसी अभिमान भरी बातें होती रहती हैं, किन्तु आन्तरिक तत्त्व पृथक् है, उसे कौन याद करे? जिस बात का परिचय होता है उसके प्रति प्रेम बताता है, इसलिये काम-भोग की कथा जहाँ-तहाँ सुलभ हो गई है; किन्तु आत्मा की स्पष्ट भिन्नता और स्वतंत्र एकत्व की बात दुर्लभ हो गई है। मैं पर के कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित, पर के आश्रय से रहित, पुण्य-पाप से रहित, विकल्प वृत्ति से निराला, सदा प्रगटरूप से अन्तरंग में प्रकाशमान, ज्ञायकमात्र हूँ, ऐसा भेदज्ञानज्योति से निर्णय करना चाहिये।

अपने अखण्ड चिदानंद ध्रुवस्वभाव का जो आश्रय है सो कारण है, और आत्मा स्पष्ट निराला अनुभव में आता है सो उसका फल है। इसप्रकार साधन-साध्यता आत्मा में ही है।

अनन्त गुणों का पिंड, सदा चैतन्यज्योति आत्मा प्रगट है, प्रकाशमान है। पुण्य-पाप रागादि से आत्मा भिन्न है, तथापि कषाय के साथ एकमेक सा मानता है; (कषाय=क्रोध, मान, माया, लोभ, पुण्य-पाप। जो क्रोध-मान है सो द्वेषभाव है और माया-लोभ रागभाव है; राग में पुण्य-पाप दोनों हैं।) बंध-मोक्ष ये दो अवस्थाएँ कर्म के निमित्त की अपेक्षा से है। शक्ति-व्यक्ति के भेद को गौण करके देखने पर सदा एकरूप, निर्मल, ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा है, किन्तु पराधीनदृष्टि से वह स्वरूप ढक जाता है। पर के साथ मेरा सम्बंध है, उसको (कर्तव्य) पूरा करना चाहिये, ऐसा कहकर चौरासी के चक्कर में परिभ्रमण किया। स्वभाव से निर्मल, त्रिकाल साक्षीरूप भगवान आत्मा को नहीं जाना, इसलिये सर्वज्ञ-तीर्थंकर भगवान के पास अनंतबार जाने पर भी पुण्य-पाप मेरे हैं, मैं पर का आश्रयवाला हूँ, ऐसे पराधीन भाव की पकड़ होने से केवलज्ञानी भगवान के पास से भी कोरा का कोरा यों ही लौट आया। विष्टा में रहनेवाले भौंरे को देखकर गुलाब के फूलों में रहनेवाले भौंरे ने उससे कहा कि "तू तो मेरी जाति का है, गुलाब की सुगन्ध लेने के लिये मेरे पास आ?" विष्टा का वह भौंरा विष्टा की दो गोलिया अपनी नाक में लेकर गुलाब के फूल पर जा बैठा। गुलाब के भौंरे ने पूछा कि 'कैसी सुगन्ध आती है?' उसने उत्तर दिया, जैसी वहाँ आती थी वैसी ही यहाँ आती है।' गुलाब के भौंरे ने विचार किया कि ऐसा क्यों होता होगा? और फिर उसने उसकी नाक में देखा तो उसमें विष्टा की दो गोलिया मिलीं, उसने वे निकलवादीं; तब उसी समय उस विष्टा के भौंरे ने कहा कि 'अहो! ऐसी सुगन्ध तो मुझे कभी नहीं मिली थी' इसीप्रकार संसार में अनादि से परिभ्रमण करता हुआ जीव पुण्य-पाप की पकड़रूप दो गोलिया लेकर कभी ज्ञानी के पास-तीर्थंकर भगवान के पास धर्म सुनने के लिये जाता है, तो भी पूर्व की मिथ्या वासना से जो माना हुआ है वैसा ही देखता है, किन्तु यदि एकबार बाह्यदृष्टि का आग्रह छोड़ सरलता रखकर ज्ञानी का उपदेश सुने तो शुद्ध-निर्मलदशा को प्राप्त हो जाय।

पारसमणि अरु संत में, बड़ो आँतरौ जान ।
वो लोहा कंचन करे, वो करे आप समान ॥

यदि एकबार सच्चे भाव से धर्मात्मा का साथ करे तो अपनी पूर्ण-शक्ति को मानकर उसमें स्थिर होकर वैसा ही स्वयं हुए विना न रहे । जीव को केवल अन्तरंग मोक्षमार्ग में रहनेवाले ज्ञानी-धर्मात्मा मिले तब भी उनकी संगति और सेवा नहीं की। स्वतंत्र-निर्दोष तत्त्व के संबंध में वे क्या कहते हैं, ऐसा भाव अन्तरंग में समझकर उस भाव को स्वीकार करना सो सत् की सेवा है, किन्तु अपनी पूर्वगृहीत मान्यता को पकड़े रखकर सुने तो अतीन्द्रिय-आनंदस्वरूप का स्वाद अनुभव में नहीं आता। कोई कहता है कि "सारे दिन आत्मा की ही बात करते हो यहाँ दूसरी तो कोई बात ही नहीं है, जानने के बाद कुछ करना भी तो होगा?" उससे ज्ञानी कहते है कि "भाई! पहले निश्चय तो कर कि तू क्या कर सकता है? यह समझने के बाद प्रश्न ही नहीं होता।"

क्या कभी असत् की मान्यता से सत् का फल मिलता है? ज्ञानी, धर्मात्मा की संगति भी नहीं की, ऐसा कहकर सत्समागम पर भार दिया है। निर्दोष सत्‌रूप स्वयं होकर यदि सत् को समझे तो ज्ञानी पुरुष को निमित्त कहा जाता है, किन्तु जिसने ज्ञानी की वाणी और देह को ही सत्समागम समझा है उसने अचेतन का साथ किया है। उसने आत्मज्ञान को प्राप्त लोगों की संगति भी नहीं की, अर्थात् उनके कहे हुए भाव को नहीं समझा है। जैसे पिता को उसके नाम से माने, उसके नाम की माला फेरे, किन्तु पिता की आज्ञा न माने, पिता के विरोधी का आदर करे तो वह सुपुत्र नहीं कहलाता। इसीप्रकार सर्वज्ञ वीतराग को नाम से माने, उनके नाम की माला फेरे, किन्तु उनकी आज्ञा क्या है, वे परमार्थतः क्या कहते हैं, इसे न समझे, और वीतरागता के विरोधी पुण्य-पाप का आदर करे, तो वह वीतरागता का अनुभवी नहीं कहलाता। आत्मा का यथार्थ निश्चय करके सत्य को नहीं समझा, इसलिये अनंतभव

धारण किये, वे सब व्यर्थ गये। आत्मभाव से जीव ने एक भी भव नहीं बिताया। अनन्तकाल से अजान होने के कारण परम महिमावान् अपना स्वरूप क्या है, यह कभी नहीं सुना इसलिये स्वयं अज्ञानी बना रहा।

'आत्मा पर से भिन्न है' ऐसा बहुत से लोग कहते है, किंतु उसका यथार्थ स्वरूप नहीं समझते, समझने के लिये विशेष परिचय और धीरज चाहिये। एकबार सुनकर उसमें से कोई शब्द धारण करके मानता है कि मैंने आत्मा को जान लिया है, किन्तु इसप्रकार यों ही आत्मा नहीं जाना जाता। कोई कहता है कि 'मैंने पन्द्रह दिन में समयसार पढ़ लिया है,' किन्तु इसप्रकार पृष्ठ या अक्षर पढ़ लेने से वह समझ में नहीं आ जाता। क्या यह कोई उपन्यास है? यदि उपन्यास या कहानी हो तो उसे भी बहुत दिन तक पढ़ता है।

भिन्न आत्मा का अनुभव जीव ने नहीं किया, इसलिये उसका एकत्व सुलभ नहीं है। आत्मा की यथार्थ प्रतीति हुई कि उसी समय सब छोड़ देता है। ऐसा सबके लिये नहीं बनता, किन्तु शक्ति के अनुसार क्रमशः राग घटाता है। गृहस्थदशा में होने पर भी अनंतज्ञानी-एकावतारी हो जाता है। जो सत्य को ही नहीं समझा वह किसे स्वीकार करेगा, किसे छोड़ेगा, और किसमें स्थिर होगा?

भावार्थः—इस संसार में परिभ्रमण करनेवाला जीव पंचपरावर्तनरूप चक्रमें पड़कर, मोह से पागल होकर 'पुण्य-पाप मेरे हैं' ऐसी विपरीत मान्यतारूपी जुए में जुत जाता है, इसलिये वह उन विषयों* की तृष्णारूपी दाह से पीड़ित होता है, और कामभोगरूपी विषयों की ओर दौड़ता है; तथा जो जो उपाय करता है, उन सभी उपायों से आकुलता ही भोगता है; प्रवृत्ति से दोष दूर करने की इच्छा करता है। पर के ऊपर लक्ष करना सो विषय है। स्व-स्वामित्व का उपदेश विरले जीव ही करते है।

---

* आत्मा का लक्ष छोड़कर पर का लक्ष करना और उसमें इष्ट-अनिष्टरूप वृत्ति करना सो विषय है।

आत्मा निराकुल आनंदमूर्ति है, उसमें स्व-लक्ष से स्थिर होना ही आकुलता को दूर करने का सच्चा उपाय है। परावलंबनरहित शुद्ध दर्शन, ज्ञान और उसमें स्थिरतारूप आत्मभाव स्व-विषय है, पुण्य-पाप की प्रवृत्ति का भाव पर-विषय है। भिन्न आत्मा की बात यथार्थरूप से आज तक कभी नहीं सुनी और जिसे आत्मज्ञान है ऐसे धर्मात्मा की सेवा भी नहीं की।

किसी ने ऐसा सुना कि जवाहरात का व्यापार करने से अधिक लाभ होता है, किन्तु क्या ऐसा सुनने या कहने मात्र से लाभ हो सकता है? जैसे परीक्षक बुद्धि के बिना वह व्यवसाय नहीं आता, उसीप्रकार आत्मा से विरुद्ध क्या है और अविरुद्ध क्या है, ऐसा भेदज्ञान न हो तो क्या लाभ है?

इस काल में सच्ची बात का सुनना भी दुर्लभ है। आत्मस्वभाव मन, वाणी और शरीर से परे है। मैं पर का कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ, आत्मा जानने के अतिरिक्त दूसरा कार्य नहीं कर सकता। आत्मा या तो अज्ञान सहित राग-द्वेष करता है अथवा सम्यग्ज्ञान सहित स्वरूप में एकाग्र रहकर राग-द्वेष दूर करता है। इसके अतिरिक्त वह दूसरा कार्य ही नहीं कर सकता।

तू अज्ञानता से पर में अच्छा-बुरा भाव कर रहा है। "ज्ञानी अथवा अज्ञानी पर का कुछ कर नहीं सकते," शास्त्रों में जो यह कहा है उसके भाव को तू नहीं समझता, इसलिये तू देव, शास्त्र, गुरु का विरोध करता है, और उसमें धर्मभाव मानता है। सत्य के समझने में यदि समय भी लगे तो उसमें कोई हानि नहीं, किन्तु समझने में देर लगेगी, इसलिये अयथार्थ को मान लेने से काम नहीं चलेगा। जैसे दरजी को कपड़े का थान देकर जो कपड़ा बनवाना होता है उसके बारे में उसे समझाया जाता है। किन्तु यदि दरजी कहे कि 'मुझे समझना नहीं है, लाओ जल्दी कतर डालूं" और ऐसा कहकर बिना समझे ही कपड़े को कतर डाले तो हानि हो जाय; किन्तु यदि धीरज रखकर सुने तो

उसमें जितना समय जाता है वह भी जिसप्रकार का कपड़ा बनाना है उस कार्य के प्रारंभ में जाता है। कैसा कपड़ा है, कैसा नापलेना है, और क्या बनवाना है, यदि इसका सभी ब्योरा समझने का धैर्य रखे तो ही वह सफल होता है। इसीप्रकार पर से भिन्न स्वाधीनस्वरूप कैसा है, पुण्य-पाप का बंध किसप्रकार होता है, इत्यादि सुनने-समझने का धीरज हो तो यह प्रारंभ का कार्य कर चुकने से यथार्थ के समझने में सफल होगा और क्रमशः वीतराग हो जायगा। जैसे कोई कहे कि उल्टा ही कतर-ब्योंत क्यों नहीं कर डालते, ग्राहक की बात को सुनने-समझने की क्या आवश्यकता है? इसीप्रकार बहुत से लोग कहा करते हैं कि "समझने-समझाने का क्या काम है? प्रारंभ कर दो। क्रिया करेंगे तो सफल होंगे, समझने के लिये कबतक लगे रहें"। ऐसा मानकर क्रिया-कांड में लगा रहे तो ज्ञानी का अंतरंग आशय क्या है यह नहीं समझा जा सकता, और बिना समझे भवभ्रमण दूर नहीं हो सकता। इसप्रकार समझ को प्राप्त करने की दुर्लभता बताई गई है।

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि अब मैं अपने आन्तरिक वैभव से आत्मा का एकत्व दर्शाता हूँ, इसलिये उस अपूर्व समझ से निश्चय करने के लिये उसे अनेक पहलुओं से समझना होगा, वह ऊपरी बातों से नहीं समझा जा सकता। कोई कहता है कि हमें तो सभी समान लगते हैं। किन्तु जैसे तालाब के समतल को देखने से ऐसा लगता है कि किनारे का और मध्य का पानी एकसा है, किंतु पानी की गहराई नापने के लिये बांस को लेकर अंदर उतरे तो कहाँ कितना गहरा है यह मालूम हो जाता है; इसीप्रकार आत्मा की कई बातें मात्र शब्द से सुनने पर उनका अपनी मान्यता के साथ कुछ सादृश्य सा लगता है और कहता है कि मैंने आत्मा को जान लिया। किन्तु मन और इन्द्रियों से परे अतीन्द्रिय आनंद से परिपूर्ण आत्मा का सामान्य-विशेष स्वभाव क्या है, इत्यादि का विचार करके ज्ञान के प्रमाण से माप करे तो उसकी गहराई और उसका भेद ज्ञात होजाता है।

आचार्यदेव प्रतिज्ञा करके कहते है कि यह समयसार समस्त पदार्थों को यथार्थरूप में बतलाता है; जो इसे समझता है उसे मोक्ष हुये बिना नहीं रहता। आत्मा पर से सर्वथा भिन्न, पूर्ण-स्वतंत्र और कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित है। इसप्रकार अनेक तरह से गहराई की महिमा और उसका अभ्यास करने के बाद जो उसप्रकार की तैयारी करता है उसे यथार्थ बात अवश्य समझ में आजाती है। समयसार की ४१५ गाथाओं को भलीभाति समझ ले तो आत्मा का स्वभाव जिसप्रकार से समझाया गया है वह ध्यान में आजाये। पर से भिन्नत्व और निजसे एकत्व कैसे है, इसका भेद करके वस्तुस्थिति कही गई है, जो कि स्पष्ट समझी जा सकती है। अंटसंट लिखकर चाहे जिस उत्तरदायित्वहीन व्यक्ति का अंगूठा लगवा लेने की बात यहाँ नहीं है, किंतु साक्षात् सर्वज्ञ के कहे हुये आगम के प्रमाण से, गुरुपरंपरा के उपदेश से, अबाधित न्याय की युक्ति से तथा अपने स्वानुभव के बल से जैसा का तैसा कहा गया है। इसप्रकार आचार्यदेव इस बात को प्रमाणित करते हैं।

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेतव्वं ॥ ५ ॥

तमेकत्वविभक्तं दर्शयेहमात्मनः स्वविभवेन।
यदि दर्शयेयं प्रमाणं स्खलेयं छलं न गृहीतव्यम् ॥ ५ ॥

अर्थ—उस एकत्व-विभक्त आत्मा को मैं आत्मा के निज वैभव से दिखाता हूँ। यदि मैं उसे दिखाऊँ तो उसे प्रमाण माने, और यदि कहीं पर चूक जाऊँ तो छल ग्रहण न करे;—उसे छल न समझे।

यह महामंत्र है। जैसे कोई सर्प किसी को काटकर बिल में चला गया हो तो मंत्र का ज्ञाता मंत्र पढ़ पढ़कर उसके पास बिल में भेजता है, और इसप्रकार वह सर्प को बाहर निकालता है। यदि उसका (जिसे सर्प ने काटा है) पुण्य हो तो सर्प आकर विष चूस लेता है, इसीप्रकार

भगवान तीर्थंकर की दिव्यवाणी खिरी, उसमें से श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार की रचना करके अज्ञानाधकार में सोये हुए जीवों को–जिन्हे पर में कर्तृत्वरूप ममता के मोहरूपी सर्प का विष चढ़ा हुआ है उन्हे अमृत-संजीवनीरूपी न्याय वचनों से मंत्रित गाथाये सुनाकर संसार की गुफा में से बाहर निकालकर उसका विष उतारकर दूर कर देते हैं।

आचार्यदेव कहते हैं कि "तं एयत्त विहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण"। यहाँ पर 'दाएहं' अर्थात् दिखाता हूँ, ऐसी ध्वनि है कि मैंने उसे दिखाने का निर्णय किया है, एकत्व-विभक्त आत्मा के स्वरूप को दर्शाने का (बतलाने का) संकल्प किया है।

'दाएहं' यह प्रथम शब्द आचार्यदेव के उपादान के बल को बतलाता है।

और फिर 'जदि दाएज्ज' अर्थात् 'यदि दिखाऊँ तो', इसमें आचार्यदेव अपनी आत्मा की अवस्था को, और जिसके द्वारा दिखाते हैं उस वाणी की अवस्था को–दोनों को स्वतंत्र रखते हैं–भिन्न भिन्न बतलाते हैं। इसीप्रकार 'जदि दाएज्ज' (यदि दिखाऊँ तो) इस शब्द में निमित्त की अपेक्षा है। स्वरूप को कहने का जो उत्साह है सो उपादान है, और वाणी का जो योग है सो निमित्त है। इसप्रकार दोनों के मेल से युक्त यह शास्त्र अखण्डरूप में अद्भुत रीति से पूर्ण हुआ है।

आचार्यदेव कहते हैं कि यदि मैं दिखाऊँ तो प्रमाण करना-स्वीकार करना। मैं जो कहूँगा वह अपने आत्मा के निज–वैभव से कहूँगा, स्वात्मानुभव से कहूँगा; एकत्व–विभक्त आत्मा को स्वानुभव से दिखाऊँगा, इसलिये हे श्रोताओं! उसे तुम प्रमाण ही करना।

आचार्यदेव आदेश करते हैं कि 'तुम उसे प्रमाण ही करना, ऐसा कहने में कारण यह है कि मैं जिस भाव से चल रहा हूँ उस भाव से केवलज्ञान प्राप्त करनेवाला हूँ, उसमें मुझे बीच में कोई विघ्न नहीं दिखाई देता, मैं पीछे हटनेवाला नहीं हूँ, एक दो भव में पूर्ण हो जानेवाला

हूँ, ऐसा अप्रतिहत भाव है। इसीप्रकार यदि तुम भी प्रमाण करोगे तो मेरे जैसे ही हो जाओगे। निमित्त और उपादान एक जाति के हो जायगे-उनमें भेद नहीं रहेगा।

आचार्यदेव के अन्तरंग में अप्रतिहत भाव प्रगट हुआ है, और वाणी के द्वारा भी जो कहना चाहा था, वह अप्रतिहतरूप में पूर्ण हुआ है। उपादान-निमित्त का एकसा अपूर्व मेल हो गया है; ऐसे किसी बलवत्तर योग से यह शास्त्र रचा गया है।

अपने वैभव की निर्भयता से और निःशंकता से आत्मा के एकत्व-विभक्तपन को बतलाते हैं। एकत्व शब्द-स्व से अस्तित्व और विभक्त शब्द पर से नास्तित्व को सूचित करता है। आचार्यदेव कहते है कि:—

मैं स्वयं उत्तरदायित्व के साथ कहूँगा, स्वयं देखभाल कर अपूर्व आत्मा की बात निज-वैभव से कहूँगा, इसप्रकार निज अनुभव से वे कहते हैं, फिर विनय से कहेगे कि तीर्थंकर भगवान ने ऐसा कहा है। किन्तु यहाँ तो सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर रखकर प्रसिद्ध करते है, इसलिये जो कहेगे वह कहीं इधर-उधर से ले लिया है ऐसा नहीं है, कितु वे निज-वैभव से, स्वानुभव से आत्मा का अपूर्व धर्म कहते हैं।

अन्तरंग में अखण्ड ज्ञान-शांतिस्वरूप पूर्ण आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और आन्तरिक रमणता का जो आनन्द है सो निज-वैभव है; उसके द्वारा दिखता हूँ। वाणी में आत्मस्वरूप को यथार्थ कहने का भाव है, साथ ही उपादान का बल है। जो विकल्प उठा, उसके अनुसार उसका शास्त्र में-वाणी से पूर्ण होने का योग महाभाग्य से मिलता है।

जो भाव सर्वज्ञ का है, उस भाव को लक्ष में लेकर पीछे न हटे, ऐसे भाव को लेकर यहाँ अप्रतिहतभाव बताया है। यदि कहीं शब्द-रचना में भूल हो तो दोष ग्रहण नहीं करना। शब्द में कोई व्याकरण आदि की भूल कदाचित् हो, किन्तु आत्मा के प्रमाण की बात तो यथार्थ ही कही जायगी। शास्त्र रचना में अक्षर, मात्रा, व्याकरण, अलकार आदि आते हैं, उनपर भार नहीं है, किन्तु जो परमार्थस्वरूप एकत्व का

कथन करना है उसमें कहीं भूल नहीं है, इसलिये शब्द की भूल मत ढूंढ़ना। गाय को जहाँ मास निकला हो वहीं कौआ बैठता है, उसीप्रकार दुर्जन की भाँति दोष देखने की दृष्टि ग्रहण नहीं करना। सज्जन पुरुषों को दोष ग्रहण नहीं करना चाहिये, किन्तु मैं जो शुद्ध आत्मा का अनुभव कहना चाहता हूँ उसे अतरंग में मिला लेना। आचार्यदेव कहते हैं कि मैं केवली नहीं, छद्मस्थ हूँ; हाँ, केवलज्ञान प्राप्त करने का मेरा आन्तरिक अनुभव प्रगट हुआ है; इसलिये अबाधितरूप से कहने को उद्यत हुआ हूँ।

टीका—जो कुछ मेरे आत्मा का निज-वैभव है वह सम्यग्दर्शन—ज्ञान और अंतरग में रमणतारूप चारित्रदशा है। उस प्रगट समृद्धि के समस्त सामर्थ्य से मैं इस स्व से एकत्वभूत और पर से प्रथक् आत्मा को दिखाऊँगा। जैसे किसी के यहाँ विवाह हो तब वह घर की सारी सम्पत्ति बाहर निकालता है, उसीप्रकार यहाँ पचमकाल है, हम छद्मस्थ हैं फिर भी हमने आत्मरिद्धि प्राप्त की है, और पूर्ण ज्ञानी जो कह गये वही जगत के सामने स्वानुभव के द्वारा कहते हैं। जितना हमें अन्तरज्ञान-वैभव प्रगट हुआ है उस सबसे, आत्मानुभवरूप श्रद्धा के पूर्ण बलसे इस एकत्व-विभक्त आत्मा को दिखाऊँगा।

वाणी तो पर है, वाणी वाणी में परिणमन करती है, वाणी का परिणमन होना या न होना उसकी योग्यता पर अवलम्बित है, फिर भी यहाँ तो आत्मा के स्वरूप को कहने की जो उमंग है सो उपादान और वाणी का योग निमित्त है; इसप्रकार उपादान—निमित्त दोनों का मेल बैठने पर यह ग्रथ अलौकिक रीति से पूर्ण हुआ है। जैसा निर्णय है वैसा ही उद्यम है।

अब आचार्य अपनी पहिचान कराते हैं:—मेरे आत्मा का 'निज-वैभव' अर्थात् अन्तरंग लक्ष्मीरूप ज्ञान—दर्शन—चारित्ररूप वैभव कैसा है? इस लोक में प्रगट समस्त वस्तुओं के बतानेवाले शब्दब्रह्म की उपासना से उसका जन्म है। यहाँ मेरे अन्तरग का वैभव प्रगट करते समय निर्दोष

कारणरूप से बाह्यसंयोग कैसा था कि जिसके द्वारा निज–वैभव का जन्म हुआ है ? सो कहते हैं– जो ऐसा निज–वैभव आत्मा में प्रगट करता है उसके भी ऐसे ही संयोग होते हैं; ऐसा भाव भी इसमें से निकलता है। इस लोक में समस्त वस्तुओं का प्रकाश करनेवाला और 'स्यात्' पद की मुद्रावाला जो शब्दब्रह्म है अर्थात् जिससे समस्त वस्तुसम्बन्धी ज्ञान प्रगट होता है, ऐसा उस सर्वज्ञ की वाणी में सामर्थ्य है। ऐसे परम आगम के सेवन से निज–वैभव का जन्म होता है; उसकी सामर्थ्य से कहेंगे।

"जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां।
कहि शक्या नहि पण ते श्री भगवान जो॥
जो पद श्री सर्वज्ञ ने, देखा अपने ज्ञान।
कह न सके वे भी उसे यद्यपि थे भगवान॥

(अपूर्व अवसर)

ऐसा भी कहीं कहीं कथन है, वहाँ अचिंत्यस्वरूप की महिमा के लिये, परमार्थ कथन का गम्भीर आशय समझकर उसे अनुभव में उतारने लिये वैसा कहा है।

यहाँ तो शब्दब्रह्म समस्त वस्तु को प्रगट करनेवाला है और मैं भी भगवान की वाणी में से आत्मस्वरूप को समझा हूँ, इसलिये क्रम से वाणी द्वारा स्व से अभिन्न और पर से भिन्न ऐसे स्वतंत्र आत्मस्वरूप का वर्णन करूँगा, वैसा निर्णय प्रसिद्ध करते हैं। यह कितना साहस है, कितनी दृढ़ता है! घी के स्वाद का ज्ञान तो होता है, किन्तु वह वाणी द्वारा भलीभाँति नहीं कहा जा सकता? तब यहाँ तो आचार्य कहते हैं कि मैं सर्वज्ञ के न्याय को अन्तरंग में घोलकर पी गया हूँ, इसलिये वाणी के द्वारा आत्मा का यथार्थ स्वरूप कहा जायगा। आत्मा का जो स्वरूप मैं समझा हूँ उसे कहने की सामर्थ्य मुझमें आ गई है। अब ऐसी बात नहीं है कि वह स्वरूप कहा नहीं जा सकता।

कोई चतुर मनुष्य, सामनेवाले के अभिप्राय में जितनी बात है उसका सारा भाव थोड़े शब्दों में समझ लेता है और दृढ़ता से कहता है कि–

'तुम्हारा जो कहना है वह मैं बराबर समझ गया हूँ,' इसीप्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि सर्वज्ञ वीतराग की वाणी में आये हुये भावों को मैं यथार्थरूप से समझा हूँ, इसलिये मेरे निज–वैभव से यथार्थ आत्मस्वरूप का वर्णन किया जायगा। यह तो निमित्त का कथन है। इसमें वास्तव मे तो आचार्य अपनी महिमा गाते हैं, क्योंकि परमार्थ से कोई किसी को नहीं समझाता। स्वभाव की दृढ़ता से उपादान में ऐसी सामर्थ्य है कि जिसके योग से वाणी में भी उस स्वरूप को यथार्थ कहने की योग्यता आ गई है। वाणी के परिणमन में जीव का योग और इच्छा निमित्त है। व्यवहार से कहा जाता है कि 'जहाँ बलवान उपादान जागा वहाँ ऐसी वाणी आये बिना नहीं रहती।' वास्तव में वाणी का परिणमन स्वतंत्र है। सर्वज्ञ वीतराग का पुण्ययोग भी उत्कृष्ट होता है, इसलिये उनकी वाणी भी परिपूर्ण होती है, उस वाणी को 'शब्दब्रह्म' कहा है, और उसमें 'स्यात्' पद का मुद्रावाला सिक्का है।

स्यात्=कथंचित् प्रकार से और वाद=कथन कहना अर्थात् द्रव्य के एक धर्म को मुख्य और दूसरे धर्म को गौण करके कहना सो 'स्याद्वाद' है। जैसे कि 'वस्तु नित्य है' ऐसा कहने पर वस्तु स्वभाव से नित्य (अविनाशी) है ऐसा समझना चाहिये। 'वस्तु अनित्य है' ऐसा कहने पर क्षण क्षण में बदलती हुई अवस्था की अपेक्षा से अनित्य है, ऐसा समझना चाहिये। वस्तु का एक धर्म मुख्यरूप से कहने पर उसमें दूसरे अनंत धर्म हैं, यह बात ध्यान से बाहर नहीं होती। जिस अपेक्षा से कहने में आये वह न समझे किन्तु वस्तु में एक ही धर्म है, ऐसा माने ले; वह एकांतपक्षवाला मिथ्यादृष्टि है। जिस अपेक्षा से नित्यत्व है उसी अपेक्षा से अनित्यत्व नहीं कहा जाता। त्रैकालिक, स्वतंत्र द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से आत्मा अविकारी–शुद्ध है, तब वर्तमान परनिमित्ताधीनदृष्टि से अशुद्ध है, ऐसा दोनों अपेक्षावाला कथन जिसप्रकार है उसीप्रकार यथार्थता से समझना चाहिये। भिन्न भिन्न प्रकार से जो जो कथन जिनेश्वर देव ने कहा है वह वस्तु के अनेक स्वभाव

अनुसार कहा है। उसमें कही गई अपेक्षा को न समझे और 'आत्मा पूर्ण शुद्ध ही है' ऐसा मानले तो वर्तमान संसारदशा की अशुद्धता दूर करने का पुरुषार्थ नहीं कर सकेगा। आत्मा स्वभाव से शुद्ध है और वर्तमान प्रत्येक समयवर्ती पर्यायों की अपेक्षा से अशुद्ध है, इसप्रकार दोनों अपेक्षाओं को यथार्थ समझले तो पूर्ण शुद्धस्वभाव के लक्ष से अशुद्धता को दूर करने का प्रयत्न अवश्य करेगा। सर्वथा निर्दोष कथन सर्वज्ञ वीतराग कथित आगम का ही है।

अरहंत का परमागम सर्व वस्तुओं का सामान्य (वचनगोचर) धर्मों का कथन करता है और वचन से अगोचर जो विशेष धर्म हैं उनका अनुमान कराता है, इसप्रकार वह सर्व वस्तुओं का प्रकाशक है, इसलिये सर्वव्यापी कहलाता है।

सभी मानवों और देवेन्द्रों के द्वारा पूज्य अथवा जिन्हे पवित्र आत्मधर्म प्रगट करना है उनसे पूज्य वे अरहंत हैं। वे सदा पूज्य हैं, इसलिये उनकी वाणी का बहुमान होता है। अरहंत सर्वज्ञ के मुख से निकले हुये परमागम में कथित भाव की उपासना से निज-वैभव का जन्म हुआ है। वाणी तो जड़ है किंतु यहाँ पर सर्वज्ञ का गंभीर आशय क्या है, उसके समझने की परमार्थ से उपासना की गई है, फिरभी जिनवाणी में उपचार करके कहते हैं कि उससे निज-वैभव का जन्म है। आत्मा अपनी अनन्तशक्ति से त्रिकाल स्वतंत्र है। आत्मा के जो अनंतगुण है वही अनंतशक्तिरूप निज-वैभव है। वह अप्रगट था, किन्तु वर्तमान अपूर्व पुरुषार्थ के द्वारा वीतराग की वाणी के बारंबार अनुसरण करने से उसका जन्म हुआ है।

सर्वज्ञ ने जैसा स्वरूप कहा है वैसा बराबर समझकर उस ज्ञान की निर्मलता का जो अभ्यास-परिचय है सो स्व सेवा है। इसके अतिरिक्त अन्य किसीप्रकार किसी भी काल में आत्मा को गुण नहीं होता। इसप्रकार गुण की निर्मलता की विधि कहने पर उससे जो विरुद्ध है सो असत् है ऐसा निषेधपक्ष समझ लेना चाहिये।

सर्वज्ञ वीतराग ने जो कहा है उसका आशय समझने से आत्मानुभव प्रगट होता है। सर्वज्ञ की वाणी को शब्दब्रह्म कहने का यह अर्थ है कि वह समस्त पदार्थ को बतानेवाली है।

नित्यत्व, अनित्यत्व, शुद्धत्व, अशुद्धत्व, अस्तित्व, नास्तित्व ऐसे अनेक-प्रकार के कथन से संपूर्ण पदार्थों का ज्ञान कराने में समर्थ होने से सर्वज्ञ की वाणी 'शब्दब्रह्म' कहलाती है। उससे रचे गये अर्हंत के परमागमों में सामान्य धर्मों का कथन है, यथा—जीवत्व, अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, नित्यत्व इत्यादि जिसे धर्म की संज्ञा दी जा सकती है और दर्शन, ज्ञान, वीर्य, चारित्र जिसे स्वभाव—गुण कहा जाता है, और उसी के द्वारा वचनअगोचर विशेष धर्मों का अनुमान कराया जाता है, उससे कुछ शेष नही रहता। इसप्रकार परमागम सर्ववस्तु का प्रकाशक होने से सर्वव्यापक कहलाता है और इसलिये वह शब्दब्रह्म है।

आत्मा के अतिरिक्त भी प्रत्येक वस्तु में अनन्त गुण है, अनन्त परद्रव्य हैं, उस अनन्त से पृथक्रूप में अनन्त—अन्यत्व नामक गुण है, इसीलिये अनन्त रजकण अथवा अनन्त देहरूप में आत्मा कभी नहीं होता, और कोई परमाणु बदलकर आत्मारूप नहीं होता। इसप्रकार अनंत से अन्यत्व की शक्तिरूप अनंतधर्म प्रत्येक वस्तु में है। उन सबको सर्वज्ञ का आगम बतलाता है। उस गंभीर आशय को जाननेवाला धर्मात्मा कहता है कि सर्वज्ञ की शब्दब्रह्मरूप वाणी में जगत का कोई भी भाव अज्ञात नहीं है।

जैसे किसी का बाप बही में लिखा गया हो कि "वैशाख सुदी २ को दिन के १० बजे मंदिर में शिखर के नीचे लाखों स्वर्णमुद्रायें गाड़ी गई हैं, उन्हें निकाल लेना।" इसका आशय लड़का न समझे और शिखर को तोड़ना प्रारंभ करदे तो वे स्वर्णमुद्रायें नहीं मिलेगी। पिता ने तो इस आशय से लिखा था कि वैशाख सुदी २ को दिन के दस बजे उस मंदिर के शिखर की छाया घर के आगन में जिस स्थान पर पड़े वहाँ स्वर्णमुद्रायें गड़ी हैं, इस गंभीर आशय को लड़का नहीं समझे, तो धन नहीं मिल सकता। इसीप्रकार सर्वज्ञप्रणीत शास्त्रों में लिखे गये शब्दों का सीधा

अर्थ करने जाय और उसके गाम्भीर्य तथा भाव को न समझे तो आत्म-धन की प्राप्ति नहीं होती। इसलिये उसका गम्भीर आशयरूप अर्थ अन्तरंग में से निकलना चाहिये। 'सब आगम भेद सो उर बसे' इसप्रकार लोकोत्तर भंडार की महिमा होनी चाहिये। यदि महिमा योग्य दुनिया में कुछ है तो वह सर्वज्ञप्रणीत धर्म और धर्मात्मा ही हैं। वह धर्मात्मा कदाचित् वर्तमान में निर्धन स्थिति में हो किन्तु अल्पकाल में ही वह जगत्वंद्य त्रिलोकीनाथ होनेवाला है। संसार में जिनका पुण्य बड़ा है वे बड़े कहे जाते है। धर्म में यह देखा जाता है कि स्वतन्त्र आत्मगुण की समृद्धि कितनी है।

आचार्य कहते हैं कि परमागम की उपासना से मुझे अनुभव प्राप्त हुआ है, उसीप्रकार जो कोई सर्वज्ञ भगवान की अनेकांत वाणी-सत्-शास्त्रों को पढ़ता है और न्यायपुरस्सर भलीभांति श्रवण-मनन करता है उसे आत्मज्ञान हुये बिना नहीं रहता। आचार्यदेव कहते हैं कि हमने साक्षात् तीर्थंकर के पास से सुना है; और इस ॐकारमय वाणी को सूत्र में इसप्रकार गुंफित किया है कि जिससे स्व-पर का यथार्थ स्वरूप जाना जा सकता है, और उपादान की सामर्थ्य इतनी है कि निमित्तरूप वाणी में याथातथ्य कहा जायगा, उसे तुम प्रमाण मानना।

यहाँ तक स्वपक्ष की बात कही। अब अपने स्वभाव का मंडन और विभावरूप मिथ्यामत का खण्डन कैसे किया है सो कहते हैं:-

समस्त विपरीतपक्षवादियों-सर्वथा एकांतपक्षवादियों के विरोधी भाव का निराकरण (खण्डनपूर्वक समाधान) करने में समर्थ जो अबाधित युक्ति है उसके अवलंबन से 'निज-वैभव' प्रगट किया है, अंधश्रद्धा से नहीं। जगत में धर्म के नाम पर बहुत से अभिप्राय चल रहे हैं। कोई आत्मा को कूटस्थ-नित्य कहता है, कोई अनित्य ही कहता है, अथवा कोई सर्वथा शुद्ध ही कहता है, अर्थात् संसार, बंधन तथा मोक्ष अवस्था भी नहीं है, ऐसा कहते है। किन्तु वस्तुस्थिति उससे भिन्न-प्रकार की है। इसप्रकार एकांत धर्म को मानने वाले मिथ्यावादी हैं।

आत्मा को नित्य मानने वाले के क्षण क्षण में बदलने वाली अवस्था ध्यान में होनी चाहिये। यदि वर्तमान अवस्था से बदलना न माने तो राग-द्वेष, बन्धनभाव दूर कर वीतराग होना न बने। और फिर कोई आत्मा को एकांत-आनंदस्वरूप ही माने, वर्तमान अवस्था को न माने तो उसकी भूल है, वर्तमान संसारदशा में शुभ-अशुभभाव के द्वारा प्रत्यक्ष दुःख भोगता है। पुण्य-पाप के विकारीभाव आत्मा में होते हैं, उनका कर्ता अज्ञानी जीव है, दया, दान, सेवा, व्रत इत्यादि पुण्यभाव हैं, हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह की ममता आदि पापभाव हैं, वह अपने आप नहीं होते, आत्मा अज्ञानभाव से उसे अपना मानकर करता है, किन्तु वह आत्मस्वभाव नहीं है। पर से भिन्नत्व की प्रतीतियुक्त भाव से स्वयं ही पुण्य-पाप का नाशक है, ज्ञानभाव से शुद्धात्मा की श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरतारूप चारित्र का कर्ता होने पर अवगुणभाव का नाश होता है। प्रथम श्रद्धा में से पुण्य-पाप का कर्तृत्व और पर का स्वामित्व दूर होना चाहिये, अज्ञानभाव से पर में सुखबुद्धि और पुण्य-पाप का कर्तृत्व है तथापि यदि उसे न माने तो यह बहुत बड़ी भूल होगी, तथा परमार्थ से-निश्चय से पुण्य-पाप का कर्तृत्व माने तो भी वह भूल है। आत्मा का एकांतस्वरूप नही है। ऐसे जो भी मिथ्यात्व हैं उनका निराकरण करने में समर्थ जो अतिनिस्तुष अबाधित युक्ति है, उससे निज-वैभव प्रगट किया है। अबाधित न्याय के बल से मिथ्यामतियों के कुतर्क का खण्डन करके सत्य का स्थापन करके निर्मल स्वभाव प्रगट किया है।

विकार का कार्य करने योग्य है, ऐसा मानने वाले विकार को नाश नहीं कर सकते। यदि कोई आत्मा को एकान्त शुद्ध ही माने और आत्मा अज्ञानभाव से विकार करता है, तथापि वैसा न माने तो वह विकार का नाश नहीं कर सकता। पुण्य बंधन है, इसलिये मोक्षमार्ग में उसका निषेध है, व्यवहार में भी उसका निषेध कर पाप-मार्ग में यदि प्रवृत्ति करे तो वह पाप तो कालकूट विष है, मात्र पाप से नरक-निगोद में जायगा। श्रद्धा में तो पुण्य-पाप दोनों हेय हैं, किन्तु वर्तमान में शुद्ध में न रह

सके तो शुभ में प्रवृत्ति करे। किन्तु अशुभ में तो प्रवृत्ति करनी ही न चाहिये। पुण्यभाव को छोड़कर पापभाव करना किसी भी तरह ठीक नहीं है। और फिर यदि कोई पुण्यभाव को ही धर्म मान ले तो भी उसके धर्म नहीं होता। कोई कहता है कि हमें पुण्यभाव नहीं करना है अथवा कहता है कि यदि किसी का पुण्य होगा तो मेरी तृष्णा घटेगी, ऐसे व्यर्थ के बहाने बनाता है, किन्तु जब निर्विकल्प शुद्धभाव को तो प्राप्त नहीं किया और पुण्यभाव करना नहीं चाहता, तब क्या पाप में ही जाना है? तृष्णा को कम करना तेरे परिणाम के आधीन है, किसी के पुण्य के आधीन नहीं है, इसलिये वर्तमान योग्यतानुसार ही सारा विवेक सर्वप्रथम समझना चाहिये। और फिर यदि कोई शुभभाव में ही सन्तोष मानकर रह जाय और इसप्रकार पुण्य को धर्म का साधन माने कि उसे धीरे धीरे धर्म होगा, तो उसका भी भवभ्रमण दूर नहीं होगा। धर्म का प्रारंभ करने के इच्छुक को तीव्र आसक्ति तो कम करनी ही चाहिये। किन्तु उससे यदि यह माने कि वह तर जावेगा तो यह भ्रम है। इसलिये पुण्य-पाप और इन दोनों से रहित जो धर्म है उनका प्रत्येक का स्वरूप जैसा है वैसा समझना चाहिये।

ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, तहाँ समझवुं तेह।
त्यां त्यां ते ते आचरे, आत्मार्थी जन एह॥

(आत्मसिद्धि गाथा ८)

मैं अक्रिय ज्ञानानंद शुद्धस्वरूप हूँ सो निश्चय है, और उसमें आंशिक स्थिरता बढ़ाकर राग को दूर करना सो व्यवहार है। अशुभ से बचने के लिये शुभभाव में लगना सो भी विकार है, वह मेरा स्वरूप नहीं है, तथा परिणाम सुधारने का प्रयत्न करना आत्मार्थी का कर्तव्य है। पुण्य-पापरूप विकार से पीछे हटकर अन्तरंग में अरूपी ज्ञान-शांति में स्थिर होना ही कर्तव्य है। जो उसे माने, आचरण करे और उसे ही मानने तथा आचरण करने की अन्तरंग से भावना रखे सो भी आत्मार्थी है। आचार्य कहते हैं कि 'सत्य में असत्य का निषेध है, सत्य के स्थापन

से मेरा वैभव प्रगट हुआ है', यथार्थ को समझने पर अयथार्थ छूट ही जायगा। जिसे सत्य समझ में आ जाय उसे असत्य क्या है यह समझ में आये बिना नहीं रहता। सत्य में असत्य की नास्ति है।

कोई कहता है कि हमें सच्चे और झूठे धर्म की परीक्षा नहीं करना है और न यह जानना है कि अवगुण किसे कहते है? जहाँ से जैसा मिले वहाँ से वैसा ले लेना चाहिये, यों कहने वाले कोरे लालबुझक्कड़ जैसे हैं, ध्वजपुच्छ के समान हैं। वे जहाँ जाते है वहाँ हां जी हा करते हैं, सत्य-असत्य के न्याय से—प्रमाण से नहीं समझते। एक को सच्चा मानूँगा तो दूसरे के ऊपर द्वेष होगा, इसलिये सभी को समान मानना चाहिये; यह अविवेक और मूढ़ता है। मानों वे यह कहते हैं कि गुड़ और खली, अनाज और विष्टा, सज्जन और दुर्जन सब समान है। किंतु घर में रोटी या दाल में थोड़ा सा फर्क पड़ जाता है तो झगड़ा कर बैठते है; संसार में—घर में—अच्छे बुरे भाव का विवेक करता है और परमार्थ में विवेक नहीं करता तथा असत्य की सत्य में और सत्य की असत्य में खतौनी करता है, यही बहुत बड़ी मूढ़ता है, समभाव नहीं है। सभी भगवान हैं, किन्तु वे तो शक्तिरूप से हैं, क्योंकि वर्तमान अवस्था में अन्तर है। विष और अमृत, स्त्री और पुत्री दोनों समान है, ऐसा मानने में विवेक कहाँ रहा? पुत्री, स्त्री और माता स्त्रीत्व की अपेक्षा से समान है, किन्तु वर्तमान लोकव्यवहार में समान नहीं हैं। जो यह नहीं समझता वह लौकिक-व्यवहार में भी मूर्ख कहा जाता है। इसीप्रकार लोकोत्तर आत्मधर्म में भी विवेक न रखे तो वह भी मूर्ख कहलाता है। इसलिये सत्य-असत्य को समझकर सत्य को ही स्वीकार करना चाहिये। जिससे धर्म समझना है वह स्वयं धर्म प्राप्त है या नहीं, उसमें कौनसे अलौकिक गुण हैं, इत्यादि पहले ही जानना चाहिये।

आचार्य कहते हैं कि 'त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ के मुखसे निकली हुई वाणी में गूढ़ अर्थ क्या है इसे समझकर हमने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और अन्तर रमणतारूप सम्यक्चारित्र प्राप्त किया है, तथा उससे विरोधी मान्यता

का अबाधितयुक्ति से खण्डन किया है। उसमें यथार्थ सत् की घोषणा है, सत् की घोषणा में वीतरागता की घोषणा है। निस्तुष निर्बाधयुक्ति के बल से किसी की व्यर्थ युक्ति न टिकने दूँगा। जो कुछ कहा जायगा, उस सबमें अन्धश्रद्धा के साथ स्वीकार करने का निषेध किया है।

'सर्वज्ञ के बचनों के आशय का सेवन करके' इसप्रकार पहले अस्ति पक्ष से कथन है, और पर में कर्तृत्व, पर से लाभ–हानि मानने वाले मिथ्या-मतवालों के तथा एकांतवादियों के कुतर्क का अखण्ड निर्बाधयुक्ति से किया है, इसप्रकार नास्तिपक्ष से कथन है। ऐसे ज्ञान के द्वारा जो निज–वैभव का जन्म है उन सबसे आत्मा का वर्णन करेंगे। इसप्रकार अपनी निर्मलता में आगे बढ़ने के लिये निश्चय किया है और यह कहा है कि निमित्त में जैसा कथन है वैसा ही होगा। दूसरे को पूरा न समझा सके ऐसा योग भी कदाचित् किसी के हो, किन्तु यहाँ तो जगत् के महान् पुण्य को लेकर और किसी शुभयोग के द्वारा आचार्य ने अन्तरभाव के अनुसार वाणी में यथार्थ कथन किया है।

आचार्यदेव कहते हैं कि मैंने अपना भाव अखण्डरूप से स्थिर कर रखा है। न्याय के बल से और अनुभव से मैंने जाना है, इसलिये कहीं भी स्खलन नहीं होगा।

यदि कोई कुतर्क से पुण्य के द्वारा धर्म को मनवाना चाहे तो ज्ञानी उसे सत्य नहीं मानते और कहते है कि विष खाने से अमृत की डकार कभी नहीं आती; उसीप्रकार जिसभाव से बन्ध होता है उस भाव से कभी मोक्ष तो क्या किन्तु मोक्षमार्ग का प्रारंभ भी नहीं हो सकता।

किसी ने बहुत समय तक बाह्यधर्म किया हो और वह यह कहे कि धर्म चाहे जितना किया हो, किन्तु मृत्यु के समय किसी तीव्र असाता का उदय आये तो आत्मा का अहित भी हो जाता है। धर्म के फल में ऐसा होता है, यह जो मानता है उसे आत्मा की श्रद्धा ही नहीं है। जिसे स्वतंत्र आत्मा की पूर्णरूप से श्रद्धा है उसका किसी काल में और किसी संयोग में भी अहित नहीं होसकता, नित्य-अ[illegible] आत्मा

में जो जागृत है उसे तीन काल और तीन लोक में भी विघ्न नहीं होता। स्वयं पर से भिन्न है, फिर भी यदि पर से विघ्न माने तो समझना चाहिए कि उसे पृथक् स्वतंत्रस्वभाव की श्रद्धा ही नहीं है। जगत् की मूर्खता का क्या कहे! अनेकप्रकार से कल्पना करके पर से लाभ-हानि मानने वाला सदा आकुलित ही रहता है।

निज-वैभव के जन्म से बंधनभाव का व्यय करके स्वाधीन मोक्षभाव की उत्पत्ति की है। यदि कोई कहता है कि आत्मा को तो जाना, ज्ञान किया किन्तु यह खबर नहीं है कि बंधभाव दूर हुआ या नहीं, और मिथ्यात्व दूर हुआ या नहीं, तो समझना चाहिए कि उसने आत्मा को जाना ही नहीं है। यहा तो गुण की प्रगट दशा के द्वारा और सर्वज्ञ के कहे हुए भाव का अनुसरण करके, कुतर्क का खंडन करके, मिथ्यात्वभाव का नाश करके, स्वभाव का महाध्रौव्यत्व स्थापित किया है, इसमें बहुत से न्यायों का समावेश हुआ है।

समयसार ग्रंथाधिराज है, इसके मंत्र अतिगूढ़ हैं, अंतरंग वैभव की महिमा अपार है, जिसका वर्णन करते हुए गणधरदेव भी पार नहीं पाते। यदि कोई कहे—कि मैं सुन चुका हूँ कि आत्मा पृथक् है, मैंने पुस्तक पढ़ली, इसलिये मुझे उसका ज्ञान हो चुका है; किन्तु ऐसा नहीं है। निवृत्तिपूर्वक खूब श्रवण-मनन और अभ्यास करना चाहिये, तभी यह बात समझ में आ सकती है।

निज-वैभव के प्रगट होने में दूसरे कौन कौन कारण निमित्तरूप हैं यह अब कहा जायगा।

समयसार शास्त्र सर्वज्ञ वीतराग भगवान का पेट है। आचार्यदेव ने निज-वैभव से उसमें आत्मस्वभाव का वर्णन किया है। आचार्यदेव कहते हैं कि तुम अपने अन्तरंग अनुभव से प्रमाण करना, क्योंकि आत्मा के अखण्ड स्वभाव की जो बात कहूँगा उसमें कोई भूल नहीं होगी। वह निज-वैभव कैसा है? निर्मल विज्ञानघन जो आत्मा उसमें अन्तर्मग्न परम-गुरु—सर्वज्ञदेव और परमगुरु गणधरादिक से लेकर हमारे गुरुपर्यंत से प्रसाद-

रूप मे प्रदत्त जो शुद्धात्म तत्त्व का अनुग्रहपूर्वक उपदेश है तथा पूर्वाचार्य के अनुसार जो उपदेश है उससे उसका जन्म हुआ है।

पूर्णस्वरूप में स्थिर, अन्तर. स्वभाव में निमग्न (संपूर्णरूप से लीन) ऐसे परमगुरु अर्थात् सर्वज्ञदेव और अपरगुरु अर्थात् गणधरदेव, से लेकर हमारे गुरु पर्यन्त और यदि प्रकारांतर से कहें तो त्रिकाली-ध्रुव अपना आत्मस्वभाव ही परमगुरु है।

यह वाणी का प्रवाह कहाँ से आया है? सर्वोत्कृष्ट गुण के स्वामी तीर्थंकर, उनके निकटवासी अपरगुरु गणधरदेव जिन्होंने साक्षात् वाणी सुनी है, झेली है, उनकी परंपरा से पूर्वाचार्यों से हमारे गुरु पर्यन्त सर्वज्ञ की वाणी का वह प्रवाह आया है। उसे कुंदकुंदाचार्यदेव ने, अमृतचंद्राचार्य देव ने प्रसादरूप में अंगीकार किया है।

पिता की संपत्ति को पुत्र जबर्दस्ती छुड़ाले और पिता प्रसन्न होकर पुत्र को संपत्ति दे, इन दोनों में अन्तर है। पिता पुत्र की योग्यता देख कर संपत्ति देता है। इसीप्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि महान् पवित्र सत, जिनका राग-द्वेष बहुत कम हो गया था और जो बाह्य एवं आभ्यन्तर परिग्रह से रहित निर्ग्रन्थ मुनि थे वे मेरे गुरु हैं, उनकी कृपा से, प्रसन्नता से मुझे सदुपदेश प्राप्त हुआ है, जिससे मेरा वैभव प्रगट हुआ है। इसप्रकार गुरु की महिमा गाई है। जैसे पुत्र पिता के माहात्म्य के लिये कहता है कि उनके प्रताप से सुखी हूँ। अन्तरंग में तो जैसा है वैसा जानता ही है, किन्तु विनय से पिता की ही महिमा गाता है। उसीप्रकार यहाँ श्रीगुरु के प्रसाद से स्वानुभव हुआ है, इसप्रकार विनय से कहा है। उनके आश्रय से अन्तरंग से प्राप्त हुआ कहूँगा, कल्पना से गढ़कर नहीं।

वीतराग जैसे निर्ग्रन्थ मुनि जिस शिष्य पर कृपा करके उत्तम बोध दे उस शिष्य की योग्यता कितनी होगी? परन्तु-'हीरा मुख से ना कहे, लाख हमारो मोल।' आचार्यदेव लोकोत्तर विनय से कहते है कि जो सर्वथा नग्न, आत्मध्यान में मग्न अप्रमत्त गुणस्थान की वीतराग दशा में लीन

थे तथापि 'अन्य जीव धर्म प्राप्त करें तो अच्छा हो' ऐसी शुभवृत्ति के उठने पर उपदेश देते थे और फिर उस वृत्ति से छूटकर आत्मरमणता में स्थिर हो जाते थे। ऐसे गुरु के पास से हमें उपदेश मिला है। ऐसा कहने से उपदेश लेनेवाले में भी कैसी योग्यता थी यह ज्ञात हो जाता है।

आत्मा अनन्तकाल में जिस अपूर्व वस्तु को नहीं समझा उसे समझने के लिए विशेष पात्रता चाहिये। संसार व्यवहार में अनीति का त्याग, इन्द्रिय के विषयों की अल्प आसक्ति, आत्मतत्व की जिज्ञासा, निरभिमानता सज्जनता, सत् को समझने का प्रेम इत्यादि सर्वप्रथम चाहिये। चौरासी लाख के बन्ध का दुःख, संसार की अशरणता, पराश्रयता का दुःख इत्यादि का विचार करके परम सत्य की ओर अन्तरंग में तीव्र जिज्ञासा हो उसके पात्रता प्रगट होती है।

यद्यपि अपने में पूर्ण पात्रता थी, किन्तु उसे न दिखाते हुए आचार्य कहते हैं कि हमारे गुरु ने शुद्ध आत्मतत्व का अनुग्रहपूर्वक उपदेश दिया था, वही मैं कहता हूँ। इसप्रकार वे अपने गुरु का बहुमान करते हैं और कहते हैं कि हमारी तरह जो कोई योग्य जीव समझकर उसका बहुमान करेगा वह मुझ जैसा अवश्य हो जायगा। अब मेरे चौरासी का अवतार नहीं रहा और भव का भाव भी नहीं रहा। इसीप्रकार सत्य को समझनेवाले का भवभ्रमण दूर हो जायगा।

जो भव से थक गया हो और जिसे यह समझने की जिज्ञासा जागृत हुई हो कि आत्मा कैसा है उसे सच्चे गुरु अवश्य मिल जाते हैं।''

यहाँ गुरु ने यथार्थ योग्यता देखकर शुद्ध आत्मतत्व का उपदेश दिया है कि आत्मा परमानन्दस्वरूप, निर्मल ज्ञाता-दृष्टा है, पुण्य-पाप की वृत्ति से रहित है, पर से भिन्न है, पर का कर्ता-भोक्ता नहीं है। किसी दूसरी बात को न कहकर आत्मा पूर्ण है, शुद्ध-ज्ञायक है, ऐसे स्वभाव का उपदेश दिया है।

ऊपर तीन बातें कहीं हैं (१) कृपा (२) शुद्धतत्त्व, और (३) उसका अनुग्रह पूर्वक उपदेश। अनुग्रह-हमारी योग्यता के अनुसार जहाँ

जैसा चाहिये वहाँ वैसा समझाकर उसे पुष्ट किया है। अमुक बात का न्याय इससे कैसे पकड़ में आये, अपूर्व तत्त्वस्वभाव की प्राप्ति कैसे हो, उसकी अस्ति–नास्ति के द्वारा स्पष्टता करके आत्मनिरोगता का सीधा उपाय बताया है, ऐसी समझ पूर्वक श्री कुंदकुंदाचार्य और श्री अमृत-चंद्राचार्य ने गुरु का उपकार गाया है, यह उनकी कितनी विनय है। स्वयं समझते हुए भी श्रीगुरु की कृपा की महिमा को गाते हैं। वास्तव में तो कोई किसी पर कृपा नहीं कर सकता, क्यों कि किसी का भाव दूसरे को लाभरूप नहीं है, फिर भी यह कथन व्यवहार से किया है। बाहर से गुरु की महिमा गाई है, और अंतरग से अपने रुचिकर गुण की महिमा गाई है। यह अपनी श्रद्धा की दृढ़ता के लिये है।

यहाँ आचार्यदेव ने अंतरंगभाव को स्पष्ट व्यक्त किया है, जिससे आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में वह सीधा उतर जाय। अर्थात् गहराई से अनुभव मे आजाय।

जैसे किसी पात्र जीव को साक्षात् सम्यग्दर्शन हो जाय, इसप्रकार का सीधा उपदेश गुरु दे रहे हों, वहाँ कोई बीच में ही थोड़ा बहुत असबद्धरूप में सुनले, इसप्रकार यों ही, अथवा अविनय से यह उपदेश ग्रहण नहीं किया है अर्थात् किसी के कानोंकान सुनी हुई बात नहीं है, किन्तु यह तो सीधा उपदेश ग्रहण किया है।

जिस जमीन में क्षार हो उसमें अनाज बोया जाय तो उत्पन्न नहीं होता, किन्तु उसके लिए उत्तम भूमि चाहिए, उसी प्रकार निर्मल तत्त्व का स्पष्ट उपदेश ग्रहण करने के लिए उत्तम पात्रता चाहिए। ऐसी पात्रता देखकर मेरे गुरु ने मुझे उपदेश दिया, उनके कहे हुए यथार्थ भाव के श्रवण–मनन द्वारा धारण करने से, उनकी आज्ञा को पूर्ण विनय के द्वारा सेवन करने से मुझमें शुद्ध–पवित्र आत्मा का अपूर्व ज्ञान प्रगट हुआ है।

कैसा है वह निज वैभव? जो निरन्तर झरने वाला–आस्वाद में आनेवाला, सुन्दर, आनन्द मन के संकल्प-विकल्प से परे, अतीन्द्रिय

आनन्द है उसके प्रभाव से युक्त जो प्रचुर संवेदनस्वरूप स्वसंवेदन है उससे जिसका जन्म हुआ है। इसमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव अपनी वर्तमान स्थिति की बात कहते हैं। जैसे पर्वत में से झरना झरता रहता है उसीप्रकार अन्तरंग में तीन कषाय नष्ट कर आत्मा की शांति और समृद्धि की जमावट हुई है, उसमें से निरन्तर स्वरूप लीनता का आनन्द झरता रहता है। संसार में सुख मानकर जीव आकुलता का अनुभव करता है, उस ओर से लक्ष बदलकर स्वभाव की प्रतीति के द्वारा अन्तरंग में स्थिर होकर आनन्द की विपरीतदशा को निकालदेने तो अकेला ज्ञानानन्द रस रह जाता है। धारावाही शांति का-अनाकुल आनन्द का स्वयं स्वाद लिया है और फिर उपदेश की वृत्ति आई है तब यह शास्त्र रचा गया है।

जगत् के जीव विकार में ही संतोष मानकर आकुलता का स्वाद लेते है, किन्तु जड़ का अर्थात पर का स्वाद नहीं लिया जा सकता। संसार के कल्पित आनन्द से सर्वथा भिन्न जाति का आनन्द, आत्मा का अतींद्रिय-निराकुल आनन्द निरन्तर स्वाद में आये यही आत्मानन्द के अनुभव की छाप है, यही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का लक्षण है। अपनी मानी हुई श्रद्धा से और गुरुज्ञान के आश्रय के बिना कोई ऐसा मान बैठे कि मुझे आत्मा का आनन्द प्रगट हुआ है तो यह बात मिथ्या है। सर्वज्ञदेव से चली आई हुई परम्परा को रखकर अपने अनुभव-आनन्द की छाप यहाँ प्रगट की है। आत्मा के अनुभव के बिना मात्र शुभभाव पैदा हो उसे आत्मा का आनन्द नहीं कहा जा सकता। यह तो निग्रंथ मुनि है इसलिये विशेष स्थिरता में आकर कहते है कि हमें प्रचुर संवेदन प्रगट हुता है। चौथी भूमिका में गृहस्थदशा में सम्यग्दृष्टि को आत्मा का आनंद होता है, किन्तु विशेष नहीं होता। छट्ठे-सातवें गुणस्थान में झूलने वाले मुनि को भी केवल-ज्ञानी के समान पूर्णआनंद नहीं होता, पूर्णआनंद तो केवलज्ञानी को ही होता है। मुनि के मध्यमदशा का उत्तम आनंद रहता है, किन्तु

वह चौथी पांचवीं भूमिका की अपेक्षा बहुत अधिक है, उसका वे अनुभव-स्वरूप उपयोग करते रहते हैं।

कोई बड़ा अपमान हुआ हो, संपत्ति के नष्ट होने का दुःख हो, पुत्र-पुत्री अनुकूल न हों, घर में स्त्री के साथ विरोध हो, तो प्रचुर आकुलता का अनुभव होता है। यदि देखा जाय तो जड़ के संयोग-वियोग से आकुलता नहीं होती, किन्तु अपने अज्ञान से होती है। उसका अनुभव आत्मा के अनाकुल सुख का विकार है। उससे विरुद्ध सम्यग्दर्शन, ज्ञान और अंतर्लीनता से आत्मा में प्रचुर आनंद साक्षात् अनुभव में आता है।

शास्त्र में कथन आता है कि जिनका अनगारस्वरूप में जन्म हुआ है ऐसे श्री कुंदकुंदाचार्य देव ने पंचमकाल में अमृतवर्षा करके सनातन जैन शासन को जीवित रखा है।

किसी के पास अधिक संपत्ति हो तो जगत कहता है कि इसको इतनी सारी लक्ष्मी की प्राप्ति कहाँ से हुई? तो कहा जाता है कि घर की नींव खोदते समय पाच करोड़ रुपये निकले थे, पाच करोड़ व्यापार धंधे में से, और पांच करोड़ उसके काका के उत्तराधिकार से प्राप्त हुए हैं, और कुछ अपनी पूँजी थी। इसी प्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि हमारी आत्मरिद्धि प्रगट होने में चार कारण हैं:—

(१) शब्दब्रह्मरूप परमागम की सेवा।
(२) कुतर्क और कुमत की खण्डन करनेवाली निर्बाध-अखण्ड युक्ति।
(३) सर्वज्ञ भगवान से समागत परंपरा से गुरु का उपदेश।
(४) स्वानुभव।

उपरोक्त चार कारणों के द्वारा निज-वैभव प्रगट हुआ है। उन सबसे मैंने आत्मा को वर्णन करने का प्रयत्न किया है।

मैं दर्शाता हूँ तथा मैं दर्शाऊँ और तुम उसे प्रमाण मानना, यों कहकर कहनेवाले और सुननेवाले के भाव का ऐक्य बताया है। मै अविरुद्ध

निर्णय से कहूँगा, तुम यदि वैसा ही समझोगे तो भूल नहीं होगी। अन्यथा कुतर्क और वाद-विवाद से अन्त नहीं आ सकता है। तुम स्वयं प्रत्यक्ष स्वानुभव से परीक्षा करके प्रमाण करना (निर्णय करना) अन्तरंग तत्व में बाहर की परीक्षा कार्यकारी नहीं होती। स्वयं तो शुद्ध तत्व को अनुभव करके कहा है, किन्तु सुननेवाले के ऊपर इतना उत्तरदायित्व रख दिया है कि तुम स्वयं ही अनुभव करके निर्णय करना। आत्मा, मन और इन्द्रियों से अगोचर है, इसलिये अपने अन्तरंग ज्ञानस्वभाव से जो उसे जानने का प्रयत्न करेगा उसे वह मेरी तरह प्रत्यक्ष अवश्य होगा।

जिसका अहोभाग्य हो उसे यह तत्व सुनने को प्राप्त होता है और अपूर्व पात्रता से आत्मपुरुषार्थ करे तो परमार्थ की प्राप्ति होती है। निज को समझे बिना अनन्तबार साक्षात् तीर्थंकर के पास हो आया, वहाँ तीर्थंकर के शरीर को देखा, किन्तु अपना लक्ष नहीं किया। तीर्थंकरदेव जैसा उत्कृष्ट निमित्त जगत में दूसरा कोई नहीं है। वहाँ भी स्वभाव को अस्वीकार करनेवाले और विपरीतता का सेवन करनेवाले थे तथा अनन्त-कालतक वैसे लोग रहेंगे। विपरीतता में भी सब स्वतंत्र हैं, इसलिए कौन किसे तार सकता है।

दुनियां तो जैसी है वैसी रहेगी। निज को समझने के बाद दुनिया की झंझट क्यों रखनी चाहिये ? लोग क्या मानते हैं और क्या कहते हैं, इस पर दृष्टि नहीं रखना चाहिये, किन्तु सर्वज्ञ भगवान क्या कहते हैं, इसकी आतरिक परीक्षा करना चाहिये। यदि परमार्थ को न समझे और मात्र बाह्यप्रवृत्ति में रुका रहे तो उससे जन्म-मरण कभी भी दूर नहीं होगा। कदाचित् मंदकषाय करे तो पुण्य बाधकर स्वर्ग में जाये, परन्तु आत्मा पर से भिन्न है, ऐसी यथार्थ श्रद्धा के बिना मोक्ष का यथार्थ पुरुषार्थ नहीं होता। जीव ने पापभाव की अपेक्षा पुण्य-भाव तो अनन्तबार किये हैं, किन्तु यहाँ तो धर्म की बात है। 'पुण्य से धीरे-धीरे धर्म होगा, पर के अवलम्बन से आत्मगुण प्रगट होगा' इत्यादि प्रकार की विपरीत मान्यताऐं अनादि से चली आरही हैं।

निमित्ताधीन दृष्टि से संसार में भवभ्रमण हो रहा है, पुण्य, पाप और राग का अंश मात्र मेरे स्वरूप में नहीं है, मैं एक ज्ञायकमात्र हूँ, ऐसा समझे बिना चौरासी के अवतार का एक भव भी कम नहीं होगा। यदि भव कम न हो तो मनुष्यभव प्राप्त करने का फल क्या है ?

जो लौकिक नीति का पालन करता है उसका निषेध नहीं किया जाता, किन्तु ऐसी व्यवहार पात्रता बाह्य आचरण में गिनी जाती है। अब अन्तरमुख दृष्टि करके सत् समागम से आत्मा का अनुभव करने की आवश्यकता है उसके बिना जीव ने अनन्तकाल में अन्य सब कुछ किया है, किन्तु वे सब साधन बन्धरूप ही हुये।

यम नियम संयम आप कियो,
पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो;
वनवास लियो मुखमौन रह्यो,
दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो ॥
मन पौन निरोध स्वबोध कियो,
हठ जोग प्रयोग सु तार भयो।
जप भेद जपे तप त्यौंहि तपे,
उरसेहिं उदासि लही सबपे ॥
सब शास्त्रन के नयधार हिये,
मतमंडन खंडन भेद लिये।
वह साधन बार अनंत कियो,
तदपि कछु हाथ अभी न पर्यो ॥ (श्रीमद् राजचंद्र)

पंचमहाव्रत का अनन्तबार पालन किया और आहारादि के समय कठिन अभिग्रह (नियम) भी ग्रहण किये। जैसे—मोती नाम की बाई हो मोतीवाली—छाप-की- साड़ी -पहिने--हो, और वह आहार की प्रार्थना—करे तो ही आहार ग्रहण करूँ ऐसा कठिन अभिग्रह (विषय) भी अनन्तबार

किया, संयम पालन किया, इन्द्रियदमन किया, त्याग वैराग्य भी बहुत लिया, किन्तु अविकारी आत्मा की प्रतीति नही हुई। आत्मा को भूलकर मौन रहा और छह मास तक के उपवास भी किये,- ऐसे साधन अनन्तबार करने पर भी आत्मस्वभाव प्रगट नहीं हुआ।

" अब क्यों न विचारत है मन सें,
कछु और रहा उन साधन सें ?
बिन सद्गुरु कोउ न भेद लहे,
मुख आगे है कह बात कहें ? "

तीन काल के ज्ञानियों का यही कहता है कि तुम त्रिकाल ज्ञायक स्वतंत्र हो, परमात्मा के सदृश हो और वैसे ही बनो। अनन्तकाल में निज को नहीं पहचान सका, इसीलिये जगत में परिभ्रमण करना पड़ा है। नहीं समझनेवाले, ज्ञानी के सामने विरोध की पुकारें किया करते है, किंतु ज्ञानी तो जगत के सामने सत्य की घोषणा करके मात्र आत्महित करके चले गये, ज्ञानी का विरोध अज्ञानी न करे तो कौन करेगा ? अज्ञानी कहता है कि हमारी मानी हुई सभी बातों का खण्डन करते हो तो क्या यह द्वेष नहीं है ? ज्ञानी कहता है कि सत्य का स्थापन करने में असत्य का निषेध सहज ही ज्ञात हो जाता है, उसमें द्वेष नहीं किन्तु सच्ची दया है। तुम न समझो तो भी प्रभु हो, सत्य का विरोध करनेवाले भी सब प्रभु हैं। यह जब समझ लेगा तब ज्ञात हो जायगा कि सारी विपरीतता क्षणभर में दूर करने में समर्थ है। ज्ञानी किसी व्यक्ति का निषेध नहीं करता, किन्तु विपरीत मान्यता का निषेध करता है। उसके मन में जगत के समस्त प्राणियों पर करुणा है। वे जानते है कि जिसकी दृष्टि मिथ्या-ग्रह पर है, यदि वह स्वयं समझे तो ही सुधरेगा, इसलिये वे कहते है कि 'तेरी शुद्धता तो बड़ी है, किन्तु तेरी अशुद्धता भी बड़ी है' साक्षात् तीर्थंकर भगवान भी तुझे न समझा सके। तेरी पात्रता के बिना तुझे कोई सुधार नही सकता।

आचार्यदेव कहते हैं कि हम तो पूर्ण गुण को लक्ष में रखकर जो अल्पप्रशस्त रागादिरूप दोष है उसे जानते हैं, इसलिये उस दोष को दूर कर सकेंगे, किन्तु तुम पर का दोष देखने के लिये मत रुकना, मात्र गुण पर ही दृष्टि रखना, फिर ऐसा सुयोग नहीं मिलेगा।

ज्ञानी जानता है कि वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति से थोड़ी अस्थिरता हो जाती है, किन्तु वह मेरा स्वभाव नहीं है, इसलिये अल्पकाल में पुरुषार्थ की प्रबलता करके समस्त दोष को दूर कर देगा।

जिसे सम्यग्दर्शन की प्रतीति नहीं है, उसकी मुक्ति नहीं है। प्रायः ऐसा होता है कि सम्यग्दर्शन हो किन्तु चारित्र न हो। श्रेणिक राजा जैसे एकावतारी और भरतचक्रवर्ती जैसे उसी भव से मोक्ष जानेवाले गृहस्थदशा में अनन्त जीव हो गये। सम्यग्दर्शन की महिमा अपार है।

भरत चक्रवर्ती के ९६००० स्त्रियाँ थीं, किन्तु उन्हें आत्मप्रतीति थी इसलिये उनने पर में कहीं स्वामित्व नहीं होने दिया। उस श्रद्धा के बल से उनने उसी भव में अंतर्मुहूर्त में चारित्र ग्रहण करके केवलज्ञान प्राप्त किया। श्रेणिकराजा के एक भी व्रत नहीं था, फिर भी उनने आत्मप्रतीति में रहकर तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध किया था। वे ८४००० वर्ष की आयु बांधकर प्रथम नरक में गये है। वहाँ काल पूरा करके इस भरतक्षेत्र में जन्म लेकर प्रथम तीर्थंकर होंगे और जगत् का उद्धार करेंगे। इन्द्र उनके चरणों की सेवा करेंगे। सम्यग्दर्शन के बिना ऐसा पुण्य नहीं बंधता।

सत्य का उपदेश सुनते ही जहाँ समझपूर्वक अन्तरंग में पूर्ण सत्य का स्वीकार हुआ वहाँ फिर अल्पकाल में पूर्ण चारित्र प्रगट हुये बिना नहीं रहता। पूर्ण होने से पहले, पूर्ण की समझ के द्वारा पूर्ण को ही देखता है, इसलिये अनन्त राग दूर हो गया, फिर जो अल्पराग रहा उसका नाश अवश्य होगा।

इस काल में सम्यक् समझ बहुत दुर्लभ है। प्रभु! तुझे अपूर्व समझ का अमूल्य समय मिला है इसमें यदि चूक गया तो फिर अनन्त—

काल में मनुष्यभव और ऐसा योग मिलना कठिन है। अनंतबार धर्म के नाम पर कदाग्रह में, बाह्य साधनों में अटका रहा, अब परम–सत्य क्या है इसकी चिंता नहीं की तो फिर अनन्तकाल में भी ठिकाने नहीं लगेगा, इसलिये आचार्य महाराज कहते हैं कि सत्य क्या है यह स्वयं अन्तरग अनुभव से निश्चय कर। अनुभव की मुख्यता से शुद्धस्वरूप का निर्णय कर; बाहर के तर्क–वितर्क का काम नही है। इसके लिये दृष्टात देते हैं:—

एक आदमी बाजार से कपड़े का एक थान लाया। उसके ९ वर्षीय पुत्र ने उससे पूछा कि यह थान कितने हाथ का है? पिता ने जबाव दिया कि यह पचास हाथ का है। लड़के ने अपने हाथ से नापकर कहा कि यह थान तो ७५ हाथ का है, इसलिये आप की बात असत्य है। तब पिता ने कहा कि हमारे लेनदेन में तेरे हाथ का माप नही चलता। तब लड़का कहता है कि क्या मैं मनुष्य नहीं हूँ? मेरा हाथ क्यों नही चलता. जैसे व्यवहार के माप में बालक का हाथ नहीं चलता, उसीप्रकार बाह्यदृष्टिवाले बाल–अज्ञानी की बुद्धि में से उत्पन्न कुयुक्ति अतींद्रिय आत्मभाव को नापने में काम नहीं आती। धर्मात्मा का हृदय अज्ञानी से नहीं मापा जा सकता, इसलिये ज्ञानी को पहचानने के लिये पहले उस मार्ग का परिचय करो, रुचि बढ़ाओ, विशालबुद्धि, मध्यस्थता, सरलता और जितेन्द्रियता इत्यादि गुण प्राप्त करो। संत की परीक्षा होने से संत का आदर होता है और तब ही धर्मात्मा का उपकार समझा जा सकता है, अपने गुण का बहुमान होता है और वर्तमान में ही अपूर्व शाति प्रगट होती है।

अब जिसे समझने की उमंग जागृत हुई है ऐसे जिज्ञासु शिष्य को प्रश्न उठता है कि ऐसा शुद्ध आत्मा कौन है, जिसका स्वरूप जानना चाहिये? अनन्तानन्त काल से आत्मा के शुद्धस्वभाव की बात को न तो सुना है, न रुचि की है, न जाना है और न अनुभव ही किया है। इसलिये शिष्य प्रश्न करता है कि आत्मा का शुद्धस्वभाव कैसा है?

पांच गाथा पर्यन्त एकत्व–विभक्त आत्मा की महिमा सुनकर स्वयं ही तैयार हुआ शिष्य जिज्ञासा से पूछता है, कहीं बलात् रुचि उत्पन्न नहीं हुई है। जैसे किसी को प्यास लगी है, पानी पीने की इच्छा हुई है और पास में कहीं पानी दिखाई नहीं देता; किन्तु जब पानी का चिह्न मालूम हो जाता है तब उसकी कैसी आतुरता बढ़ जाती है, फिर पानी पीकर कितना तृप्त होता है ? उसीप्रकार जिसे आत्मा को जानने की उत्कण्ठा हुई है वह आत्मा की बात सुनकर कितना आनंदित होता है और बाद में सम्यक्–पुरुषार्थ करके आत्मस्वरूप प्राप्त करके कितना तृप्त होता है। जिसे शुद्ध आत्मस्वरूप को जानने की तीव्र इच्छा हुई है उसी को सुनाया जाता है।

जिसकी आवश्यकता मालूम होती है उसकी तरफ आत्मा का वीर्य स्फुरित हुए बिना नहीं रहता। अनादि से शरीर और इन्द्रियों पर दृष्टि है और उनके प्रति प्रेम है तथा ऐसा विपरीत विश्वास रखता है कि अमुक आहार मिलेगा तो शरीर टिक सकेगा, इसीलिये अनादिकाल से देह को ममता से पोषता रहता है।

जो हीरा शाण पर चढ़ता है वह तो बहुमूल्य है ही किन्तु उसकी जो रज खिरती है उसके भी सैकड़ों रुपया पैदा होते हैं, इसीप्रकार वस्तु का सत्यस्वरूप सुनने से जो वस्तुस्वरूप को ग्रहण कर लेता है उसका तो कहना ही क्या है ? वह तो अमूल्य हीरे को प्राप्त कर लेता है, किन्तु सत्यस्वरूप सुनने से जो शुभभाव होता है उस कारण से भी उच्च–पुण्य बंधता है।

यदि सहजात्मस्वरूप आत्मा को जाने तो परमानन्दस्वरूप मुक्तदशा अवश्य प्रगट हो जाती है। जिसे तत्व की रुचि हुई है उसे गुरु उत्तर दे और वह न समझे यह नहीं हो सकता। इस छट्ठी गाथा में तो छट्ठी का लेख है वह कभी बदल नहीं सकता। जैसे 'छट्ठी का लिखा लेख नहीं टलता' उसीप्रकार इस अध्यात्म छट्ठी के अन्तरंग लेख का भाव जो

समझता है उसका मोक्षभाव अन्यथा नहीं होता, उसकी मुक्ति हुये बिना नहीं रहती।

अब शिष्य के प्रश्न के उत्तररूप में गाथासूत्र कहते हैं:—

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ॥६॥

नापि भवत्यप्रमत्तो न प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भावः।
एवं भणंति शुद्धं ज्ञातो यः स तु स चैव ॥ ६ ॥

अर्थ—जो ज्ञायकभाव है वह अप्रमत्त भी नहीं और प्रमत्त भी नहीं है, इसप्रकार इसे शुद्ध कहा है, और फिर जो ज्ञायकरूप से बताया है, सो तो वह वही है, दूसरा कोई नहीं है।

इस गाथा से मोक्षमार्ग का प्रारंभ होता है। पाँचवीं गाथा में कहा है कि निज–वैभव से कहेंगे, इसलिये छट्ठी गाथा में अपनी भूमिका को दर्शाकर कहा है कि जो सातवीं–छट्ठी भूमिका में रहता है वह मैं नहीं हूँ। इसप्रकार मुनि अपनी बात कर रहे हैं कि मैं तो एक हूँ, तब फिर अवस्था में अप्रमत्त और प्रमत्त ऐसे दो भेद क्यों? वह दो प्रकार मैं नहीं हूँ। अपनी बात करके जगत को कहता है कि जो ज्ञायकभाव है सो न तो अप्रमत्त है और न प्रमत्त है। आचार्य की दृष्टि मात्र ज्ञायक द्रव्य पर है। मैं अखण्ड, पूर्ण, शुद्ध अवस्था के भेद से रहित सामान्य एकरूप और ज्ञायकरूप में ज्ञात हुआ हूँ, वही हूँ, दूसरा नहीं। उसमें फिर यह अप्रमत्त–प्रमत्त का भेद कैसा? आचार्यदेव अपनी वर्तमान अवस्था का निषेध करते है और कहते हैं कि यह जो अप्रमत्त–प्रमत्त का भेद है, वह मैं नहीं हूँ, मैं तो अखण्ड एक ज्ञायक हूँ।

आचार्यदेव ने सकषायी–अकषायी, सयोगी–अयोगी इत्यादि भेद गाथा में नहीं कहे, इसलिये ऐसा मालूम होता है कि वे प्रमत्त–अप्रमत्त दशा में झूल रहे हैं और उसका निषेध करते हैं। अप्रमत्त या प्रमत्त मैं नहीं हूँ, ऐसी भाषा उनकी वर्तमान मुनिदशा में से आई है। उनके दो पर्यायें

हो रही हैं, उन दो पर्यायों में अखण्ड–ज्ञायक का बल उनके वर्त रहा है इसलिये अपने आत्मा के अन्तर अनुभव में से अप्रमत्त भी नहीं और प्रमत्त भी नहीं ऐसी भाषा आई है। आचार्य का ऊँची ऊँची पर्याय पर लक्ष है इसलिये भाषा में पहले 'प्रमत्त' न आकर 'अप्रमत्त' आया है।

आत्मा के गुण की चौदह भूमिकायें हैं अर्थात् चौदह गुणस्थान हैं; उनमें से चौथे गुणस्थान में अपूर्व आत्मसाक्षात्कार, निर्विकल्प अनुभव होता है। वहाँ यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है। बाद में आंशिक स्थिरता बढ़े तो पाँचवाँ गुणस्थान होता है। अंतरंगज्ञान में विशेष स्थिर होकर कषाय की तीन चौकड़ी का अभाव करके निर्विकल्प ध्यानदशा प्रगट होती है, उसे अप्रमत्त नामक सातवाँ गुणस्थान कहा है; बाद में सविकल्पदशा आती है, उसे छट्ठा प्रमत्त गुणस्थान कहते हैं। मुनि इन दो दशाओं के बीच में बारंबार झूला करते हैं।

निर्विकल्पदशा में यदि विशेष समय रहे तो मुनि अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त करता है। जबतक ऐसा नहीं होता तबतक हजारों बार छठा–सातवाँ गुणस्थान बदलता रहता है। तीनों काल में मुनिदशा ऐसी ही होती है। वह मुनिदशा बाह्य और आभ्यंतर परिग्रह से रहित होती है, आत्मज्ञान सहित नग्न–दिगंबरत्व होता है सातवें गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक विकल्प छूट जाते हैं और आत्मस्वरूप की स्थिरता में बिल्कुल निर्विकल्प आनंद में लीन हो जाता है, वहाँ पल पल में साक्षात् सिद्ध परमात्मा जैसा आनंद अंशरूप से अनुभव में आता है। मैं आत्मा हूँ, शुद्ध आनंदस्वरूप हूँ, ऐसा विकल्प भी वहाँ नहीं होता, मात्र स्वसंवेदन (स्व का अनुभव) होता है, ऐसी स्थिति–साधकदशा भगवान कुंदकुंदाचार्यदेव के थी। वे क्षण में प्रमत्त और क्षण में अप्रमत्तदशा में झूलते रहते थे।

आचार्य के केवलज्ञान प्रगट होने में संज्वलन कषाय का अंश जीतने को शेष रहा है। क्षण में छट्ठी भूमिका में आने पर आत्मस्वभाव की बात करते हैं और क्षण में उस शुभ विकल्प को तोड़कर सातवें गुणस्थान में

मात्र-अतीन्द्रिय आत्मानंद में स्थिर हो जाते है। ऐसी वह उत्कृष्ट साधक दशा है। उस निज-वैभव से वे आत्मा का वास्तविक स्वरूप जगत को बतलाते हैं कि वह ज्ञायक, नित्य, एकरूप चैतन्यज्योति है, वह वर्तमान क्षणिक अवस्था के किसी भेदरूप नहीं है, किन्तु केवल ज्ञायकरूप से शुद्ध है, अखण्ड एकाकार ज्ञायकस्वभाव में अप्रमत्त-प्रमत्त का भेद परमार्थ से नहीं है।

आत्मा और जड़ दोनों पदार्थ सर्वथा भिन्न है। दोनो में प्रत्येक क्षण में अपनी अपनी अवस्था स्वतंत्ररूप से होती है। आत्मा जड़ से सर्वथा भिन्न है, ऐसा जाने बिना स्वरूप की रुचि नहीं होती, रुचि के बिना श्रद्धा, श्रद्धा के बिना स्थिरता और स्थिरता के बिना मुक्ति नही होती, आत्मा में एक समय की होनेवाली कर्मबन्धरूपी विकारी-क्षणिक अवस्था को ध्यान में न लेकर अकेले ज्ञायक-ध्रुवस्वभाव को लक्ष में लेकर उसमें स्थिर हुआ सो तो ज्ञाता ही है। स्वभाव से आत्मा निर्विकारी, आनंदघन, सच्चिदानंद-स्वरूप, ज्ञाता-दृष्टा, स्वावलंबी और स्वतन्त्र है। ऐसी आत्मा की ओर की जो दृष्टि है सो सम्यग्दर्शन है और उस भाव में स्थिरता का होना सो सम्यक्‌चारित्र है।

जैसे स्फटिकमणि स्वभाव से श्वेत, स्वच्छ और निर्मल है; किंतु काले, लाल, पीले पात्र के संयोग से वर्तमान अवस्था में काले, लाल, पीले रंग की झांई उसमें दिखाई देती है, वह वैसा हो नहीं जाता। स्फटिकमणि का संपूर्ण स्वभाव तो सफेद ही है। इसीप्रकार आत्मा अरूपी, ज्ञानानंदघन ही है। आत्मा में क्षणवर्ती-विकारीभाव दिखाई देते हैं, उस ओर यदि दृष्टि न की जाय तो आत्मा अबन्ध, निर्विकारी, निर्मल, आनंदरूप, चैतन्यज्योति है। वर्तमान अवस्था में पुण्य-पाप के क्षणिक विकार और मति-श्रुतज्ञान की अवस्था रहती है, जो उसके भेद से रहित, विकल्परहित, एकाकार, अकेला, ज्ञायक, ध्रुवरूप से वर्तमान में पूर्ण ज्ञात हुआ, सो वह ज्ञाता ही है। ऐसे पर-निमित्त के भेदरहित, उपाधि-

रहित, एकाकार, ज्ञायक, सामान्य ध्रुवरूप से आत्मा को जानना सो ही सम्यग्दृष्टि या परमार्थदृष्टि है। यही मोक्ष की प्रथम सीढ़ी है।

जो अनादि-अनंत त्रिकाल स्थिर रहे सो वस्तु है। भूत, भविष्य की अवस्थारूप होने की जो शक्ति है सो गुण है। और वर्तमान प्रगट अवस्था पर्याय है।

वर्तमान में रहनेवाले द्रव्य में ही त्रिकालस्थिर होने की सामर्थ्य है। वर्तमान एक समय में त्रिकाल रहनेरूप जो एकरूप सामर्थ्य है सो द्रव्य है। अखण्ड-ज्ञायक कहने से त्रिकाली एकरूप द्रव्यस्वभाव बताया है। समय समय रहकर त्रिकाल होता है, इसप्रकार त्रिकाल से ज्ञायक को लक्ष में लेना हो सो बात नहीं है, किन्तु यह समझना चाहिये कि वर्तमान में ही चैतन्य अनतशक्ति की सामर्थ्य से पूर्ण है। अर्थात् जो वर्तमान में है, वही त्रिकाल है। वर्तमान में मैं अखण्ड-पूर्ण हूँ ऐसी जो दृष्टि है सो द्रव्यदृष्टि है और वही सम्यग्दृष्टि है।

प्रत्येक वस्तु वर्तमानरूप से वर्त रही है-रह रही है। उस प्रवर्तमान द्रव्य में वर्तमान में जो प्रगट अवस्था है सो पर्याय है और शेष अवस्थाएँ जो होनी हैं और जो हो गई हैं, उसकी वर्तमान शक्ति, समस्त गुण ध्रुव नित्य है। वर्तमान प्रगट अवस्था के अतिरिक्त जो सामर्थ्यशक्ति है सो ध्रुव है। व्यय अभावरूप पर्याय है और उत्पाद सद्भावरूप पर्याय है। उस व्यय और उत्पाद के भग से रहित वर्तमान में समस्त सामर्थ्यशक्ति गुण और द्रव्य है। अवस्था के अतिरिक्त जो त्रिकाल रहनेरूप सामान्य-भाव है, उसे यहाँ द्रव्य कहा है। वर्तमान विकारी अवस्था को गौणकर जिस त्रिकाल सामान्य स्वभावस्वरूप मैं हूँ सो ज्ञायकभाव है।

वर्तमान में ही द्रव्यस्वभाव ध्रुवरूप से अखण्ड-पूर्ण है, उसमें भूत और भविष्य पर्याय की शक्ति विद्यमान है। वर्तमान में जो प्रगट अवस्था है वह भंग और भेदरूप है, उस भंगरूप अवस्था के अतिरिक्त जो वर्तमान में वर्तनेवाली सामर्थ्य है वह गुणरूप है अथवा द्रव्यरूप है। अवस्था को लक्ष में न लेकर मैं आत्मा पूर्ण, निर्मल, पवित्र वर्तमान में ही हूँ। इस

दृष्टि के होने पर पर्याय भी निर्मल हो जाती है। इस दृष्टि के प्रगट होने में अनन्त पुरुषार्थ है और उसके होने पर दर्शनमोह तथा अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव होता है। सम्यग्दर्शन के प्रगट होने के बाद भी आगे की पर्याय इस द्रव्यदृष्टि के बल से ही प्रगट होती है। पूर्ण ज्ञायक, निरपेक्ष, स्वतंत्ररूप से जो सदा एकरूप है उसे श्रद्धा में लेना सो सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन की अवस्था, इसीप्रकार संयमी–असंयमी सवेदी–अवेदी, सकषायी–अकषायी, सयोगी–अयोगी ऐसे दो दो भेद हो जाते हैं, जो कि पर-निमित्त की अपेक्षा से होते हैं। वे आत्मा के अखण्डस्वभाव में नही है इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव अखण्डस्वभाव को दृष्टि में लेकर भेदों का भी अस्वीकार करता है।

ध्यान रहे कि यह अलौकिक वस्तु है। अनन्तकाल से स्वभाव की बात समझ में नहीं आई, इसलिये वस्तु की परम गम्भीर महिमा को लाकर और उसे लक्ष में रखकर समझना चाहिये। वस्तु की श्रद्धा के बिना सम्यग्ज्ञान और चारित्र नहीं हो सकता। 'यह बात कठिन है इसलिये समझ में नहीं आती' ऐसा नहीं मानना चाहिये। अनादि का अनभ्यास है इसलिये समझना कठिन मालूम होता है किन्तु वह स्वविषय है इसलिए समझ में आ ही जाता है।

कड़े की अवस्था में सोना कड़े के आकार में स्थूलदृष्टि से दिखाई देता है, किन्तु उसमें रहनेवाले अनन्त परमाणु प्रतिसमय अपनी अवस्था बदलते हैं और सोना सामान्य–एकरूप ध्रुव बना रहता है, इसप्रकार सूक्ष्मदृष्टि से दिखाई देता है। उसीप्रकार आत्मद्रव्य एकरूप ज्ञायकपने से वर्तमान में पूर्ण है, उस ध्रुवस्वभाव की जो दृष्टि है सो सम्यग्दृष्टि है।

आत्मा को अभेद गुणदृष्टि के द्वारा जानने पर वर्तमान पर्याय गौण हो जाती है, भेदरूप लक्ष भूल जाता है। वहाँ वर्तमान पर्याय नही है ऐसा नहीं समझना चाहिये, किन्तु वह है और उसे गौण करके सपूर्ण द्रव्यस्वभाव को लक्ष में लेना सो सम्यग्दृष्टि है।

किसी मनुष्य ने बालक को छोटी अवस्था में देखा हो, फिर बारह वर्ष की आयु में उसे देखे तो कहता है कि यह तो एकदम बड़ा हो गया है, किंतु वह एकदम बड़ा नहीं हुआ है, लेकिन जन्म से प्रतिक्षण बढ़ता बढ़ता बड़ा हुआ है। प्रत्येक समय में बदलती हुई अवस्था में रहनेवाला वही पुरुष है। वर्तमान, भूत, भविष्य की अवस्था के भेद से न जानकर उस पुरुष को वर्तमान में ही अखण्डरूप से जानना सो वास्तविक स्वरूप को जानना कहलाता है।

प्रश्न—ऐसी अखण्ड वस्तु ध्यान में न आये तो क्या होता है?

उत्तर—जैसे एक पुरुष सौ वर्ष का है उसे ५० वर्ष का कहे अथवा बीच के एक क्षण को निकाल दे तो अखण्ड के दो टुकड़े हो जायगे और इसप्रकार मनुष्य का संपूर्ण स्वरूप ज्ञात नहीं हो सकेगा। यदि उस मनुष्य का सारा स्वरूप जानना हो तो सौ के सौ वर्ष लक्ष में लेना चाहिये, बीच में कोई समयभेद नहीं लेना चाहिये।

जैसे एक पुरुष एक वर्ष धनिक अवस्था में था, फिर दो वर्ष निर्धन अवस्था में हो और फिर पीछे सधनदशा को प्राप्त होता है। इन सब अवस्थाओं में रहनेवाले पुरुष को अखण्डरूप से नहीं मानकर वर्तमान निर्धन दशा जितना ही माने तो कहना होगा कि उस पुरुष की सच्ची पहिचान नहीं की। उसीप्रकार आत्मा त्रिकाली सर्व अवस्था का पूर्ण पिंड होने से वर्तमान अवस्था में भी त्रिकाली जितना ही पूर्ण है। 'है' इतना ही न मानकर वर्तमान अवस्था जितना ही माने तो कहना होगा कि उसने उसका सच्चास्वरूप ही नहीं जाना।

जो अनादि–अनन्त आत्मा को एकरूप, अखण्ड, अभेद, ज्ञायकरूप में जानता है वही उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञाता कहलाता है। आत्मा का अखण्ड स्वरूप जिसके ध्यान में नहीं है उसे उसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता। अनादि–अनंत कहने से काल पर लक्ष न देकर अनंत गुण का अखण्ड पिंडस्वरूप से त्रिकाल रहनेवाला वर्तमान में पूर्ण शक्तिरूप

-ध्रुव है, तीनों काल की अनन्तशक्ति वर्तमान में अभेदरूप में भरी हुई है ऐसे अखण्ड द्रव्यस्वभाव की दृष्टि ही सम्यग्दृष्टि है।

एक समय में एक वस्तु की दो अवस्थायें नहीं होतीं। सोना जिस समय कुण्डल अवस्था में होता है उस समय दूसरी अवस्था नहीं होती और जब कड़े की अवस्था होती है तब कुण्डल की नहीं होती; इसीप्रकार आत्मा के ज्ञान गुण में एक समय में एक अवस्था प्रगट होती है। उदाहरण रूप में जब मति या श्रुतज्ञान होता है तब केवलज्ञान नहीं होता, और जब केवलज्ञान होता है तब मति या श्रुत नहीं होता, किन्तु ज्ञानगुण सदा विद्यमान रहता है। वर्तमान में त्रिकाल रहनेवाले समस्त गुण एकरूप—सामान्य शक्तिरूप में विद्यमान हैं। आत्मा में वर्तमान एक अवस्था प्रगट होती है और दूसरी सभी त्रिकाल शक्तिरूप से होती है। यहाँ सामान्य- अखण्ड द्रव्यस्वरूप का कथन करना है, इसलिये वर्तमान पर्याय के भेद गौण करके पर-निमित्त की अपेक्षा न लेकर वर्तमान एक समय में त्रिकाल रहनेवाला एकरूप पूर्ण ज्ञायक तत्व लिया है, वही मेरा स्वरूप है। इसप्रकार त्रिकाली आत्मा को ही लक्ष में लेना चाहिये। अखण्ड—सामान्य वस्तु को लक्ष में लेना द्रव्यदृष्टि है।

वर्तमान संयोग की अपेक्षा और अवस्था के भेदों को गौण करके वर्तमान अवस्था के पीछे जो सामान्य त्रिकाली शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और आनन्दरूप अनन्तगुण भरपूर अखण्डस्वरूप है उसका लक्ष करके जो अखण्ड-ज्ञायकरूप में ज्ञात होता है वही परमार्थस्वरूप आत्मा है। जो ज्ञायक-रूप से मालूम हुआ है वही मैं हूँ, इसप्रकार अन्तरंग से मानना सो सम्य-ग्दर्शन है। मैं अखण्ड ज्ञायकज्योति एकरूप हूँ, ऐसा प्रगट शुद्ध ज्ञायक-भाव लक्ष में लेकर, मैं अनन्तकाल रहनेवाला वर्तमान में परिपूर्ण हूँ ऐसा अन्तरंग में अनुभव से जानना सो सम्यग्दर्शन है। इसमें जो भी गूढ़रहस्य था वह बहुत स्पष्ट करके कहा है, किंतु वह हाथ में लेकर तो बताया नहीं जा सकता। स्वयं तैयार होकर ग्रहण करके और धीरे धीरे जुगाली करके उसे पचाये तो अवश्य गुण—लाभ हो!

इस वस्तु को समझना ही वास्तव में महत्व की बात है। निरपेक्ष-अभेद पूर्णस्वभाव वर्तमान साक्षात् शुद्धरूप से जिसप्रकार है उसीप्रकार अनादि से लक्ष में नहीं लिया, पर से भिन्न एकत्व की बात कभी नहीं सुनी, इसलिये वह कठिन मालूम पड़ती है। किन्तु समझ के बाद सब सरल है।" सम्यग्दर्शन होने से पहले प्रारंभ में ही समझने की यह बात है। वर्तमान में प्रतिसमय में आत्मा पूर्ण स्वरूप है, इसलिये उसे ही विषय (लक्ष-ध्येय) बनाकर शुद्ध अखण्डरूप से लक्ष में लेना चाहिये। वह शुद्ध आत्मा ही सम्यग्दर्शन का विषय है।

वर्तमान विकारी अवस्था तथा अपूर्ण निर्मल पर्याय के क्षणिक भेद को गौण करके एक समय की वर्तमान अवस्था के अतिरिक्त वर्तमान में विद्यमान प्रत्येक अवस्था के साथ ही प्रतिसमय में अनन्त चैतन्यशक्तिरूप से जो समस्त सामान्य-ध्रुवस्वभाव है। उसे लक्ष में लेना द्रव्यदृष्टि का विषय है।

ज्ञान का उपयोग प्रत्येक समय में होता है, उसमें वर्तमान भव का ध्यान है। गत अनन्तभवों में भी उस समय के वर्तमान रहनेवाले भाव से विचार करता था। इसप्रकार अनन्तभव में स्वयं वस्तु, उसका क्षेत्र, उसका काल और उसके भाव को ज्ञानसामर्थ्य से ज्ञायकरूप से जानता था। अब इसके बाद जितने भव करेगा उनमें भी वर्तमान में रहनेवाला ज्ञान करेगा। ऐसी सारी शक्ति पहले प्रत्येक समय में थी। जब जब जिस जिस भव में रहा तब तब ज्ञान में उसको उस उसभाव से जानता था तो भी उस भव के लिये-उस अवस्था के लिये ही सामर्थ्य न था, किन्तु दूसरे अनन्तभवों का ज्ञान करने का अनन्त सामर्थ्य था। यह तो एक ज्ञानगुण की बात कही। ऐसे ही एक साथ वस्तुरूप में त्रिकाल रहनेवाले अनंतगुण पूर्ण-अभेदरूप में समझना चाहिये। वर्तमान पर्याय के भेद को न देखकर त्रैकालिक अखंड स्वरूप को देखें तो आत्मा द्रव्य से, गुण से और पर्याय से शुद्ध ही है, उसमें पुण्य-पापरूप उपाधि का भेद नहीं है, मन के सम्बन्ध का विकल्प भी नहीं है। मैं तीनों काल एकरूप रहने

वाला, ज्ञायक, अपूर्व स्वभाव की शक्ति का पिंड हूँ, मात्र एकसमय की अवस्था के लिये नहीं, किन्तु नित्य, निरालम्बी, निरपेक्ष, अनन्तगुणरूप से रहनेवाला पूर्ण हूँ; ऐसा निर्मल स्वभाव जबतक लक्ष में नहीं आता तबतक सम्यग्दर्शन नहीं होता, और सच्चा ज्ञान भी नहीं होता तथा अन्तरंग में ज्ञान की स्थिरतारूप चारित्र नहीं होता। जहाँ निश्चय से सम्यग्दर्शन नहीं होता वहाँ ज्ञान और चारित्र समीचीन नहीं होते, इसलिये सबसे पहले इसे समझना चाहिये। अभी तो मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है। आत्मा की पहिचान कैसे करना चाहिये उसका यहाँ से प्रारम्भ होता है।

जो बात होती है सो वह भाषा से होती है। भाषा स्वभाव से भिन्न है। जड़रूप वाणी के द्वारा चेतनरूप आत्मा पूर्णरूप से भलीभाँति कैसे कहा जा सकता है? वाणी तो जड़रूपी है और आत्मा चेतन, अरूपी है। वाणीरूपी शत्रु के द्वारा सज्जन की प्रशंसा कितनी कराई जा सकती है?

कोई कहता है कि यदि तुम हमें समझा सको तो सच्चे हो। किन्तु ऐसा हो नहीं सकता। सत्य ऐसा नहीं है कि जब कोई सत्य को मानें तभी उसका मूल्य होता है। तुम प्रत्येक स्वतंत्र हो, तुम्हारी तैयारी के बिना कोई निमित्त हो नहीं सकता, यदि कोई समझे तो समझने में निमित्त कहलाता है और न समझे तो निमित्त भी नहीं कहलाता। जगत् समझे या न समझे, किन्तु जो सत्य है वह बदल नहीं सकता।

लोगों को अन्तरंग का सूक्ष्मतत्व कठिन मालूम होता है, क्योंकि उसकी बात कभी नहीं सुनी, इसलिये वे बाहर की बातों की धूमधाम करते हैं। कितने ही बुलक्कड ऐसी बकवाद किया करते हैं कि जिसका कहीं मेल ही नहीं बैठता!

अनन्तकाल में तुझे सम्यक् वस्तुस्थिति की खबर नहीं पड़ी और न कभी सत् को सुना है। पहले अनन्तकाल में कभी नहीं प्राप्त हुई यह

अपूर्व वस्तु है। उस शुद्धात्मा की बात छट्ठी गाथा में करते हैं और कहते हैं कि यह छट्ठी का लिखा लेख टाले नहीं टलता।

भगवान आत्मा मन, वाणी, देह और इन्द्रियों से भिन्न है, पुण्य-पाप के विकल्पों से रहित है, वर्तमान मन के अवलंबन से ज्ञात हो उतना ही यह नहीं है; किन्तु प्रत्येक समय में अनंतगुण का पिंड-ध्रुवस्वभावी है। उसमें वर्तमान पर्याय पृथक् नहीं है, फिर भी वर्तमान पर्यायभेद का लक्ष छोड़कर सामान्य रहनेवाला ध्रुवशक्तिरूप संपूर्ण तत्व है, वही आत्मा का पूर्णस्वरूप है। ऐसा पूर्ण द्रव्यस्वभाव ज्ञायक रूप में मालूम हुआ सो तो वही है।

प्रश्न—आत्मा को ज्ञायक कहने से पर की उपाधि की अपेक्षा होती है?

उत्तर—नहीं; पर को जानने के लिये उसके पास जाना नहीं पड़ता, किन्तु स्व को जानने पर वह सहज ही ज्ञात हो जाता है, अर्थात् पर को देखने की उपाधि नहीं रहती। पर्याय को न देखकर निरपेक्ष-अखण्ड ध्रुव-स्वभाव को देखना सम्यग्दर्शन है; ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने कहा है।

प्रत्येक पदार्थ सत् है, जो नहीं है वह नया उत्पन्न नहीं होता, और जो है उसका सर्वथा नाश नहीं होता। हाँ, ध्रुवस्वभावरूप रहकर रूपांतर होता है। जो पदार्थ है उसका नाश नहीं होता, फिर भी यदि उसमें कोई अवस्थांतर न होता हो तो कभी भी विकार दूर होकर अविकारीपन नहीं होगा। जैसे दूध की अवस्था बदलकर दहीरूप न होती हो तो कोई कार्य-विशेष न हो सकेगा। और यदि पदार्थ केवल नित्य ही हो, कूटस्थरूप, त्रिकाली, एकरूप ही रहे तो अशुद्ध अवस्था बदलकर शुद्ध अवस्था प्रगट नहीं हो सकेगी।

आत्मा नित्य है और उसका ज्ञायकत्व स्थिर रहता है। उस ओर की दृष्टि करने पर आत्मा अकेला ज्ञायक, निर्मल, नित्य, अखण्डपिंड है, वह ज्ञात होता है। आत्मा में अनन्त गुणरूप शक्ति त्रिकाल भरी हुई है। शक्तिरूप से तो गुण शुद्ध ही है, किन्तु वर्तमान एक अवस्था में अशुद्ध है। अवस्था में विकार होता है किन्तु पूर्ण गुण विकारी नहीं होता।

यदि निर्विकारी–त्रिकाल पूर्ण को लक्ष में न ले तो अध्रुव, क्षणिक विकार-भाव को नाश करने का पुरुषार्थ नहीं होता। विकार को नाश करने का सामर्थ्य त्रिकाल आत्मा में विद्यमान है।

मुझे अवगुण नहीं चाहिये, ऐसा कहनेवाला अव्यक्तरूप से यह स्वीकार कर रहा है कि मैं अवगुण को रखनेवाला–करनेवाला नहीं, किंतु उसका नाशक हूँ। पूर्णगुण मुझमें हैं, इसका भान वैसा कहनेवाले को भले न हो, किन्तु उसके ही बल से वह यह कहता है कि मुझे अवगुण नहीं चाहिये।

जबतक विकार के ऊपर दृष्टि रखे, किन्तु अखण्ड पूर्ण शुद्ध द्रव्य को लक्ष में न ले तबतक निरपेक्ष, पूर्ण तत्वस्वभाव जैसा है वैसा पहचानने में नहीं आता। जहाँ मुक्तस्वरूप, एकरूप स्वाधीन तत्व नहीं जाना वहां सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नहीं है। अविकारी पूर्ण स्वरूप लक्ष में आये बिना पुण्य–पाप, विकार का नाश नहीं हो सकता। मेरा स्वरूप पर की उपाधि से रहित, पर में कर्ता–भोक्तापन से रहित, ज्ञानानन्दरूप से पूर्ण पवित्र है; उसको लक्ष में लेकर उस एकत्व में एकाग्र होना चारित्र है। सम्यग्दृष्टि के बिना जो कुछ भाव जीव करता है वे सब इकाई-रहित शून्य के समान हैं।

धर्म तो अरूपी आत्मा में ज्ञान, श्रद्धा, स्थिरतारूप है, उसे भूलकर लोग बाह्य क्रियाकांड में, मन, वाणी, देह की प्रवृत्ति में आत्मा का धर्म मानते हैं; यही अज्ञान है।

मैं रागी हूँ, राग-द्वेष का कर्ता–भोक्ता हूँ, वह मेरा कर्तव्य है,–यह बंधनभाव की दृष्टि है। रागादि सर्व विकार का नाशक मेरा स्वभाव है, ऐसी दृष्टि अनंत पुरुषार्थ के द्वारा प्रगट होती है। अखण्ड, पूर्ण, शुद्ध एकरूप स्वभाव के लक्ष से स्वभाव की समझ और स्वाभाविक शुद्धता प्रगट होती है।

आचार्य महाराज अपनी अंतर स्थिरता में–छठे सातवे गुणस्थान में प्रवर्तमान हैं। मैं अखंड एकरूप ज्ञायक हूं, उसमें यह अप्रमत्त–प्रमत्तभाव

के दो भेद क्यों ? इसप्रकार भेद का नकार करके, भेदरूप पर्याय को गौण करके अखंड ध्रुवस्वभाव को ही लक्ष्य में लेते हैं।

टीका—आत्मा स्वयं–स्वतःसिद्ध है; उसका कोई कर्ता नहीं, वह संयोगी वस्तु नहीं है। तथा वह भूतकाल में नहीं था, सो बात नहीं है। वह अनादि–अनंत सत्स्वरूप है– अस्तिरूप है। वह किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है, इसलिये उसे किसी के आधार की आवश्यक्ता नहीं है, तथा उसकी कोई सहायता करनेवाला नहीं है, और वह कभी नाश को प्राप्त नहीं होता, इसलिये क्षणिक नहीं है, किन्तु ध्रुव है; वस्तुरूप में रहकर पर्यायों को बदलनेवाला है। अपनी वर्तमान अवस्था का स्वयं कर्ता होने से त्रैकालिक समस्त अवस्थाओं का स्वयं ही कर्ता है, दूसरा कोई नहीं। अपना कर्तृत्व स्वतंत्र होने से उसके धर्म के लिये किसी पुण्य–पाप–विकार आदि की आवश्यक्ता नहीं है।

वह कभी विनाश को प्राप्त न होने से अनंत है। 'अनंत' अर्थात् क्षेत्र से अनंत नहीं किंतु स्वयं पूर्णशक्ति से अनंत है और अपने स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव से अखंड है।

वह नित्य उद्योतरूप होने से क्षणिक नहीं है, किंतु प्रत्येक क्षण में चैतन्यमूर्ति, स्पष्ट प्रकाशमान ज्ञानज्योति है। ऐसा अखंड निर्मलस्वरूप समझे विना जन्म–मरण दूर करने का कोई दूसरा मार्ग नहीं है। जो नित्य अविकारी, ध्रुवस्वभाव को लक्ष में न ले उस जीव के धर्म नहीं होता, भव नहीं घटता; वह जीव मन, वाणी, देह की प्रवृत्ति में अथवा पुण्य में धर्म मानकर अटक जाता है; जिसका फल बंधनरूप संसार है। इस बात का जिसे ध्यान नहीं है, उसने वाह्य प्रवृत्ति में ही कृत–कृत्यता मान रखी है; इसलिये जब वह अपनी मान्यता से विरुद्ध बात सुनता है तब वह सत्य तत्त्व का विरोध करता है। बालक को पेड़ा देने के लिये जब उसकी लकड़ी की चूसनी छीनी जाती है तब वह रोने–चिल्लाने लगता है; इसीप्रकार मुक्तिरूपी पेड़े का स्वाद चखाने के लिये बाल–अज्ञानी जीवों के पास से उनकी विपरीत मान्यतारूपी पकड़ (चूसनी) छुड़ाई जाती है तब वे चिल्लाने लगते है !

अहो ! परम सत्य की बात कान में पड़ना भी बड़ा दुर्लभ है। अनंतकाल में यह अमूल्य अवसर मिला है तब भी अपूर्व सत्य नहीं समझे, स्वतंत्र वस्तुस्वभाव के सामर्थ्य को न समझे तो चौरासी का परिभ्रमण नहीं मिट सकेगा।

मैं पर से भिन्न, साक्षात् चैतन्यज्योति, अनंतआनंद की मूर्ति हूँ; यह समझे विना जितने शुभभाव करना है वे सब मुक्ति के लिये व्यर्थ हैं। यह सुनकर कोई विरोध करता है कि अरे रे ! मेरा तो सर्वस्व ही उड़ जाता है। किंतु प्रभु ! तेरी प्रभुता तुझे समझाई जा रही है, तेरा अनंत महिमामय स्वभाव तुझे समझा रहे है, तब तू उसका विरोध करके असत्य का आदर करे तो यह कैसे चल सकता है ?

जैसे किसी कुलीन परिवार का पुत्र नीच की संगति करता हो तो उसे उसका पिता ताना मारता है कि अरे भाई ! उच्चकुल वाले को ऐसा नहीं करना चाहिये। इससे अपने कुल को लज्जित होना पड़ता है ? इसीप्रकार जो आत्मविरोधी पुण्य–पाप की प्रवृत्तिरूप कुसंगति में पड़ता है उससे तीर्थंकरदेव कहते हैं कि यह कुसंगति तुझे शोभा नहीं देती, इससे तेरी प्रभुता लज्जित होती है, तेरी जाति सिद्ध परमात्मा के समान है। इसप्रकार कहकर उसे पुण्य–पापादि से रहित उसका ज्ञान–स्वभाव बताते हैं।

जो पुण्य–पाप और पर की क्रिया से धर्म माननेवाले हैं और जो यह मानते हैं कि पुण्य (विकार) करते करते धीरे धीरे आत्मशुद्धि हो जायगी, उनसे कहते हैं कि इस विपरीत मान्यतारूप लकड़ी की चूसनी से स्वाद नहीं आयगा, इसलिये इसे छोड़ और एकबार अपने स्वाधीन स्वभाव को अन्तरंग से स्वीकार कर।

स्पष्ट प्रकाशमान ज्योतिरूप जो ज्ञायक 'एक' भाव है उसमें पर की अपेक्षा नहीं होती। आत्मा ज्ञायक स्वरूप से निरपेक्ष, त्रिकाली पूर्ण सामर्थ्य का पिंड है, उसे भूलकर अज्ञानी जीव संसार अवस्था में कषाय चक्र में पड़कर पुण्य–पाप के अनेक भावों को अपना मानकर उनका कर्ता

होता है। मन, वाणी, देह में संसार नहीं है, जड़ में संसार नहीं है, किन्तु देहादि तथा राग-द्वेष मेरे हैं ऐसी विपरीत मान्यतारूप अज्ञानभाव ही संसार है।

यद्यपि स्वभावरूप से ज्ञायकमूर्ति आत्मा अनादि-अनन्त-अरूपी शुद्ध-स्वभाव में स्थित है तथापि वर्तमान प्रत्येक अवस्थारूप से अशुद्धता करके अनादि से बन्ध पर्यायरूप से विकारी होता है। विकार में दूसरा निमित्त होता है। यदि पर के अवलंबन के बिना विकार संभव हो तो विकार स्वभाव हो जाय और जो स्वभाव होता है वह दूर नहीं हो सकता। किंतु विकार दूर हो सकता है, इसलिये प्रत्येक आत्मा द्रव्यस्वभाव से त्रिकाल शुद्ध ही है।

यदि कोई यह माने कि आत्मा जड़-पुद्गल कर्मों के साथ एकमेक है, सो यह वास्तव में ठीक नहीं है। यदि द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से देखा जाय तो वर्तमान अशुद्ध अवस्था के समय भी वह स्वभाव से तो शुद्ध ही है। जैसे सोने में तांबा मिला हुआ हो तो भी सोना अपनेरूप में शुद्ध ही है। इसीप्रकार चैतन्यधातु, ज्ञानमूर्ति आत्मा त्रिकाल शक्तिरूप से पर से भिन्न शुद्ध ही है। संसार अवस्था में वह कर्म के निमित्त की ओर लगा हुआ दिखाई देता है, फिर भी उसका प्रथक्त्व मिट नहीं जाता। आत्मप्रतीति होने पर उसमें एकाग्रता बढ़ने से स्वभाव पर्याय दृढ़ होती जाती है और क्रमशः मोक्ष पर्याय प्रगट होती है तथा कर्मसंयोग दूर हो जाता है। अनादिकाल से स्वभाव की अपेक्षा से पर से प्रथक् था; इसलिये प्रथक् हो जाता है, तथा आत्मा का प्रथक्त्व कदापि नहीं मिटता।

दूध का स्वभाव सफेद और मीठा है, पानी का स्वभाव पतला है और भाप बनकर उड़ जानेवाला है। इसीप्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञानानंदमय, नित्य एकरूप, स्थिररूप है और जड़कर्म के संयोग का स्वभाव क्षणिक है, स्वयं उसके निमित्ताधीन होने पर जो विकारीभाव होता है वह भी क्षणिक है।

संसारी अवस्था में अनादि बंध पर्याय की अपेक्षा से दूध और पानी की भांति, कर्मपुद्गलों के साथ आत्मा एकरूप होनेपर भी यदि द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से देखा जाय तो जिसका दूर होना कठिन है ऐसे कषायचक्र के उदय की विचित्रता से प्रवर्तमान जो पुण्य–पाप को उत्पन्न करने वाले समस्त अनेकरूप शुभ–अशुभभाव हैं, उनके स्वभावरूप परिणमित नहीं होता। अर्थात् वह ज्ञायकस्वभाव को छोड़कर जड़रूप नहीं होता, क्योंकि पुण्य–पापादि परवस्तु ज्ञेय है और आत्मा उसको जानने-वाला भिन्न है।

विष्टा और मिष्टान्न दोनों परमाणुओं की क्षणिक अवस्था है। यद्यपि ज्ञान की दृष्टि से उनमें कोई अच्छा या बुरा नहीं है, तथापि ज्ञात परवस्तु में अच्छा या बुरा मानना सो विपरीतता है और वह भाव बंध है। मैं ज्ञाता हूँ और प्रस्तुत पदार्थ ज्ञेय है, मैं एकरूप–ज्ञातारूप हूँ, उसमें अच्छे–बुरे का द्वित्व नहीं आता।

प्रश्न—शुभाशुभभाव कैसे हैं ?

उत्तर—पुण्य–पाप को उत्पन्न करने वाले हैं, वे आत्मा की शुद्धता को उत्पन्न करने वाले नहीं हैं। शुभभाव पुण्यबंध के भाव है, और अशुभभाव पापबंध के। दोनों विकार हैं, इसलिये वे आत्मा के गुण में सहायक नहीं है।

कषाय=(कष=संसार,+आय=लाभ) का अर्थ है जो संसार का लाभ दे और आत्मा के गुण की हानि करे। आत्मा प्रतिसमय नये विकार करता आरहा है। इसप्रकार प्रवाहरूप से कषायभाव में युक्त होते होते अनंतकाल वीतगया, फिर भी आत्मा कषायरूप नहीं हुआ, किंतु अखंड–चैतन्यज्योतिरूप ही बना हुआ है।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह की मूर्च्छा, इत्यादि अशुभभाव हैं; उनसे पापबंध होता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सेवा, पूजा, व्रत, भक्ति आदि शुभभाव हैं; उनसे पुण्यबंध होता है। अविकारी

आत्मधर्म उन दोनों से पृथक् है। आत्मा में परको ग्रहण करने या छोड़ने का कोई स्वभाव नहीं है। इसीप्रकार शुभाशुभवृत्ति भी परमार्थ से उसका स्वरूप नहीं है, प्रमत्त और अप्रमत्त का भेद भी उसमें नहीं है। वही समस्त अन्य द्रव्यों के भाव से भिन्नरूप में उपासित होता हुआ शुद्ध कहलाता है।

एक चील मास का टुकड़ा लेकर जा रही हो, यदि उस समय दूसरी चील आकर उसे छीन ले तो वह दूसरे टुकड़े को ढूंढने के लिये जाती है, किंतु यदि उसे मिष्टान्न का थाल मिल जाय तो वह सड़े हुये मास को ढूंढने के लिये न जाय, लेकिन यदि उसे मिष्टान्न का महत्त्व मालूम न हो तो वह सड़े हुये मास को ही ग्रहण करेगी। इसीप्रकार जिसे आत्मा के परम आनंदस्वरूप का माहात्म्य ज्ञात नहीं है वही विकारी पुण्य–पापरूप भाव को अपना मानकर ग्रहण करता है। आत्मा में परम–सुख भरा है, यदि उसकी महिमा ज्ञात होजाय तो फिर विकारीभाव को छोड़ देता है।

अज्ञानी के शुभाशुभभाव का स्वामित्व है, अर्थात् उसके अभिप्राय में रागद्वेष का स्वामित्व त्रिकाल ही विद्यमान रहता है, और ज्ञानी के जबतक पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं होती तबतक पुरुषार्थ की निर्बलता से वर्तमान क्षणिक पुण्य–पाप होजाता है, किंतु उसका वह स्वामी नहीं होता, कर्ता नहीं होता; उसके अंतरंग से आत्मस्वरूप की रुचि होने से संसार का माहात्म्य नहीं होता।

जैसे कोई धन को प्राप्त करने का महालोभी है, उसके पास से यदि कोई कुटुंबी कोई वस्तु मंगावे तो लोभ के वश होकर वह उसे भी धोखा देता है, क्योंकि उसकी दृष्टि यह है कि पैसा किसीप्रकार से भी एकत्रित किया जाय; उसीप्रकार जिसको विकाररहित केवल शुद्धस्वभाव का ही प्रेम है, उसे अपनी निर्मलता कैसे बढ़े इसीपर दृष्टि होती है।

आत्मा के धर्म का अर्थ है स्वतंत्रस्वभाव; वह धर्म आत्मा से पृथक् नहीं हो सकता। आत्मा की जो यथार्थ श्रद्धा है सो सम्यग्दर्शन है, और

जो सच्चा विवेक है सो स्वभाव की प्रतीति (सम्यग्ज्ञान) है, तथा पुण्य-पाप के भाव से रहित अंतरंग में स्थिर होना सम्यग्चारित्र है। बाह्यक्रिया आत्मा का चारित्र नहीं है। मन, वाणी, देह, पुण्य-पापादि आत्मा का स्वरूप नहीं है, जबतक जीव यह नहीं जानता तबतक स्वाधीन, सुखरूप शुद्ध आत्मा का धर्म प्रगट नहीं होता। इसलिये प्रथम ही वह स्वयं जिसरूप में है उसे वैसा जानना-मानना आवश्यक है।

यदि पानी को वर्तमान अवस्था में अग्नि के संयोगाधीन दृष्टि से देखें तो वह उष्ण दिखाई देता है, फिर भी उस अवस्था के समय पानी में शीतलस्वभाव भरा है, यदि ऐसा विश्वास करे तो फिर पानी को ठण्डा करके पी सकता है और अपनी प्यास बुझा सकता है। इसीप्रकार आत्मा को निमित्ताधीन दृष्टि से देखे तो वह विकारी दिखाई देता है, किन्तु वह स्वभाव में विकार नहीं है। क्योंकि, विकारी अवस्था के अतिरिक्त उसका संपूर्ण स्वभाव अखण्ड, ज्ञायक, निर्विकारी है। ऐसा स्वभाव जानकर जो स्व में स्थिर होता है उसे सहजानन्द की प्राप्ति होती है।

एक ही बात अनेक बार भिन्न भिन्न प्रकार से कही जाती है, इसलिये उससे उकताना नहीं चाहिये, किंतु उसके प्रति महिमा का भाव होना चाहिये। जैसे शरीर पर राग है इसलिये अनादिकाल से बारंबार रोटी इत्यादि के खाने से जीव उकताता नहीं है, क्योंकि उसे विश्वास है कि इससे शरीर टिका रहता है; इसीप्रकार आत्मा को समझना चाहिये और उसीकी महिमा में एकाग्र होना चाहिये? यही सुख का उपाय है। उस उपाय को प्राप्त करने के लिये बारंबार प्रेम से उसका वास्तविक स्वरूप सुनना चाहिये और यह विश्वास करना चाहिये कि बारंबार परिचय करने से ही यह तत्व समझ में आयेगा।

केवलज्ञान अर्थात् पूर्ण निर्मल ज्ञान की अवस्था, जिसका स्वभाव ज्ञान है उसमें कुछ न जाने ऐसा नहीं होता। उसमें रुककर क्रम क्रम से जानना भी नहीं होता। उसमें एक साथ सबको (स्व-पर को) जानने का सामर्थ्य एक समय में ही होता है। केवलज्ञान में तीनकाल और

तीनलोक के सर्व पदार्थ उनकी समस्त पर्यायोंसहित एक समय में एक साथ जाने जाते हैं, ऐसा केवलज्ञान का स्वभाव प्रत्येक चैतन्य में प्रत्येक समय में शक्तिरूप से है। केवलज्ञान में भूतकाल की अनन्त पर्यायें और भविष्य की अनन्त पर्याये वर्तमान की ही भाति प्रत्यक्षरूप से जानी जाती हैं। उसमें वर्तमान पर्याय जिसप्रकार वर्तमान में रहती है उसीप्रकार जानता है, और भूत–भविष्यत की पर्याय जिसप्रकार हो गई और होंगी उसरूप से जानता है; किंतु उन्हे वर्तमान जैसी ही प्रत्यक्ष जानता है। अब सम्यग्दृष्टि जीव के भी तीनोंकाल की पर्याय का सामर्थ्य वर्तमान द्रव्य में विद्यमान है, उस संपूर्ण द्रव्य को सम्यग्दर्शन ने प्रतीति में लिया है। केवलज्ञान में भूत–भविष्य की अनन्त पर्याये प्रत्यक्ष जानी जाती है, तब सम्यग्दर्शन होनेपर सम्यग्ज्ञान में वह भूत–भविष्य की पर्याये परोक्षरूप से जानी जाती हैं, किंतु केवलज्ञानी जैसा जानता है वैसा ही वह जानता है, मात्र प्रत्यक्ष–परोक्ष का भेद है। जैसे केवलज्ञानी स्व–पर की पर्याय को प्रत्यक्ष जानता है उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान में भी स्व–पर की पर्याय परोक्षरूप से जानी जाती है।

ज्ञान का ऐसा स्वभाव है कि ज्ञान स्व को जानता है और जो रागद्वेष, पुण्य–पाप की वृत्ति होती है उसे भी जानता है। इसप्रकार स्व को और पर को जानने का ज्ञान का दुगुना सामर्थ्य है। ज्ञानगुण स्व–पर को जानने वाला है, किसी में अच्छा–बुरा मानकर अटकनेवाला नहीं है। जो यह जानता है कि मैं रागी हूं, मैं देहादि पर का काम करनेवाला हूं, पर मुझे सहायता पहुँचाता है, उसने अपने को पर के साथ एकमेक माना है, अर्थात् वह यह नहीं मानता कि उसमें पर से भिन्न धर्म की शक्ति है। जो पर से प्रथक्त्व है सो स्व में एकत्व है। पर से प्रथक्त्व की श्रद्धा में पर से प्रथक् करने की पूर्ण शक्ति है। ऐसा अनंतकाल से नहीं समझा, इसीलिये भव–भ्रमण कर रहा है। वस्तु की महार्घ्यता बताकर स्वभाव की महिमा दर्शाई है। आत्मा का पर से भिन्न स्वतंत्रस्वरूप जैसा है वैसा ही यहाँ कहा जाता है। यह धर्म के प्रारंभ की सबसे पहली बात है, ऊँचे–तेरहवे गुणस्थान की बात नहीं है। जिसने शुद्ध–ज्ञायक भाव को

लक्ष में लिया उसके मोक्षमार्ग प्रारंभ हो जाता है।-ऐसा जो नहीं समझता उसका भव-भ्रमण दूर नहीं होता, इसलिये प्रथम सत्समागम से यथार्थ समझकर एकबार सत्य को स्वीकार करे कि मैं विकाररहित, निर्मल हूँ तो उसे पूर्ण ज्ञानानंदस्वभाव की निर्मलता प्रगट होती है।

सूक्ष्म और यथार्थ विषय को समझने के लिये अत्यंत तीव्र और सत्पुरुषार्थ चाहिये।

यदि निश्चयरूप से स्व को लक्ष में ले तो शांति अवश्य प्राप्त हो। यदि पर-वस्तु में राग-द्वेष, इष्ट-अनिष्ट बुद्धि करे तो अशांति हो। जो यह मानता है कि पर में सुख है वह पर को और स्व को एक मानता है। जो स्व-पर, विवेकी-ज्ञायकमात्र, निर्मल स्वभावी अपने स्वरूप को भिन्न नहीं मानता वह पर में अच्छा या बुरा मानकर अटक जाता है। विषय-शब्द, रूप, रसादि तथा विकार को अपना माननेवाला भिन्न ज्ञायकमात्र आत्मा को नहीं मानता। उस मिथ्यादृष्टि का विषय 'पर' है और सम्यग्दृष्टि का विषय (लक्ष) 'स्व' है। वर्तमान क्षणिक विकार मात्र के लिये मैं नहीं हूँ, मैं तो विकार का नाशक, अखण्डानंद, चैतन्यमात्र, निर्विकारी हूँ। त्रिकाली ध्रुवस्वभाव को अपना मानना सो सम्यग्ज्ञान है। अज्ञानी को यह खबर नही है।

भव से छूटना हो, पुण्य-पाप की पराधीनता से मुक्त होना हो, पूर्ण स्वतंत्र, सहजात्मस्वभाव, अखण्डानंद आत्मभाव प्रगट करना हो तो इसे समझे बिना नहीं चल सकता, निवृत्ति लेकर खूब मनन और माहात्म्य करना चाहिये।

पर से मुझे लाभ है, मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, पर मेरे आधीन है; ऐसी बुद्धि जबतक रहती है तबतक पर में इष्ट-अनिष्ट का भाव दूर नहीं होता। इसप्रकार की मान्यता की लोक को छोड़कर निरालंबी स्वाधीन आत्मस्वभाव को मानना ही होगा। मन के अवलंबन से धर्म नहीं है, जो शुभ विकल्प उठता है वह भी आत्मगुणरोधक है। पुण्य-पापरूप विकार से आत्मगुण को सहाय होती है, ऐसा माननेवाला गुण और विकार

को एक मानता है; उससे विपरीत स्वतंत्र–निर्विकारी आत्मस्वभाव को जिसने जाना है उसने मुक्त होने का उपाय, उसकी श्रद्धा और उसमें स्थिरता इत्यादि सब जान लिया है।

शुभाशुभभाव से पुण्य–पाप की उत्पत्ति होती है, फिर भी आत्मा उस क्षणिक विकार में एकमेक नहीं होता, इसलिये पर से भिन्न, स्वभावतः नित्य, शुद्ध आत्मा की निरंतर उपासना करना चाहिये, यही सम्यग्दर्शन है, स्व–पर की पृथक्ता का जो विवेक है सो सम्यग्ज्ञान है और जो आत्म-शुद्धि में स्थिरता है सो सम्यक्चारित्र है। इसका बारंबार मनन–मंथन करना चाहिये और स्वभाव में स्थिर रहना चाहिये।

लोगों को स्वरूप की रुचि नहीं है, किन्तु पुण्य–पाप विकार, बन्ध–पर की रुचि है। धर्म के नाम पर जैसा अनन्तबार माना है यहाँ पर उससे भिन्न कहा जाता है। आत्मा देहादि से पर है; मन, वाणी, देहादि परवस्तु की एक भी क्रिया वह नहीं कर सकता। विकार को अपना मानता है किंतु वह उसरूप नहीं हो जाता। पर से लाभ–हानि होती है, ऐसी विपरीत मान्यता बना रखी है उसे सम्यक्–मान्यता के द्वारा नष्ट करना पड़ेगा।

अब आत्मा के एकत्वस्वभाव का वर्णन करते हैं। आत्मा ज्ञायक है, स्वपरप्रकाशक है, फिर भी उसका ज्ञान पर के अवलंबन से रहित है। आत्मा के सहज स्वभाव को समझे बिना जीव नवमें ग्रैवेयक में अनंतबार हो आया, शुभभाव के द्वारा जो व्रतादि पुण्य क्रिया हुई उसमें अटक गया, मात्र बाह्यक्रिया के ऊपर लक्ष रखा, बहुत ऊँचा पुण्य बांधकर अनन्तबार देव हुआ, किन्तु मैं निरालंबी, ज्ञायकमात्र हूँ, पर का कर्ता–भोक्ता नहीं, अखण्ड स्वतंत्र ध्रुवस्वभावी हूँ, इसप्रकार नहीं माना। वर्तमान में भी शक्तिरूप से पूर्ण हूँ, निरपेक्ष हूँ, कृतकृत्य हूँ, ऐसा नहीं माना। बाह्य शुभप्रवृत्ति के ऊपर लक्ष रहा, परलक्ष से कषाय कम की पुण्य बांधकर देवलोक में गया, किन्तु भव कम नहीं हुए। मैं विकारी-अवस्थामात्र नहीं हूँ, मैं तो अनंत ज्ञानानंद की मूर्ति हूँ, ऐसा विश्वास

नहीं हुआ, स्वलक्ष को भूलकर मात्र शुभभाव किया, उसके फलस्वरूप नाशवान संयोगों की प्राप्ति हुई, वह अल्पकाल में छूट जाती है। पर से भिन्न आत्मस्वभाव को अन्तरंग से न तो विचारा है और गुरुज्ञान से समझा है। पर का थोड़ा सा आश्रय चाहिये; जिसने ऐसा माना उसने आत्मा में स्वतंत्र गुण नहीं है ऐसा माना है। किंतु यदि आत्मा में गुण न हो तो आयगा कहाँ से? प्रत्येक जीव में ज्ञान, आनन्दस्वभाव से विद्यमान है, उसपर लोग लक्ष नहीं देते, मात्र शुभाशुभ प्रवृति को ही देखते हैं। द्रव्यस्वभाव पूर्ण है, पर में सर्वथा अक्रिय है, इसकी महिमा को नहीं जानते। जीव खूँटे से बंधी हुई भैंस को जो खूँटे के इधर-उधर घूमा करती है, उसकी क्रिया की शक्ति को देखता है, किंतु दृढ़तापूर्वक जो खूँटा गढ़ा है वह अक्रिय दिखाई देता है, फिर भी उसमें जो शक्ति विद्यमान है उसे नहीं देखता। इसीप्रकार आत्मा त्रिकाल शक्ति से परिपूर्ण है, उसपर लोगों की दृष्टि नहीं है, मात्र क्षणिक अवस्था में होनेवाले विकार पर ही दृष्टि है; नित्य, ध्रुव, अखंडानंद, चिन्मूर्ति, शाश्वत् सुदृढ़ खूँटा (आत्मा) निश्चलरूप में विद्यमान है, सो लोग उसे नहीं देखते। जो यह मानता है कि मैं मन, वाणी और देह की प्रवृत्ति करता हूँ तो होती है, पर से लाभ-हानि होती है, निमित्त से मेरा काम होता है, मानों वह यह मानता है कि मैं निर्माल्य हूँ।

यदि उपादान तैयार हो, श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरतारूप अंतरंग का प्रयत्न हो तो उसके अनुकूल ऐसे निमित्त उपस्थित होते ही हैं। निमित्त से स्वकार्य की सिद्धि नहीं होती। यदि निमित्त सहायक हो तो निमित्त का और अपना एकत्व होजाय। अपने स्वभाव में कोई भी शक्ति नहीं है ऐसा मानने वाला यह मानता है कि यदि अन्य का अवलंबन मिले तो मेरा गुण प्रगट होजाय; इसका यह अर्थ हुआ कि उसे निरावलंबी, निरपेक्ष आत्मतत्त्व पर विश्वास नहीं है। मन में सत् की उपस्थिति सहज ही होती है। जबतक पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं हुई और पुरुषार्थ की कमी से निज में अखंडरूप में स्थिर नहीं रह सकता, तबतक धर्मात्मा

के अशुभभाव से बचने के लिये सच्चे देव–गुरु–शास्त्र की भक्ति, पूजा, प्रभावना व्रतादि के शुभभाव होते हैं, किंतु वह उस शुभभाव को कभी धर्म नहीं मानता, वह अरागी स्वभाव को सन्मुख रखकर जब शुद्ध में नहीं रह सकता तब शुभ में रहता है। किंतु व्रतादि का शुभभाव भी राग है, उससे बंधन है, अविकारी आत्मस्वभाव को उससे कुछ लाभ नहीं है, इसप्रकार उसके सम्यक्–समझ है। शुभभाव से पुण्यबंध होता है उसपर ज्ञानी का लक्ष नही है; मात्र निर्मल, अबंध स्वभाव पर ही लक्ष है। जब जीव निरावलंबी अरागीस्वभाव की श्रद्धा करता है तब तत्क्षण ही समस्त राग दूर नही हो जाता। दृष्टि अविकारी–ध्रुवस्वभाव पर पड़ी है उसके बलसे अवशिष्ट अल्पराग को तोड़कर अल्पकाल में केवलज्ञान प्रगट करेगा, ऐसी प्रतीति धर्मात्मा के पहले से ही होती है। गुण आत्मा में है, ऐसा न मानकर पर की सहायता के द्वारा गुण प्रगट होता है, जो ऐसा मानता है वह निमित्ताधीन दृष्टिवाला है और वही अनादि की स्व–हिंसा हैं। यहाँ यह प्रश्न होता है कि आत्मा का शुद्धस्वरूप कैसा है? क्या उसे जानना ही चाहिये? क्या उसे जाने बिना मुक्ति नहीं होती?

आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि हे भाई! सुनो, तुम प्रभु हो सिद्ध परमात्मा के समान हो, शक्ति से मुझमें और तुममें सिद्धत्व स्थापित करता हूँ। किन्तु जिसके अभिप्राय में यह बात है कि मैं रंक हूँ, कोई मेरी सहायता करे, तो उसके अन्तरंग में यह महिमा कहाँ से आ सकती है कि परमात्मत्व मुझमें विद्यमान है? तू वर्तमान में भी परिपूर्ण है, विकार का नाशक है, ऐसी प्रतीति तो कर। उसके बाद यदि पर के ऊपर लक्ष जाने से अल्पराग हो जाय और यदि उस समय देव, शास्त्र, गुरु की उपस्थिति हो तो उसपर शुभभाव का निमित्तारोपण किया जाता है। अपने भाव के अनुसार संयोग में निमित्त का आरोप होता है। स्वयं पाप–भाव करे, स्त्री, धन, देहादि पर राग रखे तब उन वस्तुओं को अशुभ–भाव का निमित्त कहा जाता है, किंतु निमित्त पर का कुछ करता कराता

नहीं है। धर्मात्मा की दृष्टि शुभभाव पर नहीं है, फिर वह शुभभाव चाहे देव, गुरु, शास्त्र की भक्ति का हो या व्रतादि का हो, किंतु वह उसे परमार्थ से तो हेय ही मानता है। शुभभाव का निमित्त आत्मस्वभाव में सहायक नहीं है, अपना निर्मल स्वभाव ही सहायक है, इसप्रकार की मान्यता का बल मोक्ष का मूल है। निर्मलस्वभाव की प्रथम अन्तरंग समझ से हां कह; फिर विशेषदृढ़ता के लिये बारंबार उसका ही श्रवण-मनन और सत्समागम से उसी की रटन होनी चाहिये।

संसार में भी जब पहले बालक स्कूल में पढ़ने के लिये बैठता है तब आध्यापक पर ही विश्वास किया जाता है। एक के अंक को अनेकबार लिखनेपर बहुत परिश्रम के बाद उसकी ठीक बनावट आ पाती है, किंतु हाथ जमजाने के बाद फिर दूसरे अंकों के सीखने में बहुत देर नहीं लगती। ऐसा त्रैराशिक हिसाब नहीं लगाया जाता कि एक का अंक सीखने में इतना समय लगा है तो मेट्रिक, बी. ए. या एम. ए. होने में कितना समय लगेगा। इसीप्रकार आत्मा का अनादि से पर के ऊपर रुचि का-अज्ञानभाव का लक्ष है, उस संसार की ओर के लक्ष को हटाकर आत्मस्वरूप की ओर उन्मुख होने के लिये पहले सद्गुरु पर विश्वास करना चाहिये, उनका उपदेश बारंबार अंतरंग में पचाना चाहिये। प्रारंभ में यह कठिन मालूम होता है, किंतु वास्तव में उसे कठिन नहीं मानना चाहिये।

यथार्थ समझ पूर्वक आत्मा के अखंड ध्रुव ज्ञायकस्वभाव को एकबार स्वीकार करले और फिर उसीका अभ्यास हो जाय तो उसरूप अवस्था होजाती है अर्थात् आत्मा की शुद्ध अवस्था होजाती है। जो सत्य-स्वरूप है वह त्रिकाल परनिमित्त के आश्रय से रहित है, पूर्ण परमात्म-स्वरूप है। आत्मा पर का कर्ता-भोक्ता नहीं है, सदा ज्ञातास्वरूप ही है। इसे स्वीकार करनेपर अंतरंग से अनंत अनुकूलपुरुषार्थ प्रगट होजाता है।

अनादि से जो अत्यंत अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) है उसे त्रैकालिक सत्यस्वरूप को समझने लिये यह समयसारशास्त्र है। तू शुद्ध परमात्मा है यह बात सर्वप्रथम ही सुनाई जाती है। तू विकाररूप नहीं है, मन, वाणी देहादिरूप नहीं है, निमित्ताधीन होनेवाला वर्तमान क्षणिक विकार तेरा स्वरूप नहीं है, परनिमित्त तुझे सहायता नहीं करते, क्योंकि तू निमित्तरूप नहीं है और निमित्त तुझमें नहीं हैं। परवस्तु स्वभाव में नहीं है, इसलिये वह लाभ या हानि नहीं कर सकती। तू स्वतंत्र है, निर्मल आनंदघन है, ऐसा यथार्थ स्वरूप समझे बिना चारित्र भी यथार्थ नहीं होता।

यथार्थस्वरूप को समझने के बाद तुरंत ही रागद्वेष सर्वथा दूर नहीं होजाते। ज्ञानी के अल्पराग रहता है, किंतु उसका स्वामित्व नहीं होता। दृष्टि में से रागद्वेष का नाश करनेपर संपूर्ण संसारपक्ष का माहात्म्य छूट जाता है।

जैसे बैठक में कांच का बड़ा सुंदर झूमर लटक रहा हो और सेठजी (उसके मालिक) उसकी शोभा देखकर प्रसन्न हो रहे हों, इतने में अचानक झूमर टूटकर नीचे गिर पड़े और उसके टुकड़े होजायें तथा उस समय घर में कोई दूसरा व्यक्ति उपस्थित न हो, तब सेठजी विचार करते हैं कि इन टुकड़ों को जल्दी बहार फेंक देना चाहिये, नहीं तो बच्चों को लग जायँगे। यों विचार कर स्वयं कांच के टुकड़े हाथ में में लेते हैं और उन्हें बाहर फेकने जाते हैं, किन्तु सेठजी का मकान बहुत बड़ा है, इसलिये बाहर तक पहुँचने में काफी समय लग जाता है; उतने समय के लिये वह उन कांच के टुकड़ों को अपने हाथ में लिये रहते हैं, फिर भी उन्हें अपने पास रखने का भाव नहीं है, अर्थात् उन्हें पकड़े रखने में उत्साह या चाह नहीं है; जिस झूमर की शोभा को देखकर वह स्वयं प्रसन्न होते थे उसके प्रत्येक टुकड़े को अब बाहर फेक देना चाहते हैं। यह तो मात्र दृष्टांत है; इससे यह सिद्धांत निकलता है कि अज्ञानदशा में जीव विकार को—पुण्य के संयोग को अपना मानकर उसमें फूलाफूला फिरता था—आनंद मानता था, किन्तु

जब उसे भान हुआ कि 'विकार मेरा स्वरूप नहीं है, पुण्य के संयोग में मेरी आत्मशोभा नहीं है, मैं तो अनंतआनंद का रसकंद हूँ' तब उसे शुभभाव का-पुण्य का भान नहीं होता। पुरुषार्थ की हीनता से रागद्वेष, पुण्यपाप के निकालने में समय लगता है, तथापि वह अल्प रागादि में लगा हुआ दिखाई देनेपर भी उनमें उसका स्वामित्व नहीं होता। उसकी तुच्छता उसे मालूम होती है, इसलिये वह उसे रखने की इच्छा नहीं करता। तीनकाल और तीनलोक के समस्त पदार्थों को जानने का मेरा स्वभाव है; इसप्रकार स्वभाव की महत्ता प्रतीत होनेपर-परका कर्तृत्व और स्वामित्व दूर होजाता है। स्वभाव का बल आने के बाद राग का भाव अल्पकाल रहता है, किन्तु वह रखने के लिये नहीं, निकालने-दूर करने के लिये ही है। यद्यपि राग दूर करने में विलम्ब होता है, फिर भी एक-दो भव में तीव्र पुरुषार्थ उत्पन्न करके पूर्ण मोक्षदशा प्रगट कर ही लेगा। वस्तु का निर्मलस्वभाव जाना कि तत्काल ही त्यागी हो जाय, ऐसा सभी के नहीं बनता; किन्तु दृष्टि अखंड शुद्धस्वभाव पर गई है, उस दृष्टि के बल से तीव्र स्थिरता करके, अल्पकाल में समस्त विकार दूर करके पूर्ण शुद्ध हो जायगा।

अज्ञानी बाह्य संयोग से, पुण्यादि से अपनी शोभा मानता है और विकार को अपना करना चाहता है, किन्तु विकार के शोथ से कुछ मोटा दिखाई देता हो तो वह वास्तव में निरोगता से पुष्ट हुआ नहीं माना जाता, इसीप्रकार पुण्यबंध और विकार के शोथ से आत्मपुष्टि नहीं होती, पुण्यबंध और विकार के शोथ से रहित आत्मा की निरोगता ही सच्ची निरोगता है।

इस गाथा में आत्मा को शुद्ध, ज्ञायक कहकर मोक्ष का माणिक-स्थम्भ स्थापित किया है। जैसे विवाह से पूर्व माणिकस्तंभ रोपा जाता है, उसीप्रकार जिसे मोक्ष की लगन लगी है उसे इस गाथा में आत्मा का जैसा यथार्थ स्वरूप बताया है वैसा ही प्रारंभ में जानना चाहिये।

समयसार में कहा है कि आत्मा की महत्ता ज्ञात होनेसे पर की महत्ता चली जाती है।

आत्मा की जो स्वतंत्र, शुद्ध, पूर्णदशा प्रगट होती है, वही मोक्ष है। वह मोक्ष बाहर से नहीं आता, किन्तु स्वभाव में ही वह पूर्ण, निर्मलदशा शक्तिरूप से विद्यमान है। उसका मूल एकमात्र सम्यग्दर्शन ही है। उसके बिना जीव धर्म के नामपर व्रत, क्रिया, तपश्चर्या इत्यादि सभी-कुछ अनंतबार कर चुका है। बाह्यप्रवृत्ति के द्वारा आत्मा में गुण प्रगट होगा, शुभविकल्प की सहायता से गुण होगा, ऐसा मानकर इस जीव ने अनंतकाल में जितना जो कुछ किया है उसका फल संसारभ्रमण ही हुआ है।

कोई अज्ञानी प्रश्न करता है कि—"क्या हमारे व्रत तपादिक का कुछ भी फल नहीं है?" उसका उत्तर यह है कि—व्रत-तपादि में यदि कषाय मन्द हो, दया, दान, भक्ति में राग-तृष्णा घटाये तो पुण्य बंधता है, किन्तु वह विकार है, इसलिये अविकारी आत्मा का धर्म नहीं है; और इसीलिये उससे मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता।

प्रश्न—प्रभो! उस शुद्धात्मा का स्वरूप समझाइये कि जिसकी रुचि होने से ही पुण्य-पापबंध की सहजरूप तुच्छता ज्ञात हो?

उत्तर—खीर का स्वाद चखने के बाद वासी खिचड़ी के स्वाद लेने की वृत्ति छूट जाती है; उसकी तुच्छता मालूम होनेपर उसमें रस नहीं रहता। इसीप्रकार आत्मा के शुद्धस्वभाव का अनुभव होनेपर आत्मिक सुख का संवेदन होकर सांसारिक विषय सुखों की तथा पुण्य-पाप की तुच्छता प्रतिभासित होने लगती है, इसलिये उसमें रस नहीं पड़ता।

अशुभ को छोड़कर शुभभाव करने का निषेध नहीं है, किंतु उस शुभभाव को भी अभिप्राय में आदरणीय न माने तो वह सहज ही मालूम होजाय, और उसकी महिमा अंतरंग से छूट जाय। वह हठ से नहीं छूटती।

प्रश्न—आत्मा को ज्ञायक कहने में जैसे ज्ञातृत्व आता है, उसमें परवस्तु के जानने का स्वभाव है, तब क्या पर के अवलंबन से उसका ज्ञान होता है ?

उत्तर—जैसे दाह्य जो सोना है, तदाकार होने से अग्नि को दाहक कहा जाता है, किन्तु अग्नि सोने के रूप में (सोने के आकार में) परिणत नहीं होजाती,—सोना अलग पड़ा रहता है और अग्नि निकल जाती है, इसीप्रकार ज्ञायकआत्मा में परवस्तु का आकार ज्ञात होता है, सो वह तो अपनी ज्ञान की ही निर्मलता दिखाई देती है। जैसे दर्पण की स्वच्छता में परवस्तु की उपस्थिति जैसी है वैसी स्वच्छ झलकती तो है किन्तु उसमें परवस्तु का आश्रयत्व नहीं है। इसीप्रकार ज्ञान में शब्द, रस, रूप, गंध, स्पर्श इत्यादि मालूम होते हैं, उन्हें जानते समय भी ज्ञान ज्ञान को ही जानता है पर को नहीं जानता; क्योंकि ज्ञान ज्ञेयों में नहीं जाता, किन्तु वह सतत ज्ञायकरूप में रहता है। पर (ज्ञेय) सहज जाना जाता है, ज्ञान का ऐसा स्वपरप्रकाशक स्वभाव है। ज्ञान ज्ञान में रहकर अनेक ज्ञेयों का ज्ञान करता है। यह ज्ञान की स्वच्छता का वैभव है।

ऊपर के दृष्टांत में अग्नि के साथ लकड़ी को न लेकर सोना लेने का कारण यह है कि सोना अग्नि से नाश को प्राप्त नहीं होता, लकड़ी नाश को प्राप्त होजाती है। ज्ञान में जाने जाने से ज्ञेय पदार्थ कहीं नाश को प्राप्त नहीं होते, किन्तु वे ज्यों के त्यों बने रहते हैं। इसीप्रकार सोना भी ज्यों का त्यों बना रहता है, इसलिये उसे दृष्टांत में लिया है।

जैसे सोने की अशुद्धता अग्नि में नहीं आती, उसीप्रकार परज्ञेयों को जानने से वे परज्ञेय स्वभाव में नहीं आते। जैसा निमित्त उपस्थित होता है वैसा ही ज्ञान होता है, इसलिये पर के अवलंबन से ज्ञान हुआ मालूम होता है, परन्तु उस समय भी ज्ञान तो ज्ञान से ही हुआ है। निमित्त से ज्ञान होता हो तो सबको एक सा ज्ञान होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं

होता, इसलिये ज्ञान परावलंबी नहीं है। ज्ञान में जब ज्ञेय जाना जाता है तब ज्ञान अखण्ड–भिन्न ही रहता है और प्रस्तुत ज्ञेयपदार्थ भी उसके अपने भिन्नस्वरूप से अखण्ड रहता है। यथा:—

(१) ज्ञेय पदार्थ खट्टा हो तो ज्ञान उसे खट्टा जानता है, किन्तु इससे ज्ञान खट्टा नहीं हो जाता।

(२) पच्चीस हाथ का वृक्ष ज्ञान में आने से ज्ञान उतना लंबा नहीं हो जाता।

(३) ज्ञान पुण्य–पाप और राग को जानता तो है, किन्तु वह उस-रूप नहीं हो जाता।

ऊपर मात्र थोड़े दृष्टांत दिये हैं, इसीप्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये।

यद्यपि ज्ञान ज्ञेयाकार हुआ कहलाता है, तथापि उसके ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है। ज्ञान ज्ञेय के आकाररूप होता है ऐसा अर्थ ज्ञेयाकार का नहीं है; किन्तु जैसा ज्ञेय हो, ज्ञान उसे वैसा ही जानता है, इस-लिये उसे ज्ञेयाकार कहा है। ज्ञान सदा ज्ञानगुण से ही होता है और वह ज्ञातास्वरूप से ही प्रवृत्ति करता है।

अज्ञानी की मान्यता पर के ऊपर है, इसलिये वह मानता है कि मुझे पर के अवलंबन से ज्ञान होता है। इसप्रकार वह अपनी स्वाधीन-सत्ता का नाश करता है, और यही अनादि संसार का मूल है। वह मानता है कि अक्षर, पृष्ठ और उपदेश के शब्दों से मेरा ज्ञान होता है। यह उसकी अनादि की विपरीत मान्यता है। शब्द के अक्षर तो एक के बाद दूसरे क्रमशः उत्पन्न होते हैं, उसके संयोग में भी क्रम है, किंतु ज्ञान सबका अखण्ड होता है, इसलिये शब्दादि से ज्ञान नहीं होता। ज्ञान शब्द में से नहीं आता, किन्तु शब्दादि जैसे निमित्त हों, वैसा ज्ञान जान लेता है। ऐसा उसका सहजस्वभाव है। जानने की शक्ति आत्मा की है। पुस्तक, पृष्ठ, शब्द आत्मा के सहायक नहीं हैं। पुस्तकों के बहुत से पृष्ठ पढ़ डालूँ तो ज्ञान अधिक बढ़े, पौष्टिक भोजन करूँ तो मस्तिष्क तर रहे,

और फिर ज्ञान भलीभांति विकसित हो, बहुत से ज्ञेयों को जानलूं तो मेरे ज्ञान का विकास हो, खूब देशाटन करूँ, दर्शनीय स्थानों को देखूँ तो ज्ञान का विकास हो, अनेकों के समागम में आऊँ, अनेक भाषाएँ जानूँ, कई उपन्यास पढ़ूँ तो बुद्धि खूब विकसित हो, इसप्रकार परनिमित्त के कारण से ज्ञान का विकास माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। उसे अपने आत्मा के सामर्थ्य की प्रतीति नहीं है, पर से भिन्न आत्मा की श्रद्धा नहीं है। निमित्त से मुझे गुण होगा ऐसा माननेवाला यह मानता है कि अनन्त पर-पदार्थ राग करने योग्य हैं, उसे रागरहित आत्मा के स्वभाव की श्रद्धा नहीं है। जैसे मिठास गुड़ का स्वभाव है, गुड़ और मिठास अभिन्न है, गुड़ में मिठास बाहर से नहीं आती; इसीप्रकार ज्ञान आत्मा का स्वरूप है अर्थात् ज्ञान और आत्मा अभिन्न हैं, इसलिये ज्ञान परपदार्थ से नहीं होता अथवा परपदार्थ में नहीं जाता। गुण गुणी से कभी भी भिन्न नहीं होता, ऐसा कहने से प्रत्येक वस्तु की स्वतंत्रता घोषित की जाती है। 'तू सदा ज्ञाता–दृष्टास्वरूप, पूर्ण प्रभु है,' यों कहकर सर्वज्ञदेव तेरी स्वतंत्रता घोषित करते हैं। जो ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कोई भी कर्तव्य अपना मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

जानना गुण है, जानने में रागद्वेष नहीं है। शुभाशुभ राग भी ज्ञान का ज्ञेय है, इसलिये वह ज्ञान से भिन्न है। जिसने पर से भिन्न अखण्ड–ज्ञायकस्वभाव निज में एकरूप से जाना उसे कदाचित् अल्पराग-द्वेष हो तो वह भी वास्तव में उस ज्ञानमूर्ति का ज्ञेय है।

शब्द के द्वारा ज्ञान होता है, पर को जानते जानते ज्ञान प्रगट होता है, यह बात तीनकाल और तीनलोक में मिथ्या है। आत्मा में जाननेरूप क्रिया के अतिरिक्त जो भी कुछ विरोधभाव मालूम होता है वह सब पर है। यदि ऐसा माना जाय कि ज्ञान पर को जानता है, इसलिये परावलंबी है, तो केवलज्ञान सबको जानता है इसलिये उसे भी पराधीन मानना पड़ेगा। ज्ञान पराधीन नहीं है, ज्ञान स्वयं ही ज्ञेय को जानने पर ज्ञायकरूप में मालूम होता है। जब शब्द मालूम होते हैं,

तब भी स्वयं ज्ञायकरूप मालूम होता है। ज्ञान तो प्रगट ज्ञानरूप में ही रहता है।

प्रश्न—क्या आत्मा के आकार है?

उत्तर—हाँ, प्रत्येक वस्तु के अपना अपना आकार होता है, और आत्मा भी एकवस्तु है, इसलिये उसके भी आकार है ही। प्रत्येक वस्तु अपने आकाररूप है, पर के आकाररूप नहीं है। आत्मा के चैतन्यस्वरूप अरूपी आकार है। जहाँ आत्मा को निराकार कहा गया है वहाँ ऐसा समझना चाहिये कि उसमें रूप, रस, गंध, स्पर्शयुक्त जड़वस्तु की तरह रूपी आकार नहीं है, अर्थात् रूपी पुद्गल की अपेक्षा से निराकार है। वस्तु अरूपी है, इसलिये उसके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भी अरूपी हैं, तथापि वह वस्तु अपने आकारवाली है। आत्मा चैतन्य आनंद की मूर्ति है। वह अभी वर्तमान शरीराकार से शरीर के बराबर क्षेत्र में विद्यमान है, फिर भी शरीर से भिन्न अपने गुण के आकार है।

कस्तूरीवाला मृग जैसे कस्तूरी की सुगंधि को बाहर ढूँढता फिरता है, क्योंकि वह ऐसा मानता है कि मैं तुच्छ डरपोक प्राणी हूँ, मुझमें ऐसी सुगध कैसे हो सकती है? इसप्रकार अपनी महत्ता को भूलने से बाह्य में भटकता है। इसप्रकार आत्मा में पूर्ण-ज्ञानगुण भरे पड़े हैं, उन्हे बाहर ढूँढने वाला यह मानता है कि मुझमें कुछ शक्ति नहीं है। यदि मैं पर के ऊपर लक्ष्य होने से कुछ करूँ तो गुण प्रगट हो क्योंकि वह ऐसा मानता है कि ऐसी महत्ता उसे प्रगट नहीं होती कि मैं पूर्ण प्रभु हूँ, और ऐसा नहीं मानने से परमें महत्ता मानकर उसमें ही भटकता रहता है। मैं शुद्ध हूँ, पूर्ण हूँ, अकेला हूँ, ऐसी श्रद्धा स्वतंत्रता का उपाय है।

यह वस्तु अचित्य है। तीर्थंकर भगवान ने जगत् के समक्ष अपूर्व वस्तु स्पष्टरूप में रखी है, उसे कुंदकुंदाचार्य ने अमृत के पात्र में भरकर समयसार में प्रवाहित किया है। यदि वस्तुतत्त्व जल्दी समझ में न आये तो उसका पुनः पुनः परिचय करना चाहिये। समझनेवाला अपने

को बराबर समझ सकता है। मन-इंद्रियों से परे, अरूपी ज्ञाता होने से आत्मा सूक्ष्म है, वह वाणी से नहीं पकड़ा जाता—अरूपी ज्ञान के द्वारा ही पकड़ा जाता है। जिसका स्वभाव अरूपी है, जिसके गुण-पर्याय अरूपी हैं जिसका सर्वस्व अरूपी है, उसे रूपी के द्वारा जानना चाहे तो सत्यस्वरूप नहीं जाना जा सकता। मन, वाणी, देहादिक रूपी की प्रवृत्ति से अरूपी ज्ञानमय आत्मा नहीं जाना जा सकता।

रागादि पर विकार को जानने से आत्मा रागरूप, पररूप, पर के गुणरूप, पर की किसी अवस्थारूप नहीं हो जाता। परवस्तु की उपस्थिति ज्ञान में ज्ञेयरूप से ज्ञात हुई कि अज्ञानी यह मानता है कि मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं देह इन्द्रिय-जड की क्रिया करनेवाला हूँ, पर मेरे आधार से है, मैं पर के आधार से हूँ; किन्तु परमार्थ से वह रूप कभी भी नहीं होता। जैसे दीपक घटपट इत्यादि पर को प्रकाशित करते समय भी प्रकाश से अभिन्न और घटपटादि से भिन्न, दीपक ही रहता है उसी प्रकार आत्मा पर को जानते समय भी ज्ञान से अभिन्न और पर से भिन्न ज्ञायक ही रहता है। दीपक को ज्ञान नहीं है, जब कि आत्मा को ज्ञान है। अज्ञानी आत्मा अपने को भूलकर यह मानता है कि अपना ज्ञान पर से आता है, किंतु दीपक की तरह ज्ञायक का कर्ता-कर्म ज्ञायक से अभिन्न होने से और परभावों से भिन्न होनेके कारण, शरीर, मन, वाणी तथा रागद्वेष की जितनी अवस्था होती है उसके ज्ञायकरूप में आत्मा सदा उससे भिन्न ही रहता है।

जो स्वतंत्ररूप से रहकर करे सो कर्ता है। ज्ञायकस्वभाव से शरीरादिक भिन्न हैं, जहा ऐसा जाना कि जाननेवाला स्वयं कर्ता है और ज्ञायकरूप में अपने को जाना इसलिये स्वयं ही कर्म है, तथा कर्ता की ज्ञायकभाव की परिणति ज्ञाता की क्रिया है। वे तीनों (कर्ता-कर्म-क्रिया) ज्ञायकरूप से अभिन्न है।

सम्यग्दृष्टि जानने की क्रिया निज में करता है। अज्ञानी मानता है कि मैं पर से जानता हूँ, किन्तु मात्र ज्ञान में ही कर्ता का कार्य है,

पर में नहीं, तथा पर के आधार से भी नहीं है। परवस्तु के कार्य आत्मा के आधीन नहीं हैं। पर का बहुत ध्यान रखूँ तो ऐसा हो, इसप्रकार अज्ञानी मानता है, किंतु उसकी यह मान्यता सर्वथा मिथ्या है। यदि पुण्य के संयोग से कभी अपना इच्छित होता हुआ देखता है तो उसका वह अभिमान करने लगता है।

आत्मा का कर्ता कर्मपन दीपक के प्रकाश की भांति अनन्य है। जैसे दीपक घटपट आदि परवस्तु को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक ही है, और अपने को—अपनी ज्योतिरूप शिखा को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक ही है उसीप्रकार ज्ञायक के सम्बंध में भी समझना चाहिये।

ये तो सूत्र हैं, इनमें गूढ़रहस्य भरा हुआ है। जैसे खुले हुये पत्र में दो पंक्तियों में लिखा हो कि वैशाख सुदी द्वितीया के वायदे की ४५०) से ४७५) तक में एक लाख गांठ रुई की लेना है? यद्यपि यह बहुत संक्षेप में लिखा है तथापि उसमें खरीद देने वाले और उसकी प्रतीति रखनेवाले आड़तिया की हिम्मत, विश्वास, रकम और प्रतिष्ठा कैसी और कितनी है यह सब उसका जाननेवाला समझ लेता है। शब्दों में यह सब नहीं लिखा है, किंतु जाननेवाला दोनों व्यापारी का भाव, वैभव और उनकी प्रतिष्ठा इत्यादि को जान लेता है, इसीप्रकार आत्मा के पूर्ण केवलज्ञान स्वभाव से कहे गये शास्त्रों का गूढ़रहस्य डेढ़ पंक्ति में सूत्ररूप में लिखा हो तथापि उसे जाननेवाला सम्यग्ज्ञानी उतने में से सब भाव समझ लेता है। इसप्रकार इस छट्ठी गाथा में अर्थ की बहुत गम्भीरता भरी हुई है।

पर निमित्त से रहित ज्ञान की अवस्थारूप से होनेवाला जो है सो कर्ता, और ज्ञायकरूप में जो अवस्था निज में हुई सो कर्म है। इसीप्रकार स्व से एकत्व और पर से भिन्न ध्रुवस्वभावी हूँ, ऐसा अन्तरंग में निश्चय करना सो सम्यग्दर्शन है। इसीप्रकार निज को निज में ही देखना सो धर्म का अंश है।

भावार्थ:—जैसे अकेले स्वर्ण में अशुद्धता नहीं कही जा सकती, किंतु किसी दूसरी धातु का संयोग हो तो उसके आरोप से अशुद्धता कही जाती है, इसीप्रकार जीव में जो अशुद्धता अर्थात् विकार होता है, वह परद्रव्य के संयोग से होता है। जैसे तांबे के सयोग में रहने पर भी सोना सोनेरूप से बदल कर तांबे के रूप में नहीं हो जाता, इसीप्रकार वर्तमान अवस्था में पर के संयोग से विकारी होनेपर भी आत्मा सम्पूर्ण विकाररूप नहीं हो जाता। मूल ज्ञायकस्वभाव से निरपेक्ष, अविकारी, शुद्ध ही रहता है।

जैसे–यदि सुवर्ण को पर के संयोग के समय सर्वथा अशुद्ध ही माने तो वह शुद्ध नही हो सकेगा। वर्तमान में भी मूल स्वरूप तो सौटंची शुद्ध ही है, ऐसे लक्ष से सोना शुद्ध हो सकता है; इसीप्रकार चैतन्य–भगवान आत्मा में वर्तमान में कर्माधीनता से होनेवाली मलिनता दिखाई देती है तथापि वर्तमान अवस्था में भी मूलस्वभाव अखण्ड ज्ञायकरूप से शुद्ध ही है। इसप्रकार वर्तमान में पूर्णवस्तुस्वभावरूप से देखने से और उसमें एकाग्रता करने से चैतन्यभगवान आत्मा की पूर्ण निर्मलता प्रगट होती है।

प्रश्न—भगवान आत्मा का लक्ष करने के लिये किससे कहा जाता है?

उत्तर—जो भगवान हो गये हैं उन्हे तो कुछ करना शेष है नहीं, इसलिये उनके लिए यह कथन नहीं है; किंतु जो भगवान होना चाहते हैं, वैसे साधकों के लिये यह कथन है। पूर्णदशा होने से पूर्व पूर्ण शुद्ध की पहचान करना आवश्यक है। जिसे स्वाधीन होना है उसे पूर्ण स्वाधीनता के उपाय की शुद्धदृष्टि बताई जाती है, और यही सर्व प्रथम धर्म का उपाय है।

जैसे सफेद वस्त्र मलिन अवस्था वाला दिखाई देता है, उस समय बालक भी जानता है कि जो मैल का भाग है सो वह वस्त्र का नहीं, किन्तु पर का संयोग है। वस्त्र का मूल स्वरूप वर्तमान में भी सफेद है,

ऐसी दृष्टि पहले से रखकर मैल दूर करने का उपाय करता है, इसीप्रकार आत्मा में वर्तमान में जो मलिनता मालूम होती है वह क्षणिक और निमित्ताधीन है, स्वभाव से तो वह निर्मल ही है। इसप्रकार नित्य–अविकारी के लक्ष से क्षणिक विकार दूर किया जा सकता है, इसलिये भेदज्ञान वाली शुद्धज्ञानदृष्टि सर्वप्रथम प्रगट करना चाहिये।

भेदज्ञान साबू भयो, समरस निर्मल नीर।
धोबी अन्तर आत्मा, धोवे निजगुण चीर॥

(बनारसी कृत समयसार नाटक)

मैं राग अथवा विकाररूप नहीं हूँ, ऐसी निर्मलता की दृष्टि के द्वारा ध्रुवस्वभाव के ऊपर अभेदलक्ष करने पर स्थिरता प्रगट होती है। भगवान आत्मा ऐसा निर्मल, आनंदघन है।

आत्मा में होनेवाली वर्तमान क्षणिक अवस्था को गौण करके आत्मा का जैसा शुद्धस्वभाव है वैसा अखण्डरूप से लक्ष में लेना सो सम्यग्दर्शन है।

जो निर्मल, एकरूप–ज्ञायकरूप में रहे वही मेरा स्वभाव है, क्षणिक मलिनता मेरा स्वभाव नहीं है। इसप्रकार मानना ही प्रारंभिक धर्म है।

पुण्य–पाप विकार से भिन्न, अनन्त ज्ञानानंदमूर्ति प्रत्येक क्षण में पवित्र है, ऐसे भगवान आत्मा को सत्समागम के द्वारा अंतरंग में समझे बिना धर्म का प्रारंभ भी नहीं होता और आत्मा की शुद्ध प्रतीति के बिना स्वतंत्रता की प्राप्ति और बंधन का नाश नहीं होता।

आत्मा के शुद्धस्वरूप को समझने की तैयारी करने के लिये पात्रता की बात कई बार हो चुकी है। मुमुक्षु को तृष्णा की कमी, दान, करुणा, सत्य, ब्रह्मचर्य का रंग, धर्म का प्रेम, प्रभावना, भक्ति, तीव्र आसक्ति का ह्रास और मानादि के मंद पड़ जाने की अभ्यासरूप लौकिक व्यवहारनीति तो होनी ही चाहिये, किन्तु वह अपूर्व नहीं है। यहाँ प्रारंभ तो आत्मा में लोकोत्तर नीति से ही होता है। अनंतकाल में दुर्लभ

मनुष्यभव मिला है, फिर भी जैसा त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव कहते हैं वैसे स्वतंत्र आत्मतत्त्व को तूने नहीं जाना तो फिर तेरा मनुष्यत्व किस काम का? तेरी अपनी महिमा जाने बिना तृष्णा-ममता वास्तव में मंद नहीं पड़ती, इसलिये कहा है कि समझने से पूर्व यदि आसक्ति कम हो तो थोड़ी घटती है, किंतु यदि समझ गया तो सहज ही अनंती ममता और तृष्णा दूर हो जाती है। मूल समझ के ऊपर ही भार दिया है। निरपेक्षस्वरूप को समझे बिना मात्र व्यवहार में शुभभाव करके अनंतबार नवग्रैवेयक पर्यंत के देवभव में हो आया, किंतु भव कम नहीं हुए; इसलिये वीतरागदेव कहते हैं कि पहले अविकारी आत्मा को पहिचान। वर्तमान में साक्षात् श्री सीमंधर भगवान महाविदेहक्षेत्र में परमात्मपद पर प्रतिष्ठित हैं, वे भी इसीप्रकार से स्पष्ट मार्ग बतलाते हैं।

संसार की रुचि छोड़कर मोक्ष की सीढ़ी (सम्यग्दर्शन) पर आकर देखे तो आत्मा का समस्त वैभव जैसा है वैसा दिखाई दे। जैसे-ऊपर के कमरे में वैभव भरा है, उसे देखने के लिये सीढ़ी पर चढ़ना चाहिये तब ही ऊपर क्या है सो दिखाई देता है, किन्तु नीचे के कमरे में खड़ा रहकर वैभव के अस्तित्व से इंकार करे तो उसे वह कैसे दिखाई दे सकता है? इसीप्रकार सर्वज्ञ भगवान् साक्षात् ज्ञान से आत्मा की पूर्ण-समृद्धि के संबंध में क्या कहना चाहते हैं, उसकी प्राप्ति कैसे हो और उस प्राप्ति का उपाय क्या है, यह जानना हो तो मोक्ष की सीढ़ी पर (चौथे गुणस्थान से सम्यग्दृष्टि होकर) चढ़ना चाहिये।

मंजिल पर जानेवाला पूर्ण सामग्री का साक्षात् अनुभव करे और मंजिल पर चढ़ते हुये ऊपर को गर्दन उठाकर देखे तो यह सब ज्ञात होजाय कि ऊपर मंजिल में क्या है। इसीप्रकार पूर्ण साध्य के लक्ष से-राग से भिन्न होकर, भीतर गुण में जो अखंड ज्ञायक है वही मैं हूं, इसप्रकार अनुभव करे तो पूर्ण साक्षात् ज्ञानी की भांति अंशतः देखकर पूर्ण त्रैकालिक स्वभाव को जैसा का तैसा पहिचान लेता है। परमात्मा कैसा होता है, उसका साधन कैसा होता है, बीच में विकार (बाधक

भाव) कितना होता है, वह सब स्वयं ज्ञायक होने से, स्व-पर का विवेक करने से जान लेता है। जिसप्रकार मंजिल पर जाने के लिये जीने पर चढ़ते हुए सब सीधा दिखाई देता है, उसीप्रकार मोक्ष की सीढ़ी पर चढ़ने के प्रारंभ में ही स्वभाव क्या है, पुण्य-पाप विकार क्या हैं, नित्यता-अनित्यता, संयोगी-असयोगी तत्त्व कौन है, इत्यादि सब जान जाता है। अविरोधी न्याय के द्वारा एक आत्मा के जानने से सब जाना जाता है, किन्तु उसे जाने बिना बहुत शास्त्र पढ़े, बहुत पुण्य की क्रिया की, अनंतबार नवमें ग्रैवेयक तक गया, किन्तु भव-भ्रमण नहीं मिटा। जो नवमें ग्रैवेयक के देव का उच्च पुण्य बाधता है उसका बाह्य-व्यवहार बहुत ऊँचा होता है। जैसे कि नग्नदिगंबर मुनि हो पाँचमहाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण इत्यादि भलीभाति पालन करता हो और यदि कोई शरीर पर कांटे रखकर आग लगा दे तो भी क्रोध न करे। ऐसा अनंतबार किया, किन्तु निरपेक्ष, निरालंबी ज्ञायक आत्मा को पृथक् नहीं जाना, इसलिये भव-भ्रमण दूर नहीं हुआ।

जो जीव मनुष्यत्व प्राप्त करने पर भी स्वतंत्र आत्मतत्व को परमार्थ से श्रवण नहीं करता, समझने की चिन्ता नहीं करता उसके त्रस की स्थिति का काल पूर्ण होने आया है। सत्स्वरूप को सुनने का अमूल्य अवसर छोड़कर वह अनंतानंत काल तक एकेन्द्रिय, निगोद में जाने की तैयारी कर रहा है। फिर अनंतकाल में भी वह मनुष्य तो क्या लट (दो इन्द्रिय जीव) इत्यादि त्रस पर्याय को भी प्राप्त नहीं कर सकेगा।

आत्मा का स्वभाव ज्ञायकमात्र है और उसकी अवस्था पुद्गलकर्म के निमित्त से रागादिरूप मलिन है, वह पर्याय है। पर्याय की दृष्टि से देखा जाय तो वह मलिन ही दिखाई देता है और यदि द्रव्यदृष्टि से देखा जाय तो ज्ञायकत्व ही है, वह कहीं जड़रूप नहीं हो गया है। यहाँ द्रव्य-दृष्टि की प्रधानता से कथन है। त्रैकालिक ध्रुवस्वभाव आत्मा पर से भिन्न ही है, ऐसी निर्मल गुणदृष्टि में वर्तमान क्षणिक अवस्था मुख्य नहीं गिनी गई है, इसलिये जो प्रमत्त-अप्रमत्त का भेद है वह तो परद्रव्य के

संयोगजनित पर्यायरूप से है। वह क्षणिक अशुद्धता द्रव्यदृष्टि में गौण है।

एक वस्तु में दो प्रकार होते हैं, एक क्षणिक निमित्ताधीन भाव और दूसरा ध्रुव सामान्य स्वभाव है। उस सामान्य स्वभाव को देखे तो जो त्रिकाल ज्ञायक है वह ज्ञायक ही है, पररूप में तथा क्षणिक विकाररूप में वह नहीं होता, इसलिये शुद्ध है।

किसी बड़ी लकड़ी के थोड़े से भाग में अच्छी कारीगरी की गई हो और उसका शेष सपूर्ण भाग सादा हो तो उस सादा भाग को देखते समय कारीगरी का थोड़ा सा भाग मुख्य नहीं होता, इसीप्रकार आत्मा में वर्तमान अवस्था प्रत्येक समय की स्थितिरूप से, पर-निमित्ताधीन अनादि से विद्यमान है, वह पुण्य-पाप का क्षणिक विकार वर्तमान मात्र का है। उसे गौण करके पर-निमित्त से रहित एकरूप सामान्य त्रिकाल निर्मल दृष्टि से देखा जाय तो आत्मा पहले शुद्ध ज्ञायकरूप था, वर्तमान में है और भविष्य में भी वैसा ही रहेगा।

जैसे पहाड़ पर चढ़ते समय ऊपर का ध्यान मुख्य होता है और तलहटी का ध्यान गौण होता है, उसीप्रकार साध्य जो शुद्ध आत्मा है उसे मुख्य ज्ञायकस्वभावरूप से लक्ष में लेने से, ऊर्ध्व ज्ञानानन्दस्वभाव को देखने से वर्तमान मलिनता गौण हो जाती है।

आत्मा का स्वभाव जड़ से, विकार से, रजकण के स्वभाव से तथा अन्य सबसे पृथक् ही है। विकार क्षणिक अवस्थामात्र को ही होता है। विकार के दो क्षण कभी इकट्ठे नहीं हुये। प्रथम समय में विकार किया, उसे दूसरे समय में नवीन विपरीत पुरुषार्थ से ग्रहण करके दूसरे समय में दूसरा नया विकार करता है। इसप्रकार जीव परंपरा से प्रत्येक समय का भिन्न-भिन्न विकार करता चला आ रहा है, उसे नित्य-अविकारी स्वभाव के लक्ष से तोड़ा जा सकता है।

लोगों ने यह बात नहीं सुनी, मुझमें क्या हो रहा है, स्वभाव क्या है विभाव क्या है, इसकी कुछ खबर नहीं है। जिससे हित होता है

उसकी खबर न रखे और जिससे अपना कुछ भी हित नहीं होता ऐसे परपदार्थों की (जैसे कि घरमें कितना पैसा है, घर की खिड़की में कितनी छड़े हैं, फर्नीचर कितना है, इत्यादि पर की) खबर रखता है।

स्फटिकमणि पर के संयोग से रंगीन दिखाई देता है, किन्तु उसे वर्त-मान में स्वभाव से स्वच्छ देखा जा सकता है। सफेद वस्त्र भी परनिमित्त से मैला दिखाई देता है, किन्तु उसे वर्तमान में स्वच्छ देख सकते हैं। यह तो दृष्टान्त है। उसमें देखनेवाला दूसरा है, वह यों कहता है; किन्तु आत्मा में जो वर्तमान मलिन अवस्था है, वह मूल स्वभाव नहीं है, इस-लिये वर्तमान में मलिन अवस्थावाला जीव भी उसका निर्मल स्वभाव देख सकता है।

प्रश्न—अशुद्ध अवस्था में स्थित जीव को शुद्ध अवस्था में स्थित जीव मूल शुद्धस्वरूप से देख सकता है यह तो संभव है, किन्तु निचली (अशुद्ध) अवस्था में स्थित जीव को शुद्ध स्वभाव कैसे ज्ञात हो सकता है?

उत्तर—आत्मा में ज्ञान, दर्शन और चारित्र गुण हैं। उसमें चारित्र और श्रद्धा गुण मलिन परिणमित होता है, किन्तु ज्ञानगुण त्रिकाल ज्ञान-रूप से रहता है, रागरूप से नहीं। इसलिये ज्ञान ज्ञायकस्वभाव से स्व-पर को जानता है। इससे अशुद्ध अवस्था के समय भी पूर्ण शुद्धस्वभाव कैसा है, उसे आत्मा जान लेता है। अज्ञानी के भी ज्ञान अस्तिरूप से है। राग को निजरूप मानने से उसका ज्ञान नास्तिरूप हुआ दिखाई देता है। दृष्टाशक्ति, ज्ञानगुण और वीर्यगुण में विपरीतता नहीं है, किंतु कमी हो जाती है। अज्ञानदशा में भी ज्ञानगुण की प्रगटता तो होती ही है, उस प्रगटता को स्वाभिमुख करे तो सम्यग्ज्ञान प्रगट हो सकता है और जीव उसके द्वारा त्रैकालिक निश्चय स्वभाव को जान लेता है।

श्रद्धा और चारित्र गुण के कार्य की अपेक्षा ज्ञानगुण का कार्य भिन्न है क्योंकि वह ज्ञानगुण है, अर्थात् वह जानने का कार्य करता है। यद्यपि समस्तगुण पूर्ण निर्मल एक साथ होते हैं तथापि ज्ञानगुण निर्मलता

को प्रथम बतलाता है। सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान हुआ और उसमें जो ज्ञायकरूप से प्रथम ज्ञात हुआ, सो वह पहले ज्ञायक ही था, वर्तमान में ज्ञायक है और भविष्य में ज्ञायकरूप ही रहेगा। सदा ज्ञायकरूप होने से चारित्रगुण में जो कुछ अशुद्ध अवस्था रह जाती है उसे ज्ञान जान लेता है। वह अशुद्धता यहाँ गौण है। इसप्रकार साधकभाव में गुण के कार्य का भेद होता है।

प्रश्न—अशुद्ध अवस्था गौण कैसे है?

उत्तर—श्रद्धा और ज्ञानगुण का लक्ष अखंड–ज्ञायक तत्त्व पर है। उस श्रद्धा के बल से निर्मलता बढ़ती है और इसलिये वर्तमान क्षणिक मलिनता गौण होजाती है। आत्मा में अशुद्ध अवस्था क्षणिक, वर्तमान एक समय मात्र को नई होती है, उसके नाश की प्रतीति का यहाँ बल है। अखंड ध्रुव की दृष्टि के लक्ष्य में शुद्ध द्रव्यस्वभाव की मुख्यता रहती है; वह द्रव्यदृष्टि है और उस द्रव्यदृष्टि से देखनेवाला क्षणिक विकार को लक्ष में नहीं लेता।

जैसे शरीर के किसी एक अंग पर फोड़ा हुआ हो, तो कुछ ही उपचार के बाद उसे ऊपर से ठीक होता देखकर और यह जानकर कि भीतर से सड़ा नहीं है; संपूर्ण निरोग शरीर के लक्ष्य से वर्तमान में भी डाक्टर कह देता है कि थोड़ी कसर रह गई है, किन्तु रोग मिट गया है; चार–छह दिन में पूर्ण निरोग हो जाओगे; इसीप्रकार चैतन्य भगवान आत्मा ज्ञायकस्वरूप से संपूर्ण निरोगी है। वर्तमान में होनेवाले क्षणिक पुण्य–पापादि विकार जितना ही मैं हूँ; इसप्रकार जो जीव अपने को विकार–रोगरूप मानता है, उसका विकार–रोग नहीं मिटता, किंतु वर्तमान क्षणिक अवस्था ही मलिन है तो भी भीतर से अर्थात् शक्तिरूप से वर्तमान में, त्रिकाल पूर्ण निर्मल हूँ; ऐसे पूर्ण निरोगस्वभाव पर जिसकी दृष्टि है उसके क्षणिक रागरूपी रोग का नाश होजाता है।

जैसा कि ऊपर कहा है वैसे तत्त्व की प्रतीति के बिना जिसका जीवन यों ही पूरा होगया उसका जीवन कीड़ी मकोड़े के समान है।

जिसने इस अपूर्व तत्त्व को जान लिया है उसका जीवन मोक्ष-निवास के योग्य होगया है।

मैं परसे सर्वथा भिन्न, पूर्ण स्वतंत्र हूँ, मैं ऐसा पराधीन नहीं हूँ कि जिसे अन्य की सहायता की आवश्यकता हो। ऐसी प्रतीति के बिना कोई भले ही संपत्तिशाली हो तो भी वह गरीब और पराधीन है। जो अधिक मागता है वह बड़ा मंगता (भिखारी) है और जो थोड़ा मांगता है वह छोटा मगता (भिखारी) है।

आत्मा की समृद्धि की प्रतीति के बिना सभी रंक-भिखारी हैं। वर्तमान मलिनता का लक्ष्य गौण करके, निरोग निर्मल ज्ञायकस्वरूप को देखने की श्रद्धा ही पूर्ण निरोग-मोक्ष प्राप्त करने का उपाय है। अंतरंग में यथार्थ समझ हुई कि तत्क्षण ही समस्त राग या अस्थिरतारूप अशक्ति दूर नहीं हो जाती, किन्तु जिसप्रकार रोग उपशांत हो रहा हो और यह मालूम हो जाय कि रोग अब दो-चार दिन में बिल्कुल मिट जायगा अथवा रोग के दूर हो जाने के बाद मनुष्य के थोड़ी सी कमजोरी रह जाती है वह भी अब निरोगता को ध्यान में रखते हुये खुराक लेने से थोड़े ही समय में दूर होजायगी और शरीर पुष्ट होजायगा। (यदि रोग के रहते हुये पुष्टि कारक खुराक ले तो रोग बढ़ता है) इसीप्रकार अंतर में प्रतीति होनेपर पूर्ण निरोग होने की आतरिक स्थिरतारूप आनंद की खुराक लेकर पूर्ण पुष्ट (सर्वज्ञत्व) अल्पकाल में हो जायगा किन्तु अविकारी, निरोगी तत्त्व की समझ के बिना राग बढ़ जायगा। मैं वर्तमान मलिन अवस्था मात्र ही नहीं हूँ किन्तु वर्तमान में पूर्ण ध्रुवस्वभाव, निर्मल हूँ, ऐसे बल से आशिक निर्मलता,-निरोगता तो प्रगट हुई और उसी स्वभाव के बल से अल्पकाल में साक्षात् मोक्षदशा प्रगट होनी है; इसप्रकार वर्तमान निर्मल अंश से संपूर्ण निर्मल मोक्ष को जानता है। किन्तु जिसके आत्मा में भव की भ्रांतिरूप, परमें स्वामित्व, कर्तृत्व मानने का रोग दूर नहीं हुआ, उसे पुण्य के शोथ से निरोगीपन प्राप्त नहीं होता।

आत्मभ्रांति सम रोग नहिं, सद्गुरु वैद्य सुजान।
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहिं, औषध विचार ध्यान ॥

(आत्मसिद्धि)

श्रीमद् राजचद्र ने भी सबसे पहले भावनिद्रा और भावरोग को दूर करने का उपाय करने को कहा है। अपने को ज्ञाता-साक्षीरूप से भूलकर पर को अपना माननेरूप आत्मभ्रांति के समान जगत् में कोई रोग नहीं है। पुण्य-पाप मेरे हैं, मैं पर का काम कर सकता हूँ, पर मुझे सहायता करता है, देहादि की क्रिया मेरे आधीन है, इत्यादि प्रकार की विपरीत मान्यतारूप रोग अनादि का है, उसे दूर करने के लिये 'सद्गुरु चतुरवैद्य हैं' अर्थात् सुज्ञानी गुरु होना चाहिये, और 'गुरु आज्ञा सम पथ्य नहि, औषध विचार ध्यान।' औषधि में पथ्य की विशेषता है, सर्वज्ञ के कहे हुये आशय के अनुसार अपना हित-अहित क्या है इसका विवेक अंतरंग में लाना चाहिये, यही सच्चा पथ्य है, उस पथ्य सहित औषधिरूपी सुविचार को लेकर ध्यान करते करते स्वरूप की महिमा में स्थिर होना सो चारित्र है। सम्यक्चारित्र के होनेपर पूर्ण वीतरागता होकर निर्मल मोक्षदशा अवश्य प्राप्त होगी।

ज्ञान और ज्ञान की क्रिया, निश्चय-व्यवहार निज में होता है।

कर्म के निमित्ताधीन होनेवाली अशुद्धि द्रव्यदृष्टि में गौण है, व्यवहार (पराश्रितभाव) है, अभूतार्थ (जो त्रिकाल न रहे ऐसा क्षणिकभाव) है, असत्यार्थ (त्रिकाल रहने वाले स्वरूप से विपरीत) है, उपचार (जो पर-निमित्त से होता है) है। द्रव्यदृष्टि शुद्ध है, अभेद (ज्ञान, दर्शन, चारित्र ये समस्त गुण निज में एक साथ अभेद) है, निश्चय (पर-निमित्त की अपेक्षा से रहित, स्वाश्रित) है, भूतार्थ (त्रिकाल रहनेवाला) है, सत्यार्थ (निर्मल स्वतंत्ररूप से अपना अस्तित्वभाव) है, परमार्थ है; इसलिये आत्मा ज्ञायक ही है, उसमें भेद नहीं है; इसलिये वह प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है।

उसे 'ज्ञायक' नाम ज्ञेय को जानने से दिया गया है। सामने जैसा पदार्थ होता है वैसा ही ज्ञान ज्ञानमें होता है, तथापि उसके ज्ञेयकृत अशुद्धि नहीं है।

ज्ञान के द्वारा श्रद्धा का लक्ष होता है, फिर भी श्रद्धा श्रद्धा से (स्वभाव के ऊपर लक्ष्य करने से) प्रगट होती है और श्रद्धा के सम्यक्त्व को लेकर ज्ञान में भी सम्यक्त्व आता है।

शुद्धनय (सम्यक् श्रुतज्ञान के अंश) के द्वारा आत्मा को परसे निराला, अखंड ज्ञायकरूप से लक्ष में लेना और ऐसा मानना कि इसी स्वरूप में त्रिकाल रहता है सो सम्यक्श्रद्धा है।

जो त्रिकाल एकरूप निर्मल रहे उसे सम्यक्स्वभाव कहा जाता है। जो आत्मा का स्वभाव हो वह उससे दूर नहीं हो सकता और जो दूर हो जाता है वह (पुण्य-पाप-विकार) उसका स्वरूप नहीं है।

शरीर, मन, वाणी को हटाना नहीं पड़ता क्योंकि वे अलग ही है; वे अपने कारण से, अपने में रहते हैं, आत्मा में नहीं रहते। वर्तमान अवस्था में कर्म के निमित्त से शुभ-अशुभ विकारी भाव होता है सो वह भगवान आत्मा का स्वरूप नहीं है। जो भाव नाश होता है उसे अपना मानना सो मिथ्यादृष्टि है। पुण्य-पाप का आदर अविकारी का अनादर है। पूर्णकृतकृत्य आनंदस्वरूप में त्रिकाल एकरूप निर्मल ज्ञायकरूप में रहना ही आत्मा का शुद्धस्वरूप है। यह शुद्धनय का विषय है।

जैसे पानी के प्रवाह में परवस्तु (पुल, नाला) के निमित्त से खंड (भेद) होता है, किन्तु वह पानी के सीधे प्रवाह का स्वरूप नहीं है, उसीप्रकार परसंयोग से उत्पन्न शुभाशुभभाव के द्वारा आत्मा में जो भेद होजाता है वह शुद्ध आत्मा का स्वरूप, नहीं है, वे सब भेद अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय के विषय हैं।

आत्मा में क्या हो रहा है, वह क्या मान रहा है और उपादेय क्या है? यह यहाँ कहा जाता है। जगत् जैसा मान रहा है वैसा ही कर रहा है किंतु वह सब वृथा है। तत्व के समझे बिना जन्म-मरण

का अन्त नहीं होता। अनादिकाल से जिस भाव से जीव भ्रमण कर रहा है उस बंधनभाव का यदि आत्मप्रतीति के द्वारा नाश न करे तो मिथ्या श्रद्धा में अनन्तभव कराने की शक्ति है।

यदि कोई कहे कि ऐसी सूक्ष्म बातें हमारी समझ में नहीं आती, तो उसके उत्तर में यों कहना चाहिये कि इसके समझे बिना नहीं चल सकता। सच्चा सुख चाहिये हो तो पर से भिन्नरूप में धर्म को समझना चाहिये। आत्मा अरूपी है, उसका भाव अरूपी है, इसलिये समझ में नहीं आता ऐसा नहीं मानना चाहिये। आत्मा को यथार्थ जानकर पुण्य-पाप की प्रवृत्ति से छूटकर, निज में स्थिर होकर अनन्तजीव मोक्ष गये हैं। जितना प्रत्येक आत्मा में सामर्थ्य है, उतना ही कहा जाता है। प्रत्येक आत्मा की जाति एक ही है, इसलिये सर्वज्ञ भगवान ने जैसा स्वरूप कहा है वैसा जो प्रगट करना चाहे वह उसे समझकर प्रगट कर सकता है। कोई एक ही आत्मा ऐसी प्रतीति कर सकता है दूसरा नहीं कर सकता, ऐसी बात नहीं है।

आत्मस्वभाव तो सदा शुद्ध ही है, उसमें से विकार या अशुद्धता नहीं आती। आत्मा पर के निमित्त से रहित अनन्तगुणों की खान है। परसयोग के लक्ष से, पर में अच्छा-बुरा मानने से वर्तमान अवस्था में पुण्य-पाप होता है।

लोग कहते हैं कि-हमें आत्मा का स्वरूप प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता। आचार्य उनसे पूछते हैं कि जगत के जड़ पदार्थों में सुख है यह आंखों से प्रत्यक्ष देखकर किसने निश्चय किया है? सुख पर में है ऐसी कल्पना किसने की और कहाँ की है? इसकी कोई भी खबर नहीं है। इसका कारण ज्ञान की मूढ़ता है। चैतन्य भगवान पर से भिन्न, पर के आश्रय से रहित है। उसकी प्रतीति के बिना जीव भले ही बहुत संपत्तिशाली हो, विशाल भवन में रहता हो, फिर भी वह वैसा ही है, जैसे पर्वतों की गुफाओं में अजगर आदि पड़े रहते हैं; क्योंकि जिसे हित-अहित का परमार्थतः भान नहीं है वह मूढ़ ही है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने

अष्टपाहुड़ में कहा है कि जिन्हे आत्मा की खबर नहीं है वे मानो चलते-फिरते मुर्दे हैं।

जो जड़ आदि जाना जाता है वह जड़ में नहीं जाना जाता, किंतु ज्ञान से ज्ञान में जाना जाता है, ज्ञान ज्ञान की अवस्था में रहकर जानता है। ज्ञान में अपनी ज्ञानरूप अवस्था दिखाई देती है।

अज्ञानी जड़ में-देह, इन्द्रिय, स्त्री, धन आदि में सुख मानता है, किंतु यह कल्पना मात्र है। यदि जड़ के टुकड़े करके उसमें देखे तो सुख कहीं भी दिखाई नहीं देगा, फिर भी अज्ञानी मूढ़ता के कारण पर में सुख मानता है। वर्ण, गंन्ध, रस अथवा स्पर्श में किंचित्‌मात्र सुख नहीं है। अज्ञानी ने विना देखे ऊपर से कल्पना करके उनमें सुख मान रखा है। मैंने किस स्थान से सुख का निश्चय किया है, इसकी भी उसे खबर नहीं है, फिर भी अज्ञानी उस कल्पना में ऐसा निःशंक लीन हो गया है कि वह उससे भिन्न कुछ भी निश्चित करने के लिये तैयार नहीं होता। शरीर, इन्द्रिय, धन, मकान आदि जड़ को यह खबर नहीं है कि हम कौन है। खबर करने वाला तो स्वयं है, फिर भी कीमत दूसरे की आकता है। सम्यग्दर्शनगुण की विपरीत अवस्था के द्वारा वह पर का कर्ता-भोक्ता है, पर में सुख-दुःख है ऐसा मानकर पर में निःसंदेह प्रवृत्ति कर रहा है जहाँ भूल होती है वहाँ यदि सुधार करने के लिये सुलट जाये तो यह स्पष्ट दिखाई देने लगे कि निराकुल, अतीन्द्रिय सुख-स्वभाव अपने में ही है, उसमें कल्पना नहीं करनी पड़ती। अज्ञान अर्थात् अपने निर्मलस्वभाव की असमझ से उस अज्ञान के द्वारा पर में सुख की कल्पना कर रखी है। जिसमें सुख नही है उसमें सुख की कल्पना करके अज्ञानी जीव मंद आकुलता को सुख मान लेता है।

आत्मा में शुभ विकल्प क्षणिक भेदरूप ज्ञात होता है, वह उपचार है, अर्थात् परमार्थ से वह मिथ्या है। शरीर, मन, वाणी के साथ आत्मा का कोई सम्बंध नहीं है, आत्मा तो ज्ञान, शांति, निर्मलस्वभाव एकरूप है। उसमें पर के लक्ष से जो पुण्य-पापभाव का भेद होता है, वह सब अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय है।

सच्चे आत्मतत्व की दृष्टि में विकार नहीं है, क्योंकि विकार क्षणिक अवस्था है, इसलिये वह पर्यायार्थिक है, वह पराश्रित है इसलिये व्यवहार है, जो व्यवहार है वह संयोग से उत्पन्न होता है, और जो संयोगाधीन भाव है वह छोड़ने योग्य है; जो यह नहीं जानता वह मिथ्यादृष्टि–अज्ञानी है।

आत्मा ने अनंतकाल में यह बात कभी नही सुनी, तब फिर वह मनन कहाँ से करेगा? व्रत, तप, दया आदि के शुभभाव हो, अथवा चोरी, हिंसा आदि के अशुभभाव हों सो वे दोनों विकार है, बंधन है, (मात्र अशुभ से छूटने के लिये शुभभाव ठीक है, किन्तु उससे धर्म नहीं होता) इसप्रकार जबतक नहीं समझता तबतक जीव पर के कर्तव्य का अभिमान करके परिभ्रमण करता रहता है।

जो अविकारी मुक्तस्वभाव को अपना समझता है उसके परवस्तु की तृष्णा कम हुये बिना नही रहती। अज्ञानी जितना कर सकता है उससे अनतगुना शुभभाव ज्ञानी की भूमिका में हो जाता है। जबतक ज्ञानी के पूर्ण वीतरागता प्रगट न हुई हो तबतक निम्न भूमिका में अशुभ से बचने के लिये उसके शुभभाव होता तो है, किंतु वह उसका स्वामी नहीं होता।

रजकण, देहादि की प्रवृत्ति और पुण्य–पाप आदि कोई मेरा स्वरूप नहीं है; ऐसी प्रथम श्रद्धा होने पर ही ज्ञानी के पर में अनन्ती आसक्ति का प्रेम दूर हो जाता है, फिर विवेक सहित अशुभ राग घटाने के लिए दानादि के द्वारा वह तृष्णा घटाये बिना नहीं रहता। अज्ञानी के द्वारा स्वामी बनकर किये गये पुण्य की अपेक्षा ज्ञानी के पुण्य का प्रकार पृथक् होता है। देह की अमुक क्रिया हुई इसलिये पुण्य नहीं होता, किंतु उस समय अपने परिणाम शुभ करे तो पुण्य होता है। अज्ञानी स्वामीपने से पुण्य का शुभभाव करता है तो उसके फल से कभी देव या मनुष्य हो जाता है, किन्तु फिर मरकर तिर्यंच, नारकी, निगोद आदि चारों गतियों में परिभ्रमण करता है।

जिस भाव से बंध होता है उस भाव से धर्म नहीं होता। मैं भिन्न निर्विकारी हूँ, कर्म के निमित्त से होनेवाले विकार से भिन्न हूँ, ऐसी समझ जिसके नहीं है वह धर्म के नाम से जहाँ-तहाँ कर्तृत्व का अभिमान करेगा। वह शुभभाव करता है उसका अल्पपुण्य बंधेगा, किन्तु साथ ही मिथ्यादृष्टि का महान् पाप भी बंधेगा। यहाँ यह कहने का मतलब नहीं है कि पुण्य को छोड़कर पाप करे, किंतु तात्पर्य यह है कि ज्ञानी के विकारी भाव का कर्तृत्व या स्वामित्व नहीं है। ज्ञानी लाखों का दान करता है फिर भी किसी शुभभाव में उसके स्वामित्व नहीं है, वह मेरा कर्तव्य नहीं है, देहादि की तथा दानादि की क्रिया का मैं स्वामी नहीं हूँ, किंतु मैं मात्र ज्ञानस्वभाव का ही स्वामी हूँ, ऐसी दृष्टि अन्तरंग में हुये बिना किसी को आत्मधर्म का अंश भी प्रगट नहीं होता।

यहाँ यह बताना है कि जिनमत का कथन स्याद्वाद है। इसलिये अशुद्धनय को सर्वथा असत्यार्थ नहीं मानना चाहिये; अशुद्ध अवस्था नहीं है यह नहीं मानना चाहिये। अशुद्धता अज्ञानभाव से है, द्रव्यस्वभाव में नहीं, यह जानना चाहिये।

आत्मा स्वभाव से निर्मल है। किन्तु वर्तमान अवस्था में साक्षात् निर्मल नहीं है। यदि अवस्था से निर्मल हो तो पुरुषार्थ करके राग दूर करने की आवश्यकता न रहे। यदि निर्मल अवस्था प्रगट हो तो प्रत्यक्ष आनन्द प्राप्त हो; किन्तु प्रत्यक्ष आनन्द नहीं है इसलिये अवस्था में अशुद्धता है। उसे दूर करने के लिये पुरुषार्थ करना चाहिये।

स्वभाव में रागद्वेष नहीं है, इसप्रकार निर्मलस्वभाव की श्रद्धा करने के लिये और निर्मलस्वभाव को उपादेय मानने के लिये कहा जाता है। पुण्य-पाप का विकारी भाव जीव की अवस्था में होता है, कुछ जड़-देह में शुभ-अशुभ विकल्प नहीं होता? अशुद्धता परद्रव्य के संयोग से आत्मा में होती है, पर में नहीं।

कुछ लोग कहते हैं कि शरीर का धर्म शरीर में होता है; रोगादि की अवस्था देह में होती है यह सच है, किन्तु आत्मा जो रोग देखकर

द्वेष और निरोगता देखकर राग करता है वह आत्मा में होता है, संयोग से सुख-दुःख नहीं होता। फिर भी संयोग में ठीक-अठीक मानकर मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, इसप्रकार जीव विकार करता है और इसी से पर में सुख-दुःख की कल्पना करता है। उस अशुद्ध अवस्था को अपनी मानने के रूप में जो अशुद्धनय का पक्ष है वह त्याज्य कहा गया है, क्योंकि आत्मा में पर के आश्रय से जो पुण्य-पाप विकार होता है वह मेरा है, ऐसी अशुद्धदृष्टिरूप व्यवहार का फल चौरासी के अवतार में परिभ्रमण करना है।

कोई कहता कि अभी पाप को छोड़कर पुण्य करते हैं, फिर बाद में धर्म करने लगेंगे। उससे कहते हैं कि जो ऐसा-भाव नहीं करता कि अभी ही धर्म समझना चाहिये वह यदि कदाचित् स्वर्ग में जायगा तो वहाँ भी आकुलता का अनुभव करेगा, अज्ञानी वहाँ भी इंद्रियों के विषय की आकुलता से भीतर ही भीतर जल रहे हैं।

वीतरागदेव कहते हैं कि भगवान आत्मा के लक्ष्य को चूककर जो पुण्य-पाप के क्षणिक विकार को अपना मानता है उसे जन्म-मरण के दुःख फलते रहते हैं। जितना परलक्ष से, पर में कल्पना से सुख माना वह सुख नहीं है। ज्ञानी के आत्मा के सुख के सामने इन्द्र का पद भी सड़े हुये तिनके के समान है। ज्ञानी के पुण्य की महिमा नहीं है, आदर नहीं है, वह तो गुण के जलने का फल है। पर को, विकार को अपना माननेरूप व्यवहार का फल संसार है। जो विकार है वही मेरा कर्तव्य है, ऐसा माननेवाला आत्मा संसार में दुःख भोगता है।

भगवान आत्मा निर्विकार, पवित्र आनंदघन है उसे श्रद्धा के विषय में नहीं लिया और पुण्य-पाप के गीत गाता रहा, तथा विकार और बंध का आदर किया, उसे जन्म, जरा, मरण से रहित की श्रद्धा की खबर नहीं है; इसलिये वह पराश्रय से अच्छा-बुरा माननेरूप अज्ञान का फल-दुःख भोगता है।

पुण्य-पाप विकार मेरा स्वरूप नहीं है, मैं पूर्ण शुद्धस्वरूपी हूँ, इसप्रकार माने तो दुःख दूर होता है। इस दुःख को दूर करने के लिये शुद्धनय का उपदेश मुख्य है। जब शुद्धनय के द्वारा शुद्धस्वरूप जानकर निर्विकारीदशा प्रगट करता है तब जीव सुखी होता है, इसलिये शुद्धनय का उपदेश प्रथम से ही उपयोगी है। शुद्धस्वभाव को बताने वाला उपदेश खूब सुनना चाहिये।

आत्मा द्रव्यस्वभाव से त्रिकाल निर्मल है, किंतु वर्तमान अवस्था में पुण्य-पाप का विकार उसे नहीं होता इसप्रकार सर्वथा एकांत समझने से मिथ्यात्व होता है इसलिये अपेक्षा के भाव को बराबर समझकर जो क्षणिक विकार है उस ओर का लक्ष्य छोड़कर, मैं अविकारी अनंत ज्ञानानंद की मूर्ति हूँ, इसप्रकार अपने पूर्ण ध्रुवस्वभाव को लक्ष में लेने वाली शुद्धदृष्टि का अवलंबन लेना चाहिये। पूर्णस्वरूप की प्राप्ति होने के बाद अर्थात् पूर्ण वीतराग होने के बाद शुद्धनय का भी अवलंबन नहीं रहता।

जैसे कोई राजपुत्र राजा होने योने योग्य हो, किंतु जबतक वह वर्तमान में संपूर्ण राज्य का स्वामी नहीं हुआ तबतक उसके विकल्प रहता है; किन्तु जब वह साक्षात् राजा होकर गादी पर बैठ जाता है और अपनी आज्ञा चलने लगती है तब फिर यह विकल्प नहीं रहता कि मैं राजा हूँ, और उसकी भावना भी नहीं रहती। इसीप्रकार प्रारंभ में जो इतनी अवस्था मलिन है वह मैं नहीं हूँ किंतु मैं तो पूर्ण हूँ, शुद्ध हूँ, निर्मल हूँ, इसप्रकार निर्मल पक्ष की ओर जाने के लिये झुकता है—उसकी भावना करता है, किन्तु जब वस्तु की प्रतीति करके निःशंक हो जाता है तब फिर स्वरूप का निर्णय करने का विकल्प नहीं रहता। निर्णय होने पर सम्यक्-श्रद्धा संबंधी विकल्प नहीं रहता।

प्रमाण का फल वीतरागता है। मैं द्रव्यस्वभाव से पवित्र हूँ, अवस्था से थोड़ी मलिनता है, स्वरूप में स्थिर होने पर वह मलिनता दूर होकर निर्विकल्पता आती है और उसका फल वीतरागता है, इसप्रकार निश्चय

करना योग्य है। गुणस्थान की परिपाटी में छट्ठे गुणस्थान तक तो प्रमत्त कहा जाता है और सातवे से लेकर अप्रमत्त कहा जाता है, परंतु इन सर्व गुणस्थानों में कर्म के निमित्त की अपेक्षा होती है, यह अशुद्धनय के कथन की अपेक्षा से है; शुद्धनय से आत्मा निरपेक्ष ज्ञायक ही है।

प्रश्न—आत्मा अनन्त ज्ञानमूर्ति, अपने अनन्तगुण से अभिन्न, निर्मल, पूर्ण और पर से भिन्न बताया गया है, उसकी श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। उस पूर्णस्वरूप को पुण्य-पापादि पर से प्रथक् जानने वाला ज्ञान और उसमें स्थिरतारूप चारित्र, इन तीनों को आत्मा का धर्म कहा गया है। यह तो तीन भेद हुये। इन भेदरूप भावों से आत्मा के अशुद्धत्व आता है या नहीं?

उत्तर—वस्तु अभेद है, उसमें भेदरूप लक्ष करने पर राग (विकल्प) होता है और विकल्प में पर की अपेक्षा से जितनी जितनी अवस्था के प्रकार होते है उतनी अशुद्धता होती है। एक में अपेक्षा भेद नहीं होता। जब दूसरी वस्तु, पास में रखी जाती है तब इसकी अपेक्षा से छोटा, और इसकी अपेक्षा से बड़ा, ऐसा कहा जाता है और तब दूसरे की दृष्टि से देखने पर परकी अपेक्षा होती है। इसप्रकार चैतन्यमूर्ति निर्विकल्प है. उसमें राग-द्वेष, पुण्य-पाप विकार, प्रमत्त-अप्रमत्त, बंध-मोक्ष, इत्यादि भेद परसयोग की अपेक्षा से होते हैं। यदि आत्मा को अकेला सामान्यरूप से लक्ष में लें तो वह ज्ञायक, चिदानंद, त्रिकाल निर्मल है, और ऐसे उसका एक ही प्रकार होता है।

यहाँ पर एक ही निरपेक्षस्वभावभावरूप से आत्मा कैसा है, उसकी पहिचान करने की बात चल रही है। जो यह मानता है कि यह कठिन मालूम पड़ रहा है, हमारी समझ में नहीं आ सकता, वह उसका पात्र होने पर भी अपात्रता की बाते करता है। आत्मा का स्वरूप समझना सहज है, क्योंकि उसमें कष्ट नहीं है। जबकि दो घड़ी में मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है तब उसे कठिन कैसे कहा जाय? पाँच लाख का बंगला दो घड़ी में नहीं बंध सकता, क्योंकि वह परवस्तु है और परवस्तु

आत्मा के आधीन नहीं है, किन्तु आत्मा चिदानंदमूर्ति है, ऐसी प्रतीति करके जो स्वभाव में स्थिर होता है उसे अन्तर्मुहूर्त में पूर्ण निर्मल केवलज्ञानदशा प्राप्त हो जाती है इसलिये जो आत्मा की सत्ता की बात हैं वह सरल है।

प्रश्न—यदि आत्मा का ज्ञान सरल है तो जीव उसे समझकर शीघ्र स्थिर क्यों नहीं हो जाता ?

उत्तर—यहाँ प्रथम अपनी स्वाधीनता की निर्मल श्रद्धा करने की बात है। सच्ची आंतरिक पहिचान होने के बाद उस निर्मल श्रद्धा के बल से जीव स्थिर हो जायगा और आत्मा के संपूर्ण शुद्धस्वरूप की श्रद्धा होने से वह अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त कर सकेगा, इसलिये प्रथम सत्य का आदर करके उसकी रुचि बढ़ानी चाहिये।

जो यह कहता है कि "अभी नहीं," वह मूर्ख है। जहाँ बारह महीनों में पाच लाख रुपये मिलते हों वहाँ यदि एक महीने में उतने मिल जाये तो उससे कौन इन्कार करेगा ? रुचिकर वस्तु अल्पकाल में मिल जाय तो लोग उसमें आनन्द मानते है। एक घण्टे में पाच लाख रुपये कमा लिये यह सुनते ही हृदय-उमग से भर जाता है। जिसे जिसकी रुचि होती है उसे उसकी प्राप्ति हुई जानकर हर्ष का पार नहीं रहता, उसे उसके प्रति बहुमान आये बिना नहीं रहता। किन्तु यह नो मात्र ससार के अनुकूल संयोग की बात हुई; जिसका फल शून्य है। क्योंकि उससे आत्मलाभ कुछ नहीं होता। आत्मा की अपूर्व बात अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त कर लेने का सुयोग और उसकी महिमा को सुनकर जो हर्ष से उछले पड़े और कहे कि मैं भी दो घड़ी में केवलज्ञान प्राप्त करने की पूर्ण शक्तिवाला हूँ, वही सच्चा जिज्ञासु है। किन्तु यदि कोई यह मानले कि हम भी हाँ कहदें, आचार्यदेव ने भी कहा है कि दो घड़ी में केवलज्ञान प्राप्त हो जायगा किन्तु समझ का कोई मेल नहीं बैठता, तथा यह न समझना चाहता हो कि चैतन्य की निर्मलता क्या है और मलिनता क्या है, फिर भी केवलज्ञान चाहिये हो तो यह कैसे हो सकता है ?

जैसे किसी को सिपाही होना है किंतु उसने बंदूक पकड़ने की कला प्राप्त नहीं की तो अभ्यास के बिना शत्रु को कैसे मार सकेगा ? इसी-प्रकार स्वभाव परभाव क्या है यह जाने बिना तथा उसकी श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान के विवेक की कला को प्राप्त किये बिना राग-द्वेष को कैसे दूर कर सकेगा ? शास्त्रों में कहा है कि ४८ मिनिट में आत्मा केवल-ज्ञान प्राप्त कर लेता है। यह आत्मा की अनंतशक्ति की महिमा के लिये कहा है। अनंत आत्माऐ पूर्णपुरुषार्थ करके ४८ मिनिट में केवलज्ञान को प्राप्त हो चुकी है, मैं भी वैसा ही हूँ, ऐसा निर्णय करके वैसी भावना करनी चाहिये ।

आत्मा के परवस्तु का स्वामित्व त्रिकाल में भी नहीं है, इसलिये परवस्तु में वह यथेच्छ नहीं कर सकता। कदाचित् पूर्वपुण्य के निमित्त से उसे अपनी इच्छानुसार संयोग मिलता है, किंतु उसमे वर्तमान पुरुषार्थ किंचित्मात्र भी कार्यकारी नहीं है, तब आत्मा में तो पुरुषार्थ ही कार्यकारी है। इसलिये उसकी प्राप्ति के लिये अनंतपुरुषार्थ करना चाहिये ।

जैसे सोना एक है, उसमें पीलापन, चिकनापन और भारीपन ऐसे तीनभेदों को लक्ष में लेने से एकरूप सोना लक्ष में नहीं आता, किंतु भेद को गौण करके एकाकार सामान्य सुवर्ण को देखने से उसमें पीला-पन, चिकनापन इत्यादि का भेद दिखाई नहीं देता; उसीप्रकार आत्मा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र, इन तीन गुणों से देखने पर एकत्व आत्म-स्वरूप लक्ष में नहीं आता किंतु विकल्प होकर भेद लक्ष में आता है। उसे वर्तमान पर्याय का भेदरूप लक्ष गौण कैसे है ? श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र तीनों आत्मा में एकसाथ है ऐसे अभेद की श्रद्धा कैसे होगी ? इसप्रकार शिष्य प्रश्न करता है ।

समाधान—आत्मा में दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, इसप्रकार तीनों का विचार करने पर राग की रेखा आजाती है इसलिये दर्शन, ज्ञान, चारित्र को पृथक् पृथक् भेदरूप लक्ष में नहीं लेना चाहिये, किन्तु अविकारी,

निरपेक्ष, पूर्ण अभेदस्वरूप को लक्ष में लेना चाहिये, यह सातवीं गाथा में कहेंगे ।

अनादि के अज्ञानी को समझाने के लिये यह 'समयसार' शास्त्र है, इसलिये सबसे पहले यह समझने की आवश्यक्ता है । यदि कोई ऊपर ही ऊपर से प्राप्त कर लेना चाहे तो नहीं मिलेगा । यदि दुःख को जाने तो उसे दूर करने का उपाय भी समझ में आ सकता है ।

इस सातवीं गाथा को समझते समय बहुतों के विपरीत तर्क उठते हैं । कितने ही लोग कहते हैं कि 'दर्शन, ज्ञान, चारित्र आत्मा के नही हैं', ऐसा कहा है ! किंतु क्यों नहीं हैं ? यह वे नहीं समझते । वास्तव में तो यहाँ यह कहा है कि इन तीनों का विकल्प (भेद) आत्मा में नहीं है । इसलिये आचार्यदेव का जो कथन है वह बराबर समझना चाहिये । 'यथार्थ ज्ञान हुये बिना आगम अनर्थकारक होजाता है ।'

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं ।
णवि णाणं न चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥

व्यवहारेणोपदिश्यते ज्ञानिनश्चरित्रं दर्शनं ज्ञानम् ।
नापि ज्ञानं न चरित्रं न दर्शनं ज्ञायकः शुद्धः ॥ ७ ॥

अर्थः—ज्ञानी के चारित्र, दर्शन, ज्ञान–ये तीन भाव व्यवहार से कहे जाते हैं; निश्चय से ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है और दर्शन भी नहीं है; ज्ञानी तो एक शुद्ध–ज्ञायक ही है ।

मैं पर से भिन्न तथा स्व से एक अभेदस्वरूप, निरपेक्ष, निरावलंबी हूँ, यह न समझना मिथ्यात्व है और अनन्त संसार का मूल है ।

धर्मी जीव को निम्नदशा में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये तीन भेद व्यवहार से-परनिमित्त की अपेक्षा से कहे जाते है; एक ही वस्तु में ये तीन गुण हैं, भिन्न–भिन्न–विभक्त नहीं हैं । जैसे कि स्वर्ण में

पीलापन, चिकनापन और भारीपन है परन्तु उसको "जो पीला है सो सोना है, उसमें चिकनापन है, भारीपन है" इसप्रकार एक साथ रहे हुओं को, भिन्न-भिन्न कहना भेद बतलाकर समझाना सो व्यवहार है। इसीप्रकार आत्मा में सत्=त्रिकाल होना, चिद्=ज्ञान, आनद=स्वरूप-रमणता-स्थिरता, इन एक साथ रहनेवाले गुणों को भिन्न-भिन्न भेद करके कहना सो व्यवहार है।

तीन भागों में तीन गुणों के भिन्न-भिन्न तीन भाग नहीं हैं। जैसे एक खाने में धनिया, दूसरे में जीरा और तीसरे में हल्दी अलग अलग है, उसीप्रकार आत्मा में तीन गुण भिन्न-भिन्न नहीं हैं; तथापि भेद करके कहना सो व्यवहार है; तीनों का जो एकरूप है सो आत्मा का स्वरूप है; यही निश्चय है।

यदि कोई कहे कि "आपने आत्मा में से दर्शन, ज्ञान, चारित्र तो बाहर निकाल दिये और मात्र बातें करने का धर्म रखा है" तो उसे कहा जायगा कि तुमने अपेक्षा को नहीं समझा। यह तो मोक्ष पाने की समझ है। जो यथार्थरूप से समझ जाय वह अल्पकाल में ही मोक्ष-दशा को प्रगट कर सकता है। जो अपूर्वभाव से सुने और समझे उसकी अनन्तभव की भूख भग जाय ऐसी यह अद्भुत बात है। भगवान आत्मा की महिमा को बताने वाले इस समयसार की अलौकिक रचना हुई है। इसमें तीनों काल और तीनों लोक के सब समाधान हैं। जिसके भाग्य हों उसे यह सुनने को मिलता है। और जिसे सत् का प्रेम हो और पुरुषार्थ हो उसके अन्तरग में यह बात अवश्य बैठ जाती है।

पहले ही पूर्ण ज्ञायकस्वरूप निर्विकल्परूप है, उसकी वास्तविक श्रद्धा करके गुण के भेद करने का यहाँ निषेध किया गया है। विकल्प (राग का अंश) मेरा नहीं है। शुभ, अशुभ राग के भेद है उससे भिन्न का विवेक करके अखण्ड ज्ञायक का एकरूप निश्चय करे तो वहाँ भेदरूप दर्शन, ज्ञान, चारित्र नहीं हैं, परन्तु अनन्तगुणों का पिण्ड आत्मा

है। इसप्रकार अभेद निश्चयरूप से आत्मा को लक्ष में लेना चाहिए, ऐसी श्रद्धा में और निर्विकल्प स्थिरता में भेद का निषेध होजाता है; परन्तु गुण का निषेध नहीं होता।

चन्दन की लकड़ी में कोमलता, सुगंधि और भारीपन तीन प्रकार हैं, उसकी अन्य पदार्थों से भिन्न पहचान कराने के लिये गुणों का भेद किया है। चन्दन की लकड़ी मे अपनेपन से जो होना है सो 'अस्ति' धर्म है, पर की अपेक्षा से न होना सो 'नास्ति' धर्म है। इसप्रकार उसमें अनेक गुण है। इन समस्त गुणों के एकत्रित होते हुए भी 'चंदन सुगंधित है' इसप्रकार एक गुण को भिन्न करके पहचान कराना, सो व्यवहार है।

जिन्हे निश्चय-व्यवहार का ज्ञान नही है, वे इस सातवीं गाथा का अर्थ अन्यथा करते है, उनकी इस भूल को दूर करने के लिये इस गाथा का यहाँ विशेष स्पष्टीकरण करते है। चन्दन की लकड़ी को अन्य से भिन्न दिखाने के लिए उसके गुणों को भिन्न करके दिखाते है, तो भी उसमें भेद नहीं होता। इसीप्रकार आत्मा को पर से भिन्न पूर्णस्वरूप से पहचान कराने के लिये उसके अनंत धर्मों में से कुछ धर्मों के द्वारा समझाया जाता है। जैसे—श्रद्धा करे सो आत्मा, स्व-पर को जाने सो आत्मा, जो अन्तरंग स्थिरतारूप चारित्रगुण है सो आत्मा है।" यह तीनों गुण प्रतिसमय आत्मा में एक साथ—अभिन्न रहते है। परन्तु जो अज्ञानी समझता नहीं है उसे एक-एक गुण पृथक् करके समझाना सो व्यवहार है। उसे समझाते हैं कि जैसे पर का विश्वास करता है उसी-प्रकार पुण्य-पाप विकाररहित अपना विश्वास करे, ऐसा गुण आत्मा का है। अपना ज्ञान स्व-पर का जाननेवाला है। पुण्य-पाप तथा पर के आश्रय से रहित आत्मा में एकाग्रता का होना सो चारित्र है। परन्तु इसप्रकार तीनों गुण पृथक् नहीं हो जाते। निश्चय से समस्त गुणों का एकत्रित पिण्ड जो ज्ञायक है उसे अभेदरूप से देखे तो "दर्शन नहीं, ज्ञान नहीं, चारित्र नहीं," अर्थात् ये गुण पृथक्-पृथक्रूप से विद्यमान

नहीं है, परन्तु अनतगुण अभिन्न है। भेदरूप से लक्ष करने पर मन के संबंध से विकारूप भेद पड़ जाते हैं। उस विकल्प के लक्षद्वारा अन्तरंग में स्थिरता नहीं हो पाती और अभेद स्थिरस्वरूप आत्मा का अनुभव नहीं होता।

जो एक साथ सर्वगुणों के अमेद पिण्ड को अखण्ड निर्मलदृष्टि से देखा जाय तो दर्शन, ज्ञान, चारित्र के भेदरूप विकल्प नहीं उठते। एक समय में ध्रुवस्त्रभावी अनंतगुणस्वरूप अखण्ड पिण्ड आत्मा है, ऐसा निश्चय-स्वरूप यहाँ बतलाते है। आत्मा अखण्ड ज्ञायकस्वरूप है, इसलिये उसमें गुणों के भेद का निषेध इस सातवीं गाथा में किया है।

एक गुण को प्रथक् करने की ओर लक्ष करे तो मन के सम्बध से विकल्प होने पर आत्मा में निर्विकल्परूप अभेद नहीं हो सकता। भिन्न-भिन्न गुणों का विकल्प छोड़कर निर्मल संपूर्ण तत्व पर लक्ष करे तो "मैं दर्शन हूँ, ज्ञान हूँ, चारित्र हूँ," ऐसा एक-एक गुण भेदरूप लक्ष में नहीं आता अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चारित्र का विकल्परूप राग उत्पन्न नहीं होता। "मैं स्थिर होना चाहता हूँ," ऐसी वृत्ति शुभराग है। "मैं एकाकी–भेदरहित अखण्ड वस्तु हूँ," इसप्रकार एकत्व का अनुभव करते समय दर्शन, ज्ञान, चारित्र का भेद करने वाला विकल्प विद्यमान नहीं है। सम्यग्दर्शन का विषय अभेद है। और वहाँ निर्विकल्प दशा है।

यह जौहरी बनने के लिये प्रथम उम्मेदवारी के समान है। आत्मा की परीक्षा करने के लिये और पराधीनता को दूर करने के लिये पर से शुभ–अशुभरूप विकल्प से किसप्रकार भिन्न है, इस बात को सावधानी-पूर्वक सुनने में और समझने में तत्पर रहना सो यह जौहरी की दुकान पर पानी भरते–भरते (पानी भरने की नौकरी करते-करते) जवाहरात का व्यापार सीख जाने के समान है।

जो अभेदस्वरूप में दर्शन, ज्ञान, चारित्र के भेद करके विकल्प करने में व्यस्त हो गया उसे अभेद अनंतगुणों के पिण्ड निर्विकल्प आत्मा का लक्ष नहीं होता, और ऐसा लक्ष हुए बिना निर्मल श्रद्धा नहीं

हो सकती । यहाँ चौथा गुणस्थान प्राप्त करने की बात कह रहे हैं। जिसे निर्विकल्प अभेद की श्रद्धा नहीं है उसी के लिये यह बात कही जा रही है ।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र के भेद किये जाते हैं, यह व्यवहाररूप शुभ-विकल्प है । उस भेद का निषेध करने वाले ज्ञानी को तो निश्चय से एकत्व है ।

ज्ञानी–सम्यग्दृष्टि जीव तो एक ज्ञायक है । अर्थात् तीन गुणों का भेद किये बिना, अखण्ड ज्ञायक की ओर लक्ष रखता है । किसी को अच्छी कारीगरी (नक्काशी) किया हुआ सोने का मुकुट मिल जाय, और वह सुनार के यहाँ बेचने जावे, और तब सुनार उससे कहे कि "इसमें चाहे जितनी बारीक नक्काशी (कारीगरी) हो, हम इसका मूल्य नहीं देंगे, किन्तु मात्र सोने की ही कीमत देंगे, क्योंकि हमारे लिये कारीगरी की कोई कीमत नहीं है," इसीप्रकार आत्मा पर से निराला राग–द्वेष, पुण्य–पाप, मन, शरीर, वाणी से भिन्न है, उसमें मैं ज्ञान–दर्शन वाला हूँ, इसप्रकार मन के द्वारा भेदरूप कारीगरी अन्तरंग में निर्णय करने के लिये प्रथम आवश्यक थी, परन्तु अभेद लक्ष के समय भेद (कारीगरी) का मूल्य नहीं है । प्रथम मन के द्वारा भेद करके संपूर्ण स्वरूप को पहचानने के बाद गुण के विकल्परूप भेद को दूर करने के लिए अभेद के लक्षद्वारा भेद का निषेध किया गया है ।

माल लेते समय विकल्प करता है, उसका मूल्य तय कर लेने पर तौलते समय तक विचार (विकल्प) आते हैं, परन्तु खाते समय उस सबका विचार नहीं किया जाता । इसीप्रकार प्रथम आत्मा को समझने के लिये "ज्ञान है, श्रद्धा है, सामान्य–विशेषरूप से आत्मा ऐसा है," ऐसा ज्ञानद्वारा विचार करते समय दर्शन, ज्ञान, चारित्र के विकल्प होते हैं, परन्तु ज्ञानद्वारा तोल (निश्चय–माप) करने के बाद, अभेद निर्मल आत्मा की श्रद्धा करते समय और उसमें स्थिर होते समय उसकेविकल्प नहीं होते । जैसे कि माल तोलते समय तराजू और बांट की जरूरत

होती है, परन्तु खाते समय तराजू आदि एक तरफ पड़ी रहती है, इसीप्रकार आत्मा का निश्चय करने के बाद एकाग्र अनुभव के समय चारित्र आदि के विकल्प करने की आवश्यकता नहीं होती। "मैं ज्ञान हूँ, उसमें स्थिर होऊँ," ऐसे शुभभाव के विकल्प में अटक जाय तो निर्विकल्प अनुभव नहीं होता। यदि विकल्प के द्वारा ही आत्मा के दर्शन, ज्ञान, चारित्र माने तो ऐसे मन के शुभभाव तो आत्मा अनन्तवार कर चुका है। "मैं निर्विकल्प शुद्ध हूँ, अनन्त गुणों से अभेद हूँ," ऐसी श्रद्धा का अभेदरूप से आत्मा में अनुभव होने पर श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र के भिन्न–भिन्न भेद ज्ञानी के नहीं रहते। प्रथम आत्मा की श्रद्धा के समय एकाग्रता होने पर निर्विकल्प आत्मा का अनुभव होता है और आगे बढ़ने पर विशेष चारित्र में इसप्रकार निर्विकल्पता का ही अनुभव होता है। भेद हो तो विकल्प होते हैं। ऐसा समझे विना कोई एकान्त में एक जगह वैठ जाय तो मात्र इतने से ही आत्मानुभव नहीं हो जाता। प्रथम सत्य–असत्य का निर्णय होने के बाद अनुभव होता है।

व्यवहार अर्थात् बाट–तराजू के समान शुभभाव आत्मा ने अनंतबार किये है, परन्तु पर से भिन्न अविकारी चिदानन्द भगवान आत्मा को सम्यग्ज्ञान के माप में लेकर निश्चय नहीं कर सका।

एक आत्मा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र के भेद करने से क्रम की अपेक्षा होती है, क्रम में मन की अपेक्षा होती है, इसप्रकार भेदद्वारा एकाकार गुणदृष्टि का अनुभव प्रगट नहीं होता और अन्तरंग में अभेद–एकाग्रता नहीं होती।

टीका'—यह ज्ञायक आत्मा की बंध पर्याय (कर्म के सम्बन्ध की अवस्था) के निमित्त से क्षणिक अशुद्धता होती है, वह तो दूर ही रही, उसे जो अपना मानना है सो मिथ्यादृष्टि है, परन्तु 'दया पालूं, व्रत आदरूँ' आदि जो शुभविकल्प है वह अशुद्धभाव (विकार) है, उसे भी जो अपना मानता है सो मिथ्यादृष्टि है। वह अशुद्धता तो दूर रही परन्तु ज्ञायक आत्मा के एकत्व में दर्शन, ज्ञान, चारित्र भी विद्यमान नहीं

है, अर्थात् एक वस्तु में तीन भेद नहीं होते। जो ऐसा नहीं समझते, उन्हे सन्देह उत्पन्न होता है। यदि अपनी कल्पना से पढ़े तो आगम भी अनर्थकारक हो जाता है। समयसार परम आगम है, इसमें सर्वसमाधान हैं। अलौकिक बाते कही है, परन्तु गुरुगम के बिना समझ में नहीं आ सकती। समस्त गुणों का पूर्णपिण्ड आत्मा है, इसीलिये अभेद जानने के लिये कहा है कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र भिन्न-भिन्न विद्यमान नहीं हैं, परन्तु ऐसा किसने कहा है कि वे गुण ही नहीं हैं?

घी, गुड़ और आटे को मिलाकर लड्डू बनाया हो, और फिर उसमें से घी, गुड़, आटे को अलग कर डालो तो लड्डूरूप वस्तु ही न रहेगी, इसीप्रकार आत्मा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता है। उसके भिन्न-भिन्न भेद करके विचार के द्वारा टुकड़े करना ठीक नहीं है।

गुण का भेद करके विचार करे तो विकल्प उत्पन्न होता है, अभेद का अनुभव नहीं होता। जिसे आत्मानुभवरूपी मोदक खाना हो उसे तीन गुणों का भेद करके शुभविकल्प करने में अटकना नहीं भायेगा। बाह्य-स्थूल आलंबन की तो बात ही क्या, परन्तु सूक्ष्म विकल्पों का भी यहा निषेध है। लोगों को ऐसा उपदेश सुनने को नहीं मिलता, और अन्तस्तत्व की विचारणा बहुत कम होती है। जिससे आत्मा का गुण प्रगट हो ऐसा श्रवण-मनन प्राप्त नहीं होता, परन्तु जिस भाव से अनन्तभव बढ़ें ऐसी उल्टी मान्यता और पर में कर्ता-भोक्ता की बातें मानने वाले और मनाने वाले बहुत मिलते हैं।

आत्मा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र विद्यमान नहीं हैं अर्थात् जहा अखंड निर्विकल्पस्वरूप लक्ष करना है वहाँ भिन्न-भिन्न भेद प्रतीत नहीं होते, अपितु अनन्तगुणों का पिण्ड निर्मल ज्ञायक एकस्वरूप प्रतीत होता है। परमार्थ से एकत्वस्वरूप में दर्शन, ज्ञान, चारित्र भेदरूप नहीं है।

अनन्तधर्मों वाले एक धर्मी की पहिचान करने में जो निष्णात नहीं है ऐसे निकटवर्ती शिष्य के लिए, अनन्तधर्मस्वरूप आत्मा की पहिचान कराने वाले कितने ही धर्मों के द्वारा उपदेशकर्ता-आचार्यगण

अभेद के लक्ष से—नाम से भेद कर देते है कि सत्–चित्–आनन्द (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र) का धारण करने वाला आत्मा है, परन्तु परमार्थ से आत्मा में तीनों गुणों के भिन्न–भिन्न भाग नहीं हैं अतः भेद विद्यमान नहीं हैं।

प्रश्न—आत्मा कैसा है?

उत्तर—आत्मा अनन्तधर्म अर्थात् अनन्तगुणस्वरूप है। जानना, श्रद्धा करना, वीर्य, अस्तित्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व आदि अनन्तधर्म आत्मा में एक साथ विद्यमान है। एक वस्तु अनन्तगुणों का पिण्ड है। ऐसे आत्मा को जानने में जो शिष्य प्रवीण नहीं है उसे कितने ही गुणो द्वारा नाम से भेद करके व्यवहारमात्र से ही ऐसा उपदेश देते है कि ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। जो निष्णात नहीं है ऐसे निकटवर्ती शिष्य को अर्थात् जो अज्ञानी समझना चाहता है, उसे कहा जाता है; जो ज्ञानी है उसे तो खबर है ही।

कोई कहता है कि तेरहवें या सातवे गुणस्थान और उससे ऊपर की यह बात है। किन्तु ऐसा नहीं है। लोगों को सत्य बात मुश्किल से सुनने को मिलती है, वहाँ तत्व के विरोधी ऐसा असत्य कहकर भड़का देते है। आचार्य तो कहते है कि जो शिष्य 'अनन्तधर्मवाला आत्मा कैसा है' इस बात को नहीं समझा, परन्तु निकटवर्ती है अर्थात् पात्र है (समझने के लिए निकट आया हुआ है) उसीसे यह बात कहते हैं। अनन्तकाल से जिस स्वरूप को नही समझा कि वह कैसा है, किन्तु समझने की उत्सुकता वाला है, वह निकटवर्ती है, उसे यह बात समझाई जाती है। जो नहीं समझता वह पूछता है; उसे 'तू एकरूप अभेद आत्मा है' ऐसा कहदे तो वह अनन्तधर्मस्वरूप वस्तु को कभी समझेगा ही नहीं।

परमार्थ से आत्मा निर्विकल्प, निरावलम्बी है, अनन्तगुण का पिण्ड है। उसकी श्रद्धा में भेद करनेरूप विकल्प का भी अवकाश नहीं है, तो भी जो समझना चाहता है उसे भेद करके एक–एक गुणद्वारा अभेद आत्मा का लक्ष कराने के लिए व्यवहारमात्र से भेद करना पड़ता है।

श्रीगुरु कहते हैं कि–अभेदस्वरूप को जीव लक्ष में ले सके इसलिए भेद का कथन करना पड़ता है, जैसा हम समझते हैं वैसा निकटवर्ती (सत्य समझने का अभिलाषी) शिष्य पूर्णतया समझ लेगा। इस कथन का यह आशय है कि अध्यात्मशास्त्र का भाव चाहे जिससे सुने अथवा स्वयं ही पढ़े तो स्वच्छन्दरूप से यह अपूर्व आत्मबोध प्रगट नहीं होता। एकबार साक्षात् ज्ञानी के पास से गुरुगमरूप सत्समागम से साक्षात् सुनना चाहिये। 'दीपक से दीपक जलता है' इस सिद्धांत के अनुसार उपादान सत् को ग्रहण करने को तैयार हो तो वहाँ ज्ञानी की उपस्थिति होती ही है।

"बुझी चहत जो प्यास को, है बूझन की रीत;
पावे नहिं गुरुगम बिना, यही अनादि स्थित॥"

(श्रीमद् राजचन्द्र)

जिस मनुष्य को अधिक प्यास लागी हो और वह जल पीने जावे तो जल प्राप्त कर लेता है, उसीप्रकार सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा को कैसा कहा है, उसका वास्तविक स्वरूप कैसा है, इसकी जिसे प्रबल जिज्ञासा है, वह सत्समागम प्राप्त कर लेता है, परन्तु स्वयं अकेला ही शास्त्र पढ़े तो उससे वह समझ नहीं सकता। ये तो सूत्र है।

जैसे अभ्रक के पटल में से परत में से परत निकलते चले जाते हैं वैसे ही एक शब्द में से कई कई अर्थ निकलते जाते हैं।

निकटवर्ती का अर्थ "ज्ञानी के पास आकर उपस्थित" होता है। निकट दो प्रकार से होता है–(१) क्षेत्र से निकट, (२) भाव से निकट। बाह्य में जो साक्षात् ज्ञानी के पास आया है वह क्षेत्र से निकट है और अन्तरंग से समझने की जिसकी तैयारी है, वह भाव से निकट है। एकबार ज्ञानी के समीप पहुँचना चाहिये। इस कथन में दूसरों से भिन्न ज्ञानी की पहचान कराने वाला अपना विवेक है। ज्ञानी की प्राप्ति होनी चाहिये यह कहने में पराधीनता नहीं है। जो स्वयं पात्र बन गया

है उसे ज्ञानी का योग न मिले ऐसा कभी नहीं होता। इसीलिये श्रीमद् राजचंद्र ने सत्समागम पर वारंवार भार दिया है।

" मैं स्वयं ही तत्व समझ लूँगा, " ऐसा नहीं मानना चाहिये, तथा तेरी शक्ति के बिना, किसी निमित्त से तत्वज्ञान की प्राप्ति हो जायगी, ऐसा भी कभी नहीं हो सकता। यदि तू समझे तो निमित्त में आरोप हो, और तेरी पात्रता हो तो मुझे समझाने में सदगुरु निमित्त हुए, ऐसा व्यवहार से कहा जायगा।

बहुत से जीवों को सत् के समझने की प्रबल आकांक्षा अन्तरंग से पैदा होती है, तब वे संसार में से उन्नति क्रम से आगे बढ़े हुए ज्ञानी तीर्थंकररूप से जन्म लेते हैं। उनके निमित्त से जो योग्य जीव होते हैं, वे सत्य को समझले ऐसा मेल हो ही जाता है। तीर्थंकर किसी के लिए अवतार नहीं लेते तथा कोई ईश्वर अवतार नहीं लेता।

कितने ही कहते हैं कि समयसार में बहुत सूक्ष्म अधिकार है, परंतु अनन्तकाल बीतने पर भी जिसकी प्रतीति के बिना जीव जन्म-मरण के दुःख भोग रहा है, उन दुःखों के दूर करने के लिये ही यह वस्तु कही जाती है। दुनियादारी के लिए चौबीसों घण्टे मज़दूरी करता है, जिसके फल में सुख नहीं है। अनन्त जन्म-मरण किये उनमें एक क्षण भी आत्मा का भान नहीं किया। यदि कोई व्यवहारिक संसार की कला आजाय तो वह पूर्वजन्म के पुण्य का फल समझना चाहिये, वर्तमान पुरुषार्थ का नहीं। पूर्वजन्म में सत्य, दान, ज्ञान के कुछ शुभभाव किये थे, उससे ज्ञान सम्बन्धी आवरण कम हो गया और पुण्यबंध हुआ था, उसीके फलरूप वर्तमान में बुद्धि और पुण्य के संयोग मिले हैं, इसलिये यदि कोई कहे कि हमने सांसारिक चतुराई बहुत की, इससे पैसा, बुद्धि आदि की प्राप्ति हुई है तो यह बात मिथ्या है।

संयोग मिलने से कोई सुख-सुविधा नहीं होती। परवस्तु आत्मतत्व को किंचित्‌मात्र लाभकारक या हानिकारक नहीं है। ' मैंने ऐसा किया इसलिए ऐसा हुआ ' यह मान्यता मिथ्या है। संयोग से जो वर्तमान

जानकारी हुई है वह अनित्य बोध है, वह ज्ञान पाँच इन्द्रियों और मन के क्षणिक संयोग के आधीन होने से इन्द्रिय आदि संयोग का नाश होनेपर, नाश होजाता है ।

प्रश्न—यदि पढ़ने न जाय तो ज्ञान कैसे प्रगट हो ?

उत्तर—जो पूर्व की प्रगटता लेकर आया है उसे पढ़ने की इच्छा हुए बिना नहीं रहेगी ।

पैसा कमाने की इच्छा या सासारिक पढ़ाई (कुशलता) प्राप्त करने की इच्छा नए अशुभभाव है । पैसे की प्राप्ति और लौकिक ज्ञान की प्राप्ति वर्तमान पुरुषार्थ का फल नहीं है, परन्तु पूर्व का फल है। वर्तमान में स्व की ओर रुचि करके प्रतीति करे यह वर्तमान नये पुरुषार्थ से ही हो सकता है। बाह्य संयोगों की प्राप्ति होना पूर्वपुण्य के आधीन है, परन्तु अन्तरंग में सच्ची समझ की रुचि का पुरुषार्थ करना पूर्व-कर्म के आधीन नही है । संसार के लिये जितना राग करता है, वह विपरीत पुरुषार्थ है, उसका फल नया बंध है । यदि बाह्य सामग्री प्राप्त करने के लिए राग, द्वेष, मोह करे तो उस वर्तमान विपरीत पुरुषार्थ का फल नया बंध होता हैं । राग-द्वेष स्वयमेव नही हो जाते या कोई बलात् नही कराता, परन्तु स्वयं बुद्धिपूर्वक उसे करता है, इसलिए जो वर्तमान राग-द्वेष होते हैं वे विपरीत पुरुषार्थ से होते है ।

इसप्रकार दो बाते हुईं:-(१) पूर्व कर्म के फलरूप बाह्य सयोग की प्राप्ति और (२) उसके प्रति नई खटपट अर्थात् राग-द्वेष की प्रवृत्ति करनी (जो कि नवीन बंध है)।

अब तीसरी बात यह है कि वर्तमान में लौकिक ज्ञान का प्रागट्य अधिक दिखाई देता है, वह पहले शुभभावों से जो आवरण कम किये थे उसका फल है । वह पूर्व की प्राप्तिरूप में भीतर विद्यमान था जो कि अमुक काल में बाहर दिखाई देता है, वह वर्तमान बुद्धिमत्ता का फल नहीं है। डाक्टर बनने की कला सीखने के लिए बंदर के शरीर

के अवयवो को काटता है, मेढ़कों को चीरता है, तथापि उसके फलस्वरूप कला प्रगट होती है और पैसा भी मिलता है, यह कैसे हो सकता है?

कसाई हजारों गायों को काटकर पैसा कमाता है और आनन्द करता हुआ दिखाई देता है, वकील झूठ बोलकर हजारों की आमदनी करते हैं; व्यापारी धोखा करके कमाई करते हैं; तो विचार करो कि वर्तमान में जो यह सब पाप करते हैं, तो क्या पाप के फल से सुविद्या बुद्धि या पैसा मिल सकता है? कदापि नहीं। फिर भी मनुष्य "वर्तमान पुरुषार्थ से हमने यह प्राप्त कर लिया या बुद्धिमान बन गये" ऐसा मानते हैं। किन्तु यह मान्यता मिथ्या है। जिसके कारण में पाप है उसका फल तो पापबन्ध ही होता है। वर्तमान मे तो पूर्व के सग्रह किये हुए पुण्य का फल भोगता है।

अनन्तकाल मे आत्मा कौन और कैसा है यह नहीं समझा है, इसलिये उसका समझना अपूर्व है। उसमें वर्तमान नया पुरुषार्थ काम करता है। उसे समझे विना अनंतबार पुण्य-पाप करके उसके फलरूप अनंत भव किये; अनतबार धर्म के नाम से पुण्य किया; उसके फल से उंच देव और राजा हुआ; महान् बुद्धिशाली मन्त्री हुआ; परन्तु अपूर्व तत्व को नहीं समझा। यथार्थ समझ के लिए एकबार ज्ञानी से सत् का उपदेश सुनना चाहिये।

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्॥

(पद्मनंदि पचविंशतिका)

जिस जीव ने प्रसन्नचित्त से इस चैतन्यस्वरूप आत्मा की बात भी सुनी है, वह भव्य पुरुष भविष्य में होनेवाली मुक्ति का अवश्य भाजन होता है। प्रसन्नचित्त से अर्थात् अन्तरंग के उत्साह से, कि 'अहो! सत्समागम द्वारा पहले ऐसा कभी नहीं सुना'। अपने आप पढ़कर समझले सो बात नहीं है परन्तु जो साक्षात् ज्ञानी से शुद्ध आत्मा की

बात सुनकर अन्तरंग में निर्णय करता है वह भावी मुक्ति का भाजन होता है। चारों गति में फिरते हुए सबसे कम मनुष्यभव किये, (कोई जीव शुभभावों को टिका रखे तो लगातार अधिक से अधिक मनुष्य के आठ भव होते हैं) तो भी जीव अनन्तबार मनुष्य हुआ। मनुष्यभव से असंख्यगुने नरक के भव धारण किये। (पंचेन्द्रिय का बध, शिकार, गर्भपात इत्यादि तीव्र पापों का फल नरकगति है। यह उक्ति बहुतबार कही जाती है। मनुष्यों को दुःख दिखाने के लिए यह कल्पना नही है), इन नरक के भवों से भी असंख्यगुने स्वर्ग के भव धारण किये, और वे भी अनन्तबार कियें। और इन स्वर्ग के भवों से भी पशु तिर्यंचों में एकेन्द्रिय (वनस्पति इत्यादि) में अनन्तानन्त भव धारण किये हैं; ऐसा सर्वज्ञ भगवान कहते है। पूर्व में तीव्र कपट, वक्रता इत्यादि की, उसके फलस्वरूप तिर्यंचों के टेढ़े-मेढ़े शरीर मिले हैं।

प्रश्न—पूर्वभव कैसे माना जाय ?

उत्तर—आत्मा वर्तमान में है। और जबकि है तो उसका आदि नहीं है तथा अन्त भी नहीं है। जबकि यह भव है तो पूर्वभव भी था ही। जैसे घी का फिर मक्खन नहीं बन सकता उसीप्रकार यदि मोक्ष-दशा प्रगट करली हो तो फिर अवतार नहीं हो सकता। आत्मा अनादि से संसारदशा में अशुद्ध है। शुभ-अशुभरूप अशुद्धभाव का फल चार-गति का भ्रमण है। अनन्तकाल से अपने को नहीं समझा इसलिए आत्मा संसार में रुलता फिरा है।

जैसे डिबिया में रखा हुआ हीरा डिबिया से अलग है उसीप्रकार मन, वाणी, देह और पुण्य-पाप विकार आदि से भगवान-चैतन्यमूर्ति आत्मा अलग है, वह देहरूपी डिबिया से अलग है।

यह सातवीं गाथा जिसे बराबर समझ में नहीं आती वह विरोध में कहता है कि इस गाथा में तो कहा है कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र आत्मा के नहीं हैं, तो क्या आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र रहित अर्थात् जड़ है ? विकल्प और गुण के भेद उस अभेद आत्मा का स्वरूप नहीं हैं, यह

कहा है, ऐसा लक्ष्य में न लेकर वे ऐसा कुतर्क करते है कि गुणों को तो उड़ा ही दिया; पहला घड़ा उल्टा रखा जावे तो उसके ऊपर जितने घड़े रखे जावेंगे वे सब उलटे ही रखे जावेंगे। इसीप्रकार चैतन्य-भगवान आत्मा पर से भिन्न और अपने अनन्तगुणों से अभिन्न है। इस बात को जो वास्तविकरूप से नहीं समझे तो उसके जितने भी तर्क होंगे वे सब विपरीत ही होंगे।

बाह्य से धर्म होता है ऐसा लोगों ने अनादि से मानरखा है, उससे यह जुदी बात है। कोई आत्मा पर की क्रिया नहीं कर सकता। ज्ञानी पुण्य–पाप विकार का स्वामी नहीं है, इसलिये वह उसका कर्ता नहीं होता किन्तु वह अपने अविकारी स्वभाव का कर्ता होता है। अविकारी की श्रद्धा द्वारा विकार का निषेध होने पर भी पुरुषार्थ की मन्दता है इसलिये पुण्य–पाप का भाव होता है, परन्तु उसका स्वामी या कर्ता ज्ञानी नहीं होता। जो अपने को विकारों का और शरीरादि जड़ की क्रिया का कर्ता मानता है उसे अविकारी–ज्ञायक स्वरूप का भान नहीं है।

यह सच्ची श्रद्धा का विषय है। मुनित्व, श्रावकत्व और चारित्र की योग्यता तो सच्ची श्रद्धा के बाद ही आ सकती है। आचार्य कहते हैं कि जिसे सच्ची श्रद्धा नहीं है उसे सच्चा मुनित्व, श्रावकत्व या चारित्र नहीं हो सकता।

अविकारी–निरावलम्बी वीतरागस्वभाव की यथार्थ श्रद्धा और अंशरूप स्थिरता होने पर भी निम्नदशा में पुण्य–पाप का विकार होता तो है, परन्तु उसे अखण्ड प्रतीति है कि मेरा ज्ञायकस्वभाव पुण्य–पाप का नाशक है, रक्षक नहीं। जबतक पहले ऐसी श्रद्धा न करे तबतक आत्मस्वभाव समझने की और उसे प्राप्त करने की योग्यता भी नहीं आती।

यहाँ कहते है कि चिदानन्द भगवान आत्मा को क्षणिक–विकारी कहने की बात तो दूर रहो, परन्तु गुण-गुणी के भेद का लक्ष भी छोड़ो। आत्मा स्वरूप से अनन्तगुणों का अखण्ड पिण्ड है, उसमें अभेद

लक्ष न करे, और ज्ञान, दर्शन, चारित्र के विकल्पों के द्वारा तीन भागों पर दृष्टि रखे तो उसकी दृष्टि सम्यक् नहीं होती। जिसका परमार्थ स्वरूप निर्मल है, वैसा उसका भान न करे और पुण्य-पाप की प्रवृत्ति में समय बितादे तो उस जीवन का क्या मूल्य है ? मात्र लोगों में दिखावट " हास्य और स्पर्धा " करके धर्म मानता है, कोई बाह्य लौकिक नीति द्वारा ही सब कुछ मान लेता है, परन्तु यह कोई अपूर्व बात नहीं है।

किसी बड़े–बूढ़े के मरने पर लोग कहते हैं कि वेचारा बूढ़ा हरी-भरी वाटिका (घर–परिवार) छोड़कर चला गया है, परन्तु ममता को लेकर और पूर्व–पुण्य को जलाकर आत्मा दुर्गति में गया है, यह कोई नहीं विचारता। अहो ! जो ऐसे परम–सत्य की महिमा एकबार सुने, अन्तरंग से प्रतीति करे, उसके लिए मोक्ष की फसल पक सकती है। अपूर्वश्रद्धा द्वारा जिसने सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं किया उसे बहुमूल्य मनुष्य भव मिला, परन्तु वह व्यर्थ ही गया।

लोग कुनैन पीने से पूर्व ही यह विश्वास कर लेते है कि कुनैन पीने से बुखार उतर जाता है, इसीप्रकार पहले से ही यह विश्वास करना चाहिये कि मैं राग-द्वेष–अज्ञान से रहित ज्ञायक हूँ।

कोई कहे कि कुनैन से बुखार उतरता है, तब परमाणुओं में होने वाले सूक्ष्म परिवर्तन को हम नहीं देख सकते, परन्तु उससे बहुतों का बुखार उतरा है, इसलिये ऐसा मान लेते हैं। उसीप्रकार विकार का सर्वथा नाश करके संपूर्ण निर्विकारी शुद्धस्वरूप अनन्त आत्माओं ने प्रगट किया है, इसलिए ज्ञानी कहते हैं कि आत्मा राग-द्वेष, अज्ञानरहित मात्र ज्ञायक है, ऐसा मानना चाहिये।

व्यवहार से कहा जाता है कि ज्ञानी को दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है, परन्तु परमार्थ से देखा जाय ता अनन्त पर्यायो को एक द्रव्य अपने में समा गया है, इसलिये एकरूप किंचित् एकमेक मिला हुआ आस्वाद-रूप अभेद ज्ञायकत्व ही है। आत्मा में से गुण नया प्रगट नहीं होता,

परन्तु पर्याय प्रगट होती है, ज्ञानी का अखण्ड द्रव्य पर लक्ष है, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आत्मा की पर्याय है, व्यवहार है, उस भेद को गौण करके आत्मा अखण्डानन्द, पूर्ण ज्ञान, दर्शन, चारित्र से अभिन्न है, उसे श्रद्धा में (लक्ष में) लेना ही धर्म का मूल है। गुण के भेद-रूप विकल्प का राग तोड़कर अन्तरग में एकाग्रता से स्व को लक्ष में ले तो वुद्धिपूर्वक विकल्प टूटकर परमार्थस्वरूप निर्विकल्प अभेद स्वाद-रूप मालूम होता है। ऐसी वात कभी सुनी भी नहीं है, इसलिये मनुष्य को ऐसा लगता है कि सम्यग्दर्शन वहुत मँहगा कर दिया! लोगों ने अपनी कल्पना में वाह्य से समकित मान रखा है।

लोग परस्पर एक दूसरे को अभिप्राय देते हैं कि तुम सम्यग्दृष्टि हो; परन्तु सर्वज्ञदेव ने कहा है कि वैसा यथार्थस्वरूप जाने विना वह श्रद्धा ऐसी है जैसे खरगोश के सींग!

यह तो "वीज" रूप वात कही जा रही है, उसका 'पोषण' करने के लिए वहुतवार सुने और समझ में उसका मेल विठाये तभी 'फल' मिलता है।

यहाँ निर्विकल्प श्रद्धा करने का अभेद विषय क्या है, यह वताया है। उसे समझने पर ही छुटकारा मिल सकता है। अद्‌भुत महिमा को वताने वाला यह समयसार अमृत का कुण्ड है, मधुर समुद्र है; यदि उसे स्वयं न जाने तो क्या लाभ? श्री कुंदकुंदाचार्यदेव ने अचिन्त्य महिमा स्पष्ट करके वतादी है।

जिसे सुनते ही सहज चैतन्य–रत्नाकर भगवान की महिमा उल्लसित होती है। जो अन्तरंग से समझता है उसे अतीन्द्रिय स्वाद आये विना नहीं रहता। अपनी कल्पना से शास्त्ररूपी समुद्र का विडोलन करके भीतर से मिथ्या तर्क उठावे तो "पापी की मुट्ठी में तो वस केवल शख समायें!" एकमात्र समयसार शास्त्र को पात्रता धारण करके सत्समागम से सुने और परमार्थ को समझे तो अनन्त भवो की तृष्णा की भूख भाग जाये।

जिसकी महिमा तीनों काल में अनन्त सर्वज्ञ परमात्माओं ने गाई है, उसकी वार्ता साक्षात् सुनने को मिलने पर भी अविकारी ध्रुवस्वभाव की श्रद्धा न करे, यह कैसे हो सकता है ?

कच्चे चने में स्वाद भरा हुआ है, यह जानकर चने को भून डाले तो फिर वह बोने से नहीं उगता किन्तु स्वाद देता है, वैसे ही आत्मा में अखण्ड आनंद भरा है, वर्तमान अवस्था में से भूलरूप कचास और अशुद्धता निकाल दे तो उसका प्रगट स्वाद आवे; इसलिए पहले मैं अखण्डानन्द पूर्ण हूँ, अविकारी हूँ, इस बात की अन्तरंग में श्रद्धा करनी चाहिए। पूर्ण निर्मल स्वभाव की श्रद्धा होते ही राग-द्वेष सब टल नहीं जाते, परन्तु अखण्ड गुण की प्रतीति के बल से क्रमशः स्थिरता होने पर विकार का नाश होता है।

जैसे चने में स्वाद की उत्पत्ति, कचास का व्यय और उसके मूल स्वरूप की स्थिरतारूप ध्रौव्यत्व विद्यमान है, उसीप्रकार आत्मा में मैं रागद्वेषरहित निर्मल स्वरूप हूँ, ऐसी श्रद्धा के अपूर्व स्वाद का उत्पाद, अज्ञान का व्यय और सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा ध्रुवरूप है ऐसी श्रद्धा की महिमा सुने और माने तो आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझ में आ जाये।

ज्ञानमूर्ति आत्मा में भिन्न-भिन्न अनन्त गुण हैं, परन्तु उनका भिन्न-भिन्न विचार करने से एक अखण्ड वस्तु नहीं जानी जा सकती। गुण-गुणी के भेद करने में लगे रहना राग का विषय है, इसलिए उसके द्वारा निर्विकल्प अनुभव नहीं हो सकता। अखण्ड स्वरूप के लक्ष के बिना निर्मल, निरपेक्ष वस्तु ध्यान में नही आती और यथार्थ प्रतीति के बिना आत्मा में स्थिर नही हुआ जाता।

जैसे राजा को उसके योग्य अधिकार और मान से न बुलाएं तो वह उत्तर नहीं देता वैसे ही भगवान आत्मा के सर्वज्ञ को न्याय के अनुसार जानकर, अनन्त गुणों से एकत्व पहिचान कर, उसका अभेदरूप

लक्ष न किया जाय तो वह भी उत्तर नहीं देता अर्थात् साक्षात् निर्विकल्प अनुभव नहीं होता।

'मैं विकारी हूँ' ऐसा माने अथवा गुण-गुणी के भेद का लक्ष करे तो राग का विषय रहता है।

प्रश्न—जब कि निम्नदशा में राग रहता है तब फिर रागरहित दशा की पहिचान कैसे हो?

उत्तर—वह सम्यग्दर्शन होने पर मालूम होती है। जबतक मन के सम्बंध में युक्त था तबतक बुद्धिपूर्वक राग रहता था। उसका लक्ष छोड़कर स्व में अभेद लक्ष होने पर बुद्धिपूर्वक राग छूट जाता है, और निर्विकल्पता आ जाती है, यही सम्यग्दर्शन है। आत्मसाक्षात्कार सर्वप्रथम चौथे गुणस्थान में गृहस्थ को होता है। गृहस्थदशा में राग होते हुए भी आत्मा में आनन्द का स्वाद आता है। प्रथम अल्पज्ञ दशा में ज्ञान का जो स्थूल व्यापार है, उस अपने ज्ञान को सूक्ष्म करके, ज्ञान के व्यापार को अन्तरंग में अपनी ओर लगाकर निर्मल, अभेद स्वरूप का लक्ष करे तो वहाँ बुद्धिपूर्वक के विकल्प छूट जाते हैं। ऐसी कोई अचिन्त्य महिमा गृहस्थदशा में हो सकती है और वह जन्म-मरण टालने का उपाय है।

यदि कोई कहे कि "बहुत सूक्ष्म तत्व समझकर क्या करना है? अन्त में तो ध्यान ही करना है न? इसलिये हम पहले से ही ध्यान ने लगें तो?" परन्तु समझे बिना ध्यान किसका करोगे?

बहुत से लोग कहते हैं कि "चित्तवृत्ति का निरोध करो," परन्तु उनकी बात दोषपूर्ण है, क्यों कि वह बात नास्ति से है। अपनी "अस्ति" क्या है, इसे प्रथम जाने बिना चित्तवृत्ति का निरोध नहीं होता। पहचान होने के बाद एकाग्रता रूप अन्तरंग व्यापार में लगना, सो स्व में स्थिरतारूप ध्यान है। उसमें चित्तवृत्ति सहज ही रुक जाती है, उसका निरोध नहीं करना पड़ता। हमें तो मन को बाहर जाते हुए रोकना है। इसप्रकार पर से मन को दूर हटाने की बात कितने ही लोग करते हैं,

परन्तु स्वयं अस्ति क्या है ? ज्ञायकस्वरूप में स्थिर होना क्या है ? इसकी जिन्हे खबर नही है उनका मन बाह्य की ओर जायगा ही। पर का अभाव विचारे, परन्तु स्व का सद्भाव कैसा है क्या है ? इसके विचार के बिना वह अनित्य जागृति है। वह राग-द्वेष को निकालना चाहता है, परन्तु किसको रखना है, और वह कैसा है, कैसा नहीं, वह क्या कर सकता है और क्या नहीं, इसकी खबर के बिना वह जो कुछ मानता है, जो कुछ जानता है, जो कुछ आचरण करता है वह सब मिथ्या है। यथार्थ स्वरूप को जाने बिना अनन्तबार जैन साधु हुआ परन्तु फिर भी संसार में ही रुलता रहा।

आत्मा को समझे बिना राग-द्वेष को नहीं टाला जा सकेगा। यदि वस्तु को यथार्थ समझ ले तो रागद्वेष सहज ही टलने लगेगे। प्रथम श्रद्धा में निर्विकारी अखण्ड की उपस्थिति हो जाने पर सर्व बातों को यथार्थरूप से जान लेता है। न समझते हुए भी यदि कोई यह कहे कि हम तो "चित्तवृत्तिनिरोधरूप ध्यान करते हैं" तो उसका ध्यान नीम के वृक्ष के मूढ़तापूर्ण ध्यान के समान है। "चित्तवृत्तिनिरोधो ध्यानम्" यह तो नास्ति से बात हुई। सर्वज्ञ का कथन तो यह है कि "एकाग्र-चिन्तानिरोधो ध्यानम्" (तत्वार्थसूत्र अध्याय ६, सूत्र २७) इसमें अस्ति से बात कही है। किसी एक विषय में चित्त को एकाग्र करना, सो ध्यान है। आत्मा अखण्ड ज्ञानानन्द स्वरूपी है। उसके लक्ष में स्थिर होने पर राग दूर होकर भीतर स्थिरता हो जाती है और राग का नाश सहज में ही हो जाता है। इसप्रकार 'अस्ति' और 'नास्ति' दो हो करके अखण्ड स्वरूप है।

अनन्तकाल तक यह बात सुनने को मिलनी कठिन है, जो इस समयसार में स्पष्टरूप से कही गई है। साक्षात् सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु के मुखकमल से निकली हुई वाणी सुनकर श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने चारित्र सहित अन्तरंगदृष्टि से अनुभव की हुई बात जगत के सामने रख करके साक्षात् सर्वज्ञ के न्याय का अमृत बहाकर धर्म के झरने प्रवाहित किये

हैं। अनन्तकाल की भूख जिसे नाश करनी हो उसे सत्समागम से सुनकर अविकारी आत्मा को अखण्डरूप से लक्ष में लेना चाहिए।

मन के सम्बन्ध से किंचित् प्रथक् होकर गुण-गुणी के भेद का लक्ष छोड़कर अभेदरूप से आत्मा का अनुभव करना चाहिये।

प्रश्न—यदि आँख, कान बन्द करले तो क्या विकल्प रुक सकते हैं?

उत्तर—'भीतर कौन है' इस बात को समझे और उसमें स्थिर रहे तो नाक-कान के कार्य की ओर लक्ष न जाय, और तब वे बंद हुए ही हैं, बन्द नहीं करने पड़ते। वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीवों को भी तो इन इन्द्रियों के चिह्न नहीं है, तो क्या इससे उन्हें राग-द्वेष नहीं है? उन जीवों के तो अनन्त-मूढ़ता की विकलता विद्यमान है।

आत्मा अपने अनन्त गुण-पर्यायों का पिण्ड है। पहले उसे यथार्थ जाने और जानने के बाद राग से दूर रहकर स्वभाव में एकाग्र हो जाय तो संकल्प-विकल्प की आकुलता सहज ही टल जाती है। सत् के लक्ष से असत् (राग-द्वेषादि) टलता है। आत्मा पर से भिन्न है, यह जाने बिना परमार्थतः राग दूर नहीं होता। एकान्त में जाकर अपनी कल्पना से माने कि मुझे संसार का राग नहीं है; विकल्प नहीं है, परंतु परमार्थ से आन्तरिक अभिप्राय में राग-द्वेष घटा नहीं है, तो इसके परिणामस्वरूप वह जीव मूढ़ हो जायगा।

आत्मा का निर्विकल्प, निरावलम्बी, सहजस्वरूप समझे बिना, जैन साधु होकर कषाय की इतनी मन्दता की है कि अगर कोई जला भी दे तो उस पर क्रोध न करे, फिर भी भव कम नहीं हुए, धर्म नहीं हुआ। क्योंकि 'मैं सहन करता हूँ' ऐसा जो विकल्प है सो राग है, धर्म नहीं। पहले राग-द्वेष पर लक्ष न करते हुए 'स्वाभाविक अस्ति' वस्तु त्रिकाल में क्या है, यह जानना चाहिये। उसको जाने बिना ही रागादि का अभाव चाहता है, इसलिये नास्ति पक्ष (रागादि का नाश) नहीं हो सकता।

'यह तो बहुत सूक्ष्म है, समझ में नहीं आ सकता । ऐसा मत मानो। यह बात सत्य है, त्रिकाल में सत्य है, अनन्तकाल में कभी नहीं सुनी थी ऐसी यह बात है। तेरी महिमा बताकर तेरी लोरिया गाई जारही हैं। "मेरा पुत्र बड़ा सयाना है, चौकी पर बैठकर नहा रहा है, मामा के घर जाएगा, खाजा, जलेबी खाएगा" ऐसे गीत बालक को सुलाने के लिये माता प्रशंसा करती हुई गाती है; किन्तु तुझे अनादि की नींद में से जागृत करने के लिये सर्वज्ञ भगवान गीत गाते हैं कि 'तू आत्मा चिदानन्द प्रभु है, पर के आधीन नहीं है। तू तीनों काल में स्वाधीन है। यह तेरे स्वभावरूप धर्म की जागृति के गीत हैं। अनन्तकाल से तू अपने को नहीं पहचान रहा है। गुण–गुणी के भेद के विचार में या शुभराग में अटका हुआ है, तब धर्म कहाँ से हो सकता है ?

इस सातवीं गाथा में यह बताया है कि–परमार्थस्वरूप का आत्मा में अभेद अनुभव कैसा है। उसे नहीं समझने वाले अनेक कुतर्कों से शंका उठाते हैं। जिसे खोटी प्राप्ति हुई है वह उसको (खोटेपन को ही) प्रगट करता है। यहाँ श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने त्रिलोकनायक तीर्थंकर भगवान के पास से जो सनातन सत्य प्राप्त किया है उसे जगत के समक्ष प्रगट किया है कि प्रत्येक वस्तु पर से भिन्न और स्व से एकरूप है। आत्मा के कोई गुण भिन्न नहीं है, तीनों काल की पर्यायों को अभेद करके अन्तरंग के अनुभवद्वारा कहते हैं कि ज्ञानी को दर्शन, ज्ञान, चारित्र नहीं हैं, अर्थात् वे भिन्न–भिन्न नहीं हैं, वे संपूर्ण द्रव्यस्वरूप में समा जाते हैं।

दर्शन, ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र, वीर्य, अस्तित्व, द्रव्यत्व इत्यादि समस्त गुण वस्तुरूप से एक है तथापि कार्यरूप से कथंचित् भिन्न है। जैसे कि श्रद्धा का कार्य प्रतीति करना है, ज्ञान का कार्य जानना है, आनंद का कार्य आह्लाद अनुभव करना है, दर्शन का कार्य सामान्य प्रतिभास है, अस्तित्व का कार्य होनेरूप है। ज्ञानद्वारा समस्त गुण भिन्न–भिन्न और

किंचित् एकरूप हैं, ऐसा ज्ञात होता है। समस्त गुणों का आनन्द भिन्न-भिन्न है, तथापि उन सब गुणों का एकरूप कैसे है, यह समझकर एकत्व को लक्ष में लेने की यह बात है। इस समझने की विधि के अतिरिक्त तीन काल और तीन लोक में और कोई उपाय नहीं है।

एक होय त्रयकाल में, परमारथ कौ पंथ।
प्रेरे वह परमार्थ को, सो व्यवहार समंत ॥

(आत्मसिद्धि गाथा ३६)

तत्व में अविरोधरूप समझपूर्वक जो विचार, श्रद्धा, ज्ञान है वही पुण्य-पापरहित अविकारी स्वरूप में स्थिर रहने को प्रेरित करता है। वह ज्ञान का स्थिरतारूप व्यवहार ज्ञानी को स्वीकार है। इसप्रकार स्वरूप को समझकर एकबार तो अन्तरग में लक्ष करले! उसमें विकार तो क्या परन्तु गुण-गुणी की भिन्नता भी नहीं है। वर्तमान में ऐसे पूर्ण निर्मल स्वभाव का अनुभव करते हुए वस्तु में जो अनंतगुण है वे किंचित् अभिन्न और गुणों के स्वादभेद से भिन्न है। एक स्वभावरूप से अनुभव में आने पर दर्शन, ज्ञान, चारित्र के भिन्न-भिन्न प्रकार अनुभव में नहीं आवेंगे।

सुख तो आत्मा में ही है। उसकी जगह लोग बाह्य पदार्थों से सुख मानते हैं, किन्तु वह कल्पना मात्र है। यह मकान ठीक है, लड़के-बच्चे अच्छे है, स्त्री अच्छी है, प्रतिष्ठा भी अच्छी है, इत्यादि कल्पना करके सुख मान रखा है। यद्यपि सुख अन्तरंग में है, किन्तु उससे विपरीत पर-निमित्त में सुख मान रखा है। अज्ञानी ने भ्रम के वशीभूत होकर सुख की कल्पना करली है। लोग जैसा कहते हैं, वैसा वह मान लेता है, बाह्य अनुकूलता में सुविधा होने से अज्ञानी सुख मान लेता है। उस विकार के लक्ष को और उसके स्वामित्व को छोड़कर मेरा अनंत सुख मुझमें है, और वह मुझसे ही है, मुझमें अनन्त गुणों का अनंत सुख है, इसप्रकार ज्ञानी अपने गुण को अखण्ड द्रव्य में समाविष्ट करके

अनन्त आनन्द का अनुभव करता है। यद्यपि निम्नदशा में प्रगट आनन्द अल्प है, किन्तु वह लक्ष में पूर्ण है।

श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, विभुत्व, स्वच्छत्व, प्रकाशत्व, अगुरुलघुत्व, प्रभुत्व, जीवत्व, चेतनत्व इत्यादि समस्त गुणों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है; तथापि वस्तु एकरूप है।

मन के शुभ भाव से कुछ छूटकर स्वभाव का लक्ष करने पर बुद्धि-पूर्वक विकल्प नहीं रहते, उस दशा को अनुभव कहा जाता है। ऐसे एकरूप अनुभव में दर्शन, ज्ञान, चारित्र का भेद नहीं है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र पर्याय है। उस पर्याय के भेदपर लक्ष जाना सो व्यवहार है। उस (भेद) के लक्ष से निर्मलता नहीं होती।

समयसार की एक-एक गाथा अपूर्व है। अनन्तकाल में आत्मा इस वस्तुस्वभाव को नहीं समझ सका, किन्तु उसे समझने के लिए अनन्त-काल की आवश्यकता नहीं होती। अज्ञान में परिभ्रमण करते हुए अनंत-काल व्यतीत कर दिया, किन्तु स्वाधीन आत्मप्रतीति करके मुक्त होने में अधिक काल की आवश्यकता नहीं होती। अनंन्तभव का अन्त करनेवाली बात को भगवान कुंदकुन्दाचार्य जगत के समक्ष स्पष्ट प्रगट करते हैं कि विकार और गुण के प्रकार के भेद से रहित मात्र ज्ञायक हूँ, ऐसी दृष्टि के द्वारा अखण्ड स्वभाव की श्रद्धा करना ही मोक्ष का मूल है। व्यवहार को समझाने के लिए, अन्य पदार्थों से आत्मा को पृथक् दिखाने के लिये कथन की अपेक्षा से गुण-गुणी का भेद करता है, किन्तु वस्तु को अखण्ड ज्ञायकरूप में देखने पर उसके अनन्तगुण एकरूप अनुभव में आते हैं। उसमें विकल्प नहीं है, बुद्धिपूर्वक विकल्प का ध्यान भी नहीं है। ऐसी श्रद्धा का बल प्रथम ही धर्म का उपाय है, और वही मुक्ति का कारण है।

भावार्थ:—शुद्ध आत्मा को कर्मबंध के निमित्त से अशुद्धता आती है; यह बात तो दूर ही रहे, निमित्तरूप से कर्मबन्ध का अनादिकाल से संयोग-सम्बन्ध है, उसमें युक्त होने से वर्तमान में विकार-पुण्य-पाप

के भाव होते हैं, वह भी दूर रहे, उनका सम्यग्दर्शन में विचार नहीं करना है। उसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र का भी भेद नही है, क्योंकि वस्तु अनंत धर्मरूप एक धर्मी है।

आत्मा अनन्त धर्मरूप होने पर भी वस्तुरूप में एक ही है, परन्तु अज्ञानी उसे भेदरूप धर्मों से समझ सके इसलिये आत्मा का प्रगट लक्षण जाना जा सके ऐसे असाधारण गुण को, दूसरे से लक्षण भेदरूप में बताने लिए इसप्रकार व्यवहार से भेद करके कहा जाता है कि जो जाननेवाला है सो आत्मा है, जो श्रद्धा करता है सो आत्मा है।

अषाढ़ की अमावस्या की घनघोर रात्रि हो और उस समय अंधकार से परिपूर्ण कमरे में कोई सो रहा हो, और ऊपर से तीन-चार रजाइयाँ ओढ रखी हों और आँखें बन्द हों; फिर भी वह सोता हुआ कहता है कि घोर अन्धकार है। यहाँ पर विचार करना चाहिये कि यह किसने जाना? जिसने जाना है वह स्वयम् जाननेवाला ज्ञातास्वरूप है, इसलिये उसने उसीसे जाना है, क्योंकि अन्धकार से अन्धकार दिखाई नहीं देता। देह, इन्द्रिय और मन जड़ हैं, उनसे आत्मा नहीं जाना जा सकता, तथा उनके द्वारा आत्मा जानता भी नहीं है। शरीर जड़ है, उससे आत्मा भिन्न है। यदि उसे विशिष्ट ज्ञानगुण के द्वारा पहचाने तो जल्दी पहचाना जाता है। आत्मा एक मात्र ज्ञानगुणरूप नहीं है, किन्तु आत्मा में ऐसे अनन्तगुण हैं, उन सबको अज्ञानी नहीं जानता। इसलिए जो अन्य द्रव्य में न हों ऐसे असाधारण गुणों के द्वारा आत्मा की भेद-कथन से पहिचान करानी पड़ती है।

ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। इसप्रकार परमार्थ को बताने के लिए कथन के द्वारा भेद करना सो व्यवहार है। गुण-गुणी का भेद करके जो समझाने की रीति है सो व्यवहार है। परमार्थ से अर्थात् वास्तव में देखा जाय तो आत्मा अनन्त गुणों का अभेद पिंडरूप है। इसलिए समस्त पर्यायों को पी गया है, अर्थात् द्रव्य में त्रिकाल अनन्त

पर्यायें और अनन्त गुण परस्पर समाविष्ट हैं, इसलिए लक्षण और कार्य भेदरूप में भिन्न होने पर भी वस्तुरूप में कोई गुण भिन्न नहीं है ।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि पर्याय भी द्रव्य का ही भेद है । जो जानने की क्रिया करता है सो ज्ञान है, जो प्रतीति करता है सो श्रद्धा है, और उसमें स्थिर होना सो चारित्र है । यह सब आत्मा के ही गुण हैं, अवस्तु नहीं हैं, तब फिर उसे व्यवहार कैसे कहा जा सकता है ? अपनी वस्तु के रूप में अपने गुण अपने आश्रित हैं, उसे निश्चय कहना चाहिये । उसे व्यवहार कैसे कहा जा सकता है ? शरीर मन, वाणी तथा राग-द्वेष को जीव के व्यवहार से कहो तो ठीक है, क्योंकि जो परभाव के आश्रित है, उसे व्यवहार कहा जाता है, किन्तु ज्ञान, श्रद्धा–चारित्र जो कि निजवस्तु के आश्रित हैं उसे व्यवहार कैसे कहते हो ?

समाधानः—यह सच है कि यह गुण आत्मा के है, किन्तु यहाँ आत्मा को इसप्रकार बताना है कि द्रव्यदृष्टि से अभेद निर्मल एकरूप स्वभाव सामान्य लक्ष में आता है । अभेददृष्टि में भेद को गौण करने से ही अभेद वस्तुस्वरूप भलीभाँति मालूम हो सकता है । अनंत गुण से अभेद आत्मा को एकरूप समझाते समय भेदकथन गौण हो जाता है। इसलिये यहाँ पर गुण–गुणी के भेद को गौण करके उस भेद को व्यवहार कहा है। यहाँ पर यह अभिप्राय है कि भेद करने वाले के लक्ष में निर्विकल्पदशा नहीं होती और सरागी के विकल्प बना रहता है । गुण के विकल्प करते रहने से पुण्य होता है, निर्विकल्प अनुभव नहीं होता ? छद्मस्थ के राग रहता है इसलिये भेद पर लक्ष करने से राग में रुक जाता है, इसलिये जबतक रागादिक न मिट जाये तबतक वर्तमान अवस्था के विकार और उनके भेद को गौण करके अभेदस्वरूप निर्विकल्प अनुभव करने का उपदेश दिया गया है । वीतराग होने के बाद भेदाभेदरूप वस्तु का ज्ञाता हो जाता है । यदि पराश्रय के विकल्प किया करे तो मन के सम्बंध का राग उठता है, यदि उसे हठ से छोड़ना

चाहे तो नहीं छूटता। यदि समझे बिना एकाग्र होना चाहे तो मूढ़ता बढ़ जाती है।

अखंड निर्मल के लक्ष से निर्मल श्रद्धा-ज्ञान प्रगट होता है और फिर निर्मल चारित्र की पर्याय प्रगट होती है। अनन्त धर्मस्वरूप अखंड वस्तु, उसके गुण तथा अनन्त पर्याय का ज्ञान एक साथ वीतराग के होता है, उनके ज्ञान में क्रम नहीं होता, किन्तु सरागी जीव भेद पर लक्ष करता है तब वहाँ एक पक्ष का राग रहता है। पहले श्रद्धा में निर्विकल्प होने के बाद जब चारित्र में विशेष स्थिर नहीं रह सकता तब अशुभ से बचने के लिए शुभ में लगता है, किन्तु दृष्टि तो अखंडस्वभाव पर ही रखता है, और उस अभेददृष्टि के बल से चारित्र को पूर्ण करलेता है।

छट्ठी गाथा में क्षणिक वर्तमान अवस्था में विकार का लक्ष छोड़कर अभेद स्वरूप का लक्ष करने को कहा है और इस सातवीं गाथा में गुण-गुणी के भेद का लक्ष छोड़कर अभेद अखंड ज्ञायकस्वरूप का लक्ष करने को कहा है। इस अभेददृष्टि के बल से क्रमशः राग का नाश और निर्मलता की वृद्धि होकर केवलज्ञान की पूर्णता प्रगट होती है।

प्रश्न—ज्ञानी के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र क्यों नही है ?

उत्तर—श्रद्धा का विषय त्रिकाल निरपेक्ष द्रव्य है और सामान्य ध्रुव-स्वभाव अभेदरूप में, निर्मलरूप में लक्ष में लेना है, तथा निश्चय का विषय भी अभेद निर्मल है, किन्तु निश्चय का विषय श्रद्धा-सम्यग्दर्शन नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन पर्याय है और सम्यग्ज्ञान तथा चारित्र भी पर्याय हैं। एवं पर्याय के जो भेद हैं, वह व्यवहार का विषय है। ज्ञानी के दर्शन, ज्ञान, चारित्र विद्यमान नहीं है, क्योंकि वह पर्याय है, खंड है, व्यवहारनय का विषय है, और अभेददृष्टि में-निश्चय में बन्ध-मोक्ष, साध्य-साधक इत्यादि सब पर्याये गौण हो जाती है। सामान्य-विशेष एक ही समय में होते हैं उनमें से निश्चय के विषय पर दृष्टि करने वाला सम्यग्दृष्टि है, एक समय में एक पर्याय प्रगट होती है, पर्याय

का भेद व्यवहार का विषय होने से अभूतार्थ है अर्थात् त्रिकाल विद्यमान नहीं है, इसलिए शुद्धनय के द्वारा भेद को गौण किया जाता है।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की पर्याय के ऊपर का जो लक्ष है वह निर्मलता का कारण नहीं है, उसमें शुभराग होता है; किन्तु राग का अभाव नहीं होता। अखण्ड द्रव्य–सामान्य के ऊपर की जो दृष्टि है, वह सम्यग्दर्शन, चारित्र और केवलज्ञान का कारण है; सम्यग्दर्शन का विषय अखण्ड निर्मल सामान्य एकरूप है, इसलिये निर्मल पर्याय प्रगट होकर सामान्य में मिल जाती है। सामान्य निर्मल के लक्ष से विशेष निर्मलता प्रगट होती है और भेद के लक्ष से राग रहता है। अखण्ड के बल से चारित्र प्रगट होता है, वह व्यवहार है, गौण है। व्यवहार मात्र ज्ञान करने के लिए और उपदेश में समझाने के लिए है। 'पूर्ण निर्मल हूँ' ऐसी अखण्ड की दृष्टि ही मोक्ष देने वाली है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र की निर्मल पर्याय अखण्ड के बल से प्रगट होती है, वह पर्याय सद्भूत व्यवहार है और वह भी दृष्टि में गौण है। दृष्टि में साध्य-साधक का भेद नहीं है। संसार और मोक्ष पर्यायें हैं, वे भी अभूतार्थ के विषय है, इसलिये गौण हैं।

सम्यग्दर्शन और शुद्ध आत्मा एक नहीं है, क्योंकि शुद्ध आत्मा अनन्तगुणों का अभेद पिंड है और सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की पर्याय है, वह निश्चयदृष्टि में गौण है? ज्ञानी अभूतार्थ को अर्थात् जो त्रिकाल विद्यमान नहीं रहता उस भेद को मुख्यतया लक्ष में नहीं लेता।

अखण्ड द्रव्यदृष्टि के बल से—निज के अस्तित्व के बल से निर्मल पर्याय अवश्य होती है, ऐसी श्रद्धा का होना सो सम्यग्दर्शन है और ऐसी श्रद्धा भेद के लक्ष से, अथवा विकल्प से नहीं होती।

यहाँ पुनः प्रश्न उठता है कि यदि ऐसा है तो एक परमार्थ का ही उपदेश करना चाहिये; उपदेश में व्यवहार का आश्रय क्यों लिया जाता है? इस प्रश्न का उत्तर आठवीं गाथा में बड़े ही अद्भुत ढंग से दिया गया है।

आठवीं गाथा की भूमिका

छट्ठी गाथा में विकार से भिन्न अभेद ज्ञायक आत्मा का वर्णन किया गया है। उससे यह लक्ष में लेने को कहा गया है, कि आत्मा ज्ञानादि गुणों का अखंडपिंड है, आत्मा क्षणिक एक अवस्थामात्र के लिए नहीं है, इसलिये उस भेद को गौण करके एक आत्मा को निर्मल, असंयोगी, अविकारी के रूप में लक्ष में लेना चाहिये, यही श्रद्धा का विषय है। शरीर आदि का संयोग आत्मा से बहुत दूर है। उस ओर की आसक्ति को पहले से ही कम करना चाहिये, मैं किसी देहादि के सयोगरूप नहीं हूं! उसके कोई कार्य मेरे आधीन नही है। आचार्यदेव ने यह मानलिया है कि यह सब सुनने वाले के इतनी समझ तो होती ही है।

आत्मा का पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, परवस्तु अपने से (आत्मा से) त्रिकाल नास्तिरूप है। वर्तमान विकारी अवस्था में भी परवस्तु आत्मा में नहीं है। देह में आत्मा नहीं है, किन्तु निमित्त से कहा जाय तो एक आकाश क्षेत्र में आत्मा और देहादिक जड़पदार्थ संयोगरूप में विद्यमान है। तथापि प्रत्येक परमाणु और प्रत्येक आत्मा वस्तु की अपेक्षा से प्रथक्-प्रथक् है। जो आत्मा से पृथक् है, वह आत्मा का नही हो सकता। ऐसे स्थूल व्यवहारिक मिथ्यात्व का त्याग तो समयसार के जिज्ञासु के होता ही है। कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र मेरे लिये किसी भी प्रकार से हितकर नहीं हैं, देहादिक मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा समझकर व्यवहारिक भूल को छोड़कर ही इस परमार्थस्वरूप को समझने के लिए जिज्ञासु आया है।

आचार्य महाराज ने ऐसी बात कही है कि जिससे भव-भ्रमण दूर हो सकता है, और इसीलिए उनने अनादिकालीन विपरीत-मान्यता पर प्रहार किया है।

आत्मा का परवस्तु के साथ संवन्ध नहीं है, किन्तु पराश्रितभाव को लेकर जो विकार होता है, वह वर्तमान अवस्था में आत्मा में होता

है, तथापि जो अपने को उतना ही माने, शुभ–अशुभभावों को अपना स्वरूप माने उसके शुद्ध आत्मा की श्रद्धा नहीं है। आत्मा तो अविकारी, परमें कर्तृत्व–भोक्तृत्व से रहित, चिदानन्द, निर्विकल्प ज्ञायक है।

परवस्तु मेरी नहीं है, यह समझाने के बाद छट्ठी गाथा में यह समझाया है कि शुभ–अशुभ विकार भी मेरे नहीं हैं। मैं निर्मल हूँ, पर से भिन्न हूँ, एकरूप ज्ञानानन्द हूँ, इसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र है, इस-प्रकार यदि जीव गुण–गुणी के भेद के विचार में लग जाय तो उसे अपना सम्पूर्ण तत्व एक ही साथ लक्ष में नही आ सकता, यह बात सातवीं गाथा में बताई है।

यहाँ पर भेददृष्टि के विकार और प्रकार की ओर से लक्ष को बदलकर, गुण–गुणी के भेद का लक्ष गौण करके, राग से कुछ अलग होकर, निर्मल अभेद स्वरूप की निर्विकल्प श्रद्धा कराते हैं, संयोगरहित, असंयोगी का लक्ष कराते हैं, विकाररहित, अविकारी स्वरूप को बताते हैं, भेददृष्टिरहित, अखण्ड निर्मल वस्तु को बताते हैं। यदि रागी जीव गुण–गुणी के भेद के विचार में अटक जाय, तो उसके लक्ष में यह नहीं आ सकता कि रागरहित, भेदरहित, वीतराग अभेदस्वरूप क्या है।

प्रश्न—तब क्या हमे घर छोड़कर निकल भागना चाहिये?

उत्तर—जिस अज्ञान से छूटना है उसका तो भान नहीं और घर से छूटने की बातें करता है, यह विपरीतदृष्टि है, महामिथ्यात्व है। जिसकी बुद्धि में यह बात है कि मैं संयोगी पदार्थ को छोड़दूँ या अमुक वस्तु का त्याग करदूँ, तो अन्तरंग में निवृत्ति आ जायगी यह निमित्ताधीन-दृष्टि; मिथ्यात्व–शल्य है। पर के लक्ष से यदि कदाचित कषाय मंद हो जाय तो पुण्य हो सकता है, किन्तु अनादिकालीन भूल दूर नहीं हो सकती। जो यह मानता है कि यदि संयोग से दूर हो जाऊँ तो गुण उत्पन्न हो जायेंगे, उसे अपने में जो अनन्तगुण भरे हुए हैं उनकी श्रद्धा नहीं है। यह मान्यता मिथ्या है कि संयोगों के दूर होनेपर गुण होते हैं। तथा यह मान्यता भी मिथ्या है कि शुभभावों की प्रवृत्ति से गुण होते

हैं। जो जीव परलक्ष से, पर की अपेक्षा से कुछ करना चाहता है, उसे निरावलम्बी, निरपेक्ष तत्व समझ में नहीं आ सकते। पहले अपनी ओर दृष्टि करनी होगी कि मुझमें अनन्तगुण भरे हुए हैं, मैं अखण्ड, निरपेक्ष, निर्मल हूँ। ऐसे गुण के लक्ष से अवगुण की दृष्टि बदल जाती है, इस कारण संयोग बदल जाते हैं। संयोग ने मेरे गुण को रोक रक्खा है, इसलिये यदि संयोग को छोड़ दूँ तो मेरा गुण प्रगट हो जायगा, इसप्रकार मानना सो तीव्र मिथ्यात्व है। शुभ–अशुभभाव जो कि विकार है वह, मुझे गुण करता है, इसप्रकार वह विकार और गुण को एक मानता है। तू निर्विकार है, तूने अपने परम माहात्म्य की बात को कभी नहीं सुना, अन्तरंग से तुझे महिमा का कभी उद्भव नही हुआ। वीतराग सर्वज्ञ प्रभु ने तेरी अनन्त महिमा गाई है, परन्तु तूने उसे अन्तरग से परमार्थतः कभी नही सुना।

समयसार की छट्ठी–सातवीं और आठवीं गाथाये आत्मधर्मरूपी वृक्ष की जड़े हैं। जिसने यह माना है कि आत्मा परवस्तु को ग्रहण कर सकता है अथवा छोड़ सकता है उसने पर को और अपने को एक माना है। परवस्तु मेरे आधीन नहीं है, उसका स्वामित्व मेरे नहीं है, विकार भी मेरा स्वरूप नहीं है, इसप्रकार एक के बाद दूसरे गुण के भेद का विचार करे तो भी अभेद की श्रद्धा प्रगट नहीं हो सकती। इसलिए अभेद–निर्मल की श्रद्धा करना ही सम्यग्दर्शन है। जहाँ सम्यग्दर्शनरूपी बीज नहीं है वहाँ व्रतरूपी वृक्ष कहाँ से उग सकता है? समझे बिना व्रत और तप बालव्रत और बालतप हैं। देह, मन, वाणी की प्रवृत्ति आत्मा के लिए लाभ या हानिकारक नहीं है। राग की प्रवृत्ति आत्मा के लिए लाभकारक नहीं प्रत्युत हानिकारक है। आत्मा जब अन्तरंगदृष्टि की प्रतीति को प्राप्त होता है तब "मैं राग का नाशक हूँ" इसप्रकार की प्रतीति के बल से परवस्तु का राग छूट जाता है। राग के छूट जाने–पर परवस्तु अपने निज के कारण से छूट जाती है। मैं परवस्तु का त्याग कर सकता हूँ, इसप्रकार परके स्वामित्व की मान्यता अनन्त–

संसार का मूल है। त्याग सहज है, स्वभाव में हठाग्रह नहीं होता, लोग तत्व को नहीं समझे इसलिए तत्व दूसरा नहीं हो सकता, वह जैसा का तैसा बना रहता है।

वस्तु के सहजस्वभाव की पहचान से निज में स्थिरता बढ़ती है और पर का अभाव होता है। अभेददृष्टि से, अखण्ड स्वभाव को लक्ष में न ले किन्तु गुण–गुणी भेद को लक्ष में ले तो दृष्टि में राग रहता है और इसीलिए सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। मैं पर से भिन्न हूँ, ऐसा विचार करे अथवा "मैं राग को दूर करूँ–मैं राग को दूर करूँ" इस–प्रकार कहा करे तो वह भी राग है। जहाँ राग की ओर झुकाव होता है वहाँ वीतरागस्वभाव का निर्विकल्प लक्ष नहीं होता। किन्तु राग से पृथक् होकर "मैं निर्मल हूँ" इसप्रकार की दृष्टि के बल से यदि आगे बढ़ता चला जाय तो पूर्ण निर्मल हो जाता है। अविरोधरूप से तत्व को जान लेने के बाद "मैं अखण्ड पूर्ण निर्मल हूँ" ऐसे स्वलक्ष के बल से निर्विकल्प स्वरूपस्थिरता (चारित्र की निर्मलता) सहज प्रगट हो जाती है। अखण्डदृष्टि का बल अल्पकाल में मोक्ष को प्राप्त करा देता है। राग को दूर करने का विचार नास्तिपक्ष की ओर का झुकाव है। यदि शुद्धदृष्टिसहित राग को दूर करने का विचार हो तो भेद–दृष्टि होने से शुभभाव होता है, किन्तु राग का अभाव नहीं होता।

यहाँ तो पहले ही शुद्ध अखंड की दृष्टि करने को कहा है, उसमें शुभ करने की तो कोई बात ही नहीं है, किन्तु आन्तरिक स्थिरतारूप चारित्र को भी गौण कर दिया है। दृष्टि में निरावलम्बी अभेदभाव को लक्ष में लेने के बाद उसीके बल से निरावलम्बी निर्मल चारित्र प्रगट होता है।

प्रश्नः—क्या यह ठीक है कि पहले सराग चारित्र और उसके बाद उससे वीतराग चारित्र होता है?

उत्तरः—नहीं, राग तो विकार है, उससे चारित्र को कोई सहायता नहीं मिलती। चारित्र तो अकषायस्वरूप है। अकषायदृष्टि के खुलने

पर जो व्रत आदि का शुभराग रहता है उसे उपचार से व्यवहार चारित्र कहा जाता है, तथापि जो यह मानता है कि शुभभाव का करने वाला मैं हूं और वह मेरा कार्य है, वह धर्म को अविकारी वीतरागरूप नहीं मानता, और अपने को अविकारी नहीं मानता इसलिए वह दृष्टि मिथ्या है। चारित्र आत्मा का अकाषगुण है, और व्रतादि का शुभराग विकारी बन्धन भाव है, चारित्र नहीं है।

आत्मा तो सदा अरूपी ज्ञाता है, ज्ञातास्वरूप है, उसमें पर का लेना-देना कुछ नहीं है। मैं इसे यों दूर कर दूं, इसे छोड़ दूँ, इसे रख छोड़ूँ इत्यादि शुभाशुभभाव कषाय हैं, इसलिए वे आत्मगुणरोधक हैं। चारित्र तो अकषायदृष्टि के बल से प्रगट होता है। 'मैं अखंड हूं, निर्मल हूँ' ऐसे विकल्प, दृष्टि के विषय में लगने के लिए पूर्णस्थिर होने से पूर्व आते तो हैं किन्तु वे स्थिरता में सहायक नहीं होते। निर्मल अभेद-दृष्टि के बल से वीतरागता होती है, किन्तु 'मैं पूर्ण हूँ' ऐसे विकल्प से चारित्र प्रगट नहीं होता और शुद्धदृष्टि भी नहीं खुलती। अभेद निर्मल के लक्ष से वर्तमान पर्याय निर्मल होकर सामान्य में मिलजाती है, इसलिए भेददृष्टि को गौण करने को कहा है।

प्रश्नः—हे प्रभु ! जब आपने भेदरूप व्यवहार को बिलकुल गौण कर दिया तो फिर एकमात्र परमार्थ का ही उपदेश देना था, व्यवहार के उपदेश की क्या आवश्यक्ता थी?

इसका उत्तर आठवीं गाथा में देते हुए कहा है कि:—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥ ८ ॥

यथा नापि शक्योऽनार्योऽनार्यभाषां विना तु ग्राहयितुम्।
तथा व्यवहारेण विना परमार्थोपदेशनमशक्यम् ॥ ८ ॥

अर्थः—जैसे अनार्य (म्लेच्छ) मनुष्य को अनार्य भाषा के विना किसी भी वस्तु का स्वरूप ग्रहण कराने के लिये कोई समर्थ नहीं है,

उसीप्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश करने को कोई समर्थ नहीं है ।

यहाँ शिष्य ने (परमार्थ से ही गुण होता है इतना समझकर) प्रश्न किया है, जिसका उत्तर यह है– जैसे अनार्य (म्लेच्छ) मनुष्य को अनार्य भाषा के बिना किसी भी वस्तु का स्वरूप समझाना शक्य नहीं है, उसीप्रकार व्यवहार के बिना (समझाने के लिये भेदकथनरूप उपदेश के बिना) परमार्थ को कोई समझ नहीं सकता। जैसे कोई अंग्रेजी भाषा ही समझता हो तो यदि उसे उसकी भाषा में कहो तभी वह समझता है, इसीप्रकार अनार्य को अर्थात् परमार्थ से अनभिज्ञ व्यवहारी पुरुष को व्यवहार से गुण-गुणी का भेद बताकर समझाया जाता है ।

जैसे किसी म्लेच्छ से कोई ब्राह्मण 'स्वस्ति' शब्द कहे तो वह म्लेच्छ शब्द के वाच्य-वाचक सम्बन्ध के ज्ञान से रहित होने से कुछ भी न समझकर ब्राह्मण के सामने मेंढ़े की भांति आँखें फाड़कर टुकुर-मुकुर देखता ही रहता है (मेंढ़े की भाँति का अर्थ अनुसरण करने की सरलता है। इतना ही लेना चाहिये) 'स्वस्ति' क्या कहता है यह समझने का आदर है, जिज्ञासा है, आलस्य नहीं है; आँखे बन्द करके नहीं सुनता, किन्तु समझने की पूर्ण तैयारी–पात्रता है। अन्धश्रद्धा वाले और सत्य समझने की अपेक्षा से रहित श्रोता नहीं हो सकते, यह ऊपर के कथन से समझना चाहिये ।

वह म्लेच्छ 'स्वस्ति' का अर्थ समझने के लिये ब्राह्मण के सामने टकटकी लगाकर देखता ही रहता है, बाह्य में मन को दूसरी ओर नहीं दौड़ाता । किन्तु मन को स्थिर रखकर भीतर से 'स्वस्ति' को समझने की जिज्ञासा है, लापरवाह नहीं है, निरुत्साह नहीं है । जैसे मेंढ़ को अनुसरण करने की आदत होती है, उसीप्रकार ब्राह्मण क्या कहता है यह समझने का म्लेच्छ का भला भाव है, इसलिये आँखे फाड़कर (प्रेम से आँखें खुली रखकर) ब्राह्मण के सामने वह टकटकी लगाकर देखता ही

रहता है। उसके अन्तरंग में एक ही आकांक्षा है कि ब्राह्मण जो कहता है उसका अर्थ धीरज से समझलूँ; लौकिक में भी इतनी विनय है।

जैसे प्रधानमंत्री, राजा और प्रजा के बीच में मेल कराने वाला है उसीप्रकार गणधरदेव, तीर्थंकर भगवान और श्रोताओं के बीच संधि कराने वाले धर्ममंत्री हैं। वे तो सबको हित ही सुनाते है (किसी को तीर्थंकर भगवान का सीधा वचन भी सुनने को मिलता है।) इसी-प्रकार दोनों की (ब्राह्मण और म्लेच्छ की) भाषा का जानने वाला अन्य कोई तीसरा पुरुष अथवा वही ब्राह्मण म्लेच्छ को 'स्वस्ति' का अर्थ उसकी म्लेच्छ भाषा में समझाता है कि 'स्वस्ति' शब्द का अर्थ यह है कि 'तेरा अविनाशी कल्याण हो।'

व्यवहार के उपदेश में भी 'सु+अस्ति' का लक्ष करने वाले का अविनाशी कल्याण हो ऐसा आशीर्वाद है। 'तेरी पवित्रस्वरूप लक्ष्मी प्रगट हो' ऐसा उस आशीर्वाद का भावार्थ है।

'स्वस्ति' शब्द का ऐसा अपूर्व अर्थ सुनते ही (वह पात्र था इसलिये) अत्यंत आनदमय आँसुओं से उसके नेत्र भर आते हैं। यदि हम हर्ष प्रगट न करे तो उसे समझाने की उमंग न हो, ऐसी उसमें कृत्रिमता नहीं है। किन्तु यहाँ म्लेच्छ के तो "अहो! तुम्हारा ऐसा कहना है" ऐसे अपूर्व आदर के साथ हर्षाश्रुओं से नेत्र भर जाते हैं। ऐसा यह म्लेच्छ स्वस्ति का अर्थ समझ जाता है। इसीप्रकार व्यवहारी मनुष्य भी वाणी के व्यवहार से परमार्थ को कैसे समझ लेते है यह आगे कहेंगे।

जब कोई मनुष्य म्लेच्छ को म्लेच्छ की भाषा में 'स्वस्ति' अर्थात् 'तेरा अविनाशी कल्याण हो' ऐसा अर्थ सुनाये तब म्लेच्छ 'स्वस्ति' शब्द का अर्थ जैसा कहा वैसा समझ जाता है। अब उसपर से यह सिद्धात घटित होता है कि:—

जिस जीव ने, सर्वज्ञ भगवान ने जैसा आत्मा कहा है, उसीप्रकार आत्मा को कभी नहीं जाना, ऐसे व्यवहारी पुरुष को "आत्मा" शब्द

कहने पर जैसा "आत्मा" शब्द का अर्थ है उस अर्थ के ज्ञान से रहित होने से, कुछ भी न समझकर मेंढ़े की भांति आँखें फाड़कर टकटकी लगाकर देखता ही रहता है।

धर्म के नाम पर पुण्य में राजी हुआ, पैसा इत्यादि बाह्य अनुकूलता में लोलुपी बना, जाप जपने को कहें तो वैसा करता है ('नमो अरिहंताणं' का जाप जपने से पैसा नहीं मिल जाता, किन्तु धन की तृष्णा हुई सो पाप है) लोग धर्म के फल में संयोग चाहते हैं, उसके पुण्यबंध की मिठास है जो पर से सुख चाहता है वह अपने को निःसत्व मानता है, इसलिये पराधीनता का आदर करता है। हम तो क्रिया करते हैं, मन, वचन, काय की प्रवृत्ति करते हैं, देह की कुछ क्रिया करे चलें बोले उसे ही वे आत्मा मानते हैं किंतु देहादि हलन-चलन करता है, स्थिर रहता है, बोलता है, या खाता है, यह समस्त क्रिया जड़ करता है। भीतर पुण्य-पाप का संवेदन होता है उस क्षणिक विकाररूप भी आत्मा नहीं है। वीतराग ने जैसा आत्मा का स्वरूप कहा है वैसा लोग नहीं समझे। आत्मा के धर्म में उपाधि का नाश है, आत्मा का भान होने पर जीव वर्तमान में पूर्णशाति और भविष्य में भी निराकुल पूर्णशाति प्राप्त करता है। आत्मा अखण्ड, ज्ञायक है, पूर्ण आनन्दघन है, पर से भिन्न है ऐसी जिसे खबर नहीं है वह व्यवहारी पुरुष है; उसे 'आत्मा' ऐसा शब्द कहने पर उसके अर्थ के ज्ञान से अनभिज्ञ होने से वह मेंढ़े की तरह आँखें फाड़कर 'आत्मा' शब्द कहने वाले ज्ञानी के सामने टुकुर-मुकुर देखता ही रहता है। ज्ञानी क्या कहता है, वही उसे समझना है, अभी कुछ भी अर्थ समझा नहीं है, इसलिये समझने के लिये ज्ञानी के सामने आँखें फाड़कर टकटकी लगाकर देखता ही रहता है, समझने की तैयारी है, न समझने का आलस्य नहीं है। इसमें प्रारंभ में तत्व सुनने वाला जिज्ञासु कैसा होना चाहिये यह भी आगया। तत्वश्रवण में जागृति और समझने की उमंग तथा पात्रता चाहिये।

"आत्मा अभेद है, सिद्ध भगवान की तरह पूर्ण है, उसमें पुण्य-पाप का विकार नहीं है, वह पर का कर्ता नहीं है," इसप्रकार जब

ज्ञानी कहता है तब व्यवहारी पुरुष उसका मतलब समझ लेना चाहता है। किन्तु 'यह बकवाद कर रहा है, हम समझ सकें इस तरह नहीं कहता, इसप्रकार जो वक्ता का दोष निकाला करे वह पात्र नहीं है, सत्य समझने के योग्य नहीं है। यहाँ टकटकी लगाकर देखता ही रहता है, उसमें आलस्य नहीं है, किन्तु क्या कहता है यह समझने का आदर है। मुझे 'आत्मा' कहने में उसकी भूल है, यह न मानकर मुझे समझ में नही आता यह मेरा दोष है, ऐसा मानना चाहिये। जिसे निज को समझने की रुचि नहीं है वह "इसे समझाना नहीं आता" इसप्रकार दूसरे का दोष निकालता है उसे समझने का अवकाश नहीं है।

मुझे समझने की धीरज रखने के लिये जितनी विनय चाहिये, मैं समझ नहीं सकता। यह मेरी ही त्रुटि है, मैं समझने की तैयारी करूँ तो अवश्य समझ सकता हूँ, इसप्रकार पूर्ण को समझने की पूर्ण ताकत रखकर तैयार हो, ऐसा योग्य सुनने वाला होना चाहिये।

अपने आप कोई शास्त्र पढ़कर चाहे जहाँ से आत्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु साक्षात् ज्ञानी की वाणी से 'आत्मा' का अर्थ समझना चाहिये। कान से शब्द तो सुना किन्तु समझा नही; स्वयं ज्ञान की प्रकाशता है, उसमें पात्रता चाहिये। पहले "सत् क्या है" यह समझने की जिज्ञासा होनी चाहिये। जिसकी कषाय मंद हुई है, वह दूसरे को दोष देने के लिये नहीं रुकता किन्तु म्लेच्छ की तरह (म्लेच्छ के पात्रता थी) अपने में दोष है, ऐसा मानकर समझने के लिये सरल हुआ है। परमार्थतत्व क्या है यह सुनने का बहुत प्रेम है। "यह क्या कहना चाहता है" यह समझने के लिये जो आँखे फाड़कर धैर्य से देखने के लिये खड़ा रहता है वह जीव योग्य है ऐसा जानना चाहिये।

'टकटकी लगाकर देखता ही रहता है' इसमें एक ही भाव रखता है, देह की अनुकूलता के संसार की ओर के भाव इत्यादि दूसरे विचारों को नहीं आने देता। स्वयं कुछ अपनी ओर झुकाव करने के लिये कषाय मंद करता है, दूसरे को दोष नहीं देना चाहता।

स्वयं समझने का इच्छुक होकर एकटक देखता ही रहता है। इसमें प्रथम देशनालब्धि होने पर पाँचों लब्धियों का मेल बताते हैं:—

१—क्षयोपशमलब्धि:—आँखे फाड़कर देखता ही रहता है यह क्षयोपशमलब्धि है; इसमें हितस्वरूप क्या है, यह समझने की शक्ति बताई है।

२—विशुद्धिलब्धि:—कषाय मंद करने के बाद तत्व का विचार करने की पात्रता आती है।

३—देशनालब्धि:—संपूर्ण आत्मा कैसा है यह सुना सो देशनालब्धि है।

४—प्रायोग्यलब्धि:—एकटक देखता ही रहता है, इसमें तत्व सुनने में एकाग्र होने पर कर्म की स्थिति का रस कम करता है।

५—करणलब्धि:—इस अन्तरपरिणाम की शुद्धता से स्व की ओर ढलता हुआ भाव है। यह लब्धि सम्यग्दर्शन होने के काल में होती है।

जो जिज्ञासु है वह आँखे फाड़कर एकटक देखता ही रहता है उसमें सिर्फ उसके ऐसे भाव नहीं होते कि वह मात्र आत्मा की ही बात करता। है उससे नीचे की बात क्यों नहीं करता।

किसी को ऐसा लगता है कि यह तो आत्मा की ही धुन लगाई है, समाज का कुछ करना चाहिये, किसी को सहायता पहुँचाना चाहिये, दूसरा कुछ करना चहिये, ऐसा कुछ कहना ही नहीं है; किंतु ऐसा तो अनादिकाल से सुनकर पर में कर्तृत्व मानकर जीव परिभ्रमण करता है। आत्मा को भूलकर दूसरा सब अनंतबार कर चुका, फिर भी अभी भव से विश्राम नहीं, इसलिये उसे तत्व की बात का आलस्य आता है पात्र जीव तो एक आत्मा को समझने के लिये एकटक देखता ही रहता है, दूसरा भव नहीं आने देता।

जो व्यवहारी पुरुष शास्त्रीय भाषा—आध्यात्मिक परिभाषा नहीं समझता उसे भेद करके समझाते हैं। जिस अनार्य को आर्यभाषा में समझ में नहीं आता उसे अनार्य की भाषा में कहना पड़ता है। 'आत्मा अखंड निर्मल है' यह आर्यभाषा है, इसमें कुछ नहीं समझता, वह आँखें फाड़कर एकटक देखता है, इससे यह सूचित होता है कि उसे समझने की

उमंग है। जबतक आत्मा को न समझ लूँ, तबतक दूसरा कुछ न आने-दूँगा, इसप्रकार समझने के विचार में क्रोधादि-कषाय मंद की है और अशुभ को आने नहीं देता।

श्रोता स्वय ऐसी आज्ञा नहीं करता कि इसप्रकार कहो कि जो हमें जल्दी समझ में आजाय और हृदय में जमजाय किंतु विनय से धर्मपूर्वक समझने की जिज्ञासा प्रगट करता है। और जब ऐसा होता है तब उपदेशक भी विचार करता है कि यह इतनी विनय के साथ कह रहा है इसलिये इसके सच्ची जिज्ञासा है 'यह इस भाव से नहीं समझता तो दूसरे भाव से समझेगा' इसप्रकार दूसरे भाव के द्वारा समझाने की भावना उत्पन्न हुये बिना नही रहती। उन दोनो के बीच ऐसा मेल बैठ जाता है। किंतु यदि सुनने वाला कहे कि हम समझ सके ऐसा कहो. तो समझना कि वह योग्य नहीं है।

जो आत्मा को नही जानता ऐसे मिथ्यादृष्टि को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये समयसार का उपदेश है। अनादिकाल की भूख मिटानी हो तो यही समझने योग्य है। श्री कुंदकुंदाचार्य, त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव के मुखकमल से निकला हुआ और उसके द्वारा गृहीत तत्त्व कहते है।

'मुझे समझना है' ऐसा कहने वाले जीव में सरलता, विनय और समझने की आकांक्षा है, ऐसे जीव को जब आत्मा का स्वरूप समझना है तब व्यवहार-परमार्थमार्ग पर सम्यग्ज्ञानरूपी महारथ को चलाने वाले सारथी की तरह अन्य कोई आचार्य अथवा उपदेशक स्वय ही व्यवहार-मार्ग में विकल्पसहित छट्ठे गुणस्थान में रहकर परमार्थ का लक्ष कराने के लिये व्यवहार से कहते हैं कि पुण्य-पापरहित, निर्मल दर्शन, ज्ञान, चारित्र को नित्य प्राप्त हो वह 'आत्मा' है। ऐसा आत्मा शब्द का अर्थ आचार्य समझाते हैं तब तत्क्षण ही उत्पन्न होनेवाले अत्यंत आनंद से जिसके हृदय में सुंदर बोधरूपी तरंग (ज्ञानतरंग) उछलती है, ऐसा वह व्यवहारी पुरुष, आत्मा शब्द का अर्थ अच्छीतरह समझ जाता है।

आचार्य सम्यग्ज्ञानरूपी महारथ को चलाने वाले महासारथी के सदृश हैं, ऐसे सारथी के रथ में जो बैठता है उसे सारथी ले जाता है। जो ज्ञानी के पास सत् को समझने के लिये बैठा है मानों वह ज्ञानी के साथ ज्ञायकस्वरूप के रथ में बैठा है। वास्तव में छट्ठे–सातवें गुणस्थान में अथवा व्यवहार–परमार्थरूपी मार्ग में प्रवर्तमान जो मुनि हैं, वे जो कहना चाहते हैं उस भाव को समझने के लिये जो बैठा है मानों वह उनके साथ ही बैठा है।

ज्ञानी की दृष्टि अखण्ड पर है; वे व्यवहार से भेद करके समझाते हैं। समझने वाला स्वयं ज्ञानी का कहा हुआ समझना चाहता है, अपनी कल्पना बीच में नहीं लाता, वह पात्र जीव 'आत्मा को भगवान ने ऐसा कहा है' इसप्रकार भेद करके कथन करने पर जल्दी ही परमार्थ अभेद–स्वरूप को समझ लेता है।

साक्षात् सर्वज्ञ भगवान से सुनकर गणधरदेव जगत् को सुनाते हैं। कोई जीव तीर्थंकर भगवान से सीधा सुनता है। यहाँ उपदेश देनेवाला स्वयं व्यवहारमार्ग में रहकर अर्थात् व्यवहार में आकर समझाने के लिये विकल्प द्वारा भेद करके कहता है, क्योंकि वह स्वयं केवली नहीं है, किन्तु छद्मस्थ है, फिर भी वह मात्र व्यवहार में ही रत नहीं है, किन्तु परमार्थ के अभेद अनुभव वाला है। सातवें गुणस्थान में निर्विकल्पता के छूटने पर उसे जरा विकल्प में आना पड़ता है। वे कहते हैं कि जो दर्शन ज्ञान चारित्र को नित्यप्राप्त है वह आत्मा है।

पुत्र का, स्त्री का विश्वास जम गया है इसलिये अज्ञानी यह कल्पना किया करता है कि उनसे यह होगा और वह होगा, किन्तु अनुकूल होना तो पुण्याधीन है, यदि अपना पुण्य पूरा हो जाय तो कोई अनुकूलता नहीं दे सकता। अपनी मान्यता के अनुसार कुछ नहीं होता फिर भी पर में विश्वास करता है। ज्ञानी कहते है कि पर में विश्वास करता है उसके बदले तेरे में–निज में विश्वास कर। मैं विकारी नहीं हूँ, पुण्य–पाप नहीं हूँ, देह मन वाणी की प्रवृत्ति के आधीन नहीं हूँ, ऐसा

अखण्डानन्द आत्मा नित्य अपनी श्रद्धा को प्राप्त है, क्षणिक परसंयोग में जो विश्वास है उसे तू सदैव प्राप्त नहीं है, क्योंकि आत्मा नित्य है, असंयोगी है और संयोग क्षणिक है, असंयोगी को कोई परवस्तु शरणभूत नहीं होती ।

पर में अनादि से विश्वास किया है। अब पर से भिन्न अविकारी पूर्ण की श्रद्धा कर, पर से पृथक्त्व का ज्ञान कर तथा पर के आश्रय से रहित-रागरहित स्व में स्थिरता कर। स्वाश्रित दर्शन ज्ञान चारित्र को जो सदा पाया हुआ है वह आत्मा है, ऐसा मात्र उपदेश करने के लिये गुण-गुणी का भेद डाला सो व्यवहार है। इसप्रकार जैसा आत्मा शब्द का अर्थ है वैसा समझाते हैं। उसे समझकर ही पात्र जीव के अन्तरग से बहुमान आता है। कथन में भेद होता है किन्तु जब वह अभेद को पकड़ लेता है तब गुरु-शिष्य दोनों का अभिप्राय एकसा हो जाता है।

'आत्मा पुण्य-पाप, राग-द्वेष को प्राप्त है, परमाणु, देह इत्यादि की क्रिया को प्राप्त है, शरीर, कुटुम्ब, समाज इत्यादि के कर्तव्य को प्राप्त है' ऐसा आत्मा को नहीं कहा, किन्तु आत्मा तो पर से प्रथक् स्व में एकरूप ज्ञायक ही कहा गया है। उसका लक्ष करने पर निर्मल पर्याय प्रगट होती है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र अखण्ड ज्ञायक के लक्ष से प्राप्त होता है ।

यदि यह बात जल्दी समझ में न आये तो उसका आलस्य नहीं आना चाहिये। नाटक देखने का प्रेम हो तो उसे वारवार देखता है, नाच, मुजरा से प्रेम हो तो उसे वारवार देखने-सुनने के लिये 'वंशमोर' करता है। जिसकी जिसे प्रीति है उसे वह किसी भी मूल्य पर वारवार देखना चाहता है। वहाँ एक की एक बात को वारवार परिचय में लेने पर आलस्य नही आता, किन्तु उसकी चाह करता है। परन्तु जो पात्र जीव होता है वह उससे पलटकर-सीधा होकर भगवान आत्मा की प्रत्येक बात अनेक तरह से सुनता है, वारबार सुनता है और बराबर समझने का प्रयत्न करता है। अनंत जन्म-मरण के चक्कर को दूर करने के लिये

सच्ची समझ के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। उसे समझने का आलस्य नहीं होता किंतु खूब आनन्द होता है। नये नये न्याय सुनकर विशेष दृढ़ता करके अन्तर में उछल-उछलकर उसका ही माहात्म्य गाया करता है।

जैसे माता-पिता किसी वात में हर्ष करते हों तो पास में बैठा हुआ छोटा वालक भी उनकी बात को विना समझे ही हँसता है, उसीप्रकार आत्मा की वात सुनकर उसके आशय को समझे विना जो देखादेखी से हर्ष करता है वह भी वालक जैसा ही है। तत्वज्ञान का विरोध करने वाला उसके अपने भाव का ही विरोध करता है।

यहाँ तो ऐसे योग्य जीव लिये हैं कि जो आत्मा की वात अपूर्व उमंग से वरावर सुने और समझकर तुरत ही आनंद प्राप्त करे, जो विलंव करते हैं उन्हे यहाँ पर नहीं लिया है।

आचार्य ऐसा कहते हैं कि सुननेवाले को उसी समय स्वतंत्र-सुख का भान हो। दर्शन ज्ञान चारित्र को जो नित्यप्राप्त है ऐसे आत्मा को उसमें प्राप्त की प्राप्ति है, वाहर से कुछ प्राप्त नहीं करना है।

सासारिक वातों में कैसा खुश होता है। जव पाँच लाख की लौटरी पक जाती है तव वह ऐसी सुहाती है कि उसी की महिमा गाया करता है और कहता है कि आज मिष्टान्न उड़ने दो। इसप्रकार वाह्य में अपने हर्ष को व्यक्त किया करता है। लड़का मेट्रिक की परीक्षा में पास होजाय तो उसमें हर्ष करता है, किन्तु यह तो दुनिया में परिभ्रमण करने की वात का हर्ष है जो कि नाशवान-क्षणिक है।

आत्मा की अचित्य महिमा सुनकर उसके वहुमान से उछल पड़े और कहे कि अहो! अनंत ज्ञानानंदरूपी रिद्धि मेरे पास ही है, उसमें किसी संयोग, किसी क्षेत्र, किसी काल अथवा विकार की कोई उपाधि नही है। 'मैं पूर्ण अखड अविनाशी हूँ' ऐसा सुना और उसका ज्ञान किया कि तुरंत ही अत्यंत आनंद से उसका हृदयकमल खिल जाता है। आचार्य महाराज तत्काल मोक्ष हो ऐसी अनोखी वात कहते है

कि जिसे सुनते ही पात्र जीव के तुरत ही सम्यग्दर्शन हो जाता है, अपूर्व देशनालब्धि को प्राप्त करने बाद वीच में कोई अतर नही रह जाता, समझने के लिये तैयार होकर आया और समझाने पर न समझे ऐसी बात यहाँ नहीं है।

जैसे शुभ्र मधुर समुद्र की तरंगे उछलती है और ज्वारभाटा आजाता है, इसीप्रकार पहले कुछ नही समझता था और उसे समझा कि तत्क्षण ही निर्मल सम्यग्ज्ञानज्योति का आनद प्रगट होकर वृद्धिप्राप्त करके अल्पकाल में ही केवलज्ञान का ज्वारभाटा आयगा। इसप्रकार पूर्ण होने से पहले पूर्ण की उमंग होती है।

सच्चा तत्त्व समझने वाला सुनते ही तुरंत समझ जाता है और उसके साथ ही सम्यग्दर्शन और आनंद प्राप्त करता है। नेत्र खोलकर देखता ही रहता है अर्थात् उसे पुण्य-पाप अथवा बड़प्पन की कोई पदवी इत्यादि अन्य कुछ नहीं चाहिये।

'काम एक आत्मार्थ का अन्य नहीं मन रोग'

आत्मा का निर्मल पूर्णस्वरूप जैसा ज्ञानी ने कहा वैसा ही पात्र जीव ने समझा, उसमें समझने की पात्रता अपनी ही थी। समझते ही हृदय में सुंदर बोधरूपी तरंगे तत्काल उछलने लगती हैं। उसमें ऐसा अर्थ निहित है कि केवलज्ञान प्राप्त करने में देर न लगे ऐसी पूर्ण शक्ति की महिमा लक्ष में लेकर निर्मलता की वृद्धि प्राप्त करता है। उसे यह पूछने की जरूरत नहीं रहती की हमारी समझ में कैसे आयगा।

जैसे अनार्य की भाषा में अनार्य को समझाया जाता है उसीप्रकार व्यवहार से भेद करके व्यवहारीजन को उसकी भाषा में लक्ष कराया जाता है। पहले जो कुछ भी नहीं समझता था उसे समझाने का यह उपदेश है। यदि कोई कहे कि समयसार में तो सातवे गुणस्थान वालों के लिये अथवा केवलियों के लिए कथन है तो वह असत् सिद्ध होता है। इस-प्रकार जगत् म्लेच्छ भाषा के स्थान पर होने से और गुण के भेद करके अखण्ड निर्मल आत्मा की पहिचान करानी है इसलिये, वह व्यवहारनय

भी म्लेच्छ भाषा के स्थान में होने के कारण परमार्थ का कथन करनेवाला होने से व्यवहारनय स्थापन करने योग्य है; इसीप्रकार ब्राह्मण म्लेच्छ को नही होना चाहिये, इस वचन से वह (व्यवहारनय) अनुसरण करने योग्य नहीं है। देह की क्रिया से, पुण्य से अथवा विकार से आत्मा को पहिचानना सो तो व्यवहार भी नहीं है। आत्मा अनन्तगुण का अखण्ड पिंड है, उसमें गुण के भेद का थोड़ा सा विकल्प करने पर व्यवहार होता है, इस कथन से जो पूर्ण को समझा उसे वह व्यवहार, परमार्थ के कहने में निमित्त हुआ है।

जो भाव ज्ञानी को कहना है वही भाव समझने पर जोर दिया है। बाह्यक्रिया, पुण्य, तथा शुभविकल्प को अवकाश नहीं है। समझ में न आये इसलिये उकताना नहीं चाहिये, इसे समझे बिना किसी का गुजारा नहीं है।

मैं इसका भला-बुरा करदूँ, पर का ऐसा न होने दूँ, ऐसा मानना सो अनत स्व-हिंसा का भाव है। मान्यता में अन्तर पड़ता है किन्तु वस्तु में कुछ फर्क नहीं पड़ता। अनादि की विपरीत मान्यता को सुलटी मान्यता के द्वारा बदलना पड़ता है।

श्रद्धा का विषय संपूर्ण ज्ञायक आत्मा है इसप्रकार पूर्ण आत्मा को लक्ष में लेना सो परमार्थ है और उसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का भेद करके लक्ष में लेना सो व्यवहार है। सम्यग्दर्शन निश्चयनय का विषय नही है, जो निर्मल, अखण्ड, परमार्थ आत्मा है वह निश्चयनय का विषय है। जो सम्यग्दर्शन का विषय है वह निश्चयनय का विषय है।

गुण-गुणी के भेद का लक्ष छोड़कर अभेद स्वरूप को खयाल में लेना ही परमार्थ है। उसमें अभेद की जो श्रद्धा है वह भी परमार्थ नहीं है। क्योंकि वह भी गुण की एक अवस्था है इसलिये व्यवहार है। देव, गुरु, शास्त्र इत्यादि भी परमार्थ के विषय नहीं है।

देखो भाई! यह विषय अनादिकाल से जीवों ने न तो सुना है और न समझा है; यदि समझ लें तो दशा बदल जांय। शरीर मेरा है,

उसकी क्रिया मैं कर सकता हूँ इत्यादि प्रकार की जो मान्यता है वह तो व्यवहार भी नहीं है, किन्तु मात्र अज्ञान ही है। देव, गुरु, शास्त्र का विचार और नवतत्त्व के भेद से युक्त श्रद्धा करना सो भी शुभभाव है, उसका परमार्थ में प्रवेश नहीं है, क्योंकि वह असद्भूत व्यवहार है। सम्यग्दर्शन ने अखंड ज्ञायक पूर्ण आत्मा लक्ष्य में लिया सो परमार्थ है, किन्तु लक्ष्य में लेनेवाला सम्यग्दर्शन परमार्थ नहीं है, किन्तु व्यवहार है—पर्याय है, वह निश्चय से अभूतार्थ है क्योंकि वह त्रिकाली नहीं है। त्रिकाल रहने वाला अखण्ड ध्रुव जो सामान्यस्वभाव है सो परमार्थ है, भेददृष्टि गौण करने पर भी अभेद समझाने पर बीच में यह व्यवहार आता ही है, क्योंकि इस भेद के द्वारा समझे बिना अभेद समझ में नहीं आता।

भेद के लक्ष्य से निर्मलता अथवा सम्यग्दर्शन नहीं होता। भेद के लक्ष्य से (मोक्षमार्ग की पर्याय के लक्ष्य से) मोक्षमार्ग प्रगट नही होता और मोक्षमार्ग के लक्ष्य से मोक्ष प्रगट नहीं होता। क्योंकि वह हीन अवस्था है और हीन अवस्था के द्वारा पूर्ण अवस्था–(मोक्ष) प्रगट नही होती।

अवस्था क्षणिक होती है, एक समय में एक अवस्था प्रगट होती है; जब हीनता होती है तब पूर्ण अवस्था नहीं होती। अधूरी पर्याय कारण और पूर्ण पर्याय कार्य हो यह, परमार्थ से नहीं होता। आत्मा निर्मल अखण्ड परिपूर्ण है, उस पूर्णता के बल से पूर्ण मोक्षदशा प्रगट होती है। वर्तमान में भी प्रत्येक समय द्रव्य में अनंत अपार सामर्थ्य विद्यमान है, त्रिकाली अखण्ड आत्मा अनंत गुण प्राप्त है ही। उसमें " प्राप्त करूं " यह जो भेद है, और श्रद्धा के विषय में भेद नहीं है।

इस जीव ने अनादि से भेद के ऊपर लक्ष्य किया है, भेददृष्टि का अर्थ है व्यवहार का अवलंबन। उससे शुभविकल्प होता है किन्तु अभेद निर्मल का लक्ष्य नही होता। परमार्थ स्वरूप को जानकर, भेद को गौण करके अखण्ड वस्तु की महिमा करने से, अखण्ड निर्मल के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

'जो पीला है वह सोना है' यह कहा जाता है, किन्तु मात्र पीला ही–सोना नहीं है, लेकिन पीले गुण का भेद करके उस पीलाश के द्वारा बताया हुआ जो पूर्ण सोना है वही सोना है, ऐसा ख्याल में आता है। इसीप्रकार अखण्ड परमार्थस्वरूप आत्मा को पहचानने के लिये भेद करके कहना पड़ता है। उस भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद निर्मल पर जो जीव लक्ष्य करता है उसे व्यवहार निमित्तरूप से कहा जाता है। निश्चय से मोक्षमार्ग से मोक्ष नहीं होता, अखण्ड के लक्ष्य से मोक्ष-मार्ग और मोक्ष होता है यह मोक्षमार्ग और मोक्ष भी व्यवहार है। मोक्ष का अर्थ है पूर्ण अवस्था, उसका कारण मोक्षमार्ग की हीन अवस्था नहीं है किन्तु उस पूर्ण पर्याय को प्रगट करने का कारण अखण्ड द्रव्य ही है।

भेद का आश्रय तो अज्ञानी के अनादि से था और वह भेद को ही जानता था, उसे इसप्रकार भेद के द्वारा अभेदत्व समझाया, इतना व्यवहार बीच में आता है; किन्तु 'ब्राह्मण को म्लेच्छ नही होना चाहिये' अर्थात् व्यवहार से समझने के लिये भेद किया है, किन्तु भेद ही वस्तु है, ऐसा नही समझना चाहिये और समझाने वाले को भी विकल्प के भेद में नही पड़ा रहना चाहिये।

पूर्ण त्रिकाली स्वभाव में कुछ अंतर नहीं पड़ा किन्तु अपनी मानी हुई विपरीतदृष्टि से फर्क दिखाई देता है, यदि सत् समागम के द्वारा विपरीतदृष्टि को बदल डाले तो स्वय त्रिकाल सर्वज्ञस्वरूप है। उसकी निर्मल अवस्था को प्रगट करने का मार्ग अपूर्व है यदि उसे समझना चाहे तो मुश्किल नहीं है। जिसे अपना हित करने की इच्छा है वह कठिन–कठिन नहीं पुकारता जिसे समझने कि रुचि है उसे सत्य सम-झाने वाले मिले बिना नहीं रहते, जो अपने में तैयारी और सामर्थ्य को नहीं देखता वह निमित्त को याद करता है, वास्तव में तो निमित्त उपस्थित होता ही है। निमित्त की प्रतीक्षा करनी पड़े ऐसी कुछ परतंत्रता नहीं है। जो अंकुर बीज में से बढ़ने के लिये प्रस्फुटित हुये हैं तो वहाँ बरसा हुये बिना नहीं रह सकती उगने की शक्ति उसमें थी वही प्रगट हुई है, वह पानी से

नहीं आई। यदि पानी के द्वारा उगने की शक्ति आती हो तो अकेला पत्थर भी उसके ऊपर पानी पड़ने से उगना चाहिये किन्तु वैसा नहीं होता। इसप्रकार सच्ची जिज्ञासा के अंकुर फूटे (पात्रता हो) और पूर्ण सत्य की दृष्टि के समझने की तैयारी हो तो उसे समझाने वाला मिले बिना नहीं रहता। बाह्य संयोग पुण्य के आधीन हैं। पुरुषार्थ करने में पर की प्रतीक्षा नही की जाती, पर की अपेक्षा से रहित अपनी सामर्थ्य की तैयारी देखी जाती है।

अखण्ड निर्मलदृष्टि होने के पहले, विकल्प का व्यवहार नहीं छूटता। अभेददृष्टि होने के बाद व्यवहार छूट जाता है। पहले पर से प्रथक् आत्मा को जानना चाहिये, फिर क्षणिक विकार की ओर नहीं देखना चाहिये, निर्मल पर्याय के विचार मे नहीं रुकना चाहिये, अभेददृष्टि के लिये भी गुण के भेद पर लक्ष्य नहीं करना चाहिये, भेद को गौण करके अखण्ड पर दृष्टि करनी चाहिये यह सब पहले समझना होगा।

भावार्थ—लोग शुद्धनय को नहीं जानते क्योंकि शुद्धनय का विषय अभेद-एकरूप वस्तु है। एकरूप निर्मल पूर्णस्वभाव को देखने पर वर्तमान अवस्था का विकार गौण हो जाता है। संयोग से होने वाले विकार और गुण के भेद के लक्ष्य को गौण करके अखण्ड पूर्ण वस्तु को लक्ष्य में लेने की शुद्ध दृष्टि को अज्ञानी जन नहीं जानते, वे तो भेद के द्वारा भेद-विकार को ही जानते हैं। वे मानते हैं कि जो बोलता है, चलता है सो आत्मा है, जो राग करता है सो आत्मा है, इसके अतिरिक्त अन्य अरूपी आत्मा कैसा होगा यह वे नहीं जानते।

देहादि पर की क्रिया कोई आत्मा कर नहीं सकता, किन्तु अज्ञान-भाव से जीव रागद्वेष का कर्ता होता है, फिर भी रागद्वेष स्वभाव रूप नहीं है। अज्ञान और रागद्वेष क्षणिक अवस्थामात्र के लिये होने से अविनाशी आत्मा के स्वभाव के लक्ष्य से दूर होने योग्य है।

लोग अशुद्धनय को ही जानते है-क्योंकि उसका विषय भेदरूप-अनेक प्रकार है, इसलिये वे व्यवहार द्वारा ही परमार्थ को समझ सकते

है, इसलिये व्यवहार को परमार्थ का कथन करने वाला जानकर उसका उपदेश किया जाता है। यहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि व्यवहार का अवलंबन कराते हैं। लोग यह मानते हैं कि यदि व्यवहार की प्रवृत्ति अर्थात् बाह्य में कुछ क्रिया करे तो धर्म हो किन्तु यह बात गलत है। जब समझने वाला स्व का अभेद लक्ष्य करके समझे तब भेदरूप व्यवहार को परमार्थ के समझने में निमित्त कहा जाता है।

समझाने के लिये जो भेद किया सो व्यवहार है, वह कहीं परमार्थ का कारण नहीं है, क्योंकि भेद अभेद का कारण नहीं होता, खंडदृष्टि अखण्ड का कारण नहीं होती, भेददृष्टि का विषय राग है, और राग विकार है, तथा विकार के द्वारा अविकारी नहीं हुआ जा सकता।

जहां परमार्थ के समझने की तैयारी होती है वहा व्यवहार होता है अर्थात् अखण्ड निर्मल परमार्थ को समझाने में वह बीच में आता है, इसलिए ऐसा नहीं समझना चाहिये कि व्यवहार आदरणीय है। यहाँ तो यह समझना चाहिये कि व्यवहार का आलंबन छुड़ाकर परमार्थ में पहुँचाना है।

छट्ठी गाथा में कहा है कि सिर्फ अकेला ज्ञायक आत्मा है, उसमें सम्यग्दर्शन–मिथ्यादर्शन, विरत–अविरत, प्रमत्त–अप्रमत्त, सकषाय–अकषाय, बंध–मोक्ष ऐसे पर्याय के भेद नहीं हैं। छद्मस्थ के निर्मल पर्याय पर दृष्टि जाने पर अशुद्धता (विकल्प) आती है। पर्याय के (भेद के) लक्ष्य से अशुद्धता दूर नहीं होती।

पर्याय के भेद पर लक्ष करना सो अभूतार्थ है, उसके लक्ष्य से विकल्प उत्पन्न होता है। और स्वभाव एकरूप, अखण्ड, निर्मल, ध्रुव है। उसके (स्वभाव के) लक्ष्य से दर्शन ज्ञान चारित्र की निर्मल पर्याय प्रगट होती है। उस निर्मल पर्याय पर लक्ष्य करने से अशुद्धता–राग होता है इसलिये निर्मल अवस्था पर भी अशुद्धता का आरोप कर दिया है

सातवीं गाथा में अखण्डस्वभाव की दृष्टि का एकरूप विषय अखण्ड ज्ञायक पूर्णरूप आत्मा बताया है, उसमें भेदरूप गुण को व्यव-

हार-अभूतार्थ कहा है। वस्तुस्वरूप तो अनतगुणमय अखण्ड है, पृथक् तीन गुणरूप नहीं है। आत्मा एक गुण जितना नही है, त्रिकार के भेद से रहित एकरूप विषय करना सो ज्ञायक ही है।

भाइयो ! यह ऐसी अपूर्व बाते है जिससे अनतकाल की भाव दरिद्रता दूर हो सकती है। बाह्यसयोग-वियोग तो पूर्वप्रकृति के आधीन हैं; ऐसे संयोग--वियोग तो अनेक तरह के हुआ करते है। संयोग तो ऐसे भी होते है कि--मुनि को सिंह फाड़कर खा जाता है, इससे आत्मा को क्या ? आत्मा तो सदा ज्ञायकरूप है उसे सयोग के साथ कुछ सबंध नहीं है। सर्वज्ञभगवान ने आत्मा का जैसा परिपूर्ण निर्मल स्वभाव कहा है वैसा इस जीवने न तो कभी सुना है, न समझा और न उसे जाननेवाले अनुभवी ज्ञानियो का परिचय भी किया है। यह मनुष्य जन्म और आत्मा की सत्य बात सुनने का अवसर बारंबार नहीं मिलता। यदि जन्म-मरण की भूख मिटाना हो तो अखड, ज्ञायक आत्मा की बात रसपूर्वक समझनी चाहिये।

जिसमें सर्व समाधानस्वरूप अनत सुख है, ऐसे अमृत का कुण्ड भगवान आत्मा अज्ञानरूपी आवरण से आवृत होकर देह की ओट में छिपा हुआ है। उसकी स्वाधीनता की महिमा सुनकर समझने की तीव्र आकाक्षा होनी चाहिए, अनत उत्साह जागृत होना चाहिए।

चैतन्य के अपूर्व स्वभाव को सुनने में, समझने में कठिनाई मानकर उकता मत जाना। सर्वज्ञ के न्याय से अनेक पहलुओं से, जैसा है वैसा, जो विधि है उस विधि से और जितना है उतना बराबर लक्ष्य में ले तो कृतकृत्य हो जाय अर्थात् उसे अनत सुख मिले। जो विपरीत मानता है वह उपाय भी विपरीत ही करता है और उसका फल भी विपरीत ही होता है, इसलिये सत् को जिज्ञासा से समझ लेना चाहिए।

परमार्थस्वरूप आत्मा को गुण के द्वारा भेद करके पहचानने के लिये व्यवहार कहा है किन्तु उस भेद में (भेद का लक्ष्य करने पर जो

शुभराग आता है उसमें) अटक जाने के लिये व्यवहार नहीं कहा है, किन्तु भेद का लक्ष्य छोड़कर अखण्ड ज्ञायक में एकाग्र लक्ष्य करके उसके भीतर स्थिर होने का उपाय बताने के लिये कहा है।

वस्तु में परमार्थ से किसी गुण के भेद नहीं है, विकल्प नहीं है, फिरभी दर्शन–ज्ञान–चारित्र गुण के भेद करके पूर्ण आत्मा को बताया जाता है इतना व्यवहार बीच में आता है, वह भी आदरणीय नहीं है किन्तु अभेद में एकाग्र होकर छोड़ने के लिये है। अभेद की श्रद्धा में व्यवहार को प्रथम छोड़ने योग्य मानने के बाद गुण के द्वारा गुणी का लक्ष्य करने के विचाररूप में जो व्यवहार आता है, ज्ञानी उसका ज्ञान करता है।

आत्मा तो अखण्ड, अनंतगुण का पिंड है, वही परमार्थ है। उसे अनादिकाल से जिसने नहीं समझा उसे 'दर्शन–ज्ञान–चारित्र को जो नित्य प्राप्त हो सो आत्मा है' इसप्रकार व्यवहारमात्र से भेद करके समझाते हैं। समझनेवाला यदि अभेदरूप परमार्थ को समझले तो परमार्थ आश्रित व्यवहार हुआ कहलायगा।

ऐसी बात सुनना दुर्लभ है। उसे समझने का जिसे प्रेम नहीं है वह जगत् के घूरे को बखेरने में उत्साह से लगा रहता है। जैसे साड विष्टामय घूरे में मस्तक मारकर उसे छिन्न–भिन्न करता रहता है उसीप्रकार संसार में ममता से ओहो हो! हम तो बहुत बड़े हो गये हैं, इसप्रकार पुण्य प्रतिष्ठा आदि से बड़प्पन मानता है उसमें अपना स्थान बताता है किन्तु अभेद गुणी का लक्ष्य कैसे हो यह नहीं समझना चाहता।

शिष्य प्रश्न करता है कि गुण के भेद को बताने वाला व्यवहार परमार्थस्वरूप से अखण्ड वस्तु को कहने वाला कैसे है? उसका उत्तर ९वीं और १०वीं गाथा में इसप्रकार दिया है:—

जो हि सुएणहिगच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तंसुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पईवयरा ॥९॥

जो सुयणाणं सव्वं जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा।
णाणं अप्पा सव्वं जह्मा सुयकेवली तह्मा ॥१०॥

यो हि श्रुतेनाभिगच्छति आत्मानमिमं तु केवलं शुद्धम् ।
तं श्रुतकेवलिनमृषयो भणंति लोकप्रदीपकराः ॥ ९ ॥

यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति श्रुतकेवलिनं तमाहुर्जिनाः ।
ज्ञानमात्मा सर्वं यस्माच्छ्रुतकेवली तस्मात् ॥ १० ॥

अर्थः—जो जीव निश्चय से श्रुतज्ञान के द्वारा इस अनुभवगोचर मात्र एक शुद्ध आत्मा को सन्मुख होकर जानता है उसे लोक को प्रत्यक्ष जानने वाले ऋषीश्वर श्रुतकेवली कहते हैं; जो जीव सर्व श्रुतज्ञान को जानता है उसे जिनदेव श्रुतकेवली कहते है, क्योंकि ज्ञान सब आत्मा ही है इसलिये (वह जीव) श्रुतकेवली है।

आत्मा में गुण भरे पड़े है उसकी प्रतीति न होने से लोग मानते है कि बाह्य में कोई प्रवृत्ति करे अथवा बहुत से शुभभाव करे तो गुण होते हैं। भगवान की पूजा करूं, स्तुति करू, जाप जपू, किसी की सेवा करूं तो गुण प्रगट हो, ऐसा जो मानते है उनका अक्रिय अखंड अविकारी आत्मा पर लक्ष्य नहीं है, भीतर गुण भरे पड़े हैं उसका विश्वास नहीं है, इसलिये यह मानता है कि परलक्ष्य की प्रवृत्ति से गुण होते हैं। हीरे को डिब्बी में रखे तो भी वह हीरा ही है और उसे खुला रक्खे तो भी हीरा ही है, इसीप्रकार भगवान आत्मा स्वभाव से पर से भिन्न है, रजकण, देह, मन, वाणी के संबंध से रहित और अखड ज्ञायकरूप में विराजमान है, यह विषय ऐसा है

कि यदि ध्यान रखा जाय तो समझ में आ सकता है। यह कोई राजा रानी की बात नहीं है, कई लोग तत्त्व की बात सुनते हैं किन्तु बराबर मनन नही करते इसलिये बाहर जाकर भूल जाते हैं। यदि कोई पूछे कि क्या सुना? तो कहते हैं कि बहुत अच्छी बाते थीं आत्मज्ञान की बातें थीं किन्तु वे कुछ याद नहीं हैं। यदि कोई कथा कहानी या दृष्टांत हो तो उसे जल्दी याद रखता है। जैसे–एक राजा था, उसकी रानी बहुत सुंदर थी, दोनों ने उपदेश सुनकर दीक्षा लेली फिर उनने ग्रीष्म ऋतु के घोर ताप में बालू में बैठकर तप किया, उन्हें खूब पसीना आया, छहमास तक आहार नही लिया बाद में राजा को केवलज्ञान हो गया। ऐसी बाह्य बातों पर ध्यान रखता है किन्तु क्या इससे केवलज्ञान हो सकता है?

अंतरंग को समझता नही है, निर्मल केवलज्ञान तो भीतर ही विद्यमान है, अखण्ड पर दृष्टि थी, उसीके बल से केवलज्ञान प्रगट हुआ है। बाह्य संयोगो पर मुनि की दृष्टि नहीं है। बाह्य में कितने परिषह आते हैं यह जानने देखने की मुनि को कोई अवश्यकता नहीं होती अर्थात् देह पर उनका लक्ष्य नही होता। अखंड आनंद में स्थिर होने से वीतराग–दशा प्रगट हुई है, किन्तु जो यह मानते हैं कि परीषह सहन की इसलिये ज्ञान हुआ अथवा शरीर पर खूब गर्मी पड़ी, शरीर सूख गया, छहमास तक रोटी नहीं खाई इसलिये केवलज्ञान हुआ यह बात गलत है। मुनि के अंतरंग में अखण्ड के ऊपर दृष्टि गई है और 'मैं अखंडानंद ज्ञायक हूँ' शुभविकल्प भी मेरा स्वरूप नहीं है, मैं पर के अवलम्बन से रहित निर्मल हूं, इसप्रकार माना जाना और उसमें स्थिर हुआ इसलिये अभेद के लक्ष से–अभेद के बल से केवलज्ञान हुआ है। बाह्य की किसी भी क्रिया से अथवा पुण्यादिक की सहायता से मोक्ष नहीं होता। ऐसा सत्य जगत् के सामने प्रगट किया है, परमार्थ की बात यहाँ अनेक तरह से कही जाती है।

नवमी तथा दशमी गाथा का शब्दार्थ:–जो जीव निश्चय से (वास्तव में) श्रुतज्ञान के द्वारा (विकल्प नहीं शब्द नहीं किन्तु भाव श्रुतज्ञान का

आंतरिक उपयोग अर्थात् ज्ञान का निर्मल अंतर का जो व्यापार है उसके द्वारा) इस अनुभवगोचर केवल एक शुद्ध आत्मा को अंतरंग में युक्त होकर अखण्डस्वरूप में जानता है, वह निश्चय से श्रुतकेवली है इस-प्रकार श्री सर्वज्ञभगवान कहते हैं।

जिसने निश्चय से श्रुतज्ञान (भावज्ञान) के द्वारा इसप्रकार जान लिया कि अंतर एकाग्रता से आत्मा अखण्ड एकरूप ज्ञायक ध्रुव है, वह परमार्थ से (निश्चय से) श्रुतकेवली है।

'यह बहुत सूक्ष्म तत्व है इसलिये समझ में नहीं आता' ऐसी धारणा को हटा देना। समझना अपनी सत्ता की बात है। यह बात ऐसी है कि आंठ वर्ष का बालक भी समझ सकता है। किन्तु जो पहले से ही इसप्रकार निषेध कर बैठे कि मेरी समझ में नहीं आसकता उसके लिये क्या किया जाय। यहाँ 'समझ में नहीं आसकता' इस अयोग्यता को दूर कर दिया है। और पहली गाथा में ही यह स्थापित किया है तू पूर्ण शक्तिवान सिद्ध भगवान के समान ही है। अनत जीव आत्मा को समझकर सिद्ध हुये हैं इसलिये यह निश्चय हुआ कि प्रत्येक आत्मा को समझ में आसकता है। समझ में न आये ऐसा कुछ नहीं है। सदा जानने का जिसका स्वभाव है वह किसे नहीं जान सकता।

दसवीं गाथा

व्यवहार श्रुतकेवली= जो गुण-गुणी के भेद से परमार्थ में जाने का विचार करते हैं, सम्यग्ज्ञानी के अपने आत्मा के ज्ञान के द्वारा अखण्ड को लक्ष्य में लेकर पूर्ण को प्राप्त करने का विकल्प उठता है और जो निश्चय में स्थिर होने के लिये स्वरूप के सन्मुख होने के विचार के प्रवाह वाले है उनको जिनदेव व्यवहार-श्रुतकेवली कहते हैं।

निश्चयभाव श्रुतरूप होकर स्थिर नहीं हुआ है, किन्तु स्थिर होने के लिए मैं ज्ञान हूँ, दर्शन हूँ, निर्मल हूँ ऐसा विकल्प पूर्ण आत्मा की ओर करता है वह अल्प श्रुतज्ञान का विकल्प सर्व श्रुतज्ञानरूप अखण्ड आत्म-

वस्तु को ध्यान में लेकर उसमें स्थिर होना चाहता है इसलिये वह व्यवहार श्रुतकेवली है।

अखंड के लक्ष से भेद के विचार में रहना सो व्यवहार है। पर की भक्ति, और पर के अवलंबन का जो विचार है उसे यहाँ व्यवहार नहीं कहा है।

आत्मा अखण्ड निर्मल है ऐसे पूर्ण आत्मा के लक्ष में लेने का जिस ज्ञानी के विचार है वह भी व्यवहार श्रुतज्ञानी है। आचार्य कहते हैं कि जो अखण्ड ज्ञानानंद आत्मा को सर्वज्ञ के न्याय से बराबर जानकर श्रुतज्ञान को अखण्ड में मिलाकर पूर्ण आत्मा को पकड़ना चाहता है (प्राप्त होना चाहता है) उसमें स्थिर होना चाहता है उसके चाहे द्रव्यश्रुत का अल्पभाग हो तथापि वह पूर्ण स्व-विषय को गृहण कर उसमें ही स्थिर होना चाहता है इसलिये 'व्यवहार श्रुतकेवली' है और जो परमार्थ को जानकर अखण्ड के लक्ष से स्थिर हुआ वह 'परमार्थ श्रुतकेवली' है।

जिसके ज्ञान में आत्मा को जानने का रागमिश्रित विचार रहता है इसके अतिरिक्त जिसे दूसरा कुछ नहीं चाहिये वह अपने स्वरूप में निर्वि-कल्प हो जाने के कारण वर्तमान में द्रव्यनिक्षेप से (व्यवहार से) श्रुत-केवली है। जिनने परमार्थ का आश्रय किया उन सबके परमार्थ प्रगट होता है।

'मैं अखण्ड ज्ञायक निर्विकल्प हूँ, निर्मल हूँ, ऐसा जो विचार है सो मन के द्वारा होने वाला ज्ञान है, तथापि ज्ञान अपना ही है, राग का नहीं है। पर की ओर का रागरूप ज्ञान नहीं है, किन्तु सिर्फ आत्मा की ओर वह ज्ञान प्रवर्तता है इसलिये वह परमार्थ को बतलाने वाला है। पूर्ण श्रुतकेवली को भी आत्मा को ही पकड़कर स्थिर होना है।

इसीप्रकार अपूर्ण श्रुतज्ञान में अखण्ड आत्मा को ज्ञान में समाविष्ट करने का विचार जिसके विद्यमान है उस अल्पज्ञ के सर्वश्रुतज्ञान है क्यों-

कि वह अल्प होने पर भी संपूर्ण केवलज्ञान को प्राप्त कर सकता है। सभी सम्यग्दृष्टि आत्मा का ही विचार करते हैं। भेद से हटकर अंतरंग अनुभव की ओर झुकते हैं, उन सबको अल्प प्रगटता में भी श्रुत-केवली कहा जाता है, क्योंकि जो स्वरूप के सन्मुख हुआ उसका समस्त ज्ञान आत्मा ही है। जो ज्ञायक स्वभाव को ही लक्ष में लेना चाहता है उसने निश्चय से चाहे आत्मा को नहीं प्राप्त किया, स्थिर नहीं हुआ तथापि भविष्य में श्रुतकेवली होगा इसलिये उसको वर्तमान में भी व्यवहार से श्रुतकेवली कहा है।

ज्ञान अखण्ड आत्मा की ओर ढलता है, इसलिये विचाररूप सर्व-श्रुतज्ञान-संपूर्णज्ञान आत्मा का ही है अतएव ऐसा कह दिया है कि वह श्रुत में परिपूर्ण है। अभेदरूप में स्थिर न होने के कारण व्यवहार कहा है। नवमी गाथा में निश्चय परमार्थ से कहा और दशमी गाथा में व्यवहार से कहा है, दोनों की संधि करके आचार्यदेव ने मानों अमृत को प्रवाहित किया है।

टीका:—पहले 'जो निर्मल ज्ञानरूप भावश्रुत से केवल शुद्ध आत्मा को जानता है वह परमार्थ से श्रुतकेवली है।' पहले स्थिर होने के लिये भीतर स्व की ओर झुकने का विकल्प तो आता ही है, फिर जब अभेद को स्व-विषय करके (अतरंग) स्थिर होता है तब उसे सर्वज्ञ भगवान निश्चय से श्रुतकेवली कहते हैं, यही परमार्थ है।

जो 'आत्मा को' पूर्ण निश्चय से जानने के प्रयत्न में रहता है उसके अखण्ड के प्रति झुकने वाला-पूर्णभाव है अर्थात् जिसके आत्मा को प्राप्त करने के लिये विचार होता है वह भी आत्मसन्मुख होने से व्यवहार श्रुतकेवली है। क्योंकि उसका प्रयोजनमात्र परमार्थ में पहुँचने के लिये ही होता है। स्वोन्मुख एवं परमार्थ गृहण करने का भाव अपूर्ण होने पर भी पूर्ण को पकड़ने (प्राप्त करने) वाला होने से श्रुत में पूर्ण है अर्थात् व्यवहारनय से श्रुतकेवली है।

यहाँ–ऊपर कहा गया सर्वज्ञान आत्मा है या अनात्मा ? इसप्रकार दो पक्ष उठाकर परीक्षा करते हैं।

सच्ची समझ करके यथार्थ अनुभव करने के लिये विकल्प से छूटकर भीतर स्थिर होने की जो विचार-धारा चलती है वह आत्मा है, क्योंकि वह ज्ञान राग का नहीं है, जड़-इन्द्रियों का नहीं हैं, पर का नहीं है, पर की ओर झुकने वाला नहीं है किन्तु आत्मा की ओर झुका है आत्मा को ही जानता है, इसलिये वह ज्ञान आत्मा का ही है।

अब यह बताते हैं कि श्रुतज्ञान यदि अनात्मा की ओर झुकनेवाला हो तो वह यथार्थ नहीं है।

यदि ज्ञान अनात्मा की ओर झुकाव वाला हो तो वह व्यवहार नहीं है। पहले आत्मा की ओर का ज्ञान क्या है, इसे समझे बिना अनात्मा का ज्ञान क्या है यह समझ में नहीं आ सकता।

यहाँ पर जो आत्मा को ग्रहण करने की अमुक तैयारी वाला है वह, तथा सत्समागम के द्वारा सर्वज्ञ के न्यायानुसार ठीक समझने के बाद अन्तरंग में अनुभवयुक्त निज की ओर स्थिर होने के लिये जो स्वोन्मुख ज्ञान है वह समस्त ज्ञान आत्मा का है।

यदि सर्वज्ञान को अनात्मारूप जड़ के पक्ष में लिया जाय तो वह यथार्थ नहीं है, क्योंकि अचेतन–जड़ आकाशादि पाँच द्रव्य हैं, उनका ज्ञान के साथ तादात्म्य ही नहीं बनता। (क्योंकि उन पाँच अचेतन द्रव्यों में ज्ञानलक्षण निश्चित नहीं हो सकता) यह सर्वज्ञान तो आत्मा के साथ तादात्म्य करने के लिये है, स्व को जानने के विचार में प्रवर्तने वाला ज्ञान है किन्तु परविषय तथा रागादि अनात्मा की ओर का लक्ष करने के लिये नहीं है।

मैं पुण्य-पाप विकार का कर्ता हूँ, मैं देहादि की क्रिया करता हूँ, ऐसा जो विचार है और पाँच इन्द्रियों के विषयों की ओर ढलना सो अज्ञान है। जड़-अनात्मा में ज्ञान सिद्ध नहीं होता किन्तु अकेले ज्ञायक

स्वभाव की ओर का विचार करता है, उसके द्वारा आत्मा को जानता है, इसीसे आत्मा का पक्ष सिद्ध होता है। परमार्थ को जानने के विचार-रूप होनेवाला सर्वज्ञान, उसके तादात्म्यपना स्वरूप को जाननेरूप ज्ञायक आत्मा के साथ सिद्ध होता है, इसलिये सर्वश्रुतज्ञान भी आत्मा ही है, ऐसा निश्चय होने से जो आत्मा को जानकर उसमें स्थिर होने का तत्परता-रूप ज्ञान करता है वह पुण्य-पाप के पक्ष को उपस्थित नहीं करता किंतु संयोग को तोड़कर असंयोगी निर्मल आत्मा का पक्ष नित्य उपस्थित करता है।

अखण्ड तत्वस्वरूप में स्थिर होने के लिये जो विचार होता है वह आत्मा की ओर ढलने वाला सर्वज्ञान का पक्ष है। स्वरूप सन्मुख के श्रुतज्ञान के जो विचार हैं सो वह भी आत्मा ही है। ऐसा होने से जो आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है और वह परमार्थ है।

अब यहाँ व्यवहार श्रुतकेवली के दो प्रकार कहे जाते हैः—

(१) जिसने सर्वज्ञ के न्यायानुसार आत्मा को जाना और उसमें अखण्ड के लक्ष से स्थिर होने के लिये बिल्कुल सन्मुख हुआ है किन्तु यथार्थ अनुभव से निर्विकल्प होकर निश्चय श्रद्धा के द्वारा अभेद परमार्थ का विषय नहीं किया तथापि जिसके पूर्ण को पहुँच जाने का विचार रहता है उस अपूर्णभाव को पूर्ण के लक्ष से पूर्ण का कारण मानकर व्यवहार से उसे श्रुतकेवली कहा है।

(२) जिसने यथार्थरूप से अन्तर में अखण्ड का लक्ष करके अनुभव तो किया है और फिर भाव श्रुतज्ञान के अन्तर उपयोग में आने के लिये, अखण्ड स्वभाव की दृष्टि के बल से भीतर में (अन्तरग में) एकाग्र होकर स्थिर होने के विचार में रहता है, साथ ही जिसके मन के सम्बन्ध का अल्पराग रहता है किन्तु उस ओर झुककर अन्तर में स्थिर होने के लिये जो अखण्ड का विचार करता है, वह भी व्यवहार श्रुतकेवली है।

परमार्थ श्रुत अखण्ड आत्मा है। उसमें स्थिर होने के लिये, पूर्ण निर्मलभाव प्रगट करने के लिये विचार में भेद होता है किन्तु लक्ष तो

अभेद परमार्थ की ओर ढलने का ही है। गुण–गुणी का भेद डालकर अखण्ड ज्ञायक की ओर झुकनेवाला, अखण्ड ज्ञायक को कहनेवाला जो व्यवहार अन्तरंग में स्थिर होने से पहले बीच में आता है, वह सर्वश्रुत–ज्ञान का अपूर्णभाव व्यवहार में पूर्ण श्रुतकेवली है।

जिसे अनुभव के द्वारा आत्मा में स्थिर होना है और पूर्ण परमार्थ को पहुँचना है उसे गुण–गुणी के भेद के द्वारा अभेद में जाने के लिये यह व्यवहार कहा है किन्तु वह व्यवहार दूसरा कुछ कहता या करता नहीं है।

अभेद के लक्ष से परमार्थ प्रगट होता है, किन्तु परमार्थ में जाने पर उसका विचार करने में निमित्तरूप से ज्ञान का विचार आये विना नहीं रहता, इस अपेक्षा से 'जो सर्वश्रुतज्ञान को जानता है वह श्रुतकेवली है,' ऐसा जो व्यवहार है वह परमार्थ में स्थिर होने में बीच में अपने को दृढ़रूप से स्थापित करता है। परमार्थ का प्रतिपादन सविकल्प से होता है इसलिये दृढ़रूप से व्यवहार आये विना नहीं रहता। सर्वज्ञ के न्याय के अनुसार नय-प्रमाण और निक्षेप के द्वारा नवतत्व तथा द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप जानकर, परमार्थरूप अखण्ड को ध्यान में लेकर उसकी ओर एकाग्र पकड़ होनी चाहिये; जैसा है वैसा जाने विना पूर्ण आत्मा लक्ष में नहीं आता, इसलिये आत्मा को परमार्थस्वरूप से जैसा है वैसा कहने वाला सर्वश्रुतरूप व्यवहार दृढ़रूप में आता है।

श्रुतरूप चोदहपूर्व का ज्ञान भी मात्र आत्मानुभव करने के लिये है। जिस कार्य के लिये ज्ञान करता है। वही कार्य अपूर्ण श्रुतज्ञान करता है इसलिये वह सर्वश्रुत है। आत्मा को प्राप्त करने के लिये नवतत्व का यथार्थ स्वरूपरूप थोड़ा या बहुत चाहे जो विचार हो तो भी उसे व्यवहार से सर्वश्रुत कहा जाता है।

अहो! श्री अमृतचंद्राचार्य ने इस समयसार शास्त्र की अद्भुत टीका करके यथार्थ वस्तुस्वरूप बताया है। अद्भुत अमृत प्रवाहित किया है और इस समयसार जी में महामोक्ष को अवतरित कर दिया है।

यह ऐसा अपूर्व विषय है जिसे अनंतकाल से नहीं सुना। जैसे किसी के इकलौते पुत्र का विवाह हो रहा हो तब उसमें यदि पच्चीस हजार रुपये भी खर्च करना हो तो वह कितना हर्ष करता है, उस हर्ष में विभोर हो जाता है। उसीप्रकार यह भगवान आत्मा पर से भिन्न, निर्मल, त्रिकाली अखण्ड ज्ञायकस्वरूप है उसे सर्वज्ञ भगवान ने जैसा कहा है वैसा यदि सुनने को मिले तो योग्य जीव के हर्ष का पार नहीं रहता, समझने में विरोध नहीं आता; किंतु जिसे अनादि से अन्यथा मानरखा है, और उसका दृढ़ आग्रह होता है, वह सत्य को नही सुनना चाहता। तत्त्वज्ञान का विरोध करने वाले जीव अनंतकाल से लट, जोंक भी न हो ऐसे निगोद में (अनंत जन्म मरण के स्थान में) जाता है।

प्रश्नः—यह कैसी सूक्ष्म बातें किया करते हो ?

उत्तरः—यह सूक्ष्म बात तो है किंतु हितकारी है और वह तेरी ही है और इसलिये तुझे वह समझ में न आये यह नहीं हो सकता। समस्त आत्मा सिद्ध भगवान के समान ही है तुम भी वैसे ही स्वतंत्र और पूर्ण हो; इसप्रकार प्रत्येक आत्मा में सिद्ध परमात्मत्व स्थापित करके समयसार का प्रारंभ किया है और छट्ठी सातवीं गाथा में तो अद्भुत बात कही है।

अरे भाई! संसार के कार्य में तुझे हर्ष होता है, और इस अमूल्य सत्य को समझने का सुअवसर मिला, तथा अनंत जन्म–मरण को दूर करके अल्पकाल में मोक्षप्राप्त करानेवाली ऐसी अपूर्व बात सुनकर अंतर से हर्ष नहीं आये तो इस जीवन की सफलता क्या है ? यों तो जगत में कीड़े–मकोड़े की तरह बहुत से जीव जन्मते और मरते है सत्य को समझे विना जिसका समय व्यतीत होता है उसका जीवन कीड़े–मकोड़े के जीवन की तरह समझना चाहिये।

यदि कोई एकबार सत्य को सुनकर और उसे अंतरंग से समझकर हाँ कहे तो उसके अनंत परिभ्रमण का अंत हो जाता है। यह कथन

ऊँची भूमिका वाले के लिये नहीं है, तथा केवलज्ञानी के लिये भी नहीं है, अभी चारित्र का विषय दूर है. यह तो पहले सम्यग्दर्शन कैसे हो उसकी बात चल रही है। सर्वज्ञ भगवान ने जैसा तत्व कहा है यदि वैसा ही जाने तो कोई भ्रम न रहे। समस्त पहलुओं से विरोध को दूर करके सत्य को समझे तो अन्तरग से ध्वनित हो उठे कि 'बस! अब भव नही रहा'। ऐसी प्रतीति होने के लिये ही आचार्य कहते हैं, व्यवहार से भी कोई आत्मा पर की क्रिया नहीं कर सकता। जो कर्तृत्व का भाव करता है वह भी अभूतार्थ है। आत्मा तो परसे त्रिकाल भिन्न, अखंड ज्ञायकरूप है; शरीर, मन, वाणी और पुण्य-पाप की प्रवृत्ति तथा कर्मरूप नहीं है। रागद्वेष का जो विकारी भाव है वह त्रिकाली ज्ञायक आत्मा का स्वभाव नहीं है इसलिये वह पर है और इसीलिये वह दूर किया जा सकता है।

जैसे चन्दन की लकड़ी की पहिचान कराने के लिये उसके एक गुण को कहकर उसे भिन्न करके कहा जाता है कि जो सुगंधमय है वह लकड़ी चन्दन है। यहाँ पर चन्दन और सुगन्धि में जो भेद किया गया सो व्यवहार है और अखण्ड चन्दन को समझना सो परमार्थ है। इसीप्रकार आत्मा अनन्तगुण का पिंड है उसे 'जो ज्ञान है सो आत्मा है, जो श्रद्धा करता है सो आत्मा है, जो स्थिरता करता है सो आत्मा है' इसप्रकार व्यवहार से भेद करके अखण्ड आत्मा को समझाते हैं। गुणभेद कथन व्यवहार है, उस पर से अभेद आत्मा को समझले तो उसमें जो व्यवहार हुआ सो वह निमित्तरूप ठहरता है, ऐसा व्यवहार परमार्थ में कैसे आता है? इसका उत्तर देते हैं:—

यदि पहले भावश्रुतज्ञान के द्वारा देखे तो आत्मा ज्ञानमूर्ति, अखण्ड आनन्दकंद है। अशरीरी सिद्ध भगवान के समान ही प्रत्येक आत्मा है। किसी आत्मा में परमार्थ से अन्तर (छोटा-बड़ापन) नहीं है। किंतु पर में विश्वास करके अपनी विपरीत मान्यता से अन्तर माना है। पर की क्रिया मैं कर सकता हूँ, मैं पुण्य-पाप विकार का कर्ता हूँ इसप्रकार पर को

अपना मानकर, अपने एकरूप ज्ञायक स्वभाव को भूला है. इसलिये मैं पर का कर्ता नहीं किन्तु ज्ञायक ही हूँ, और पर के अवलम्बन से गुण नहीं होता यह बात अन्तरंग में बैठनी कठिन मालूम होती है।

लोगों ने बाह्य से गुण माना है, इसलिये भीतर गुण है इस बात का विश्वास नहीं होता। वे कहते है कि यदि भीतर गुण भरे ही हों तो फिर हमसे गुण प्रगट करने के लिये क्यों कहते हो? हमें तो यह समझ में आया है कि गुण के लिये बाह्यप्रवृत्ति करनी चाहिये।

क्या किया जाय? अनादि से बाह्य पर दृष्टि पड़ी है, इसलिये सब बाह्य से ही देखकर निश्चय करता है, वास्तव में तो निश्चय करनेवाला भीतर से निश्चय करके; पर में कल्पना करता है। ऊपर की दृष्टि से मानता है कि मैंने इतने जीव की दया पाली, यह बांचा, पूजन की, दान किया उठ-बैठ करके वंदना की, ऐसी ही अनेक बाह्यक्रिया से गुण हुआ मानता है; किंतु भीतर आत्मा अक्रिय, अनंतगुण का पिण्ड है, उसमें अन्तर्मुख अभेददृष्टि करके अनादि से कभी भी नहीं देखा।

प्रश्न—क्या बातें करने से धर्म होता है? क्रिया तो होनी ही चाहिये। यदि आत्मा वर्तमान में पवित्र हो तो फिर हमें किसलिये समझाते हो?

उत्तर—लोग क्रिया-क्रिया चिल्लाते है किन्तु कौनसी क्रिया वास्तविक है यह नहीं समझते। गुण प्रगट करने के लिये बाह्य-क्रिया चाहिये, ऐसी बात नहीं है। देहाश्रित प्रवृत्तिमात्र आत्मा का स्वरूप नहीं है, वह आत्मा के आधीन नहीं है। जो यह मानता है कि देह की क्रिया से धीरे धीरे आत्मगुण प्रगट होगा उसे अन्दर के (अंतरंग के) अनंत अविकारी गुण की श्रद्धा नहीं है। यहाँ यह बताते हैं कि आत्मा की क्रिया आत्मा में होती है। जो अतरंग परमार्थ को नहीं समझता उसे अंतरंग का लक्ष

कराते हैं, 'जो यह विश्वास करता है सो आत्मा है । परसे लाभ–हानि मानकर जो पर में विश्वास करता है उसे स्वोन्मुख कर तुझमें परवस्तु की नास्ति है, तू सदा श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र इत्यादि अनंत गुणों का पिंड है' इसप्रकार भेद से अभेद का लक्ष करके गुण–गुणी की एकता करता है, यह आत्मा की अरूपी क्रिया है। वहाँ अखण्ड आत्मा का पहले श्रद्धान होता है और राग से कुछ भिन्न होकर निर्विकल्प आनंद आता है, यह आत्मा की क्रिया है। यह मात्र बातें नहीं हैं यह तो यथार्थ अन्तर की क्रिया है। जिसके ऐसी महिमा होती है वह कहता है कि अहो! ऐसा अखण्ड स्वभाव भीतर ही है, मैं उसे बाहर ढूँढ़ता था। ऐसे वस्तुस्वभाव को प्राप्त करने के लिये बाहर के किसी साधन की या शुभविकल्प की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। ऐसे निर्मल भाव-श्रुतज्ञान से वह सिर्फ शुद्ध आत्मा को ही जानता है वह श्रुतकेवली है, वही परमार्थ है। केवलज्ञान होने से पहले आत्मा के स्वभावभाव का ज्ञाता होने से श्रुतकेवली है।

भीतर अभेदस्वरूप के लक्ष से गुण के द्वारा गुणी को जानकर उसमें एकाग्र हुआ है इसलिये यह परमार्थ श्रुतकेवली है।

जैसे 'मिश्री' शब्द का ज्ञान मतिज्ञान है। फिर जब यह जाना कि मिश्री पदार्थ ऐसा है सो वह श्रुतज्ञान है, इसीप्रकार 'आत्मा' शब्द का जो ज्ञान है सो मतिज्ञान है और 'आत्मा' अखण्ड, निर्मल, एकरूप ज्ञायक वस्तु है ऐसा जो ख्याल किया सो श्रुतज्ञान है; उसमें बाहर का कोई साधन नहीं है, अकेले ज्ञान ने ही उसमें कार्य किया है। जैसे मिश्री का स्वाद लेते समय दूसरे के स्वाद का लक्ष नहीं है, उसीप्रकार मन के संयोग के बुद्धिपूर्वक के विकल्प से जरा छूटकर एकरूप आत्मा को जब अंतर लक्ष में लिया और स्थिर हुआ तब अंतरंग में निराकुल शांति होती है, यह उस समय की 'परमार्थ श्रुत' की बात है।

जैसे श्रुत से मिश्री पदार्थ को जाना था, (मिश्री पृथक् वस्तु है, उसीप्रकार स्वोन्मुखता के द्वारा भावश्रुत में अखण्ड वस्तु को ख्याल में लेने

पर 'आत्मा ऐसा ही है' ऐसे अभेद के लक्ष से जब स्थिर होता है तब अखण्ड आनद आता है, ऐसी अवस्था चतुर्थ गुणस्थान में भी होती है ।

यदि कोई कहे कि यह बात केवलज्ञान की-तेरहवे गुणस्थान की है तो उसका कहना ठीक नहीं है । समयसार में यह सम्यग्दर्शन की ही बात कही है; इसमें परमार्थ से जो स्थिर हुआ उसके भावश्रुत उपयोग निम्न अवस्था में है, तो भी पूर्ण के कारणरूप है इसलिये परमार्थ से श्रुतकेवली है ।

अरे भाई ! अनन्तकाल की महामूल्य जो यह बात कही जा रही है उसे समझने का उत्साह होना चाहिये। जैसे उन्मत्त साड घूरे को बखेरकर उसकी धूल, राख, विष्टा आदि कूड़ा अपने ही मस्तक पर डाले; राख, कूड़ा-कचरा आदि के बड़े घूरे में मस्तक मारकर डकारे और यह माने कि मैंने कैसा बल लगाया, कितना सारा तोड़ा-फोड़ा और बखेरा किन्तु साड का वह व्यर्थ का तूफान है। उसीप्रकार हम ससार के कुछ काम कर डाले ऐसे अभिमान लेकर व्यर्थ के कार्य करके उसमें हर्ष मानते है। अज्ञानभाव में संसार के घूरे को उछालने का वल करके जगत् व्यर्थ ही कूदा करता है किन्तु उसमें कुछ हाथ नही आता। भीतर जहाँ माल भरा हुआ है वहाँ जीव झूककर भी नहीं देखता ।

आत्मा एकरूप ज्ञायक, ध्रुव टंकोत्कीर्ण वस्तु है, उसे विवेक का मस्तक मारकर जागृत करना है। अनादिकाल से अज्ञान में कूद-फॉद की है। अब पर की ममता में ही सोते रहने से काम नहीं चलेगा।

पहले सर्वज्ञ के न्याय से विरोधरहित सच्चा ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञान के द्वारा आत्मा में स्थिर होने का प्रयत्न करता है, वह ज्ञान ही सर्वश्रुत है, क्योंकि सर्व आगम-शास्त्रों का रहस्य पूर्ण आत्मा को जानकर उसमें स्थिर होना है, इसलिये अपूर्णदशा में पूर्ण को प्राप्त करने का अभिप्राय रहता है, अत: उसे सर्वश्रुत जो द्वादशाग है उसका रहस्य

प्राप्त हो गया है। स्थिर होने के विचार के समय राग का अंश है, किन्तु स्थिर होने के बिल्कुल सन्मुख हुआ जो ज्ञान है वही स्थिर होने का कारण है, इसलिये उसे सर्वश्रुत कह दिया है।

जो कार्य उत्कृष्ट श्रुतकेवली करता है वही कार्य श्रुतज्ञानी भी करता है, उसने बारह अंग का रहस्य जाना है इस आशय से सर्वश्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा को ही जानने के लिये भेद करके विचार करे किंतु जो उसमें स्थिर नहीं हुआ वह व्यवहार श्रुतकेवली है और जब स्थिर होगया तब परमार्थ श्रुतकेवली कहा जाता है।

यह वस्तु सूक्ष्म है, गुरुगम से समझने योग्य है। यह तो सर्वप्रथम नींव की बात है। आचार्य ने भलीभाँति उकेलकर तत्व समझाया है। यदि इसे समझे तो अन्तरंग से आत्मदेव की अपूर्व ध्वनि सुनाई दे, और इसे समझे बिना अन्य समस्त कार्य व्यर्थ है। सांसारिक व्यवहार में दया सेवा की बात अन्तर मार्ग से दूर ही है किंतु धर्म के नाम से जितने कर्तव्य, पुण्य, दया, दान, पूजा, प्रभावना, महाव्रत इत्यादि किये वे भी सब परमार्थ के बिना अकेले व्यर्थ ही हैं, ऐसा जो परम सत्य है, वही तीनोंकाल के सर्वज्ञों ने कहा है। जो उसे ठीक समझता है उसे अन्तरंग तत्व की महिमा अवश्य होती है।

"सर्वश्रुत" में अद्भुत गम्भीर अर्थ निहित है। पंचेन्द्रिय पशु में भी अल्पज्ञ के श्रुतकेवलीपन है, उसके भी परमार्थ भावश्रुत—आत्मा का अभेद उपयोग होता है। भले ही उसे नव तत्वों के नाम भी न आते हों तथापि भाव में आशय में उसे सर्वश्रुत होता है। पशु में भी ज्ञानीपन होता है। जो पूर्ण में स्थिर होने के विचार में रत हैं वे चाहे तिर्यंच हों, या मनुष्य, सभी श्रुतज्ञानी व्यवहार से 'सर्वश्रुत' कहलाते हैं।

ज्ञानगुण को प्रधान करके आत्मा को 'ज्ञायक' कहा जाता है। ज्ञानगुण स्वयं सविकल्प है, अर्थात् वह निज को और पर को जानने वाला है और ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी गुण में स्व-पर को जानने की शक्ति नहीं है, इसलिये ज्ञान के अतिरिक्त सभी गुण निर्विकल्प हैं।

यहाँ तो अन्तरंग परिणाम की धारा को देखने की सूक्ष्म बात है, शुभभाव पर तनिक भी जोर नहीं है। कोई यहाँ कहता है कि हमारे शुभभाव को ही उड़ा देना चाहते हो, किन्तु भाई! यहाँ तत्त्व के समझने में, उसके विचार में जो शुभभाव सहज ही आते हैं, वैसे उच्च-शुभभाव क्रियाकाण्ड में नहीं हैं। यदि एक घण्टे भी ध्यान लगाकर तत्व को सुने तो भी शुभभाव का पार न रहे और शुभभाव की सामायिक हो जाय! तब फिर यदि चैतन्य को जाग्रत करके निर्णय करे तो उसका कहना ही क्या है?

तत्वज्ञान का विरोध न करे, और मात्र यह सुने कि ज्ञानी क्या कहता है, तो उसमें शुभराग का जो पुण्यबंध होता है उससे परमार्थ के लक्ष से युक्त सुनने वाले के उत्कृष्ट पुण्य के शुभभाव हो जाते हैं। तत्व के सुनने में शुभभाव रखे तो ऐसा शुभ सुनने का योग पुनः मिल जाता है, किन्तु उस पुण्य का क्या मूल्य है? पुण्य से मात्र सुनने का योग मिले, किन्तु यदि उसमें अपने को एक-मेक करके सत्य का निर्णय न करे तो व्यर्थ है।

पुण्य से धर्म होता है, अथवा अन्तरग गुण में वह सहायक होता है, इस मान्यता का निषेध अवश्य होता ही है! पुण्यबंध विकार है, उसे धर्म मानने का निषेध त्रिकाल के ज्ञानियों ने किया है। पुण्य विकार है, उससे अविकारी आत्मधर्म नहीं हो सकता, इसलिये पुण्य का निषेध किया गया है, किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि पुण्य को छोड़कर पाप किया जाय। ज्ञानी के भी अशुभ से बचने मात्र के लिये शुभ भाव होता है, किन्तु यदि कोई यह माने कि उससे धर्म होगा और इसलिये शुभभाव करे तो उससे अविकारी आत्मा को कदापि कोई लाभ नहीं हो सकता।

कभी भी ऐसा उपदेश सुनने की आन्तरिक इच्छा नहीं हुई, और दुनिया में पुण्य-पाप करने की बातें सुनता रहा, ऐसी स्थिति में ज्यों-त्यों कर यहाँ धर्म श्रवण करने आया तब उसे यहाँ की बातें अतिसूक्ष्म

लगती है, इसलिये पहले से ही ऐसी धारणा बाँध लेता है कि यह तत्त्वचर्चा अपनी समझ में नहीं आसकती। तथापि वह लौकिक-कला में तो किंचित् मात्र भी अजान नहीं रहता।

लोक-व्यवहार में भले ही देशकालानुसार कायदे-कानून बदल जाते हैं, किन्तु यह तो परमार्थ की बात है, साक्षात् सर्वज्ञ से समागत बात है, उसके कायदे-कानून तीनलोक और तीनकाल में नहीं फिर सकते।

अमूल्य तत्व बताकर, अनन्त काल में दुर्लभ वस्तु को कहकर और आत्मा की महिमा बताकर अभ्यास करने को कहा है। उसकी पहिचान की महिमा का वर्णन करके उसमें स्थिर होने की बात कही जारही है। यदि सच पूछा जाय तो स्वभाव में यह मँहगा नहीं है।

जैसे स्वप्न के समय यह नहीं कहा जा सकता कि यह स्वप्न है, और जब कहा जाता है तब स्वप्न नहीं होता, इसीप्रकार अभेद के अनुभव के समय विकल्प से नहीं कहा जा सकता, और जब विकल्प होता है तब केवल परमार्थ का अनुभव नहीं होता। परमार्थ का लक्ष तो अखण्ड के लक्ष से ही होता है। यद्यपि बीच में भेद-विचार होता है किन्तु उस भेद से अभेद का लक्ष नहीं होता। अभेद के लक्ष से भेद का अभाव करने पर अभेद परमार्थ हस्तगत होता है। भेद से अभेद पकड़ा जासकता है, यह तो मात्र उपचार से कहा है।

निर्मल गुण की अवस्था के भेद मात्र व्यवहार का विषय होने से अभूतार्थ हैं। भेदरूप व्यवहार परमार्थ में सहायक नहीं होता। परमार्थ का लक्ष करके जब उसमें स्थिर होता है तब व्यवहार छूटता है। पश्चात् अन्तरंग में जितना स्थिरता का झुकाव रहता है, उतना भेद क्रमशः दूर होता जाता है।

भावार्थ:—जो विकल्प को मिटाकर भावश्रुत ज्ञान के द्वारा अभेदरूप ज्ञायकमात्र शुद्ध आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है, यह तो परमार्थ (निश्चय) कथन है। जो सर्वश्रुतरूप ज्ञान को जानता है, अभेद

आत्मा को जानने के विचार में प्रवर्तमान रहता है, वह सब ज्ञान भी आत्मोन्मुख होने से आत्मा को ही जानता है, क्योंकि जो ज्ञान है वह आत्मा ही है, इसलिये ज्ञान–ज्ञानी के भेद को कहनेवाला जो व्यवहार है उसे भी परमार्थ ही कहा है, अन्य कुछ नहीं कहा।

परमार्थ का विषय तो कथंचित् वचनगोचर भी नहीं है। परमार्थ के कहने में व्यवहार निमित्त होता है, इसलिये अभेद का लक्ष करने वाले के व्यवहारनय ही प्रगटरूप से आत्मा को समझने के लिये निमित्त है?

ग्यारहवीं गाथा की भूमिका

यह ग्यारहवीं गाथा अद्भुत है। अनन्तकाल से परिभ्रमण करते हुए जीव ने आत्मा के यथार्थ स्वभाव को नहीं पाया। बाह्य पदार्थ के निमित्त से रहित जो निरुपाधिक गुण है सो स्वभाव है। उसे यथार्थ-तया जाने बिना व्रत या चारित्र सच्चे नहीं हो सकते। यहाँ पर गुण का अर्थ रजोगुण, तमोगुण अथवा सत्वगुण नहीं है, किन्तु जो आत्मस्वभाव है वह गुण है। आत्मा अनादिकाल से परमानन्द, निर्विकल्प वीतराग विज्ञान है। वर्तमान क्षणिक अवस्था मात्र के लिए पुण्य–पाप का शुभ–अशुभ भाव होता है, वह कर्म के निमित्ताधीन होने वाला विकारी भाव है, स्वभावभाव नहीं है।

आत्मा अखण्ड ज्ञानानन्द की मूर्ति है, वह जैसा स्वाधीन और पूर्ण है यदि वैसा यथार्थ लक्ष में ग्रहण करे तो सहज आनन्द आये बिना न रहे।

कच्चे चने में स्वाद भरा हुआ है और वर्तमान कचाई के कारण ही वह बोने से उगता है। कच्चा होने से उसका स्वाद मालूम नहीं होता तथापि उसमें मिठास तो विद्यमान है ही, उसे भूनने से मिठास प्रगट हो जाती है। वास्तव में चने का उगने का स्वभाव नहीं है, यदि उसका उगने का नित्यस्वभाव हो तो भूनने के बाद भी वह

उगना चाहिये। और फिर चने में अपना स्वाद भरा हुआ ही है, वह चने में से ही प्रगट हुआ है, रेत, अग्नि और भाड़ आदि बाह्य साधनों से चनों का वह स्वाद नहीं आ जाता। यदि इन बाह्य साधनों से स्वाद आता हो तो कंकड़ों को भूनने से उनमें भी स्वाद आना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। अन्तरंग स्वभाव में होने पर ही गुण प्रगट होता है।

भगवान आत्मा देह, मन, वाणी और इन्द्रिय इत्यादि जड़ वस्तुओं से भिन्न है, तथा भीतर जो तैजस और कार्माण रजकणों से निर्मित दो शरीर हैं उनसे भी भिन्न है। वह नित्य ज्ञान-आनन्द की मूर्ति है, उसे जाने बिना अनादि के अज्ञानी को उस आनन्द का स्वाद नहीं आता, उसे तो पुण्य-पाप को अपना समझने का जो विकार है उसकी कचाई के कारण संसार का दुःखरूपी कषायला (कषाय, आकुलता) स्वाद आता है। विकार मेरा स्वभाव नहीं है, मैं अविकारी हूँ, इसप्रकार अविकारी स्वभाव को न देखकर जो अज्ञानी राग-द्वेष, पुण्य-पाप की क्रिया से आत्मस्वभाव को प्रगट करना चाहता है, जो पुण्य-पापरूपी विकार की सहायता से गुण मानता है उसे आत्मा का निर्मल मार्ग ख्याल में नहीं आता। देह की प्रवृत्ति अथवा किसी बाह्य साधन से धर्म नहीं होता, धर्म तो धर्मी में विद्यमान है। उसे प्रगट करने का उपाय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है उससे अज्ञान का नाश होता है। जैसे चने को भूनने के बाद फिर वह नहीं उगता, क्योंकि उगने का उसका स्वभाव नहीं है उसीप्रकार अज्ञान का एकबार नाश करने पर आत्मा का जन्म-मरण स्वभाव न होने से वह भव-भ्रमण में नहीं जाता। (यदि अल्प भव हो तो वह परमार्थ दृष्टि में नहीं गिना जाता) भव-भ्रमण का कारण पुण्य-पाप को अपना मानना और पर में ममता करना है। वह आत्मा का मूल स्वभाव नहीं है। पुण्य-पाप तो पर के लक्ष से, कर्म के निमित्ताधीन होने से होता है। अज्ञानी अज्ञान से पर को बंध का निमित्त बनाता है। उस अज्ञान का नाश नित्य अखण्डज्ञायक

स्वभाव की प्रतीति से होता है। अज्ञान का नाश होता है इसलिये आत्मा का नाश नहीं हो जाता, आत्मा तो त्रिकाल स्थाई अखण्डित द्रव्य है। इसलिए आचार्यदेव प्रथम सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिए आत्मा का अखण्ड स्वभाव बताते हैं, उसे पर से तथा विकार से भिन्न जानकर उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसमें रमणता कराने के लिए अलौकिक रीति से समयसार की रचना की है।

ज्ञान, आनन्द, श्रद्धा, वीर्य (आत्मबल), अस्तित्व (त्रिकाल में होना), वस्तुत्व (प्रयोजनभूत स्वाधीन स्वभाव, कार्य करने में अपनी समर्थता) प्रदेशत्व (अपना स्वतंत्र आकार, विस्तार) इत्यादि अनन्त गुणों का पिंडरूप आत्मा है। गुण के भेद किये बिना अखण्ड तत्व नहीं समझाया जा सकता, इसलिये व्यवहार में भेद करके कहते हैं कि 'जो विश्वास करता है वह भगवान आत्मा है।' पर में विश्वास करता है कि यदि कल पाप का उदय आगया तो क्या होगा? इसलिये रुपया-पैसा संग्रह करके रखना चाहिए। इसप्रकार पर का विश्वास करनेवाला भले ही आत्मा का विश्वास न करे किन्तु वह अप्रगटरूप पूर्व कर्म का अस्तित्व स्वीकार करता है और इसप्रकार उसमें अप्रगट-रूप से यह भी स्वीकार हो जाता है कि आत्मा का अस्तित्व भी पहले था।

पहले कोई पाप के भाव किये हों तो प्रतिकूलता होती है, यद्यपि अभी कोई प्रतिकूलता न तो देखी है और न आई है तथापि उसका विश्वास करता है। जड़ कर्मों को कुछ खबर नहीं है कि हम कौन हैं और हमारा कैसा फल आयेगा, किन्तु अज्ञानी जीव अपने को भूलकर पर में अपनी अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता मान बैठा है। आत्मा ध्रुव है, स्वतन्त्र तत्व है, पर-संयोगाधीन नहीं है, उसे किसी संयोग की आवश्यका नहीं होती, चाहे जब स्वभाव का विश्वास करना हो तो कर सकता है, उसे कोई कर्म बाधक नहीं होते। जो पर का

विश्वास करता था वह अपने गुण को समझने के बाद अपने नित्य स्वभाव का विश्वास करता है।

ज्ञानगुण आत्मा का स्वाधीन गुण है। मकान बनवाने से पूर्व उसका प्लान (नक़शा) बनवाकर मकान का ज्ञान कर लिया जाता है; वह ज्ञान अपने में किया जाता है तो ज्ञान स्वाधीन हुआ या पराधीन? तेरा ज्ञान पराधीन नहीं है, तू नित्य ज्ञाता स्वरूप है, तेरा ज्ञान तुझमें ही नित्यप्राप्त है।

चारित्र आत्मा का त्रैकालिक गुण है। पर में अच्छे–बुरे की कल्पना करके पुण्य–पापरूप विकारी भावनाओं की जो प्रवृत्ति होती है वह चारित्र गुण की विपरीत अवस्था है। जो नित्य निर्विकारीरूप में स्थिर रहती है, वह शुद्ध प्रवृत्ति चारित्र गुण की निर्मल अवस्था है। आत्मा चारित्र गुण स्वभाव के रूप में त्रिकाल रहता है। इसप्रकार आत्मा में तीन गुण के भेद करके उन्हें पृथक् बताया है, किन्तु वस्तु में वे तीनों गुण पृथक्-पृथक् नहीं हैं, वे एक ही साथ आत्मा में विद्यमान हैं, तथापि भेद किये बिना यदि मात्र आत्मा को कहा जाय तो अज्ञानी उसे समझ नहीं सकता, इसलिये व्यवहार से भेद करके यों कहा जाता है कि जो दर्शन, ज्ञान, और चारित्र को नित्य–प्राप्त है वह आत्मा है। यद्यपि इसप्रकार मुख्य तीन गुणों से भेद करके समझाया जाता है, किन्तु परमार्थतः वस्तु में भेद नहीं है।

यह कहना कि आत्मा, शरीर, मन, वाणी की प्रवृत्ति करता है, सो तो व्यवहार भी नहीं है और मात्र शुभराग भी सद्भूत व्यवहार नहीं है। आत्मा अखण्ड ज्ञानानन्दमय परमार्थस्वरूप, निर्विकल्प, अभेद है, उसे गुण के नामों से भेद करके समझाना सो व्यवहार है।

'मैं ज्ञायक हूँ, निर्मल हूँ' ऐसे विचार में मन के सम्बंध का शुभराग हो आता है, वह शुभराग आदरणीय नहीं है किन्तु अखण्ड वीतरागी एकरूप ज्ञायक वस्तु जो अपना आत्मा है वही परमार्थ वस्तु

आदरणीय है। उस परमार्थ के अभेद का अनुभव करते समय व्यवहार के विकल्प छूट जाते हैं।

चाहे जैसे उग्र-पुरुषार्थ के साथ अभेद आत्मा में स्थिर होने जाय तो भी अन्तर्मुहूर्त मात्र के लिए बीच में छद्मस्थ के व्यवहार आये बिना नहीं रहता।

शरीर के द्वारा लेना-देना और खाना-पीना इत्यादि शरीर की सभी प्रवृत्तियां शरीर के ही परमाणु करते हैं। जड की शक्ति जड़ से प्रवृत्त होती है, तथापि जो ऐसा अज्ञानभाव करता है कि 'मैं करता हूँ' वह मिथ्यादृष्टि है, यही मिथ्यादृष्टि संसार की जड़ है। जीव व्यवहार से भी किसी परवस्तु के किसी कार्य का कर्ता नहीं है तथापि अज्ञानी कर्तृत्व मानता है। जड़–देहादि किसी भी वस्तु में आत्मा का व्यवहार नहीं हो सकता।

प्रश्नः—तब फिर भगवान के द्वारा कहा गया व्यवहार कौनसा है?

उत्तरः—आत्मा अनन्त गुण का अखण्ड पिंड, त्रिकाल स्थिर, ध्रुव-स्वरूप है, उसे सत्समागम के द्वारा ठीक जानने के बाद अभेद दृष्टि करके उसमें स्थिर होते समय बीच में जो विकल्पसहित ज्ञान का विचार आता है सो व्यवहार है। अभेद में स्थित होते समय वह भेदरूप व्यवहार बीच में आता तो है; किन्तु वह भेद, अभेद का कारण नहीं है। अभेद का लक्ष ही अभेद स्थिरता को लाता है, तब उस व्यवहार को निमित्त कहा जाता है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि—

पहले यह कहा था कि व्यवहार को अंगीकार नहीं करना चाहिये किन्तु यदि वह परमार्थ के समझाने में तथा स्थिर करने में निमित्त सिद्ध होता है तो ऐसे व्यवहार को क्यों न अंगीकार किया जाय? पर से भिन्नरूप एक अखण्ड वस्तु में लक्ष करना और मैं ज्ञान हूँ,

मैं दर्शन हूँ, ऐसे भेद करना सो व्यवहार है। ऐसा भेदरूप व्यवहार उस अभेदरूप परमार्थ में निमित्त कैसे होता है?

उत्तर:—पहले से ही भेद को हेय जानकर अखण्ड तत्व को दृष्टि में लिया जाय तो बीच में समागत व्यवहार निमित्त होता है। (निमित्त वह है जो प्रारंभ में उपस्थित हो, और परिणति के समय जिसका अभाव हो) शुभ विचार निमित्तरूप में पहले उपस्थित होता है किन्तु उसके अवलम्बन से कार्य नहीं होता। अवलंबन से दूर हटता है, ('व्यवहार का अवलंबन छोड़ता है) तब अभेद के लक्ष से परमार्थ को प्राप्त होता है। जैसे कोई वृक्ष की ऊँची डाली को पकड़ना चाहता हो, तो वह डाली नीचे के आधार को छोड़कर कूदने पर ही पकड़ी जा सकती है; वहाँ पर आधार की उपस्थिति को निमित्त कहा जाता है। किंतु यदि आधार पर ही चिपका रहे और कूदे नहीं तो डाली नहीं पकड़ी जा सकती और उस आधार को निमित्त भी नहीं कहा जाता। इसीप्रकार आत्मा अखण्ड ज्ञानस्वरूप है, वह भेद किये बिना ग्रहण नहीं किया जा सकता, इसलिये सर्वप्रथम यदि अखण्ड वस्तु को समझना चाहे तो प्रत्येक गुण का विचार आता है, सो व्यवहार है।

लोग कहते है कि 'समयसार में व्यवहार को उड़ा दिया है' किन्तु वह किस अपेक्षा से? व्यवहार असत्यार्थ है उसे भूतार्थ को जानने वाले ही समझ सकते हैं, यही बात यहाँ कही जा रही है यह बात ऐसी अपूर्व है कि जिसे जीव अनन्तकाल में भी नहीं समझ पाया यदि आन्तरिक तैयारी के साथ एकबार समझले तो मोक्ष हुए बिना न रहे, परमार्थ को जानते हुए बीच में जो ज्ञानादि के भेद होते हैं सो व्यवहार है। लोगों ने बाह्यक्रिया में व्यवहार मान रखा है किन्तु वह सब धर्म से भिन्न है। यदि अन्तरंग के अपूर्व धर्म को धीरज धर के समझना चाहे तो समझा जा सकता है। वर्तमान में तो सर्वज्ञ भगवान का आशय लगभग भुला ही दिया गया है, पक्षापक्षी के कारण जिनशासन छिन्न-भिन्न हो रहा है, परम सत्य क्या है यह सुनना दुर्लभ हो गया है,

इस सबका कारण अपनी पात्रता की कमी है, और इसीलिए लोग परमार्थ में वीच में आने वाले व्यवहार को नहीं समझते और विरोध करते हैं। गुण में विचार के द्वारा भेद करके अखंड को समझना सो, व्यवहार है, दूसरा कोई व्यवहार नहीं है, यही बात आचार्यदेव यहाँ पर कहते हैं। वह व्यवहार भी अभूतार्थ है, यह बात ग्यारहवीं गाथा में कहेंगे।

संसार में जो बात अपने को अनुकूल पड़ जाती है उसकी महिमा, सब गाते हैं। पिताजी सब हरा भरा छोड़कर गये है, हमें सब चिंताओं से मुक्त करके गये हैं यों मानकर दुनियाँ अपनी अनुकूलता की प्रशंसा करती है, किन्तु उसमें आत्मा का किंचित्‌मात्र भी हित नहीं है। मरने वाला तो अपनी ममता को साथ लेकर गया है। संसार में जिस वस्तु के प्रति प्रीति होती है उसमें बुराई दिखाई नहीं देती। जिस में प्रीति होती है उसका विश्वास करता है। छोटा बच्चा अच्छा दिखाई देता है तो प्रशंसा की जाती है कि लड़का बहुत होशियार है, यह कुटुम्ब का दारिद्र दूर कर देगा। यह सब प्रीति के वश कहा जाता है किन्तु राग के वशीभूत होकर यह कभी नहीं सोचता कि यह भविष्य में यदि हमारी सेवा नहीं करेगा और लकड़ी लेकर मारने दौड़ेगा तो क्या होगा? संसार की जो संयोगी (अनित्य) वस्तु है उसका विश्वास करता है उसे पलट कर अन्तरंग में एकबार श्रद्धा कर कि मुझमें सभी गुण पूर्णशक्ति के साथ भरे हुए हैं। मैं तो ज्ञाता–साक्षी ही हूँ। राग–द्वेष, ममता के रूप में नहीं हूँ, ऐसी अन्तरंग से श्रद्धा करते वास्तविक पूर्ण तत्व को यथार्थ जाने तो वर्तमान में ही निश्चय हो जाता है कि अब संसार में परिभ्रम नहीं करना होगा, एक दो भव में ही मोक्ष प्राप्त करलूगा।

ज्ञान अपना स्वभाव है। यदि पचास-साठ वर्ष पहले की बात याद करना हो तो उसे स्मरण करने के लिए क्रम नहीं बनाना पड़ता। जैसे कपड़े के सौ–पचास थान एक के ऊपर एक रखे हों और उनमें

से नीचे का थान निकालना हो तो ऊपर के थान क्रमशः उठाने पर ही नीचे का थान निकलता है, इसीप्रकार का क्रम ज्ञान में नहीं होता। पचास वर्ष पहले की बात याद करने के लिए बीच के उनन्चास वर्षों की बात याद नहीं करनी पड़ती, क्योंकि ज्ञान सदा जाग्रत ही रहता है। जिसप्रकार कल की बात याद आती है उसीप्रकार ज्ञान में पचास वर्ष पूर्व की बात भी याद आसकती है। ज्ञान में कालभेद नहीं होता। काल से परे अरूपी, ज्ञानमूर्ति आत्मा है। ज्ञान में अनन्त शक्ति है इसलिए पचास वर्ष पहले की बात भी फौरन याद आसकती है, उसमें न तो क्रम होता है और न बाह्यावलंबन की आवश्यक्ता होती है, अनन्तकाल से स्वयं ज्ञान स्वरूप ही रहा है, ज्ञान ताजा का ताजा बना रहता है ज्ञान के लिए किसी भी समय परसंयोग, परक्षेत्र अथवा परकाल का आश्रय नहीं लेना पड़ता।

ज्ञान अरूपी है इसलिये वह चाहे जितना बढ़ जाय तो भी उसका वजन मालूम नहीं होता, पचास वर्ष में बहुत पुस्तकें पढ़ डालीं इसलिए ज्ञान में भार नहीं बढ़ जाता। इसप्रकार ज्ञान का वजन नहीं है इसलिए वह अरूपी है।

ज्ञान शुद्ध अविकारी है, ज्ञान में विकार नहीं है। युवावस्था में क्रोध मान, माया, लोभ का खूब सेवन किया हो, विकारी भावों से परिपूर्ण काले कोयले के समान जिन्दगी व्यतीत की हो किन्तु बाद में जब वह अपने ज्ञान में याद करता है तब ज्ञान के साथ वह विकार नहीं आता इससे सिद्ध है कि ज्ञान स्वयं शुद्ध अविकारी है। यदि वह विकारी हो तो पूर्व विकार का ज्ञान करते समय वह विकार भी साथ में आना चाहिये अर्थात् ज्ञान के करते समय आत्मा विकारी होजाना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता। आत्मा स्वयं शुद्ध अवस्था में रहकर विकार का ज्ञान कर सकता है। अवस्था में पर के अवलंबन से क्षणिक विकार होता है, उसे अविकारी स्वभाव के ज्ञान से सर्वथा तोड़ा जा सकता है। जिसका नाश हो जाय वह आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिये विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है।

इसप्रकार ज्ञान में तीन शक्तियाँ कही गई हैं। १-ज्ञान में काल-भेद नहीं है, २-ज्ञान का वजन नहीं होता, ३-ज्ञान शुद्ध अविकारी है। ज्ञान का यह स्वरूप समझने योग्य है।

शिष्य का पहले का प्रश्न है कि-ज्ञान में भेदरूप व्यवहार आत्मा को अखण्डरूप में समझाने के लिए निमित्त होता है। तब फिर उसे क्यों न अंगीकार करना चाहिये? उसका उत्तर ग्यारहवीं गाथा में कहा है:-

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥११॥

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो दर्शितस्तु शुद्धनयः।
भूतार्थमाश्रितः खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः ॥११॥

अर्थ:—व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है, यह ऋषीश्वरों ने बताया है। जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है, वह निश्चय से सम्यग्दृष्टि है।

त्रिलोकीनाथ परमात्मा के कथनानुसार भगवान कुन्दकुन्दाचार्य जगत पर अपार करुणा करके जगत का महान दारिद्र (अज्ञान) दूर करने के लिये सच्ची श्रद्धा और उसका सर्वप्रथम उपाय बतलाते हैं।

कोई कहता है कि समयसार में तो सातवें गुणस्थान, और उससे ऊपर की भूमिकावाले के लिए बात कही गई है, किन्तु ऐसी बात नहीं है, इसका स्पष्टीकरण ग्यारहवीं गाथा में किया गया है।

मोक्षमार्ग में सर्वप्रथम क्या आवश्यक है? इसका उत्तर यही है कि सर्वज्ञ के न्यायानुसार शुद्ध आत्मा की यथार्थ श्रद्धा सम्यग्दर्शन है-जिसके बिना सम्यग्ज्ञान अथवा सम्यक्चारित्र कदापि नहीं हो सकता। इसलिये धर्म का प्रथम उपाय सम्यग्दर्शन ही है और वही इस ग्यारहवीं गाथा में कहा गया है।

शुद्धनय का विषय त्रिकाल एकरूप परमार्थ है, इसलिये भूतार्थ है और व्यवहारनय अभूतार्थ है। आत्मा अरूपी, ज्ञायकस्वभावी ध्रुव है। मन, वाणी, देह तथा इन्द्रियों से सदा भिन्न है। आत्मा देह की किसी प्रवृत्ति का कर्ता नहीं है, देह तो संयोगी वस्तु, परमाणुओं का बना हुआ नाशवान पिंड है। जैसे पानी और कंकड़ एकजगह पर रहने से एकरूप नहीं हो जाते, उसीप्रकार शरीर के साथ आत्मा एक क्षेत्र में क्षणिक संयोगी होकर रहा तथापि वह देह से भिन्न ही है।

अखण्ड ज्ञायक वस्तु त्रिकाल एकरूप जो आत्मा है वही भूतार्थ है। राग की मलिन अवस्था और गुण-गुणी का भेद करनेवाली ज्ञान की अवस्था भी ध्रुव नहीं है इसलिये अभूतार्थ है। रागअभूतार्थ अर्थात् क्षणिक है त्रिकाल स्थिर रहनेवाला नहीं है। यदि स्वरूप में स्थिर हो तो राग का नाश हो जाता है, किन्तु ज्ञानगुण का कदापि नाश नहीं होता इसलिये राग अभूतार्थ है।

भंगरूप व्यवहार आत्मा के साथ स्थिर रहनेवाला नहीं है, इसलिये अभूतार्थ है। और त्रिकाल स्थिर रहनेवाला ज्ञायक शुद्ध आत्मा ही भूतार्थ है उसे श्रद्धा के लक्ष में लेना चाहिये। जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है वह निश्चय से सम्यग्दृष्टि है।

टीका:-भूतार्थदृष्टि वाला जीव ज्ञानी है। भूतार्थ अखण्ड स्वभाव ध्रुव है, वही आदरणीय है और व्यवहार तो वर्तमान भेदरूप-विकाररूप है; क्षणिक है इसलिये आदरणीय नहीं है।

अखण्ड पदार्थ का लक्ष करते हुए बीच में भेद-विचार में शुभ-विकल्प हो जाता है, वह पुण्यभाव है, बन्धभाव है, अस्थाई है इसलिये अभूतार्थ है अर्थात् आदरणीय नहीं है। निश्चय आत्मा में और व्यवहार जड़ में ऐसा नहीं होता। परवस्तु के साथ आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। शरीर की कोई प्रकृति तथा कोई बाह्यक्रिया आत्मा के आधीन नहीं है क्योंकि परवस्तु स्वतंत्र है वह किसी के आधीन नहीं है।

यहाँ सब न्यायपूर्वक कहा गया है। कोई यह नहीं कहता कि बिना समझे ही मान लो, यदि विचार करें तो दो तत्व एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं।

आत्मा में एक-एक समय की वर्तमान अवस्थामात्र का जो पर-संयोगाधीन विकार है वह भी पर है क्योंकि जबतक आत्मा रहता है तबतक वह नहीं रहता है। इसलिए पुण्य-पाप विकार होने के कारण अभूतार्थ है। इसीप्रकार आत्मा का विचार करते हुए गुण-गुणी के भेदरूप विचार विकल्प और अधूरी अवस्था के जो भेद हैं वे भी व्यवहारनय का अस्थाई विषय होने से अभूतार्थ हैं, और त्रिकाल एक-रूप स्थिर रहने वाली वस्तु जो शुद्ध ज्ञायक आत्मा है सो भूतार्थ है। उसीको ग्रहण करके उसीकी श्रद्धा करना सो सम्यग्दर्शन है वह मोक्ष की सर्वप्रथम सीढ़ी है, आत्मा के मोक्ष की नींव की ईंट है, यों सर्वज्ञ भगवान ने कहा है।

जैसे मंजिल पर चढ़ते समय बीच में जो जीने की सीढ़ियाँ आती हैं वे छोड़ने के लिए हैं, पैर रखे रहने के लिए नहीं हैं। यह पहले से ही ध्यान में रहता है कि जो मैं पैर रख रहा हूँ वह उठाने के लिए है, इसीप्रकार जो अनादि से अज्ञानी है, उसे पर से भिन्न अखण्ड परमार्थस्वरूप आत्मा का स्वरूप समझाते हुए बीच में जो भेद आता है वह छोड़ देने के लिए है रखने के लिए नहीं। समझने वाले को अभेद परमार्थ की ओर पहले से ही यह लक्ष रखना चाहिए कि आपने को भी जितने विकल्प हैं उनका आदर नहीं है। जिसकी परमार्थ पर दृष्टि नहीं है वह पुण्य में अथवा भेद में ही रुक जाता है। वह त्रिकाल नहीं है, अभूतार्थ है। अभूतार्थ भूतार्थ का काम नहीं करता, शुद्धनय का विषय भूतार्थ है इसलिए अखण्ड, ध्रुव, ज्ञायक निर्मल स्वभाव को प्रथम ज्ञान में ग्रहण करना चाहिए।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि जब अरूपी आत्मा आँखों से दिखाई नहीं देता तब उसे कैसे माना जाय? समाधानः—स्त्री, धन,

पुत्र, प्रतिष्ठा इत्यादि में जो सुख माना जाता है वह किसमें देखकर माना जाता है? वह पर में देखकर निश्चय नहीं किया गया है, सुख आँखों से दिखाई नहीं देता फिर भी उसे मानते है। 'सुख इसमें है' ऐसी कल्पना किसने की? जिसने निश्चय किया वह निश्चय करने वाला ही आत्मा है, मुझे अपनी खबर नहीं है, यह किसने जाना? यह जानने वाला सदा ज्ञातास्वरूप है, अरूपी साक्षी के रूप में है, किन्तु स्वयं अपनी परवाह नहीं की इसलिए जानता नहीं है। यदि समझने की तत्परता हो तो अपना सत्व स्वयं ही है वह अवश्य समझ में आने योग्य है।

ज्ञानी कहते हैं कि—कल लड़का बड़ा हो जायगा फिर यह बहुत बड़ावेतन लायगा, इसप्रकार पर के क्षणिक संयोग का आश्रय करता है, उसे छोड़कर भीतर जो पूर्ण सुखस्वभाव है उसमें लक्ष करके स्थिर होजा, तो सिद्ध परमात्मा के गुणों का अंश प्रगट होकर पूर्ण के लक्ष से तू भी परमात्मा हो जायगा।

पर को मानने में विकार से पराधीनता आती है। निज को मानने में विकार की पराधीनता नहीं है। विकारहीन दृष्टि का विषय त्रिकाल ज्ञायक अखण्ड आत्मा है, वह निर्मल एकरूप ध्रुव-स्वभाव ही आदरणीय है, जिसे ऐसी श्रद्धा है वह धर्मी जीव सम्यक्दृष्टि है।

आज (अषाढ़ वदी एकम्) भगवान महावीर स्वामी की दिव्यध्वनि का प्रथम दिन है। उन्हें वैसाख शुक्ला दसवीं को केवलज्ञान प्रगट हुआ था, उस समय इन्द्रों ने समवशरण की अद्भुत रचना की थी, उसे धर्मसभा कहते हैं। वहाँ (समवशरण में) एक ही साथ अनेक देव देवियाँ, मनुष्य, और तिर्यंच धर्म सुनने को आते है ऐसी धर्मसभा की रचना तो हो गई, किन्तु (केवलज्ञान होने के बाद) छयासठ दिन तक भगवान के मुख से वाणी नहीं खिरी। जब भगवान की दिव्यध्वनि खिरती है तब होठ वन्द रहते हैं; और सर्वांग से ओंकारस्वरूप एका-

द्वारी वाणी निकलती है उसे सुननेवाले अपनी-अपनी भाषा में अपनी योग्यतानुसार समझ लेते है। तीर्थंकर भगवान के तेरहवे गुण-स्थान में दिव्यध्वनि का सहज योग होता है। उनके ऐसा अखण्ड ज्ञान होता है कि वे तीनकाल और तीनलोक के सर्व पदार्थों को एक ही साथ एक ही समय में जानते रहते हैं।

'मैं पूर्ण होऊँ, और दूसरे धर्म को प्राप्त करे' ऐसे अखण्ड गुण का बहुमान की भूमिका मे (शुभराग में) तीर्थंकर गोत्रकर्म का बंध होता है। तीर्थंकर होने से पहले के तीसरे भव में उस कर्म का बध होता है।

भगवान महावीर को केवलज्ञान प्रगट हो गया था, फिर मी छया-सठ दिन तक दिव्य-ध्वनि नहीं खिरी थी, इसका कारण यह था कि उस समय सभा में भगवान् की वाणी को झेल सकनेवाला कोई महान पात्र उपस्थित नहीं था। धर्मसभा में उपस्थित इन्द्र ने विचार किया तो मालूम हुआ कि भगवान की वाणी को झेलने के लिए समर्थ सर्वोत्कृष्ट पात्र जीव इस सभा में उपस्थित नहीं है, और उनने अपने अवधिज्ञान से निश्चय किया कि ऐसा पात्र जीव इन्द्रभूति है इसलिए वे विविध ब्राह्मणों का रूप धारण करके इन्द्रभूति (गौतम) के पास गये। उनमें (गौतम में) तीर्थंकर भगवान के मत्री अर्थात् गणधर होने की योग्यता थी, किन्तु उस समय उन्हे यथार्थ प्रतीति नहीं थी। वे हजारों शिष्यों के बीच यज्ञ करते थे, वहाँ पर इन्द्र ने ब्राह्मण वेश में जाकर कहा कि पंचास्तिकाय क्या है? आदि प्रश्न पूछे उनका उत्तर वे नहीं दे सके तब इन्द्र ने कहा कि भगवान महावीर के पास चलो, गौतम ने इसे स्वीकार करलिया, और वे भगवान महावीर के पास जाने के लिए निकल पड़े, मानस्तभ के पास पहुँचते ही उनका मान गलित हो गया, मानस्तंभ को पार करके गौतम जहाँ धर्मसभा में प्रविष्ट हुए कि तत्काल ही भगवान की वाणी खिरने लगी। गौतम को आत्मभान हुआ, निर्ग्रन्थ मुनिपद प्रगट हुआ, और साथ ही मनःपर्ययज्ञान प्रगट हो गया और गणधर

पदवी प्राप्त हो गई। गणधर पद प्राप्त होने के बाद उनने आज के ही दिन रात्रि के अगले-पिछले दो प्रहरों के एक-एक अन्तर्मुहूर्त में ही बारहअंग और चौदहपूर्व की रचना की थी, उस सत्श्रुत की रचना का दिन और सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि सर्वप्रथम छूटने का दिन आज ही का है। उत्कृष्ट धर्म को समझने के लिए जब पात्र जीव होता है तब उसके निमित्तरूप वाणी मिले बिना नहीं रहती। जब वृक्ष उगना होता है तब यह नहीं होता है कि पानी न बरसे।

उपरोक्त बात किसी को न जमें अथवा कोई इसे न माने इसलिए वह असत् नहीं हो जाती, यह बात ऐसी ही है, यह न्याय से, युक्ति से और आगम से तथा समस्त प्रमाण से निश्चित किया जा सकता है।

आत्मा के अखण्ड स्वभाव को लक्ष में लेना ही प्रथमधर्म है। उसके बिना जीव अन्य सब कुछ अनन्तबार कर चुका है, यह ऐसा राजा पहले अनन्तबार हो चुका है जो एक-एक क्षण में करोड़ों रुपया पैदा करता है। यह कोई अपूर्व बात नहीं है, किन्तु चिदानन्द आत्मा की यथार्थ पहचान करना ही अपूर्व बात है।

व्यवहारनय को अभूतार्थ और परमार्थ को भूतार्थ कहकर समस्त भेदरूप पर्याय का निषेध किया है। बंध और मोक्षपर्याय ऐसे भेद और दर्शन ज्ञान चारित्र की पर्याय है जो कि क्षणिक है, वह अखण्ड एकरूप त्रिकाल ध्रुवरूप में स्थिर रहनेवाली नहीं है। अखण्ड ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से देखने पर निर्मल पर्याय अभेद स्वभाव में समाविष्ट हो जाती है, परमार्थ में पृथक् भेद नहीं रहते और क्षणिक राग का भाव भी दूर हो जाता है। व्यवहारनय अभूतार्थ है किन्तु सर्वथा अभावरूप नहीं है।

'मैं ज्ञान हूँ' ऐसा जो विचार भेद पड़ता है वह राग का भाव, वर्तमान अवस्था मात्र के लिये क्षणिक है, भेददृष्टि का क्षणिक विषय अर्थात् व्यवहार त्रिकाल विद्यमान नहीं है।

शब्द, रूप, रस, गंध, निन्दा, प्रशंसा इत्यादि किसी भी पर-पदार्थ की ओर लक्ष करके उसमें अच्छे-बुरे की वृत्ति करना सो पर-विषय है, और आत्मा के स्वभाव की ओर लक्ष करके विकल्प-भेदरहित त्रिकाल अखण्ड ज्ञानानन्द आत्मा को मानकर उसीमें स्थिर होना सो स्व-विषय है, वह स्व-विषय ही भूतार्थदृष्टि अर्थात् सच्चीदृष्टि है। अज्ञान भाव और पुण्य-पाप के भाव आत्मा का स्वभाव नहीं है, यह जानकर श्रद्धा में से सर्वप्रथम वे भाव छोड़ने योग्य हैं, इतना ही नहीं किन्तु अन्तरंग में स्थिर होने के लिए जो शुभ-विकल्प होते हैं, वे भी छोड़ने योग्य हैं। आत्मा के अखण्ड-स्वभाव में जो भेद होजाता है वह भी अभूतार्थ है, मलिनभाव है, इसलिए वह आदरणीय नहीं है। आत्मा का जो त्रिकाल एकरूप निर्मल ज्ञायक स्वभाव है, वह भूतार्थ है, सत्यार्थ है, परमार्थ है और इसीलिए वह ग्रहण करने योग्य है।

बंध और मोक्ष तो अवस्था-दृष्टि से हैं, उसमें पर-निमित्त के संयोग के होने,न होने की अपेक्षा रहती है। उसकी ओर लक्ष करने पर राग होजाता है। मैं उस विकाररूप नहीं हूँ, किन्तु अनादि, अनन्त, ध्रुव, अखण्ड, निर्मल स्वभावरूप हूँ, इसप्रकार की दृष्टि का होना सो शुद्धनय है, और उसके द्वारा पूर्ण अभेद आत्मा की श्रद्धा होती है। ऐसी दृष्टि गृहस्थ दशा में प्रगट की जासकती है।

पहले व्यवहार की क्रिया होनी चाहिए, इसप्रकार लोग भेद के चक्कर में धर्म मानकर भटक जाते हैं, इसीलिए अन्तरंग का परमार्थ दूर रह जाता है। आत्मा तो पर के कर्तृत्व, भोक्तृत्व से रहित अरूपी आनन्दघन भगवान है, सदा ज्ञातास्वरूप है, पर में अच्छा-बुरा करने वाला नही है। आत्मा में कौनसा भाव प्रवर्तमान है, यह जानने-देखने की खबर नहीं है, इसलिए बाहर से निश्चय करता है। मैं धर्म करता हूँ इसप्रकार धर्म के बहाने से अनादिकाल से अभिमान कर रखा है। किन्तु धर्म का अर्थ तो पर-निमित रहित आत्मा का पूर्ण स्वाधीन स्वभाव है, इसप्रकार का ज्ञान आत्मा ने अनन्तकाल में कभी

नहीं किया । यदि किया होता तो पूर्ण पवित्र स्वभाव की प्राप्ति हुए विना नहीं रहती । अखण्ड पूर्ण स्वभाव का यथार्थ लक्ष करने से सम्यक्-दर्शन प्रगट होता है ।

जैसे दूज समस्त चन्द्र का अंश है वह तीनप्रकार वतलाते हैं:—

(१) दूज समस्त चन्द्रमा को वतलाती है (२) दूज दूज को वतलाती है अर्थात् यह बताती है कि कितनी निर्मलता है (३) यह भी वतलाती है कि कितना आवरण शेष है, इसीप्रकार आत्मप्रतीति होने पर सम्यक्ज्ञान की कलारूपी दूज (१) समस्त ध्रुवस्वभाव को इस-प्रकार बतलाती है कि मैं पूर्ण निर्मल परमात्मा के बराबर हूँ (२) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान श्रद्धा की शक्ति और स्व–पर की भिन्नता को बतलाती है और (३) यह भी बतलाती है कि आवरण तथा विकार-भाव कितना है ।

व्यवहार में भेददृष्टि का आश्रय होने से राग उत्पन्न होता है, उसके फलस्वरूप संसार में जन्म–मरण होता है, अखण्ड ज्ञानानन्द की पूर्ण पवित्र दशास्वरूप मोक्ष उस भेद के अवलंबन से प्रगट नहीं होता । व्यवहार के सभी भेद अभूतार्थ हैं, राग तो असद्भूत व्यवहार का विषय है । वर्तमान दर्शन-ज्ञान–चारित्र की अपूर्ण पर्याय सद्भूत-व्यवहार है । बंध–मोक्ष भी पर्याय है, उसका लक्ष करने से पुण्य-पाप के भेदरूप विकल्प उत्पन्न होते है। पूर्ण अखण्ड को जानने पर बीच में शुभविकल्परूप व्यवहार आये विना नहीं रहता, किंतु वह शुभराग विकार है । उससे आत्मा को कोई लाभ नहीं होता, इसलिए वह ग्रहण करने योग्य नहीं है। गुण–गुणी के भेद प्रारम्भ में समझने के लिये आते तो हैं, किंतु वस्तु को जानने के बाद लक्ष में लेने योग्य नहीं है, अर्थात् अभेद की दृष्टि में वे गौण होजाते हैं। भेद का लक्ष छोड़कर अभेद का लक्ष न करे और मात्र व्यवहार में ही रुका रहे तो अखण्ड चिदानन्द के लक्ष को लेकर ज्ञान स्थिर नहीं होता ।

अनादिकाल से आत्मा को नही जाना । वहाँ पहले पात्रता के लिए तत्व का विचार करने के योग्य चित्तशुद्धि तो होनी ही चाहिए। आत्मा ने वैसे शुभभाव तो अनन्तवार किये है, किन्तु वे सब पुण्यभाव है, आत्मधर्म के भाव नहीं हैं, इसलिए वह त्याज्य है, इस-प्रकार पहले से ही जानना चाहिए ।

प्रारम्भ में शुभभाव होते हैं, और ज्ञान होने के बाद भी निम्न-दशा में शुभभाव रहते हैं किन्तु वे परसंयोगाधीन क्षणिक भाव है, अभूतार्थ हैं, इसलिए आदरणीय नहीं हैं । आत्मा का स्वभाव त्रिकाल एकरूप, ज्ञायकरूप रहनेवाला ध्रुव है और वही आदरणीय है ।

जैसे अधिक कीचड़ के मिलने से पानी का एकरूप सहज निर्मल स्वभाव ढक जाता है, किन्तु नाश नहीं होजाता। पानी स्वभाव से तो नित्य हलका पथ्य और स्वच्छ ही है किन्तु कीचड़ के संयोग से वर्तमान अवस्था में मैला दिखलाई देता है। जिसे पानी के निर्मल स्वभाव की खबर नहीं है और जिसे यह श्रद्धा नहीं है कि मैल के संयोग के समय भी पानी में पूर्ण स्वच्छ स्वभाव विद्यमान है, ऐसे बहुत से जीव हैं, जो पानी और कीचड़ की भिन्नता का विश्लेषण नहीं कर सकते और वे मलिन जल का ही अनुभव करते हैं। इसीप्रकार प्रबल कर्म के मिलने से आत्मा का सहज एक ज्ञायकभाव ढक गया है, नाश नहीं हो गया । आत्मा स्वभाव से तो पर से भिन्न, ज्ञायक, स्वतंत्र, निर्मल ही है किन्तु कर्म के संयोग से वह वर्तमान अवस्था में मलिन प्रतीत होता है। जिन्हे आत्मा के सहज निर्मल एक ज्ञायकस्वभाव की खबर नहीं है और जिन्हें ऐसी श्रद्धा नहीं है कि क्षणिक विकारी अवस्था के समय भी आत्मा में पूर्ण निर्विकारी स्वभाव विद्यमान रहता है, ऐसे बहुत से अज्ञानी जीव हैं जो पुण्य-पाप, राग-द्वेष देहादि को अपना स्वरूप मानते हैं। उन्हे पर से भिन्न आत्मा का विवेक नहीं होता इसलिये वे पर को आत्मस्वरूप मानते हैं ।

जैसे एक आदमी बहुत से आदमियों के बीच में खड़ा रहकर भी ऐसी शंका नहीं करता कि यदि मैं सर्वरूप हो गया तो क्या होगा? इसीप्रकार परमाणु अन्ध–अचेतन हैं तू उनके साथ एकरूप नहीं होगया। जब तू अपने को भूलकर अज्ञान से राग में लीन हो जाता है तब तुझे जड़ के संयोग से बन्धन का आरोप आता है, किन्तु तू उस विकार का नाशक है। जैसे अग्नि सबको जला देती है, उसीप्रकार चैतन्य-मूर्ति आत्मा सर्व विकार का नाश कर देता है।

कोई कहता है कि "सौ सौ चूहों को मारकर बिल्ली तप को बैठी" यह कहावत यहाँ पर चरितार्थ होती है या नहीं? समाधान:—कल का पापी आज धर्मात्मा हो सकता है। भूतकाल में चाहे जितने पाप किए हों तथापि जो समझने के लिये तैयार हुआ है वह अपूर्व प्रतीति करके ज्ञानी हो सकता है। भूतकाल में जिसने घोर अधर्म किया हो उसके वर्तमान में धर्म नहीं हो सकता यह बात नहीं है। जिस भाव से बन्ध किया था उससे विपरीत उत्कृष्ट भाव का करनेवाला भी स्वयं ही था। यदि वह पलट जाय तो उत्कृष्ट निर्विकार स्वतंत्र स्वभाव की दृष्टि करके समस्त अशुद्धता का नाश करने की अपार शक्ति को प्रगट कर सकता है। जो आत्मा क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों में अपने वीर्य को लगाता है उसका आत्मबल हीन होजाता है। किन्तु यदि परिवर्तन करदे तो बन्ध के विकारी भावों के बल की अपेक्षा अविकारी स्वभाव का बल अनन्त गुना है, वह प्रगट होता है। उस बल की जागृति से घसियारा भी दो घड़ी में ही केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। अग्नि की एक चिनगारी में करोड़ों मन घास को जला देने की शक्ति होती है। यहाँ पर कोई कुतर्क-बुद्धिवाला व्यक्ति यह कहे कि तब तो हम अभी खूब पाप करलें और फिर बाद में उन्हें क्षणभर में नाश करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेंगे तो यह कदापि नहीं हो सकता।

जिसे बन्दूक चलाने का अभ्यास न हो और जो बन्दूक को पकड़ना भी न जानता हो वह समय आने पर शत्रु के सामने क्या करेगा?

इसीप्रकार जिसे वर्तमान में सत् की रुचि नहीं है तथा विवेक और सत्‌शास्त्र का अभ्यास नहीं है वह मरण के समय समभाव कैसे रखेगा ?

जिसे सर्वप्रथम अनीति का त्याग नहीं है और लौकिक सज्जनता नहीं है, उसके लिए धर्म है ही नहीं ।

कोई कहता है कि–'हमारी अनेक प्रवृत्तियाँ है पूर्व के अनेक कर्म विद्यमान हैं, वे हमें धर्म नहीं करने देते' । किन्तु कर्म तो पर-वस्तु है वह तेरे स्वभाव में है ही नहीं । जो तुझमें नहीं है वह तेरी क्या हानि कर सकता है, यदि पानी लाखों वर्ष तक अग्नि पर गर्म होता रहे तो भी उसमें अग्नि को बुझाने की शक्ति प्रतिसमय विद्यमान रहती है । यदि वर्तन से उछल पड़े तो वही पानी उस अग्नि को बुझा देता है जिससे वह गर्म हुआ था । इसीप्रकार आत्मा प्रबल कर्म के संयोग के साथ विपरीत मान्यता से रागद्वेष के वेग में आया हो तो भी सत् समागम के द्वारा आत्मा की महिमा को जानकर क्षणभर में राग-द्वेष, अज्ञान का नाश कर सकता है। जिसने अनादि-काल से धर्म को नहीं समझा उसे भी धर्म के समझने में अधिक काल की आवश्यकता नहीं होती, वह क्षणभर में सत्य पुरुषार्थ के द्वारा धर्म को समझ सकता है।

व्यवहार में जो विमोहित चित्तवाले पाप के विकार को अपना कर्तव्य मानते हैं, पुण्य से धीरे-धीरे धर्म का होना मानते है, तथा जो यह मानते है कि अकेले आत्मा से धर्म नहीं हो सकता, उसके लिये परावलम्बन आवश्यक है; मानो वे यह मानते हैं कि उन में निज की कोई शक्ति नहीं है। जो अपने में धर्म की 'नास्ति' मानते हैं वे बाहर से धर्म की 'अस्ति' कहाँ से लायेंगे ? यह धर्म की प्राथमिक बात है । यहाँ शुभ को छोड़कर पाप में प्रवृत्ति करने को नहीं कहते; क्योंकि लौकिक सज्जनता, नीति इत्यादि की पात्रता तो आवश्यक है ही, किन्तु उससे अविकारी स्वभाव को कोई लाभ नहीं मिलता । उत्कृष्ट पुण्य करके उसके फलस्वरूप अनन्तबार नवमें ग्रैवेयक तक

गया, किन्तु उसका निषेध करके जो विकार रहित पूर्णस्वभाव की, आत्मा की श्रद्धा नहीं करता, सत्यासत्य का निर्णय नहीं करता वह परमार्थतः मूढ़ जीव है।

अनादिकाल से बाह्यप्रवृत्ति पर दृष्टि है, इसलिए जहाँ अनादिकाल से माने हुये को देखता है वहाँ संतोष हो जाता है। और मानता है कि 'मैंने इसका त्याग किया—यह ग्रहण किया इसलिए मुझे कुछ लाभ अवश्य होगा' किन्तु यह विचार नहीं करता कि मैं भीतर अपारशक्ति से अखण्ड परिपूर्ण हूँ, पूर्ण हूँ। पहले श्रद्धा में निरावलम्बी वीतराग ज्ञायक स्वभाव को पूर्णतया मानने के बाद सम्यग्दर्शन होने पर भी चारित्र की अस्थिरता जितना मोह शेष रह जाता है, किन्तु परमार्थ दृष्टि में वह नहीं है क्योंकि उसको दूर करनेवाला निर्मल दृष्टि का विवेक सदा जाग्रत रहता है, इसलिए वह अल्पकाल में शेष राग का भी नाश कर डालेगा।

कीचड़ से लथपथ होते हुए भी जो पहले से स्वच्छ जल का विश्वास करता है उसकी जल की सभी प्रकार की मलिनता को दूर करने की दृष्टि पहले से ही खुली होती है, भले ही उसे मलिनता दूर करते हुए कदाचित् कुछ विलम्ब लग जाय। एकरूप निर्मलता को प्राप्त करने की रुचि मलिनता नहीं रहने देगी। जबतक मात्र पुण्य—पाप के विकार को ही आत्मा का स्वभाव मानता है और शुभभाव से गुण का होना मानता है तबतक निर्मल स्वभाव पर दृष्टि नहीं जाती और वास्तविक रूप में अशुद्धता को दूर करने का मार्ग नहीं सूझता। जो अज्ञानी लोग बंधमार्ग को मोक्षमार्ग मानकर व्यवहार—व्यवहार चिल्लाते हैं और जो यह कहकर कि 'हमारा व्यवहार ग्रहण करने योग्य है' व्यवहार को ही पकड़े बैठे हैं उन्हें आचार्यदेव ने व्यवहारमूढ़ कहा है।

हे भाई! तू वीतरागी प्रभु भूतार्थ है, पराश्रय से होनेवाले क्षणिक विकारीभाव को अपना मानकर उसे जो उपादेय मानता है और उससे गुण मानता है वह अविकारी आत्मस्वभाव का घात करता है।

अविकारी द्रव्यस्वभाव को देखने वाली दृष्टि शुद्धदृष्टि है, सम्यग्दृष्टि है। और जो विकार को अपना स्वरूप मानता है, परवस्तु से-शुभविकार से धर्म मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। देह इत्यादि परमाणु की धूल अचेतन संयोगी वस्तु है वह-सयोगी वस्तु ज्ञायक स्वरूप नहीं है और आत्मा जड़रूप नहीं है इसलिए आत्मा का पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, पर की कोई भी क्रिया आत्मा नहीं कर सकता।

सच्चे तप की परिभाषा 'इच्छानिरोधस्तपः' है इच्छा का त्याग अर्थात् इच्छा की नास्ति का मतलब है विकार का नाश और यही तप है, यही इसका अर्थ है। जब जीव अविकारी, नित्य अस्तिरूप ज्ञायक तत्व की प्रतीति करता है तब वह विकार का नाश कर सकता है।

यह महामंत्र है किसी को साँपने काटा हो और फिर वह बिल में चला गया हो तब गारुढ़ी (जादूगर) ऐसे मंत्र पढ़-पढ़कर भेजता है कि यदि उस आदमी का भाग्य हो तो साँप बिल में से बाहर आ जाता है और विष को चूसकर वापिस चला जाता है (यहाँ पर मत्र की महत्ता नहीं देखनी है किन्तु सिद्धान्त को समझने के लिए दृष्टात का अश ही लेना है) उम मत्र से यदि आयु शेष हो तभी विष उतरता है किन्तु त्रिलोकीनाथ परमात्मा ने सम्यग्दर्शनरूपी ऐसा महामन्त्र दिया है कि जो अनादिकाल से अज्ञानरूपी सर्प के द्वारा चढ़े हुए चैतन्यभगवान आत्मा के विष (पर-भाव में ममत्वरूप जहर) को उतार देता है।

सम्यग्दर्शन किसी के कहनेसे अथवा देने से नहीं मिलता स्वयम् अनन्तगुण के पिंड सर्वज्ञभगवान ने जैसा कहा है, वैसा है। उसे सर्वज्ञ के न्यायानुसार सत्समागम के द्वारा ठीक पहचाने और भीतर अखंड ध्रुव स्वभाव का अभेदनिश्चय करे तो सम्यग्दर्शन-आत्मसाक्षात्कार होता है उसमें किसी परवस्तु की आवश्यक्ता नहीं होती। यह बात गलत है कि यदि मैं इतना पुण्य करूं, इतना शुभराग करूं तो उससे धीरे-धीरे सम्यग्दर्शन हो जायगा। कोई बाह्यक्रिया करे, जप करे, हठयोग करे

तो उससे कदापि सहज चैतन्य आत्मस्वभाव प्रगट नहीं होता, धर्म नहीं होता। धर्म तो आत्मा का सहज सुखदायक स्वभाव है।

प्रश्नः—जबकि आप बाह्यक्रिया करने को कुछ कहते ही नहीं हैं तब धर्म तो बिल्कुल सरल हो गया ?

उत्तरः—धर्म का अर्थ है अनन्त सुखस्वरूप आत्मा का नित्य स्वभाव, उस अनन्त सुखस्वरूप के प्रगट होने के कारणों में कष्ट है, इसप्रकार जो मानता है वह सच्चे धर्म को ही नहीं समझा। धर्म तो आत्मा का स्वभाव है इसलिए वह कष्टप्रद नहीं है। लोग बाहर से माप निकालते हैं कि छहमास तक आहार का त्याग किया है, धर्म में घोर परिषह सहन करने पड़ते हैं। इसप्रकार जो धर्म में दुःख मानते हैं वे धर्म को क्लेषरूप मानते हैं, किन्तु धर्म क्लेषरूप नहीं है। आत्मा के अनाहारी ज्ञानस्वभाव के आनन्द में लीन होने पर ज्ञानी के छहमास तक आहार सहज ही छूट जाता है और जो शरीर सूख जाता है उस पर दृष्टि ही नहीं जाती। अखण्ड स्वरूप की शान्ति में सहज ही इच्छा रुक जाती है, इसका नाम है तप; उसमें कष्ट नहीं है, किन्तु अविकारी आनन्द है।

बाह्य तप, परिषह इत्यादि क्रियाओं से मानता है कि मैंने सहन किया है इसलिये मेरे धर्म होगा, किन्तु उसकी दृष्टि बाह्य में है, इसलिये धर्म नहीं हो सकता। जिसे शरीर पर प्रेम है उसे शारीरिक प्रतिकूलता होने पर द्वेष उत्पन्न हो जाता है। ज्ञानी को शरीर के प्रति राग नहीं होता, उन्हें तो अनुकूल-प्रतिकूल संयोग ज्ञेयमात्र होते हैं। अधिक कष्ट सहने से अधिक धर्म होने की बात तीनलोक और तीनकाल में नहीं हो सकती।

यहाँ पर सहजस्वभावी आत्मा का धर्म न्यायपुरस्सर कहा जाता है। जैसे—निर्मल जलस्वभाव से अज्ञात-अज्ञानी जीव कादवमिश्रित जल को मैला मानता है, वह मलिन जल को ही पाता है, किन्तु निर्मल-

जलस्वभाव का ज्ञाता अपने हाथ से निर्मली औषधि (फिटकरी) डालकर अपने पुरुषार्थ से निर्मल जल को प्राप्त करता है, और उसीका अनुभव करता है। इसीप्रकार ज्ञानानन्द आत्मा सहज ज्ञायकस्वरूप चैतन्यज्योति है, वह अनादि कर्म के संयोग से ढ़का हुआ है इसलिए मलिन प्रतिभासित होता है। आत्मा को कर्म ने मैला नहीं किया किन्तु स्वयं विपरीतदृष्टि से अशुद्धरूप में अपने को राग-द्वेष, पुण्य-पाप का कर्ता मानता है, और अपने को रागी-द्वेषी मानकर उस विकारीभाव को अपना मानता है। इसप्रकार माननेवाला व्यवहार-मूढ़ है क्योंकि उसे स्वभाव की खबर नहीं है।

अरे ! यह देव-दुर्लभ मानव शरीर मिला है, इसमें अनन्त भव का अन्त हो सकता है ऐसी अपूर्व श्रद्धा के द्वारा एक दो भव मे ही अखंडानन्द पूर्ण मोक्षस्वभाव की प्रगट प्राप्ति होनेवाली है, इसप्रकार यदि निःसंदेहरूप से अन्तरंग में दृढ़ निश्चय न करे तो जैसे कुत्ते, बिल्ली, कीड़े-मकोड़े आत्मभान के बिना मर जाते हैं उसीप्रकार आत्मप्रतीति किये बिना मनुष्य जीवन व्यर्थ जाता है।

आत्मा की अपूर्व प्रतीति करना ही मनुष्य जीवन का वास्तविक कर्तव्य है। जिसे सच्ची श्रद्धा होती है उसे भवविनाश में शंका ही नहीं रहती।

जहाँ शंका वहाँ गिन संताप,
ज्ञान वहाँ शंका नाहिं स्थाप।
प्रभु भक्ति वहाँ उत्तम ज्ञान,
प्रभु प्राप्ति में गुरु भगवान।

(श्रीमद् राजचन्द्र)

जहाँ शंका है वहाँ ज्ञान नहीं है और जहाँ सच्चा ज्ञान है वहाँ शंका नहीं रहती। पुरुषार्थ के द्वारा जहाँ स्वभाव में से सच्चा ज्ञान प्राप्त

किया जाता है वहाँ गुरु निमित्तरूप होता है। स्वाधीन मोक्षस्वभाव की यथार्थ श्रद्धा होने पर बंधन की मान्यता छूटकर अन्तरंग से यह निस्सन्देह विश्वास हो जाता है कि मैं विकार रहित, भव रहित, अबंध, ध्रुव स्वभावी हूँ। और ऐसी निस्सन्देह श्रद्धा आत्मा में हो सकती है कि बहुत से कर्मों के आवरण टूट गये, कुछ ढीले हो गये और शेष अल्पकाल में ही दूर करके पूर्ण परमात्मदशा को प्रगट कर लूँगा।

आत्मा में अनन्त स्वाधीन गुण भरे हुए हैं, उन्हें न देखकर बाह्य कर्मों के निमित्त में युक्त होने से-पर के ऊपर दृष्टि होने से-अभेद में जो भेद पड़ता है, पुण्य-पापभाव होता है, उसीको आत्मा का स्वरूप मानता है, पुण्य से ठीक हुआ मानता है, उस जीव को विकारीभाव के प्रति आदर होता है इसलिए उसे अविकारी आत्मा के प्रति आदर नही होता। पुण्य तो शुभरागभाव है, उसका आदर करना सो महा-मूढ़ता है। उन क्षणिक भावों का आश्रय करनेवाला मिथ्यादृष्टि है।

स्वतंत्रता के द्वार को खोलने वाला और परतंत्रता की बेड़ी को तोड़ने वाला परमार्थभाव है। मेरा स्वभाव पूर्ण पवित्र सिद्ध परमात्मा के समान शुद्ध है। उस ध्रुवस्वभाव को ही भूतार्थदर्शीजन शुद्धनय के द्वारा अपना स्वरूप मानते हैं। शुद्धनयानुसार बोध होने मात्र से पर से भिन्न एकमात्र ज्ञायकरूप में अपने को ही अनुभव करते हैं। भगवान आत्मा सदा अक्रम, अरूपी, अविकारी, निर्मल, ज्ञानमूर्ति है उसे परमार्थ ध्रुवरूप में देखनेवाले ज्ञानीजन भेदरूप क्षणिक विकाररूप नहीं देखते।

इसे समझने में यदि विलम्ब लगे तो अकुलाना नहीं चाहिये, किन्तु धीरज धरकर समझने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि पहले से ही यह मानकर कि समझ में नहीं आयेगा समझने का पुरुषार्थ न करे तो फिर अनन्तकाल तक यथार्थ समझ का द्वार बन्द करदेता है। भूल तो वर्तमान एक समयमात्र के लिये होती है, त्रिकाल स्वभाव भूलरूप नहीं हो जाता, इसलिये समझकर भूल को दूर करना चाहिये।

भूतार्थदर्शी (शुद्ध दृष्टि से देखनेवाले) के ऐसा विवेक होता है कि 'मैं अकेला निर्मल हूँ, ध्रुव हूँ,' इसलिये अपने पुरुषार्थ के द्वारा ज्ञानज्योति से शुद्धनयानुसार बोध होता है। उस बोधमात्र से निर्मल ध्रुव स्वभाव की प्रतीति तथा आत्मा और कर्म की भिन्नता का विवेक उत्पन्न करता है। अपने पुरुषार्थ के द्वारा प्रगट किये गये सहज एक ज्ञायकस्वभाव को ही सम्यग्दृष्टि शुद्धनय के द्वारा अनुभव करता है, यह सम्यग्दर्शन है।

यदि कोई कहे कि समयसार में बी. ए. और एल. एल. बी. जैसी उच्च भूमिका की बातें है तो यह ठीक नहीं है। जो यथार्थ आत्महित करना चाहे उसके लिए प्रथम उपाय की बात है। सभी जीव सिद्ध परमात्मा के समान हैं, तू भी सिद्ध समान है। फिर यदि तू नहीं समझे तो क्या जड़ पदार्थ समझेगा?

कोई कर्म के नाम को रोता है कि मुझे कर्म ने मार डाला यदि कर्म मार्ग साफ करदे तो धर्म सूझे। किन्तु भाई! वे कर्म तो जड़, अंध, और भानरहित हैं, उन्हें यह खबर ही नहीं कि हम कौन हैं और कहाँ है। परमार्थ से तुझे उनका कोई बंधन नहीं है किन्तु तेरी विपरीत मान्यता का ही बंधन है। भूलरहित त्रिकाल निर्मल पूर्णस्वभाव को देखकर सीधी मान्यता करे तो तुझसे अशुद्धता नष्ट हो सकती है, वह अभूतार्थ है अर्थात् नित्यस्थाई स्वभाव में वह नहीं है।

मैं अखण्ड चैतन्यज्योति त्रिकाल निर्मल एकरूप आनन्दमूर्ति हूँ। इसप्रकार जो शुद्ध परमार्थदृष्टि से अपने को अखण्डज्ञायक वीतराग सिद्ध परमात्मा के समान अनुभव करता है, वही अपने ध्रुवस्वरूप को मानता है और इसलिये पर का-विकार का स्वामित्व नहीं करता।

दृष्टि को निर्मल करने के बाद शुभभाव होता तो अवश्य है किन्तु उसका आदर नहीं होता। उसे यह भान है कि-अपनी वर्तमान निबलाई के कारण शुभभाव होता है, किन्तु वह मेरा स्वभाव

नहीं है; मेरा स्वभाव तो शुद्ध वीतराग है, और उस स्वभाव की दृष्टि के बल से उसके स्वभाव में विकार का अभाव विद्यमान होता है।

जैसे काछी-कोली के गंदे लड़के किसी के घर के आंगन में खेलने के लिये पहुँच जायें तो उन्हें देखकर आत्मीयता की ऐसी भावना नहीं होती कि वह हमारे वंश के रक्षक हैं; प्रत्युत यह जानकर कि यह मेरे घर के नहीं हैं, उन्हें घर से बाहर निकाल देते हैं। इसीप्रकार चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा में राग-द्वेष की संकल्प-विकल्प वाली वृत्ति अपनी अशक्ति के कारण दिखाई देती है, उसका स्वभाव की पूर्णता की दृष्टि के बल से निषेध करते है।

अंतरंग में शुभ-अशुभ भावों में हेयबुद्धि होने से और ऐसे स्वभाव का आदर होने से कि मै वर्तमान में त्रिकाल, अखण्ड, निर्मल पूर्ण सामर्थ्यरूप हूँ। शुद्धनय के द्वारा अपने में पूर्ण अखण्ड दृष्टि की प्रतीति अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है, यही पूर्ण मुक्ति-मंदिर में प्रवेश करने का प्रथम द्वार है।

यहाँ पर शुद्धनय निर्मली औषधि (फिटकरी) के स्थान पर है। जो अंतरंग निर्मलदृष्टि (शुद्धनय) का आश्रय लेते हैं, वे सम्यक्-अवलोकन करने वाले हैं इसलिए सम्यक्दृष्टि है। उसके अतिरिक्त शुभाशुभभाव का आश्रय करने वाले भेदरूप व्यवहार के पक्षपाती व्यवहारमूढ़ हैं, मिथ्यादृष्टि हैं।

पुण्य से धर्म होगा, पुण्य तो धर्म का प्रारम्भ है, पुण्य लगेटा है, धर्म का साधन है, गुण के लिए बाह्यक्रिया आवश्यक है, इसप्रकार विकार से-बन्धनभाव से अविकारी अबंध स्वभाव प्रगट होगा, यों मानने वाले तथा देह की क्रिया, पुण्य-पाप की क्रिया का मैं कर्ता हूँ, पर से मुझे लाभ-हानि होती है, पर के अवलंबन से गुण होता है, ऐसे अज्ञानरूप अभिप्राय को माननेवाले सम्यग्दृष्टि नहीं है।

यह सब समझने की अपेक्षा जिसे जगत ठीक मानता है वैसा ही करना लोगों को भी ठीक लगता है। कोई कहता है कि पाँच हजार रुपया खर्च करो तो कल्याण हो जायगा, किन्तु ऐसा कल्याण तो जीव ने अनन्तबार किया है, लेकिन उससे धर्म नहीं हुआ। जीव ऐसे सूक्ष्म अन्तरंग स्वभाव को नहीं समझ सका, और बाहर से जो अच्छा दिखाई देता है, उसमे धर्म मानकर सन्तुष्ट हो जाता है। प्रशंसा करनेवाले भी बहुत से लोग मिल जाते है जो कहा करते है कि 'आपने बहुत बड़ा परमार्थ का काम किया है, अब आपका कल्याण अवश्य हो जायगा'। यदि पैसे से धर्म होता हो तो निर्धन के धर्म नहीं होगा। सच तो यह है कि रुपया-पैसा दे देना पुण्य का कारण नहीं है, किन्तु अंतरंग में रुपये-पैसे के प्रति होने वाले राग को कम करे तो पुण्य होता है। लोगों में अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए रुपया-पैसा दे, और यह माने कि मैं धर्मादा करता हूँ तो वहाँ रुपया-पैसा देने पर भी पर के अभिमान के कारण पाप होता है। पैसा देने से ही पुण्य होता है यह बात नहीं है। रुपया-पैसा तो पर–जड़वस्तु हैं। शरीरादि की प्रवृत्ति हुई इसलिए, अथवा रुपया-पैसा देने से पुण्य होता है यह मानना गलत है। रुपया पैसा तो उसके (सामने वाले के) पुण्य के कारण और जड़ की अवस्था के कारण उस समय उसके पास आनेवाला ही था। दूसरे के कारण से पुण्य नहीं होता किंतु कषायों के मन्द करने से पुण्य होता है। अन्तरंग तत्त्व की पहिचान करना और तृष्णा–रागरहित अविकारी 'मैं कौन हूँ' इसकी यथार्थ प्रतीति करना सो धर्म है। स्वभाव को जाने बिना शुभभाव से दान देकर तृष्णा कम की जा सकती है किन्तु वहाँ वास्तव में तृष्णा कम नहीं हो जाती। वर्तमान तृष्णा घटी हुई दिखाई देती है, किन्तु दृष्टि तो पर के ऊपर होती है इसलिये वह भविष्य में पुण्य के फल में मूढ़ हो जायगा।

जिसे पराश्रित व्यवहार में उपादेय बुद्धि है, जो, विकार के कर्तव्य को ठीक मानता है; उसका किसी भी प्रकार हित नहीं होता। इस-

लिये निरावलम्बी निर्पेक्ष ज्ञायकस्वभाव का अनुसरण करने से सम्यग्दर्शन होता है। शुद्धनय से निरावलम्बी पूर्ण निर्मल स्वभाव को मानने वालों को व्यवहारनय का अनुसरण करना योग्य नहीं है।

इस गाथा में सम्यग्दर्शन का स्वरूप अत्यंत सादी भाषा में, अलौकिक रीति से, स्वच्छ पानी और कीचड़ का दृष्टान्त देकर इसप्रकार समझाया है कि छोटा बालक भी समझ सकता है। यदि बारम्बार सुनकर मनन करे तो चाहे जो व्यक्ति भगवान आत्मा के निर्मल ज्ञायक स्वभाव का स्वयं अनुभव कर सकता है।

प्रश्नः—पुण्य-पाप की वृत्ति को अभूतार्थ-अस्थाई क्यों कहते हो?

उत्तरः—पुण्य-पाप के भाव क्षणिक संयोगाधीन किये हुए होने से बदल जाते है, इसलिये अभूतार्थ-अस्थाई हैं, जैसे बहुत से आदमियों के बीच चंदा लिखाया जा रहा हो तो उसे देखकर किसी के पाँच हजार रुपया देने के शुभभाव हो जाते हैं, और वह पाँच हजार रुपये लिखा देता है, किन्तु घर जाकर उसका विचार बदल जाता है, जब कोई उसके पास वह रुपया मागने जाता है तब उसको रुपया देने की दानत नहीं होती, इसलिये वह उसका दोष निकालता है और कहता है कि तुम्हारी संस्था ठीक नहीं चलती इसलिये अभी कुछ देने का विचार नहीं है। इसप्रकार तृष्णा को रखकर व्यर्थ यश लूटता है किन्तु तृष्णा कम नहीं करता। किसी की संस्था अच्छी चले या न चले उससे तेरी तृष्णा में कोई अन्तर नहीं होना है, किन्तु तू जब अपनी तृष्णा को कम करना चाहे तब उसे कम कर सकता है।

इसमें सिद्धान्त इतना ही है कि पुण्य–पाप के भाव क्षणिक हैं; वे संयोगाधीन किये जाते हैं इसलिये बदल जाते हैं अतः अस्थाई–अभूतार्थ हैं, और पुण्य–पापरहित जो अखण्ड निर्मल स्वभाव है वह त्रैकालिक है, इसलिये भूतार्थ है, यदि उसे परमार्थदृष्टि से लक्ष में लिया जाय तो नित्यस्वभाव का निश्चय नहीं बदल सकता।

शुद्धनयानुसार बोध होने मात्र से स्व-पर की भिन्नता का विवेक और शुद्धात्मा का अनुभव होने लगता है। इसमें साधन तो शुद्धनयानुसार बोध होने मात्र से कहा है अन्य कोई पर का अवलंबन, क्रिया अथवा शुभविकल्प इत्यादि नहीं कहा।

भावार्थ—यहाँ पर व्यवहारनय को अभूतार्थ और शुद्धनय को भूतार्थ कहा है। पूर्ण-ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा ही अखण्ड वस्तु है, उसके लक्ष से हटकर, पर-संयोग के लक्ष से पुण्य-पाप की वृत्ति होती है, तब अखण्ड ध्रुव स्वभाव में खण्ड-भंग पड़ जाता है। जैसे नदी का प्रवाह अखण्ड है, किन्तु बीच में-नाला आने पर उसके प्रवाह में खण्ड पड़ जाता है, इसीप्रकार त्रैकालिक ज्ञायक चैतन्यस्वभाव एकरूप ही है उसमें वर्तमान क्षणिक अवस्था मात्र के लिए कर्म के निमित्ताधीन शुभाशुभभाव होते हैं, वह व्यवहार है, उस व्यवहार का विषयभेद अनेकाकार है। उसका आश्रय करने वाला शुभाशुभ विकार को दृष्टि का विषय बनाने वाला मिथ्यादृष्टि है।

शुद्धनय का विषय अभेद एकाकाररूप नित्यद्रव्य है, उसकी दृष्टि में भेद दिखाई नहीं देता। निर्मल अखण्ड स्वभाव की दृष्टि करने के बाद भी चारित्र में कमी होने के कारण शुभवृत्ति होती है, वह व्यवहार का विषय है। व्यवहार का भेद एक समयमात्र के लिए है, इसलिए भूतार्थदृष्टि में भेदरूप व्यवहार असत्यार्थ—अविद्यमान है।

'भेदरूप व्यवहार अविद्यमान है' यह कहने का किसी को यह तात्पर्य नहीं निकालना चाहिए कि कोई वस्तु सर्वथा भेदरूप है ही नही। अविद्यमान है, अर्थात् स्वभाव में नहीं है। ऊपर असत्यार्थ कहा है तथापि वस्तुरूप में है अवश्य, किन्तु स्वभाव में नहीं है। पर के अव-लंबनरूप शुभाशुभ विकार यदि वर्तमान अवस्था में भी न हो तो पुरुषार्थ करके विकार को दूर करके अविकारी निर्मल हो जाऊँ, ऐसा अवकाश ही न रहे। वर्तमान अवस्था में विकार हैं, किंतु ज्ञानी उस वर्तमान भेद-दृष्टि को नहीं देखता।

जिसे अपना हित करना है उसे सत्समागम द्वारा यथार्थ वस्तु को जानकर, भेद को गौण करके, एकरूप ध्रुवस्वभाव भूतार्थ का लक्ष करना चाहिये, जिसे अनन्तभव का दुःख दूर करना हो और सच्चिदानन्दमय पूर्ण सुखरूप स्वाधीन तत्व प्राप्त करना हो उसीके लिये यह बात कही जारही है।

सुख स्वभाव में ही है। जीव अपने स्वभाव को जाने बिना अनन्त-बार पशु-पक्षी, कीड़ा-मकोड़ा आदि का भव धारण किया करता है। यदि किसी आदमी से कह दिया जाय कि 'तू तो गधे जैसा है' तो वह झगड़ा करने को तैयार हो जायगा; किन्तु उसे यह ज्ञात नहीं है कि अन्तरंग में जिन विकारी भावों का सेवन कर रहा है उनका सम्यक्ज्ञान के द्वारा जबतक नाश नहीं कर दिया जाता तबतक उसके अज्ञानभाव में गधे के अनन्तभव धारण करने की शक्ति विद्यमान है।

यदि अपने में भूलरूप विपरीत मान्यता न हो तो उस भूल के फलस्वरूप यह अवतार (जन्म-मरण) ही क्यों हो? और यदि वह भूल सामान्य हो तो इतने भव न हों, किन्तु वह भूल असामान्य-असाधारण है। निज को निज की ही भ्रांति है। आत्मस्वभाव की पूर्ण स्वाधीनता स्वीकार करके जबतक वह भूल दूर नहीं करदी जाती तबतक उस भूलरूप विपरीतभाव में अनन्तभव तैयार ही समझना चाहिये।

जैसे जल को मलिनरूप ही मानने वाले को स्वच्छ-मीठे जल का अनुभव नहीं हो पाता, और वह मैला जल ही पीता है, इसीप्रकार आत्मा ज्ञानानन्दमूर्ति, पर से भिन्न है; किन्तु वह अपनी स्वाधीनता को भूलकर पुण्य-पाप विकार को अपनेरूप में मानता है, और उस मलिन-भाव तथा उसके फलस्वरूप भव-भ्रमण की आकुलता का ही अनुभव करता है।

अकेली वस्तु में स्वभाव से विकार नहीं होता, किन्तु उसमें यदि निमित्तरूप दूसरी वस्तु हो तो उस निमित्त की ओर लक्ष जाने पर विकार

होता है। आत्मा के विकार में निमित्तरूप दूसरी वस्तु जडकर्म है। उन जड़कर्मों के सबंध का अपने में आरोप करके जीव रागद्वेष करता है।

जड़कर्म और बाह्य-संयोगी वस्तु के अनेक प्रकार है। उस बाह्य-वस्तु के आश्रय से पूजा, भक्ति, व्रत, तप, दान, इत्यादि अनेक प्रकार के शुभभाव तथा हिंसा, चोरी, असत्य इत्यादि अनेक प्रकार के अशुभ भाव होते हैं। वे शुभ और अशुभ दोनों बंधनभाव है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि पुण्य को छोड़कर पाप किया जाय। यहाँ तो यह बात न्यायपुरस्सर जानने के लिए कही गई है कि पुण्य-पाप की मर्यादा कितनी है। क्योंकि ऐसा मानने और मनवाने वाले बहुत से लोग है कि पुण्य से धर्म होता है अर्थात् विकार से-बंधनभाव से अविकारी मुक्त आत्मा का धर्म होता है। यहाँ तो अविरोधीरूप मे यह कहा जा रहा है कि जन्म-मरण कैसे दूर हो और वर्तमान में आत्मसाक्षात्कार कैसे हो।

साक्षात् त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान श्री सीमंधरस्वामी के पास से जो सनातन सत्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य लाये थे उसकी अद्भुत रचना समयसार शास्त्र के रूप में हुई है उसी अविरोधी तत्व को यहाँ कहा जाता है।

अल्प आयुष्मान हे भाई! जब अपूर्व समझ का सुयोग मिला तब यदि नहीं समझेगा तो फिर अनन्तकाल में भी ऐसा उत्तम सुयोग मिलना दुर्लभ है। जैसे पिता पुत्र को कहता है कि भाई यह दो महीने सच्चे मौसम के है; इसलिये कमाने के बारे में सावधानी रख। इसीप्रकार आचार्यदेव संसार पर करुणा करके कहते हैं कि अनन्त भवों का अल्पकाल में ही नाश करने का यह अवसर मिला है, इसलिये सावधानीपूर्वक आत्मस्वरूप को यथार्थ पहचानले। यदि अब चूक गया तो फिर ऐसा उत्तम अवसर नहीं मिलेगा।

अशुभभाव को दूर करने के लिये शुभभाव के अवलंबन का निषेध नहीं है किन्तु जीव ने आत्मा का निर्मल चिदानन्द अखण्डानन्द

स्वतन्त्रत्व सच्चे गुरुज्ञान से पहले कभी नहीं सुना था और न माना था, न कभी अनुभव किया था इसलिये यहाँ पर उस अपूर्व तत्व की बात कही जाती है।

बाह्य सुधार करो, व्यवहार सुधारो ऐसी लौकिक बातें इस जगत् में अनादिकाल से कही जारही है वह अपूर्व नहीं है, किंतु यहाँ तो आचार्यदेव कहते है कि जो पुण्य–पाप के विकारी भावों को अपना स्वरूप मानता है, उससे अपना गुण मानता है, शुभ में और पुण्य में उत्साह दिखाता है, उसका आदर करता है, उसे अविकारी भगवान आत्मा के प्रति आदर नहीं है किन्तु अनादर ही है। उसे परमार्थ साक्षी-स्वरूप आत्मा की खबर नहीं है, इसलिये पर का आश्रय लेकर अभूतार्थ व्यवहार को अपना मानता है, तब भूतार्थदृष्टि–सम्यग्दृष्टि अपनी बुद्धि से प्रयुक्त शुद्धनय के अनुसार बोध होने मात्र से स्वभाव का अनुभव करता है। यहाँ पर जिसने स्वय पुरुषार्थ किया उसी को अंतरंग साधन कहा है देव गुरु शास्त्र तो दिशा बतलाकर अलग रह जाते हैं। देव गुरु शास्त्र भी परवस्तु हैं उसके आधीन तेरा अन्तरगुण नही है

'हे भगवान ! मुझे तार देना' यों कहने वाले ने अपने में सामर्थ्य नहीं है यों माना अर्थात् अपने को परमुखापेक्षी माना। परमार्थ से मैं नित्य स्वावलंबी हूँ इसप्रकार यथार्थ समझने के बाद यदि व्यवहार से भगवान का नाम लेकर कहे कि तू मुझे तार देना तो यह जुदी बात है। किन्तु जो अपने को शक्तिहीन मानकर 'दीन भयो प्रभु पद जपे मुक्ति कहाँ से होय ?' मुझमें शक्ति नहीं है तू मुझे तार दे इसप्रकार बिल्कुल रंक होकर प्रभु–प्रभु ! रटा करे तो मुक्ति कहाँ से होगी ? भगवान् तो वीतराग हैं, उन्हे किसी के प्रति राग नहीं है तथा कोई किसी को तार नहीं सकता। मैं स्वावलंबी पूर्ण हूँ ऐसे स्वभाव की प्रतीति से अज्ञान को दूर करके जिसे स्वयं भगवान होने की श्रद्धा नहीं है वह दीनहीन रंक बनकर दूसरे के पास से मुक्ति की आशा रखता है। वह भगवान से कहता है कि हे भगवान! तू मुझे तार देना, इसका अर्थ यह हुआ

कि तूही मुझे अभीतक चक्कर में डाल रहा है और तूने ही अभीतक मुझे दुःखी किया है। इसप्रकार वह उल्टा भगवान को ही गालियां देता है, वह वास्तव में भगवान की स्तुति नहीं करता किंतु उसे रागी मानकर उसकी अस्तुति करता है। अर्थात् वह राग की ही पूजा और राग की ही भक्ति करता है।

वह कहता है कि 'हे भगवान ! तू भूल दूरकर, तू मुझे तारदे, तू मुझे मुक्ति दे' इसका अर्थ यह हुआ कि मैंने तो भूल की ही नहीं मुझे रागद्वेष दूर नहीं करना है; तू मुझे तारदे या तू मुझे मुक्ति देदे, इसप्रकार के भाव उसमें अप्रगटरूप से आजाते है। भगवान किसी को तारदे अथवा रागद्वेष का नाश करदे ऐसा त्रिकाल मे कदापि नहीं हो सकता।

लौकिक व्यवहार में विनय की दृष्टि से कहा जाता है कि हम तो बड़े बूढ़ों के पुण्य से खारहे है किन्तु कहने वाला अपने मन में यह भी समझता है कि वह बड़े बूढ़ों के पुण्य को स्वय नहीं भोगता। इसीप्रकार ज्ञानी सर्वज्ञ वीतराग को पहचान कर 'वोहिदयाणं' तरणतारण हो इसप्रकार विनय से, व्यवहार से, उपचार से कहता है। किन्तु वह समझता है कि मैने अपनी ही भूल से परिभ्रमण किया है और मैं ही अपनी भूल को दूर करके स्वतत्र स्वभाव की प्रतीति से स्थिर होकर वीतराग हो सकता हूँ। यदि देव-गुरु-शास्त्र से तर सकते होते तो उनका योग तो प्रत्येक व्यक्ति को अनतवार मिलचुका है तथापि मुक्ति नहीं हुई। इससे सिद्ध हुआ कि निमित्त से किसी का कार्य नहीं हो सकता।

हे भाई ! यह समझने की बात है, इसे ध्यान पूर्वक समझना। ऐसी बात को सुनने का सुयोग बारबार मिलना दुर्लभ है। इसे समझने के लिये अपनी निज की तैयारी होनी चाहिये। जैसे 'मिश्री' शब्द सुनने से अथवा किसी को मिश्री खाते हुये देखने से मिश्री का स्वाद नहीं आजाता किन्तु स्वय मिश्री का टुकड़ा लेकर अपने मुँह में डाले और उसके स्वाद का अनुभव करे तो मिश्री का यथार्थ स्वाद

ध्यान में आता है। इसीप्रकार भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा साक्षीरूप है, उसकी बात सुनने से अथवा उसका अनुभव करने वाले किसी ज्ञानी को देखने से स्वभाव का निराकुल सहज आनंद नहीं आ सकता; किन्तु सत्समागम से स्वय जानकर और फिर नित्य असंयोगी पूर्णस्वरूप को ज्ञान में दृढ़ करके अंतरंग में स्वाश्रय शुद्धनय से अभेदस्वभाव का अनुभव करे तो विकल्प भेदरहित एकाकार शुद्ध आत्मस्वरूप के आनद के स्वाद का अनुभव होता है।

त्रिकाल के ज्ञानियों ने यही सूक्ष्म तत्त्व कहा है, उसकी प्राप्ति के लिये किसी बाह्य साधन का अवलंबन है ही नहीं, ऐसा निरपेक्ष तत्त्व वीतराग का मार्ग है। उसका विरोध करने वालों को तत्त्व की खबर नहीं है। जो अनत शुद्धता से विपरीत हुआ वह अशुद्धता में अनता है और जो अनुकूल होता है वह स्वभाव की शक्ति में अनता है। जो विकार में अनतगुनी विपरीतता कहता है वह भी स्वतंत्र है, उसकी पात्रता के बिना अनत तीर्थंकरों का साक्षात् उपदेश भी उसके लिये निमित्त नहीं हो सकता। यदि दूसरे के आधार से समझ में आ सकता हो तो स्वतन्त्रता ही न रहेगी। तत्त्व विषय भले ही ज्ञानी के पास से ही सुनने में आये किन्तु अपनी निज की तैयारी के बिना समझ में नहीं आ सकता।

पर-संयोग के आश्रय से उत्पन्न शुभभाव क्षणभर में बदलकर अशुभ-भाव होकर नरक निगोद में खींच ले जायगा, इसलिये अखण्ड निर्मल-स्वभाव का आश्रय कर। वह नित्य स्थिर रहेगा, वह किसी भी समय और किसी भी सयोग मे बदलेगा नहीं।

'अपने पुरुषार्थ के द्वारा' कहकर आचार्यदेव ने अद्भुत अमृत प्रवाहित किया है। कोई कहता है कि—कर्म बाधा देते है, जब काल पके तब धर्म हो; कोई साधन मिले तब धर्म करे। ऐसा कहने वाले सभी लोगों का निषेध करके आचार्यदेव कहते है कि मात्र आत्मा से, स्वाश्रय से चाहे जिस क्षेत्र में चाहे जिस काल में धर्म हो सकता है।

स्वभाव तो जब देखो तब स्वयं नित्य एकरूप ज्ञानानन्द शांतिरूप ही है। पर—निमित्त के भेद से रहित निर्विकार वीतराग ज्ञानमूर्ति है।

अहो! इस अपूर्व ग्रंथ में कैसा तत्त्व भरा हुआ है। प्रत्येक गाथा में अपूर्व अमृत निहित है। ऐसी अपूर्व बात जहाँ तहाँ सुनने को नहीं मिलती इसलिये किसी को नई लगे और यदि पूर्ण श्रद्धा न जमे तो भी तीनकाल और तीनलोक में यह सत्य बात बदल नहीं सकती। यदि समझ में न आये तो परिचय प्राप्त करके अविरोध स्वभाव को समझकर मानना ही चाहिये।

यदि रुपया कमाना हो तो उसमें कोई संयोग अथवा काल की प्रतीक्षा नहीं करता, किन्तु धर्म के लिए बहाने बताये जाते है कि ऐसा होना चाहिए और वैसा होना चाहिये। जिसे आत्मा की रुचि होगई है वह वायदे नहीं किया करता; वह कालदोष अथवा क्षेत्रदोष नहीं बतलाता। अनंत जन्म-मरणरूप भव के त्रास से मुक्त होने का उपाय सुनने को मिले और तैयार न हो तो समझना चाहिये कि उसे आत्मा की रुचि नहीं है।

निर्विकार दृष्टि को भूलकर बाह्य प्रवृत्ति को ही धर्म मानने वाले अन्तरंग के सत्यधर्म को न पहचाने तो वस्तु का जो निरावलंबी स्वाश्रित मार्ग है वह त्रिकाल में भी नहीं बदल सकता। पुण्य से, शुभ से, देह की क्रिया से अर्थात् पराश्रय से धर्म मानने वालों को सर्वज्ञभगवान ने मिथ्यादृष्टि कहा है। इसप्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने डंके की चोट जगत् के समक्ष घोषित किया है। सत्य गोप्य नहीं है और वह ऐसा भी नहीं है कि जिसकी बात विशाल सभा में नहीं की जा सकती हो।

जैसे कोई अपने घर पाँच सेर सोना लाये तो उसे देखकर ही स्त्री को संतोष हो जाता है कि इसमें से भविष्य में गहने बनेंगे। उन गहनों कि सारी अवस्था-कारीगरी वर्तमान में सोने में निहित है। सोने में गहनेरूप होने की पूरी शक्ति है ऐसा विश्वास वर्तमान में है, इसी-प्रकार चैतन्य आत्मा अखण्ड ज्ञानानंद की मूर्ति है उसे त्रिकाल की

संपूर्ण अवस्था और अनंतगुण के पिंडरूप वस्तुरूप में वर्तमान में लक्ष्य करके अभेद ध्रुवरूप देखे तो उसमें केवलज्ञान केवलदर्शन अनंतसुख और अनंतवीर्य इत्यादि समस्त निर्मल अवस्थाऐं वर्तमान में ही शक्तिरूप में प्राप्त हैं। वह क्योंकर प्रगट होगी इसकी चिंता अखण्ड ध्रुवदृष्टि वाले को नहीं होती। अखण्ड परमार्थ की दृष्टि के बल से निर्मल पर्याय प्रगट होकर एकरूप सामान्य स्व-द्रव्य में मिल जाती है। इसलिये त्रिकाल एकरूप ज्ञायक आत्मा को देखने वाली अखण्ड ध्रुवदृष्टि में किसी अवस्था के भेद अथवा प्रकार का विकल्प नहीं उठता। ऐसा आत्मदर्शनरूप श्रद्धा का जो अभेद विषय है वह परमार्थ है और वही भूतार्थ-सत्यार्थ कहने योग्य है।

यदि आत्मा एकांत नित्य ही हो और अवस्था से बदलने का उसका स्वभाव ही न हो तो दुःख दूर करने का उपाय करने को और यथार्थ ज्ञान करने को कहना ही वृथा होजायगा। किन्तु आत्मा एकान्तरूप से अभेद नही है उसमें पराश्रय से, अज्ञानभाव से वर्तमान में रागद्वेष होते है और अविकारी स्वभाव की प्रतीति के द्वारा भीतर स्थिर होकर राग को दूर करके निर्मल अवस्थारूप भेद भी व्यवहार से आत्मा में हैं।

राग-द्वेष विकार त्रिकाली ज्ञायक शक्तिरूप वस्तु में नहीं है किंतु वर्तमान अवस्था में है। यदि वर्तमान अवस्था में भी (संसारी जीवों के) विकार न हो तो 'तू समझ; रागद्वेष को दूर करके पूर्ण निर्मलता प्रगट कर' इसप्रकार विकार को दूर करने की बात ही क्योंकर कही जा सकेगी ?

शुद्धपरमार्थदृष्टि का विषय अभेद है यह कहने में समस्त द्रव्य को पर से भिन्न और निज से अभिन्न कहने की अपेक्षा है; किंतु वर्तमान अवस्था में भेदवस्तुत्व तथा विकार में पर-निमित्त की उपस्थिति यदि कोई वस्तु ही न हो तो जैसे वेदांत मतवाले भेदरूप अनित्य को देखकर अवस्तु मायास्वरूप कहते हैं और सर्वव्यापक एक अभेद नित्य शुद्ध

ब्रह्म को वस्तु कहते है वैसा सिद्ध हो जायगा । और ऐसा होने से सर्वथा एकात शुद्धनय के पक्षरूप मिथ्यादृष्टि का ही प्रसंग आजायगा ।

सर्वज्ञ वीतराग ने पूर्वा पर विरोध रहित पर से भिन्न अविकारी स्वरूप भेद-अभेदरूप से कहा है । उसे मध्यस्थ-शातदृष्टि करके अविरोधी सत्य को स्वीकार करके उसका न्याय से आदर करके अंतरंग में पचाना चाहिये ।

एक कूटस्थ ब्रह्म को मानने में क्या दोष है सो यहाँ बतलाते है:-

(१) यदि वस्तु एक ही हो और दूसरी वस्तु न हो तो समझने वाला और समझाने वाला इसप्रकार का भेद नहीं रह सकता । भेद तो प्रत्यक्ष है फिर भी भेद को यदि भ्रम माने तो जानने वाले का ज्ञान मिथ्या है ।

(२) क्षेत्र से यदि सत्र सर्वव्यापक हो तो भी उपरोक्त दोष आता है।

(३) काल से आत्मा नित्य ही हो और वर्तमान अवस्था से बदलना न होता हो अर्थात् यदि एकात नित्य ब्रह्म वस्तु हो तो अशुद्धता को दूर करके शुद्धता को प्रगट करना ही नही बन सकेगा ।

(४) भाव से यदि सभी आत्मा एक शुद्ध ब्रह्मरूप पूर्ण ज्ञानगुण मात्र हो और कर्म-शरीरादि का संबंध न हो अर्थात् भेदरहित कार्य-कारण रहित हो तो इसप्रकार एकात मानने से मिथ्यादृष्टिरूप अज्ञान का प्रसंग आयगा ।

सर्वज्ञ वीतराग का निर्दोष उपदेश अपेक्षा पूर्वक यथार्थ धर्मों को कहनेवाला है । एक-एक वस्तु पर से भिन्न और अपने से अभिन्न है। उसमें नित्य-अनित्य भेद-अभेद, और शुद्ध-अशुद्ध इत्यादि जो प्रकार हैं उसप्रकार मानना सो अनेकांत है । एकवस्तु में वस्तुत्व निष्पादक (उपजाने वाली) परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना सो अनेकात है ।

आत्मा को अविकारी कहने पर उसमें विकार की अपेक्षा आजाती है। विकार और अविकार दोनों एक भाव नहीं हैं किन्तु दो हैं। वास्तविक त्रिकाली स्वभाव में राग-द्वेष विकार नहीं है किन्तु अवस्था में निमित्ताधीन विकार है। यदि अवस्था में भी विकार न हो तो संसार में दुःख कौन भोगे ? देह-इन्द्रियों को सुख-दुःख की खबर नहीं होती इसलिये प्रत्येक आत्मा भिन्न है और जड़परमाणु भिन्न हैं। यदि जीव को विकृत होने में निमित्तरूप से अन्यवस्तु है ऐसा न माने और वस्तुरूप से सबको मिलाकर एक आत्मा माने, क्षेत्र से सर्वव्यापक जड़ में भी माने, काल से एकात नित्य कूटस्थ माने, गुण से नित्य ब्रह्म-रूप अभेद माने, भाव से बिल्कुल शुद्ध वर्तमान अवस्था में भी विकार रहित माने तो ऐसे एकांतवादी से पूछना चाहिये कि राग-द्वेष की आकुलता कौन करता है ?

यदि कोई कहे कि 'भाग्य ही सुखी-दुःखी करता है, वही बनाता-बिगाड़ता है तथा इन्द्रियों के विषयों को इन्द्रियां ही भोगती हैं; उससे हमें क्या लेना देना हैं ?' तो उसे शरीर पर अग्नि का डमा देकर देखना चाहिये कि कैसा समभाव रहता है ? दोष (राग-द्वेष) तो करे स्वयं और उसका आरोप लगाये दूसरे पर ? भाग्य और ईश्वर ही सब कुछ करता है तथा बनाना-बिगाड़ना भी उसी के आधीन है यों मानना सो मूढ़ता है, अविवेक है।

सर्वज्ञ वीतराग के मार्ग में विकल्प को अविद्यमान कहने का कारण यह है कि जो विकल्प है सो दूर हो सकता है, क्योंकि वह संयोगाधीन है। वह वर्तमान क्षणिक अवस्था में है। उसके अतिरिक्त अखण्ड त्रिकाली ध्रुवस्वभाव वर्तमान में पर-निमित्त के भेद से रहित पूर्ण निर्मल है उस परमार्थ के लक्ष से विकार दूर हो सकता है इसलिये उसे अभू-तार्थ कहा है।

त्रिकाली भूतार्थ ध्रुवस्वभाव को मुख्यतया लक्ष्य में लेकर यदि उसमें अभेद परमार्थदृष्टि का बल न लगावे तो वर्तमान विकारी अवस्था दूर

नहीं होगी । इसीप्रकार यदि यह माने कि आत्मा सर्वथा भूल ही नहीं करता तो वह भूल-विकार को दूर करने का उपाय नहीं करेगा और कभी भी भूल दूर न होगी । विकल्प को नष्ट करने के लिये अभेद का अवलंबन कहा है। निर्मल, निर्विकल्प, अभेद का विषय करने वाली श्रद्धा का अखण्ड लक्ष करने के लिये तथा अखण्ड गुण में स्थिरता-एकाग्रता करने के लिये अखण्ड गुणरूप वस्तु पर बल करे तो विकल्प छूटकर निर्विकल्प दशा का अनुभव होता है । इसी अपेक्षा से कहा है कि भेद-अभेदरूप से वस्तु को समझकर अखण्ड, निर्मल, ज्ञायक, ध्रुवस्वभाव में अभेद लक्ष्य करे तो विकल्प की पकड़ छूटकर भेद का लक्ष्य गौण होने से राग-द्वेष दूर हो जाता है । वहाँ ऐसे विकल्प नहीं करने पड़ते कि राग-द्वेष को दूर करूँ या पुरुषार्थ करूँ ।

त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान ने व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है क्योंकि संयोगाधीन शुभाशुभ विकारीभाव क्षणिक अवस्था मात्र के लिये हैं, उसका पक्ष अथवा उसके भेद का लक्ष्य रखने का फल संसार ही है। अभेद स्वभाव के लक्ष्य से विकारीभाव दूर हो सकता है, जो दूर हो सकता है वह अभूतार्थ है।

कर्म के संयोग से शुभाशुभ विकार होता है उसे अपना न माने इतना ही नहीं किन्तु गुण-गुणी के भेद पर भी लक्ष्य न करे और त्रैकालिक ध्रुव एकरूप निर्मल स्वरूप को अभेदरूप से लक्ष्य में ले सो शुद्धनय है ।

जैसे पानी स्वभाव से गरम नहीं है, वह वर्तमान अवस्था में अग्नि के निमित्त से गरम है, वह उष्णता पानी का वास्तविक स्वभाव नहीं है, यदि इसप्रकार विश्वास करे तो पानी को शीतल करने का पुरुषार्थ करके ठंडा पानी प्राप्त किया जा सकता है । अग्नि के निमित्त से पानी गरम होता है यह न माने और अग्नि को भी न माने तथा यह भी न माने कि पानी की उष्ण अवस्था पर-संयोग से हुई है जो कि दूर की जासकती है तो कहना होगा कि उसे पानी के वास्तविक शीतलस्वभाव

की खबर नहीं है। जो पानी को गरम ही मानता है वह उसे ठंडा करने का उपाय नही करेगा, किन्तु पानी का शीतलस्वभाव उष्ण अवस्था के समय भी बना रहता है यह जानले तो वर्तमान अग्नि के संयोग से उष्ण अवस्था का लक्ष्य गौण करके संपूर्ण शीतलस्वभाव पर दृष्टि कर सकता है। उष्ण अवस्था वर्तमान मात्र के लिये है उसका ज्ञान करे और उष्ण अवस्था के समय भी पानी में शीतलता भरी हुई है यो दोनों प्रकार मानकर गर्म पानी को ठडा करे तो शीतलस्वभाव ही रहता है। इसप्रकार पानी के शीतल स्वभाव को जानना सो परमार्थ दृष्टि है और अग्नि के निमित्त से पानी वर्तमान में उष्ण है, इसप्रकार पर की अपेक्षा से जानना सो व्यवहार है।

भगवान आत्मा वीतराग ज्ञानानन्दघन है वह स्वयं उसकी वर्तमान अवस्था में कर्म के संयोगाधीन होता है तब अज्ञानी यह मानता है कि मैं रागद्वेष पुण्य-पाप का कर्ता हूँ, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है किन्तु जो स्वाश्रयी दृष्टि के द्वारा वर्तमान निमित्ताधीन विकार का लक्ष्य गौण करके त्रैकालिक एकरूप निर्मल ध्रुवस्वभाव को वर्तमान पूर्ण सामर्थ्य-रूप अभेदरूप से जानता है सो परमार्थदृष्टि है। इसप्रकार द्रव्यदृष्टि से आत्मा शुद्ध है, स्वाश्रित स्वभाव से त्रिकाल (वर्तमान में भी) शुद्ध है और पराश्रयरूप व्यवहार से वर्तमान अवस्था में अशुद्ध भी है। इसप्रकार एक वस्तु में दो प्रकार मानना सो स्याद्वाद है। यदि सब एक ही हो-शुद्ध ही हो और वर्तमान अवस्था में (संसारी जीवों की) भूल-अशुद्धता न हो तो ऐसे उपदेश की आवश्यकता ही न रहे कि समझ को प्राप्त कर, भूल को दूर कर अथवा राग को दूर करके निर्मल होजा।

व्यवहारनय अभूतार्थ है, इसका अर्थ यह नहीं है कि वर्तमान अवस्था सर्वथा अयथार्थ है। जो वस्तु है उसका सर्वथा नाश नहीं होता किन्तु मूल वस्तुरूप में स्थिर रहकर प्रत्येक वस्तु अपनी अवस्था को बदला करती है। अवस्था के परिवर्तन को प्रतिक्षण देखकर यदि कोई उसे भ्रम-माया कहे तो वह गलत है। जो यह कहता है कि रस्सी

में सर्प की मान्यता कर लेना भ्रांति है उसे यह भी स्वीकार करना ही होगा कि रस्सी अलग है, उसमें सर्प की कल्पना करने वाला अलग है और सर्प अलग है । इसप्रकार तीन भिन्न वस्तुएँ हैं ।

प्रत्येक वस्तु भिन्न-भिन्न है । राग-द्वेष करने में पराश्रयरूप अन्य वस्तु की उपस्थिति होती है । एक से अधिक वस्तु हो तभी भ्राति होती है और तभी दूसरी वस्तु निमित्त कहलाती है ।

जैसे अकेला सोना अपने कारण से अशुद्ध नहीं है किंतु अन्य धातु के आरोप से वर्तमान अवस्था में वह अशुद्ध कहलाता है। इसीप्रकार आत्मा के संबध में अनादिकाल से प्रत्येक समय के प्रवाहरूप से वर्तमान में विद्यमान अवस्था में राग-द्वेष अज्ञानरूप भ्राति होने का मूल कारण अपना अज्ञान है और उसके सयोग से निमित्तरूप कर्म अन्यवस्तु है । इसप्रकार पराश्रय से होने वाले विकार को अपना स्वरूप मानना सो अज्ञान है । 'पुण्य-पाप, राग-द्वेष वर्तमान में हैं ही नहीं, इन्द्रियों के विषय को इन्द्रिया ही भोगती है' इसप्रकार अपने को अखण्ड साक्षीब्रह्मरूप ही एकाततः माने तो भी वह अज्ञानी-स्वच्छंदी कहलायगा । भेदवस्तु ही नहीं तथा मलिनता आत्मा की अवस्था में व्यवहार से भी नहीं है यह कहाँ से निश्चय किया ? क्रोध, मान, माया, लोभ, वासना और राग-द्वेष इत्यादि है, इसीलिये तो वर्तमान में दिखाई देते हैं यदि वे सर्वथा न हो, राग-द्वेष आकुलता वर्तमान अवस्था में भी न हो तो अतीद्रिय आनंद प्रगट होना चाहिये किन्तु वर्तमान अवस्था में वैसा नहीं है । स्वभाव में शक्तिरूप से अनंत आनद है किन्तु वर्तमान में वह आनंद प्रगटरूप में नहीं है । यदि वर्तमान में पूर्ण निर्मल आनंद प्रगट हो तो कोई पुरुषार्थ करने की, यथार्थ ज्ञान करने की अथवा राग-द्वेष को दूर करने की आवश्यकता ही न रहे अर्थात् ऐसी किसी भी बात के लिये अवकाश न रहे ।

बहुत से जीवों ने अनंतकाल में कभी भी एक क्षणभर के लिये यथार्थ तत्त्व का विचार नहीं किया। जैसे पर्वत पर बिजली गिरने से जो

दरार पड़ जाती है वह फिर नहीं जुड़ सकती, इसीप्रकार यदि एकबार अपना अनादिकालीन अज्ञान दूर करके ध्रुववस्तु की प्रतीति करे तो ग्रंथभेद हो जाय अर्थात् रागद्वेषरूपी मिथ्यागाँठ का नाश हो जाय। रागद्वेषरूप विकार, पर का कर्तव्य और देहादि की क्रिया का स्वामित्व मानना सो मिथ्यात्व है उसका स्वाश्रय के द्वारा नाश करके त्रैकालिक निर्मल निरपेक्ष अखण्ड स्वभाव के लक्ष्य से सम्यग्ज्ञान का प्रकाश करे तो फिर कदापि अज्ञान न हो अर्थात् फिर यह कभी नहीं माना जायगा कि आत्मा और रागद्वेष एक है।

यदि वस्तुदृष्टि से देखा जाय तो आत्मा ध्रुवरूप से स्थिर रहता है इस अपेक्षा से वह नित्य है। यदि वर्तमान पर्यायदृष्टि से देखा जाय तो क्रमशः अवस्था को बदलने का स्वभाव है, इस अपेक्षा से अनित्य है। इसप्रकार समस्त गुणों को न मानकर एक ही गुण को माने अथवा सभी में एक ब्रह्मरूप वस्तु की सत्ता से अभेदभाव माने तो वह ऐकातिक मिथ्या मान्यता है।

सर्वज्ञ के उपदेश में एकपक्षरूप कथन नही है अर्थात् सर्वथा एकान्तशुद्ध, एकान्तअशुद्ध अथवा नित्य या अनित्य इसप्रकार सर्वथा एकान्त न कहकर प्रयोजनवश मुख्य–गौणदृष्टि करके प्रत्येक स्वभाव को यथार्थ बतलाते हैं। आत्मा त्रैकालिक द्रव्यदृष्टि से शुद्ध है और वर्तमान अवस्था में परावलंबनरूप विकार करता है उतना एक–एक समय की अवस्थारूप से अशुद्ध भी है। इसप्रकार जो स्वाश्रित स्वभाव है सो निश्चय है और पराश्रित भेद सो व्यवहार है। यह दोनों प्रकार जान लेना चाहिये।

'मैं रागी–द्वेषी हूँ; पुण्य करने योग्य है, देह की क्रिया करने से गुण होता है' इसप्रकार अज्ञानरूप व्यवहार का ग्रहण अर्थात् परावलंबन का मिथ्या आग्रह संसारी जीवों के अनादिकाल से चला आरहा है। निर्विकारी अभेद ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करने के बाद भी वर्तमान अवस्था में शुभरागरूप भाव दिखाई तो देता है किंतु उसे सम्यग्दृष्टि रखने

योग्य अथवा आदरणीय नहीं मानता । शुभ-अशुभ विकार का स्वामित्व अथवा कर्तृत्व मानना सो उसे सर्वज्ञदेव ने मिथ्यादर्शन शल्य कहा है ।

' स्वतंत्ररूप से करे सो कर्ता और कर्ता का इष्ट सो कर्म है । जो आत्मा को देहादि परवस्तु की क्रिया का कर्ता तथा पुण्य-पाप विकार का कर्ता मानता है उसकी मान्यता विकृत है उस विकार का वह मानने-वाला स्वयं कर्ता है और विकार उस कर्ता का (कर्म) कार्य है । जिनने अविकारी निर्मल स्वभाव को श्रद्धा में स्वीकार नहीं किया वे अनादिकाल से विकारी कर्तव्य का उपदेश देने वाले हैं ।

ज्ञानी का इष्टकर्म ज्ञानभाव है इसलिये आत्मा ज्ञान का ही कर्ता है वह सदा अपने अरूपी ज्ञानस्वभाव से ज्ञातास्वरूप है इसलिये ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कर सकता । जिसे ऐसे स्वभाव की प्रतीति नहीं है वह अज्ञानभाव से यह मानता है कि मैं पर का कर्ता हूँ, देहादि की क्रिया कर्ता हूँ, पुण्य का सहारा चाहिये, ऐसे अशुद्ध व्यवहार को ग्रहण करने वाले मिथ्यादृष्टियों का संसारपक्ष अनादि से चला आरहा है और अनंतकाल तक चला जायगा । आश्चर्य तो यह है कि ऐसा उपदेश देने वाले और सुनने वाले बहुत होते हैं ।

बाह्य क्रिया करने की बात लोगों के मन में जल्दी जम जाती है जैसे इतनी शारीरिक क्रिया करो, जप करो, दान करो तो धर्म होगा । और फिर यह लिया वह छोड़ा इत्यादि सब दिखाई देता है यों मानता है क्योंकि अनादि काल से वैसा परिचय है इसलिये उन बाह्य बातों का मेल अनादिकालीन मिथ्या मान्यता के पुराने खाने में फट फिट कर देता है । और जब उससे उल्टी बात सुनता है कि पुण्य से, शुभभाव से त्रिकाल में भी धर्म नहीं हो सकता, पुण्य विकार है, विकार से अविकारी धर्म कदापि नहीं हो सकता तो वह चिल्ला उठता है कि अरेरे ! मेरे व्यवहार पर तो पानी फेर दिया । पैसे वालों को दानादि का अभिमान और देह पर दृष्टि रखने वालों को उनकी मानी हुई क्रिया का अभिमान है किंतु जब वे अपनी मान्यता से विपरीत

बात सुनते हैं तब उन्हें बड़े जोर का धक्का लगता है किंतु फिर भी सत्य को क्यों छुपाया जाय ?

जहाँ देखो वहाँ व्यवहार का झगड़ा है और जिससे जन्म-मरण दूर हो सकता है ऐसे तत्त्वज्ञान का विरोध दिखाई देता है। सब अपने भाव से स्वतंत्र हैं। व्यवहार का झगड़ा अनादिकाल से संसारपक्ष में है और अनंतकाल तक रहेगा।

श्री आनंदघनजी कहते हैं कि—

परमारथ पंथ जे कहे, ते रंजे एक तंतरे,
व्यवहारे लख जे रहे, तेहना भेद अनंतरे।

परमार्थस्वरूप आत्मा को अविरोधरूप में समझने वाले और उसका उपदेश देने वाले बिरले ही होते हैं। पराश्रयरूप व्यवहार का पक्ष-देह की क्रिया हम करें तो हो, समाज में ऐसा सुधार करदें, ऐसा न होने दें, अब बातें करने का समय नहीं है, काम किये बिना बैठे रहने से नहीं चलेगा। इसप्रकार मानने वाले और कहने वाले अनादिकाल से बहुत से लोग हैं। मानों परवस्तु अपने ही आधीन है और स्वयं पर के ही आधार पर अवलंबित है। जो यह मानता है कि पर मेरा कार्य कर सकता है वह अपने को अशक्त मानता है; उसे अपनी स्वाधीन अनंत शक्ति का विश्वास नहीं है, इसलिये वह पराश्रयरूप व्यवहार को चाहता है। व्यवहार करने योग्य है, शुभभावरूप विकार किये बिना अविकारी नहीं हुआ जा सकता, ऐसी विपरीत मान्यतारूप मिथ्या आग्रह को जीव ने अनादिकाल से पकड़ रखा है और ऐसे ही उपदेशकों के द्वारा उन बातों को पुष्टि मिला करती है।

"बोये पेड़ बबूल तो
आम कहाँ से खाय"

सर्वज्ञभगवान ने भी अशुभ से छूटकर परमार्थ वस्तु को समझने में बीच में आनेवाले शुभव्यवहार का उपदेश शुद्धनय में निमित्तमात्र जान-

कर बहुत किया है किन्तु उसका फ़ल संसार ही है। जीव अन्तरंग तत्त्व की सूक्ष्म बात को तो समझता नहीं और जहाँ बाह्य में व्रत तप आदि शुभभाव की प्रवृत्ति की बात आती है वहाँ यह अत्यंत प्रसन्न होकर और उत्साहित होकर कहता है कि वह हमारे व्यवहार की बात, आई। वाह्य प्रवृत्तिहीन की श्रद्धा और स्थिरता क्या है, विकल्प रहित मन के संबंध से रहित अन्तरंग का धर्म क्या है यह कभी नहीं सुना तो वह समझे कहाँ से ?

भाईयो ! इस मनुष्यभव में उस ज्ञान प्राप्ति का उत्तम सुयोग मिला है जो अनंतभव के दुःख दारिद्र को दूर कर सकता है। बारंबार ऐसा सुयोग नहीं मिला करता। तू प्रभु है, तुझे अपनी दया नहीं आती। जन्म-मरण की पराधीनता का अपार त्रास है। बहुत हो चुका ! अब क्षणभर के लिये भी संसार नहीं चाहिये। राग-द्वेष, अज्ञान रहित जो सत्स्वरूप है उसी को समझना है, उसी में स्थिर होना है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं चाहिये; ऐसा निर्णय करके पूर्व मान्यता का आग्रह यथार्थ ज्ञान के द्वारा छोड़कर निर्दोष सत्समागम से स्वरूप को समझना चाहिये। अपनी तैयारी के बिना, आतरिक उत्साह के बिना क्या हो सकता है ? जिनवाणी में अशुभ से बचने के लिये शुभ का उपदेश दिया गया है किन्तु उस शुभ की मर्यादा पुण्यबंध तक ही सीमित है।

व्यवहार भेद करने के लिये नहीं है किन्तु जो परमार्थस्वरूप वीतरागी, निर्विकल्प, ज्ञायकस्वरूप है उसे पकड़कर उसमें स्थिर होने के लिये है, ऐसा ध्येय पहले से ही होना चाहिये। परनिमित्त के भेद से रहित अंतरंग में वस्तु परिपूर्ण है। यदि यह समझले तो यह कहा जा सकता है कि बीच में आनेवाला व्यवहार (शुभराग) उपचार से निमित्तरूप से उपस्थित था, किन्तु शुभराग तो संसार ही है, शुभ के फल से बड़ा देव हो या राजा हो और अशुभ के फल से भले ही नरक का नारकी हो; वे दोनों संसारपक्ष की अपेक्षा से समान ही हैं, इसलिये शुभभावरूप व्यवहार से भी आत्मा को कोई लाभ नहीं है ऐसा जान

लेने पर भी व्यवहार आयेगा, किन्तु यदि उसमें धर्म माने तो वह श्रद्धा मिथ्या है।

प्रथम भूमिका में भी साधारण सज्जन के योग्य अच्छा आचरण तो होता ही है। ब्रह्मचर्य के प्रति प्रीति होती है, अनीति का त्याग होता है, सत्य का आदर होता है, किन्तु यह सब कुछ अपूर्व नहीं है ऐसा तो अनंतबार चित्तशुद्धि का कार्य करके और उसीमें सब कुछ मानकर जीव अटक गया है तथापि उसका (शुभ का) निषेध नहीं है। क्योंकि जो तीव्र क्रोध मान माया लोभ में फँसा हुआ है उसके अंतरंग में बिल्कुल अविकारी सच्चिदानंद भगवान आत्मा की बात कैसे जम सकती है? इसलिये पहले अविरोधी तत्त्व को समझने की पात्रता के लिये शुभ व्यवहार के आँगन में आना चाहिये, किन्तु यदि शुभ में ही रत होकर उसकी अपेक्षा से रहित, निर्मल अविकारी स्वभाव की श्रद्धा न करे तो चित्तशुद्धि के उस शुभ व्यवहार का फल संसार ही है जिसे जीव अनंतबार कर चुका है।

निरावलम्बी तत्व की दृष्टि होने के बाद जबतक वीतराग नहीं होजाता तबतक अशुभ से बचने के लिये शुद्धदृष्टि के लक्ष्य से युक्त व्रत, तप, पूजा, भक्ति, प्रभावना इत्यादि शुभभाव सम्बंधी प्रवृत्ति में ज्ञानी भी लगता है, परन्तु जो उस शुभभाव में ही धर्म मानता है अथवा यह मानता है कि उसके द्वारा गुण प्रगट होते हैं वह संसार में परिभ्रमण करता है।

जीव को कभी शुद्धनय का पक्ष नहीं हुआ। पर का आश्रय, उपाधि अथवा विकार मुझमें नहीं है, मैं अविनाशी अखण्ड ज्ञाता-द्रष्टा हूँ ऐसे शुद्धनय से जीव ने शुद्धस्वभाव की दृढ़ता कभी अनन्तकाल में भी नहीं की। मैं परनिमित्त के सम्बन्ध से रहित अकेला स्वतंत्रतया पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ ऐसी श्रद्धा का बल कभी अन्तरंग में उद्भूत नहीं हुआ।

आचार्यदेव कहते हैं कि हे प्रभु! तुझे अपनी ही बात समझ में न आये यह कैसे हो सकता है। कभी अन्तरंग में परमार्थ से हिताहित

का निर्णय नहीं किया, उसका उपदेश भी प्राय: नहीं मिलता, क्वचित् कदाचित् परमार्थ का उपदेश होता है किंतु जगत् का बहुभाग बाह्य-प्रवृत्ति में, पुण्य की शुभ क्रिया में ही धर्म मानता है।

'इस जगह पर पाँच हजार रुपया खर्च कर दिये जावें तो धर्म-लाभ होगा; यदि रथयात्रा या संघयात्रा निकाली जाय तो महती धर्म प्रभावना होगी' इसप्रकार बाह्य में रुपये-पैसे से धर्म की मान्यता बना लेते हैं अर्थात् आत्मा को जड़ का कर्ता मान लेते हैं किन्तु सच तो यह है कि बाहर की एक भी क्रिया अथवा संयोग-वियोग आत्मा के आधीन नहीं है क्योंकि दोनों द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं। अनंत पुद्गल पर-माणु सब स्वतंत्र हैं और आत्मा भी स्वतंत्र है एक दूसरे का कुछ कर नहीं सकता।

उपसंहार

कोई कहता है कि यदि ऐसा माना जायगा तो दान, सेवा, औष-धालय इत्यादि परोपकार के कार्य कोई नहीं करेगा। किन्तु वह यह नहीं जानता कि कोई किसी का कर ही क्या सकता है? जिस समय जो कुछ होना होता है वह होता ही रहता है उसमें अज्ञानी यह मान लेता है कि मैंने किया। ज्ञानी के तृष्णा को कम करने का जैसा शुभभाव होता है वैसा अज्ञानी नहीं कर सकता। बाह्य के संयोगानुसार तृष्णा कम या बढ़ नहीं होती, किन्तु अपने भाव में अपने आप से ही तृष्णा की घटाबढ़ी स्वयं होती रहती है।

ऐसी सूक्ष्म बात कोई मनुष्य नहीं समझ पाता इसलिये वह कहता है कि रुपये-पैसे से धर्म होता हो तो बताइये; मैं पच्चीस-पचास हजार रुपया खर्च करने को तैयार हूँ, क्योंकि वह जानता है कि इतना रुपया खर्च कर देने पर भी मेरे पास उससे कहीं अधिक संपत्ति शेष रह जायगी। किन्तु इससे तो वह परवस्तु मेरी है, मैंने दूसरे को वह दी, इसप्रकार पर का स्वामित्व बनाकर कर्ता होता है। जबतक वह पर के कर्तृत्व की मान्यता को नहीं छोड़ेगा तबतक वह अज्ञानभाव-बंधनभाव

है। कुछ लोग कहते हैं कि मैं आसक्ति रहित और फल की इच्छा के बिना यह क्रिया करता हूँ, किंतु उसने जो यह माना है कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ यही पर के उपर की अनंत आसक्ति है।

ज्ञानी के शुभराग का भी आदर नहीं होता तथापि उच्चप्रकार का शुभराग होता है। जहाँ ऐसी भावना होती है कि परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है वहाँ तीव्र तृष्णा हो ही नहीं सकती। गृहस्थ दशा में ज्ञानी होगा तो वह दान, पूजा, प्रभावना इत्यादि में स्वभाव की प्रतीति के साथ तृष्णा को कम करके स्वभाव के प्रति संतोष बढ़ायेगा; अज्ञानी ऐसा कदापि नहीं कर सकेगा। अज्ञानी के पर का स्वामित्व है, इसलिये वह यदि पाँच हजार रुपये खर्च करेगा तो पर के अभिमान को लेकर वह यही गीत गाया करेगा कि मैंने पाँच हजार रुपया खर्च किये हैं। किन्तु जब ज्ञानी तृष्णा को कम करता है तब यदि कोई उससे कहे कि 'आपने बहुत बड़ा दान किया' तो वह मानेगा कि मुझे तो इसने जड़ पदार्थ का स्वामी बना दिया, यह तो उसके लिये गाली देने के समान हुआ। ज्ञानी समझता है कि रुपया-पैसा मेरा था ही नहीं, जिसे लोग दान कहते हैं वह (रुपया) तो अपने ही कारण से गया है, वह मात्र जड़ की क्रिया हुई है, मैं तो मात्र उसका ज्ञाता हूँ।

मैं निर्ममत्व, ज्ञाता-दृष्टा के रूप में—ज्ञातास्वरूप हूँ, तृष्णा रहित स्वभाव के लक्ष से तृष्णा को कम करके राग हीन करके समता की वह भाव मेरा था। इसप्रकार ज्ञानी किसी बाह्य प्रवृत्ति में स्वामित्व नहीं मानता, पर की क्रिया को अपना कर्तव्य नहीं मानता। अशुभभाव दूर करने पर जो शुभभाव रहता है वह भी मेरा भाव नहीं है, इसप्रकार धर्मी तो अविकारी धर्म का ही कर्ता रहता है, वह विकार का कर्ता कभी नहीं होता।

कुछ लोग कहते हैं कि इतनी सूक्ष्म बातें सुन समझकर हमें इतनी गहराई में उतरने का क्या काम है, राग-द्वेष ही तो दूर करना है न? तो जिस पर राग होता हो उस वस्तु का त्याग करदो, इससे राग भी

दूर हो जायगा। किन्तु भाई! रागरहित निरावलंबी तत्व के अस्ति स्वभाव को यथार्थ जाने बिना 'त्याग करो, राग को दूर करो' ऐसा कहने वाले नास्ति से (निज लक्ष्य के बिना-पर लक्ष्य से) अनित्य संयोगाधीन दृष्टि करके सन्नद्ध हुये हैं उनके वास्तव में राग का अभाव नहीं होगा। बहुत होगा तो मंदकषाय करेंगे, जिससे पुण्यबन्ध होगा। पर लक्ष्य से राग को कम करना चाहता है अर्थात् बाह्यक्रिया से गुण मानता है कि मैंने ऐसा किया, इतना त्याग किया, इतनी प्रवृत्ति की इसलिए इतने गुण प्राप्त किये, किन्तु क्या तुझमें गुण नहीं हैं। भीतर पूर्ण शक्तिरूप अनन्तगुण भरे हुए हैं उनका विश्वास कर तो उन अखण्ड गुणों के बल से निर्मलता प्रगट होगी।

निरावलंबी ध्रुव एकरूप परमार्थ ज्ञानस्वरूप की दृढ़तारूप स्वाश्रय का पक्ष जीव ने कभी नहीं किया। लोगों को अंतरंग सूक्ष्मतत्त्व की रुचि नहीं है इसलिये बाह्यचर्चा को सुनने के लिये बहुत से लोग इकट्ठे हो जाते है किन्तु तत्त्वज्ञान संबंधी बात जल्दी नहीं समझते। 'शुभ करनी के बिना, पुण्य का आधार लिये बिना धर्म नहीं होता, पुण्य तो आवश्यक है ही। साधन की अनुकूलता के बिना धर्म नहीं होता' ऐसी पराश्रय की बातें घर-घर सुनने को मिलती हैं, किन्तु उस सब लौकिक व्यवहार को छोड़कर गुण-गुणी का विचार करते हुए मन के संबंध से शुभ-विकल्प होता है वह भी मेरा नही है, इसप्रकार व्यवहार को गौण करके मात्र अखण्ड परमार्थ ध्रुवस्वभाव को लक्ष्य में लेने का उपदेश बहुत विरल है, क्वचित् कदाचित् ही मिलता है, इसलिये उपकारी श्री गुरुदेव ने ऐसे शुद्धनय के गृहण का फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश मुख्यता से दिया है।

अशुभभाव से बचने के लिये तो शुभ का अवलंबन ठीक है, किन्तु उस शुभभाव के द्वारा तीनलोक और तीनकाल में भी धर्म नहीं होसकता। यहाँ तो मान्यता को बदलवाने का उपदेश है। धर्म आत्मा का अविकारी स्वभाव है, उस स्वभाव को गुरु के द्वारा जानकर, यथार्थ ज्ञान का अभ्यास

करके, विपरीत धारणा का त्याग करके तथा यह मानकर कि मैं विकार का कर्ता नहीं हूँ, पुण्य के शुभ विकल्प मेरे स्वभाव में नहीं हैं तथा वह मेरा कर्तव्य भी नहीं है; ऐसा मानकर निर्मल पर्याय के भेद का लक्ष गौण करके अखण्ड ज्ञायक ध्रुवस्वभाव को श्रद्धा के लक्ष में लेना सो शुद्धनय का विषय है और उसका फल मोक्ष है। शुद्धनय का आश्रय लेने से सम्यग्दर्शन होता है। यह बात श्रावक और मुनि होने से पूर्व की है।

मैं आत्मा तो अखण्ड ज्ञायक ही हूँ, पर का स्वामी अथवा कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ, शुभ या अशुभ विकार मात्र करने योग्य नहीं है, इसप्रकार स्वभाव की अपूर्व प्रतीति गृहस्थ दशा में होसकती है। चाहे बड़ा राजा हो या साधारण गृहस्थ, स्त्री हो या पुरुष, वृद्ध हो या आठ वर्ष का बालक, किन्तु सभी अपने अपने स्वभाव से स्वतंत्र पूर्ण प्रभु हैं, इसलिये अन्तरंग में स्वभाव की प्रतीति कर सकते हैं।

जहाँ तक जीव व्यवहारमग्न है और बाह्य साधन से धर्म मानता है, क्रियाकाड की बाह्य प्रवृत्ति से गुण मानता है वहाँ तक पर से भिन्न अविकारी अखण्ड आत्मा निरावलंबी है ऐसा पूर्ण शुद्ध आत्मा के ज्ञान श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता।

इस विषय का विशेष श्रवण-मनन करना चाहिये और परमार्थ निर्मल वस्तु का निरंतर बहुमान होना चाहिये। अपनी सावधानी, उत्साह और पुरुषार्थ के बिना अपूर्व फल प्राप्त नहीं होता,

बारहवीं गाथा की भूमिका

जो परमार्थ से आदरणीय नहीं है तथापि परमार्थ में जाते हुये बीच में आजाता है वह व्यवहारनय किसी-किसी को किसी समय प्रयो-जनवान है, यह बात यहाँ कहते हैं।

पर-निमित्त के भेद से रहित एकरूप अखण्ड वस्तु को लक्ष्य में लेना सो निश्चय (परमार्थ) है और वीतराग, अविकारी पूर्णशुद्ध दृष्टि के अभेद विषय के बल से राग को दूर करके अंशतः अंतरंग में

स्थिरता-लीनता करना सो व्यवहार है। शुभभाव असद्भूत व्यवहार है। और जो आंशिक निर्मलता बढ़ती है वह सद्भूत व्यवहार है। निश्चय का विषय एकरूप श्रद्धा करना है उसमें साधक-साध्य जैसे निर्मल पर्याय के भेद नहीं हैं।

पूर्ण निर्मलदशा प्राप्त होने से पूर्व अल्प 'समय' के लिये व्यवहार आये बिना नहीं रहता। यदि इसप्रकार न माने तो उसे साधकभाव की खबर नहीं है। किसी भी यथार्थ प्रतीति के साथ ही यदि अंतर्मुहूर्त के लिये ध्यान में स्थिर होकर केवलज्ञान को प्राप्त करे तो उसमें भी बीच में निर्मलता के घोलन-मनन का सूक्ष्म विकल्परूप व्यवहार आये बिना नहीं रहता।

अभेद स्वभावी द्रव्य का बल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के प्रारंभ का और पूर्णता का कारण है। जिन्हे मोक्ष जाने में विलंब होता है वे अकषायदृष्टि सहित शुभराग में अर्थात् पूजा, भक्ति, स्वाध्याय, ध्यान इत्यादि में रुक जाते हैं। एतावन्मात्रेण व्यवहार किसी किसी के किसी समय होता है किन्तु वह वीतरागता के लिये कारणभूत नहीं होता। 'किसी समय कहने का आशय यह है कि सम्यग्दृष्टि आत्म-प्रतीति की भूमिका में निरन्तर ध्यान में नहीं रह सकता, इसलिये यह व्यवहार आये बिना नहीं रहता किंतु जब अभेद स्व-विषय करके ध्याता, ध्यान और ध्येय के विकल्प से कुछ छूटकर अन्तरंग में एकाग्र (स्वभाव में लीन) होता है उस समय शुभभावरूप व्यवहार नहीं होता। अर्थात् अभेद दृष्टि में स्थिरता के समय भेदरूप विकल्प छूट जाते हैं। जब आंतरिक स्वरूप में लीनता-स्थिरता है तब व्यवहार नहीं है। निश्चय दृष्टि में व्यवहार अभूतार्थ है।

सम्यग्दर्शन का विषय अखण्ड ध्रुवस्वभाव है, उसकी यथार्थ प्रतीति के साथ जब आत्मा एकाग्र होता है तब अभेद आनन्द का अनुभव होता है उस समय सिद्धपरमात्मा के समान अतीन्द्रिय आनन्द का आंशिक स्वाद मिलता है।

सम्यग्दृष्टि पुण्य-पाप के कर्तव्य को अपना नहीं मानता। मैं पुण्य-पाप के शुभाशुभ विकार का नाशक हूँ, जड़ परमाणु मात्र मेरा नहीं है, मैं पर का स्वामी नहीं हूँ, परमार्थ से मैं पुण्य-पाप रागादि का कर्ता नहीं हूँ, इसप्रकार स्वभाव की अखण्ड प्रतीति अन्तरंग से गृहस्थ दशा में भी सम्यग्दृष्टि के होती है।

जो शुभवृत्ति उठती है वह आत्मा के लिये लाभकारक नहीं है, सहायक नहीं है किंतु सम्यग्दर्शन होने से पूर्व और सम्यग्दर्शन होने के बाद चारित्र में स्थिर होने से पहले अशुभभावों को दूर करने के लिये शुभभावों का अवलंबन आता है उसे व्यवहार कहा जाता है।

कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र, और उनके द्वारा कहे गये मिथ्या धर्म की श्रद्धा का त्याग तथा सच्चे देव गुरु शास्त्र और सर्वज्ञ वीतराग के द्वारा कहे गये धर्म का आदर सर्वप्रथम होना चाहिये। जबतक सत्य की ओर की भक्ति जागृत नहीं होती तबतक परमार्थस्वभाव की महिमा नहीं आती। पहले तृष्णा मोह ममता को कम करके राग की दिशा की ओर से करवट बदल लेना चाहिये। तीव्र क्रोधादि कषाय को मंद करके, सच्चे देव शास्त्र गुरु की पहिचान करके, उसके प्रति बहुमान करके, रुचि पूर्वक श्रवण मनन के द्वारा अंतरंग में स्वाधीन परमार्थ का विचार करना चाहिये। जो पहले शुभभाव नहीं करता उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता, किन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि शुभभाव सम्यग्दर्शन का कारण है।

सच्चे देव गुरु शास्त्र और नवतत्त्वों की पहिचान करके तथा उस ओर शुभभाव को लगाकर राग को सूक्ष्म करके अंतरंग के आँगन में आये विना सम्यग्दर्शन नहीं होता। किन्तु शुभभाव-चित्तशुद्धि से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। सम्यग्दर्शन होने से पूर्व शुभ व्यवहार आता तो है किन्तु यदि श्रद्धा में उसका अभाव करे तो ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और जब सम्यग्दर्शन प्रगट होता है तब शुभ को उपचार से निमित्त कहा जाता है।

अज्ञानी स्वामित्व रखकर पर का कर्ता होता है और ज्ञानी 'मैं पर का कुछ नहीं कर सकता' इसप्रकार साक्षीभाव से मात्र ज्ञाता रहता है। सम्यग्दर्शन होने के बाद ज्ञानी जब निम्न भूमिका में अधिक कालतक स्वरूप में स्थिर नहीं रह सकता तब विकल्पदशा में अशुभ से बचने के लिये तत्त्व के विचार श्रवण मनन इत्यादि में और संसार के विकल्प में भी कभी युक्त होता है तथापि यह कभी नहीं मानता कि मैं इस शुभाशुभ प्रवृत्ति का कर्ता हूँ, इससे मुझे लाभ होगा।

जिसे अंतरंग से तत्त्व को समझने के प्रति उत्साह नहीं है वह अपने को शक्तिहीन मानकर कहा करता है कि 'मैं इस तत्त्व को नहीं समझ सकता' किंतु सर्वज्ञभगवान ने अपने साक्षात् केवलज्ञान में समस्त जीवों को सिद्ध समान देखकर स्पष्ट कहा है कि 'तू भी मेरे ही समान सिद्ध है;' इसलिये इन भावों को हटादे कि मैं इस तत्त्व को नहीं समझ सकता।

"सर्व जीव हैं सिद्धसम जो समझे सो होय"

अनादिकालीन अज्ञान को दूर करके एक समय में सबको जान–लेने की शक्ति प्रत्येक जीव में प्रतिसमय विद्यमान है किन्तु उसे प्रगट करने के लिये पहले का धारण किया हुआ विपरीत आग्रह छोड़ देना चाहिये।

जैसे नारियल (श्रीफल) में जटा होती है, बक्कल होता है और भीतर ऊपर की लाल रँग की पतली छाल होती है किंतु यह सब उस मीठे सफेद गोले से भिन्न है यथार्थ में तो भीतर का वह सफेद गोला ही खोपरा है, इसीप्रकार स्थूल शरीररूपी जटा तैजसरूपी छाल और कर्मरूपी बक्कल आत्मा के नहीं हैं। और वर्तमान राग-द्वेषरूपी ललाई भी दूसरे की ओर की है वह आत्मा की नहीं है भगवान आत्मा तो ज्ञानानंद अनंतगुण का रसकंद है। त्रैकालिक एकरूप, अखण्ड, ज्ञान–शक्ति से पूर्ण है; इसप्रकार की श्रद्धा जबतक न करे तबतक धर्म का अंश भी नहीं होता। जबतक नारियल में गीलापन है तबतक भीतर का

गोला उससे पृथक् नहीं होता और तबतक गोले की ओर की चिकाश को गौणरूप से लक्ष्य में रखना पड़ता है। इसीप्रकार शुद्ध द्रव्यदृष्टि में पूर्ण कृतकृत्य परमात्मा हूँ ऐसा अखण्ड तत्त्व का विषय श्रद्धा में लिया, तथापि उसके साथ ही संपूर्णतया राग-द्वेष दूर नहीं होजाता क्योंकि चारित्र की अपेक्षा से कचाश मौजूद है, इसलिये स्थिर नहीं हो सकता। वहाँ शुभभाव का अवलंबन करना होता है इसलिये उसे असद्-भूत व्यवहार कहा जाता है। वह व्यवहार राग है और इसीलिये वीतरागता नहीं होती।

सम्यग्ज्ञान होते ही जीव पूर्ण निर्मल नहीं हो जाता; बीच में विकल्प आते हैं इसलिये पूर्ण निर्मलता को प्रगट करने की भावना करना, स्थिरता की वृद्धि करना, इत्यादि जो व्यवहार—साधकभाव है वह पूर्ण होने से पहले न रहे ऐसा नहीं होता।

परमार्थ को लक्ष्य में लेना सो निश्चय और उसतक पहुँचने की अन्तरंग की भावनारूप जो प्रयत्न है सो व्यवहार है।

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥१२॥

शुद्धः शुद्धादेशो ज्ञातव्यः परमभावदर्शिभिः।
व्यवहारदेशिताः पुनर्ये त्वपरमे स्थिता भावे ॥१२॥

अर्थ:—जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान हुए हैं तथा पूर्ण ज्ञान-चारित्रवान हो गये हैं उन्हें शुद्ध आत्मा का उपदेश देनेवाले शुद्धनय को जानना चाहिये। और जो जीव अपरमभाव से अर्थात् श्रद्धा तथा ज्ञान-चारित्र के पूर्णभाव को नहीं पा सके, जोकि साधक अवस्था में ही स्थिर हैं वे व्यवहार के द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।

जो शुद्धनय तक पहुँचकर पूर्ण श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप हो गये हैं उनके लिये शुद्धनय ही प्रयोजनभूत है क्योंकि उनके पूर्ण होने का विकल्प

नहीं रह गया है, किन्तु जिसने पूर्ण निर्मल की श्रद्धा की है और जो साधकदशारूप मध्यमभाव का अनुभव करता है उसे राग को दूर करके क्रमशः आंशिक स्थिरता को बढ़ाने का व्यवहार प्रयोजनभूत है।

पुण्य शुभभाव है और पाप अशुभभाव है, किन्तु वे दोनों (शुभ-अशुभ) अशुद्धभाव हैं। उनसे रहित निर्मल, शुद्ध, अखण्डानन्द की श्रद्धा करके पूर्ण ध्रुवस्वभाव का विषय (लक्ष्य) जिनने किया है, किन्तु जो पूर्ण चारित्रदशा को प्राप्त नहीं हुए, मध्यमदशा (चौथे से छट्ठे गुणस्थान तक) में वर्तमान हैं वे जब स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकते तब उनके शुभ भावरूप व्यवहार होता है; किन्तु उस शुभभाव के अवलंबन से गुण प्रस्फुटित नहीं होता। परमार्थ की रुचि से ही आगे बढ़ा जा सकेगा—ऐसी मान्यता से गुण प्रस्फुटित होता है। मन-वाणी-देह तथा पुण्य के शुभभाव की अपेक्षा से रहित सम्यक्दर्शन होने से पूर्व की यह बात है। सम्यक्दर्शन होने से पहले भी ऐसा अभिप्राय होना चाहिये।

तत्व की यथार्थ प्रतीति होने पर अंतरंग में जो आंशिक स्थिरता प्रगट होती है उसे श्रावक की पाँचवीं भूमिका कहते है। शुद्धदृष्टि के बल से तीन कषायों की चौकड़ी का अभाव करके अंतरंग में चारित्र की विशेष स्थिरता प्रगट करने वाली मुनि दशा छट्ठे गुणस्थान में होती है; और उससे विशेष स्थिरता, एकाग्रता, निर्विकल्प ध्यानदशा सातवे (अप्रमत्त) गुणस्थान में मुनि के होती है। उस समय बुद्धि पूर्वक विकल्प नहीं होता, 'मैं अनुभव करता हूँ, आनंद लेता हूँ' ऐसा विकल्प नही होता; वह तो अंतरंग में स्वरूप अखण्ड आनंद अनुभव करते हैं। वे जब सविकल्प दशा में होते हैं तब (छट्ठे गुणस्थान में) तत्व का मनन, शिष्य को उपदेश देना, शास्त्रों की रचना करना इत्यादि शुभ व्यवहार तथा आहारादि संबंधी विकल्प बीच में आजाते हैं।

जो पूर्ण वीतरागी हो चुके है उनके व्यवहार नहीं होता, विकल्प नहीं होता, किन्तु छद्मस्थ के पूर्ण निर्मल दशा के लिये ध्यान करते हुए जब वह सीधा एकाग्र नहीं रह सकता तब शुभभावरूप व्यवहार

आजाता है। जैसे किसी मंजिल पर जाने के लिये जब कुछ सीढ़ियां चढ़ लेते हैं तब मंजिल दिखाई देती है और मंजिल में क्या क्या है वह सब देखने पर उसका यथार्थ ज्ञान होता है। किन्तु मंजिल पर पहुँचे बिना वहाँ की वस्तुओं का साक्षात् पूर्ण अनुभव नहीं हो सकता, इसलिये मंजिल पर जाते हुए बीच की सोढ़ियों को छोड़ने के लिये ही ग्रहण किया जाता है। इसीप्रकार चौथे गुणस्थान में पहुँचने पर आत्मा की ज्ञान दर्शन सुख समृद्धि का यथार्थ श्रद्धा और ज्ञान होता है और पूर्ण स्वभाव के लक्ष से आंशिक अनुभव होता है; किन्तु पूर्ण साध्यदशा तक पहुँचने का व्यवहार शेष रह जाता है। चौथे गुणस्थान में पूर्ण अखण्ड साध्य वस्तु की सीधी और सच्ची दृष्टि तो होजाती है किन्तु अभी वह प्रगटरूप से पूर्णसाध्य दशा को नहीं पहुँच सका, इसलिये वहाँ बीच में अस्थिरता के भेदों को उलंघने के लिये शुभ व्यवहार का अवलंबन आये बिना नहीं रहता। किन्तु वे सब भेद (मलिनता के भाव और निर्मलता के अंश) छोड़ने योग्य हैं। इसप्रकार पहले से ही जानलिया था इसलिये ऐसा होते समय भी यथावत् जानता है। दृष्टि अखण्ड निश्चय पर है, उसमें बीच में साधकभाव के और विकार के जो भेद होते हैं वह भेदरूप व्यवहार अभेद का कारण नहीं है। स्थिरतारूप चारित्र की निर्मल अभेद दशा उस भेद से (व्यवहार से), प्रगट नहीं होती, किन्तु अखण्ड के बल से निर्मलता बढ़ती है। अनंत आनंद का रसपिंड भगवान आत्मा है, इसकी यथार्थ श्रद्धा करके, विकल्प से छूटकर जब अंतरंग में स्थिर होता है तब पूर्ण का लक्ष होते ही पूर्ण की जाति के आंशिक आनंद का अनुभव होता है।

सिद्ध भगवान को जैसा अतीन्द्रिय पूर्ण आनन्द होता है उसीप्रकार के आनन्द का अंश चतुर्थ गुणस्थान में सम्यक्दर्शन के होते समय ही होता है। उसके बाद भी किसी-किसी समय चौथे–पाँचवें गुणस्थान में अनुभव करते हुए–अभेद एकाकार होते हुए वैसा आंशिक आनन्द आता है।

: जैसे किसी को उत्तराधिकार में कोई मकान मिला हो और वह उसका मालिक हो गया हो तब उसे उस मकान का स्वयं उपयोग करने के लिये वहाँ का मात्र कूड़ा-कचरा ही साफ कराना शेष रह जाता है, इसीप्रकार सम्यक्दृष्टि जीव को पूर्ण अखण्ड-निर्मल केवलज्ञान का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ है, त्रैकालिक ध्रुव अखण्ड ज्ञान का स्वामी हुआ है अर्थात् उसने श्रद्धा में इसका निश्चय कर लिया है कि मैं निरावलंबी निर्मल परिपूर्ण हूँ; किन्तु जबतक वह उसके अनुसार स्थिर नहीं हो जाता तबतक उसे क्रमशः मलिनता (राग-द्वेषरूपी कूड़ा-कचरा) को दूर करने के लिये अखण्डदृष्टि के बल से स्थिरता करनी शेष रह जाती है। उसमें जो निर्मलता के अंश बढ़ते है वे सब तथा जो बीच में शुभ भाव आते हैं वह सब व्यवहार है। और समस्त ध्रुव स्वभाव को अक्रिय-रूप से पूर्णस्वरूप से लक्ष में लेना सो निश्चय है।

टीका:—जो पुरुष अन्तिम ताव से निकले हुए शुद्ध स्वर्ण के समान वस्तु के उत्कृष्ट भाव का अनुभव करते हैं उन्हे प्रथम, द्वतीय आदि अनेक तावों के परंपरा में पकाये जानेवाले अशुद्ध स्वर्ण की भ्रान्ति अपूर्व साधकभाव की आवश्यक्ता नहीं होती। शुद्ध स्वर्ण के श्रद्धालु को पहले से ही ध्यान होता है कि सोना तॉबारूप अथवा किसी अन्य पर-धातुरूप नहीं हुआ, वर्तमान अवस्था में पर-धातु के आरोप से अशुद्धत्व कहलाता है, उस समय भी सौटंची सोने के शुद्ध स्वभाव की उत्कृष्टता पर लक्ष रखकर मलिनता को दूर कर देता है। जबकि सोना सम्पूर्ण निर्मल-सौटंची हो जाता है तब फिर उसे भट्टी के पाकरूप व्यवहार की आवश्यक्ता नहीं रहती, इसीप्रकार शुद्ध आत्मा की प्रतीति होने से पूर्व वर्तमान अपूर्ण अवस्था के समय त्रैकालिक पूर्ण ध्रुव स्वभाव की श्रद्धा करके पूर्ण निर्मलता प्रगट करने के लिये ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा अन्तरंग में जो एकाग्र होना पड़ता है सो व्यवहार है। देह की क्रिया में, पुण्य में, शुद्ध के लक्ष से रहित मात्र शुभराग में व्यवहार नहीं है, किन्तु अविकारी अखण्ड की श्रद्धा के बल से विकल्प टूटकर अंतरंग

में शुद्ध स्थिरता के अंश बढ़ते हैं, वह चारित्र सद्भूत व्यवहार है। श्रद्धा के निश्चय अभेद विषय में सम्पूर्ण भेदों का निषेध है।

निश्चय शुद्ध अखण्ड ज्ञायक स्वभाव अविकारी पूर्ण है, उसकी श्रद्धा करके उसमें स्थिर होकर जो पूर्ण वीतराग हो गये हैं वे उत्कृष्ट स्वर्ण के अनुभव की भाँति पूर्ण अभिन्न, रागरहित-वीतराग हैं, किन्तु जिन्हें पूर्ण की श्रद्धा तो है किन्तु चारित्र नहीं है उन्हे पूर्ण निर्मलदशा (जो अपनी निज वस्तु में ही शक्तिरूप से विद्यमान है) को प्रगट करने के लिये चारित्र की स्थिरता करने का व्यवहार ध्यान विचार मननरूप से रहता है।

जैसे शुद्ध स्वर्ण के प्राप्त होनेपर सौटंच से कमके सोने की चाह नहीं रहती उसीप्रकार जिसे पूर्ण केवलज्ञानदशा प्राप्त हुई है उसे अपूर्ण निर्मल अंशों के भेद की आवश्यक्ता नहीं रहती।

पूर्ण अविचल एक स्वभावरूप एकभाव केवलज्ञानी वीतरागी के प्रगट हो चुका है, उनने भी श्रद्धा में पहले ऐसे पूर्ण निर्मल स्वभाव को लक्ष में लिया था, उनकी मान्यता में पुण्य-पाप के विकार का कर्तृत्व-आश्रियत्व नहीं था, पहले से ही व्यवहार का आदर नहीं था, पश्चात् पूर्णदशा प्राप्त होनेपर निमित्तरूप से भी नहीं रहता; तथापि साधकभाव में बीच में व्यवहार का बलपूर्वक अवलंबन आजाता है, जो कि आगे कहा जायेगा।

आत्मा निरपेक्ष निर्विकार ध्रुव वस्तु है, उसमें बन्ध-मोक्ष आदि अवस्थाभेद तथा दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि गुण-भेदों को लक्ष में लेकर ऐसी श्रद्धा करनी चाहिये कि-त्रैकालिक ध्रुव पूर्णस्वरूप वर्तमान में भी अखण्ड है, यह प्रारंभिक मुख्य धर्म है; पश्चात् पूर्ण स्थिरता करने में जितनी भूमिका की निर्मलता बढ़े उसे उसप्रकार जानना, सो व्यवहार है।

जो पुरुष पहले दूसरे तीसरे इत्यादि अनेक तावों की परम्परा से पकनेवाले अशुद्ध स्वर्ण के समान वस्तु की अनुत्कृष्ट मध्यमभाग-साधकभाव की स्थिरता का अनुभव करते है उन्हें अंतिम ताव से उतरे हुये शुद्ध

स्वर्ण के समान पूर्ण केवलज्ञानरूप उत्कृष्ट साध्यभाव का अनुभव नहीं होता।

'राग को दूर करके स्थिरता करूं' इसमें मन का संयोग और पर की अपेक्षा होती है, वह अशुद्ध अवस्था वर्तमान में होती है। राग का अमुक अंश में दूर होना और अमुक अंश में रहना तथा अंशतः स्थिरता की वृद्धि होना सो व्यवहार है। भिन्न-भिन्न भूमिका के अनुसार अनेक प्रकार से और पूर्व अवस्था से भिन्न-भिन्न भावरूप से जिसने भिन्न-भिन्न (उत्पाद व्ययरूप) एक-एक भाव स्वरूप अनेकभाव दिखाए है ऐसा व्यवहारनय विचित्र अनेक वर्णमाला के समान होने से, परिज्ञात उसकाल में प्रयोजनवान* है।

इसप्रकार निश्चयनय और व्यवहारनय के विषय को यथावत् जानना प्रयोजनवान है। जैसे चौदहवे गुणस्थान से नीचे के गुणस्थान में जितने प्रमाण में मलिनता एवं निर्मलता के अंश हैं उन्हे उतने अंश में जानना सो व्यवहार है, और पर-निमित्त के भेद से रहित त्रैकालिक एकरूप अक्रिय आत्मा को पूर्ण सामर्थ्यरूप अखण्ड जानना सो निश्चयनय अथवा परमार्थ है। उसे शुद्धदृष्टि के द्वारा लक्ष में लेकर, भेद को गौण करके पूर्णरूप वस्तु को ध्रुवरूप से श्रद्धा का अभेद विषय बनाना सो सम्यक्दर्शन है।

सम्यक्दर्शन श्रद्धा गुण की अवस्था है इसलिये वह भी व्यवहार है। पुण्य के लक्ष से अंशतः स्थिर होने के लिये जो राग दूर करने के विकल्प उठते हैं-भेद होते हैं वह असद्भूत व्यवहार है। परवस्तु में अथवा देहादि की क्रिया में आत्मा का किंचित्मात्र भी व्यवहार नहीं है। शुभराग को आदरणीय मानना सो अज्ञान है।

---

* प्रयोजन=प्र+योजन। प्र=विशेषरूप से, अवस्था भेद। योजन=युक्त करना, जुड़ना। अखण्ड वस्तु के आश्रय से जितने अवस्था के भेद हों उनमें ज्ञान को जोड़ना सो प्रयोजन है। त्रैकालिक द्रव्य के साथ वर्तमान अवस्था की संधि करना सो प्रयोजन है।

अपूर्व परमार्थ-की श्रद्धा अत्यंत दुर्लभ वस्तु है, तथापि जो समझने के लिये तैयार होता है उसे सुलभ है। पर में कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित सर्वज्ञ के न्यायानुसार यथार्थ तत्व को जानकर जब यथार्थ श्रद्धा करता है तब उसी समय अंतरंग में अपूर्व आनंद आता है। 'मैं आत्मा हूँ, मैं अपूर्व आनन्द का वेत्ता हूँ,' ऐसा विकल्प भी जब बुद्धि में से दूर हो जाता है तब आत्मानुभव सहित निश्चय सम्यक्दर्शन हो जाता है और तब अपूर्व आह्लाद का अनुभव होता है। हे भाई! ऐसा वस्तु-स्वभाव अनन्तकाल में कभी नहीं जान पाया; जो जितना जाना वह सब पर का ही जाना है। पर से कभी किसी को लाभ-अलाभ नहीं होता। पुण्य, दया, दानादि की जो शुभभावना उत्पन्न होती है वह भी आत्मा के लिये लाभकारक नहीं है, प्रस्तुत उस भाव को अपना मानने से संसार में परिभ्रमण करने का लाभ मिलता है! इस तत्व को एक-दो दिन में नहीं समझा जा सकता। जिसे साम्प्रदायक पक्षपात अथवा मोह है उसे तो यह बात सुनने में भी कठिन मालूम होती है।

भगवान आत्मा अरूपी सदा ज्ञान-आनंद का पिंड है। उसके गुण भी अरूपी हैं और पर्याये भी अरूपी हैं। उसमें परवस्तु का ग्रहण या त्याग किसी भी प्रकार से नहीं है। आत्मा त्रिकाल पर से भिन्न है, पर का कर्ता नहीं है, जिसे यह ज्ञान नहीं हैं वह यह मानता है कि 'मैं परका कुछ कर सकता हूँ और पर मेरा कुछ कर सकता है' किन्तु ऐसा कभी होता नहीं है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु एक दूसरे से तीनकाल और तीनलोक में भिन्न-भिन्न है। भिन्न वस्तु पर का कुछ नहीं कर सकती। प्रत्येक आत्मा अपने भाव में अनुकूल या प्रतिकूल जान या मान सकता है इतना ही कर सकता है; इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं कर सकता।

आत्मा ने पर को कुछ पकड़ नहीं रखा है कि जिससे उसे छोड़ना पड़े। मात्र उसने विपरीत मान्यता बना रखी है कि मैं पर पदार्थ को

ग्रहण करता हूँ, छोड़ता हूँ, पर से मुझे लाभ होता है; और इसप्रकार रागद्वेष का अज्ञानभाव से ग्रहण का रखा है, इसलिये स्वलक्ष करके सम्यक्ज्ञान भाव से उस अज्ञान भाव को छोड़ना ही जीव की क्रिया है। देह कि क्रिया आत्मा के आधीन नहीं है, तथापि जो यह मानता है कि मैं देह की क्रिया को कर सकता हूँ वह देह और आत्मा को एक मानता है।

मैं पर के कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित अखण्ड ज्ञान-आनंद से परिपूर्ण हूँ, परमाणु मात्र मेरा नहीं है, विकार के द्वारा ग्रहण करने पर मन के संबंध से किंचित् मुक्त होकर जहा अतरंग में स्थिर हुआ कि वहाँ मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याज्ञान का यथार्थ त्याग (व्यय) और निर्मल सम्यक्दर्शन-ज्ञान का उत्पाद होता है। उस (सम्यक्दर्शन) के बिना व्रत, तप, चारित्र आदि सच्चे नहीं होते। संसार के माने हुऐ व्रत, तप, इत्यादि संसार के खाते में ही जाते है। मन वाणी देह की क्रिया से पुण्य-पाप अथवा धर्म नहीं होता। यदि स्वयं विवेक पूर्वक तृष्णा और राग को कम करे, कषाय को सूक्ष्म करे तो पुण्य बंध होता है, धर्म नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम शुभ को छोड़कर अशुभ में प्रवृत्त होने को कह रहे हैं।

आत्मा अरूपी सूक्ष्म है। उसका सम्पूर्ण विषय अंतरंग में है। उसका कोई भी कार्य वाह्य प्रवृत्ति के आधीन नहीं है। शुभभाव भी विकार है, उससे अविकारी गुण प्रगट नहीं हो सकता। ऐसा ही स्वरूप त्रिकाल में होने पर भी अज्ञानी उसके द्वारा मानी हुई अनादिकालीन विपरीत मान्यता के आग्रह को नहीं छोड़ता और स्वभाव की वात को सुनने या उसका विचार करने में उसे भारी घबराहट मालूम होती है। किन्तु जिसे वास्तविक सुख-शांति की चाह है उसे तो अपनी समस्त वाह्य-मान्यताओं का त्याग करना ही होगा। ज्ञानी की दृष्टि से देखा जाय तो त्रिकाल की विपरीत मान्यता का सत्यग्दृष्टि में त्याग हो ही जाता है।

सम्यग्दर्शन का विषय परमार्थ है, किन्तु सम्यक्दर्शन अर्थात् श्रद्धा गुण की निर्मल अवस्था व्यवहार है। पूर्ण अखण्ड को लक्ष में लेना सो परमार्थरूप निश्चय है। स्थिरता के जो भेद होते हैं उन्हें जानना सो व्यवहार है, दूसरा व्यवहार नहीं है। लोग यह मानते हैं कि पर-वस्तु, और शरीर इत्यादि की क्रिया एवं पुण्य इत्यादि व्यवहार है, और उससे निश्चय प्रगट होता है, किंतु यह सारी मान्यता अज्ञान है। अंतरंग में जो शुभभाव की वृत्ति उत्पन्न होती है वह स्वभाव में सहायक नहीं है, इतना ही नहीं किंतु जो निर्मल पर्याय के भेद होते हैं उसकी सहायता से भी मोक्षमार्ग प्राप्त नहीं होता। मात्र अखण्ड द्रव्य के आश्रय से मोक्षमार्ग प्राप्त होता है। वह बात जीव ने कभी नहीं सुनी इसलिये उसे यह नई मालूम होती है और कठिन मालूम होती है। किंतु परावलंबन से गुण होता है—लाभ होता है, शुभराग के व्यवहार से निश्चय धर्म होता है, इसप्रकार मानने वाले निज गुण का घात करते हैं। जो यह मानते हैं कि अमुक वस्तु का त्याग करने से निजगुण का प्रकाश होगा उन्हे अपने आंतरिक पूर्ण गुण की शक्ति का विश्वास नहीं है। तीनलोक और तीनकाल में भी व्यवहार से परमार्थ प्रगट नहीं हो सकता।

परमार्थ-श्रद्धा होने के वाद गुण की निर्मलता की वृद्धि के अनुसार जिस गुणस्थान में जैसी स्थिति होती है वहाँ वैसा ही व्यवहार आजाता है। जवतक पूर्ण केवलज्ञान नहीं होता तवतक जो स्थिरता करनी शेष रहती है वह भी व्यवहार है। अभेद की दृष्टि सहित गुण की निर्मलता के जो भेद होते हैं वह व्यवहार है। देह की क्रिया में, पुण्य में अथवा वाहर अन्यत्र कहीं व्यवहार नहीं है। बाह्य-मान्यता का आग्रह समझ-कर छोड़े बिना परमार्थरूप अंतरंग तत्त्व की अपूर्व बात जगत को नहीं रुचती, किन्तु इसे समझे बिना धर्म नहीं होता, वीतराग का धर्म तो यही है। वीतराग अपनी कोई संकुचित हद नहीं बाँधते; वीतराग को किसी का पक्ष नहीं होता। सर्वज्ञ वीतराग कहते हैं कि व्यवहार पर की अपेक्षा से होने वाले भेद को ग्रहण करता है इसलिए उस भेद

के द्वारा गुण की निर्मलता नहीं होती। पर-निमित्त के भेद से रहित परिपूर्ण, निर्मल, अखण्ड ध्रुवस्वभाव को जानना सो निश्चय है, और यह समझना कि चौदह गुणस्थान तक के जितने भेद होते हैं वे परमार्थरूप नहीं हैं, सो व्यवहार है।

व्यवहार का यह अर्थ नहीं है कि 'अमुक प्रवृत्ति करना सो व्यवहार है' किन्तु 'पर्याय के भेद को यथार्थ जान लेना' सो व्यवहारनय* है। जो निर्मलता बढ़ती है सो ज्ञान का विषय है। उस खण्ड-खण्ड रूप अवस्था के भेद को देखने से छद्मस्थ के विकल्प हुए विना नहीं रहते। ऐसा व्यवहार छद्मस्थ के बीच में आता तो है किन्तु ज्ञानी उसे आदरणीय नहीं मानते।

शुद्ध पारिणामिक भाव कहो, अखण्ड ज्ञायक वस्तु कहो, अथवा परमार्थ स्वभाव कहो वह सब एक ही है। उस अखण्ड की निर्मल श्रद्धा और निर्मल दशा अखण्ड परमार्थ के बल से प्रगट होती है। भेद के लक्ष से, विकल्प से, शुभभाव से अथवा किसी भी प्रकार के व्यवहार से निश्चयदृष्टि (परमार्थस्वभाव) प्रगट नहीं होती।

यदि कोई कहे कि-प्रथम भूमिका तो तैयार करनी ही चाहिये? किन्तु इस प्रश्न की आवश्यकता ही नहीं है। लोक व्यवहार में भी भले घर के लोग कहते हैं कि स्वप्न में भी कुशील का सेवन नहीं करना चाहिये। अनीति, असत्य, परस्त्रीगमन, चोरी इत्यादि हमारे कुल में नहीं हो सकते। इसप्रकार जिसके लौकिक सज्जनता की महिमा होती है उसके भी अमुक तुच्छ वृत्तियों का विकार सहज ही छूट जाता है। धर्मात्मा जीव तो लोकोत्तर उच्च-परिवार का है, लोकोत्तर परमार्थ में सर्वोत्कृष्ट सिद्ध परमात्मा की जाति का ही है। मैं उन्हीं जैसा हूँ ऐसी श्रद्धा में उत्कृष्ट स्वभाव की महिमा होने पर अमुक राग-द्वेष के भाव सहज ही छूट जाते हैं।

---

* नय=यथार्थतया जाने हुऐ पदार्थ में से एक पहलू को मुख्य और दूसरे पहलू को गौण करके जानने वाला ज्ञान।

मेरा स्वभाव, मेरी आत्मजाति पूर्ण उत्कृष्ट स्वभाव को प्राप्त परमात्मा जैसी है। मैं अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तबल इत्यादि अनन्तगुणों का पिंड हूँ। उस शक्ति के बल से भ्रांति का नाश और कुछ राग-द्वेष का सहज ही ह्रास होजाता है।

पर-लक्ष से चाहे जितना करे तो उससे राग-द्वेष मंद हो सकते है, किन्तु आत्मप्रतीति के बिना सर्वथा अभाव नहीं हो सकता। अनंत-काल व्यतीत हो गया उसमें बहुत कठिन साधन अनंतबार किये किन्तु परमार्थ को नहीं समझ पाया। अंधकार को साफ करने के लिये झाड़ू या सूप इत्यादि की आवश्यक्ता नहीं होती किन्तु प्रकाश ही आवश्यक होता है। उसीप्रकार अज्ञानरूपी अंधकार को दूर करने के लिये सम्यक्ज्ञान का प्रकाश आवश्यक होता है।

शंका:—शुभभाव से आगे क्यों नहीं बढ़ा जा सकता ?

समाधान:—अनंतबार शुभभाव किये तथापि अंशमात्र भी धर्म नहीं हुआ। जैसे वृक्ष की जड़ को सुरीक्षत रखकर यदि उसके पत्ते तोड़ लिये जाये तो वे अल्पकाल में पुनः पीक उठते हैं—उग आते हैं; उसी प्रकार अज्ञानरूपी जड़ को सुरक्षित रखकर यह माने कि मैंने राग-द्वेष को कम कर लिया है तो उससे कोई लाभ नहीं है, परमार्थ से राग-द्वेष कम नहीं हुआ है क्योंकि वह पुनः अंकुरित हो जाता है और बढ़ने लगता है।

अखण्ड दृष्टि की ही सच्ची महिमा है, जहाँ न विकार है और न भेद है। त्रैकालिक ध्रुव अखण्ड स्वभाव को लक्ष में लेने पर मोक्षपर्याय भी उसके अन्तर्गत हो जाती है, इसलिये बन्ध–मोक्ष के भेद भी श्रद्धा के अखण्ड विषय में नहीं हैं, व्यवहार में ही बन्ध–मोक्ष है। यदि ऐसा न हो तो बंध को दूर करके मुक्त होने का उपदेश ही वृथा सिद्ध होगा। दृष्टि के शुद्ध होने पर दृष्टि के अखण्ड लक्ष के बल से राग को दूर करके स्थिरता होती ही रहती है।

इसप्रकार तीर्थ और तीर्थफल की व्यवस्था है। मोक्ष का उपाय (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप अपूर्णपर्याय) तीर्थ और पूर्ण निर्मल अवस्था की प्राप्ति तीर्थफल है। परमार्थरूप निश्चय वस्तु में मोक्ष का मार्ग और मोक्ष ऐसे जो दो भंग होते है सो व्यवहार है, और अखण्ड वस्तुस्वरूप को लक्ष में लेना सो निश्चय है।

सर्वज्ञ भगवान ने एक वस्तु में व्यवहार और निश्चय दोनों कहे है। चने को भूनने पर कचास का नाश और स्वाद का उत्पाद होता है, और दोनों अवस्थाओं में चने का ध्रौव्यत्व बना रहता है, इसीप्रकार आत्मा में भूलरूपी कचास और दुःखरूपी कषायलापन अज्ञानभाव से—अवस्थादृष्टि से होता है। किन्तु जिसे वह भूल और दुःख मिटाना है उसे भूल और विकार से रहित आत्मा के ध्रुव स्वभाव की प्रतीति करके उसमें एकाग्र होना चाहिये। इससे अपूर्ण अवस्था का क्रमशः नाश और पूर्ण निर्मल अवस्था की उत्पत्ति[1] होती है, और उन दोनों अवस्थाओं में आत्मा एकरूप-ध्रुवरूप से स्थिर रहता है। अज्ञान[2] और दुःख[3] की अवस्था के समय भी आत्मा में पूर्ण ज्ञान-आनन्दस्वभाव भरा हुआ है। उस स्वभाव में अज्ञान और दुःख को नाश करने की शक्ति प्रतिक्षण विद्यमान है। उस निरपेक्ष अखण्ड निर्मल स्वभाव में अभेददृष्टि का बल होने पर विकारी अवस्था का नाश और अनुपम आनन्द की उत्पत्ति हो सकती है। वर्तमान अवस्था के समय भी त्रैकालिक पूर्ण शक्ति ध्रुवरूप से भरी हुई है। उसमें दुःख या भूल नहीं है। भूल और विकाररूप अवस्था तो वर्तमान एक-एक समयमात्र की (प्रवाहरूप से-अनादि की) है। नित्य अखण्ड शुद्धस्वभाव के लक्ष से उस भूल और विकार का नाश हो सकता है।

---

१ मोक्ष=आत्मा की अंतिम से अंतिम पूर्ण निर्मल अवस्था अथवा विकार से सर्वथा मुक्त होने पर कर्म-बंधन से छूट जाना।

२ अज्ञान=अपने वास्तविक स्वभाव की अप्रतीति।

३ दुःख=अपने सुख गुण की विपरीत अवस्थारूप विकार।

भेद को जानने वाला व्यवहार है। परमार्थ में वह भेद ग्राह्य नहीं है। व्यवहार से परमार्थ नहीं पकड़ा जाता। एकरूप अभेद परमार्थ का निश्चय करने पर उसके बल से जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है वही पुरुषार्थरूप व्यवहार है। बाह्य में कहीं भी व्यवहार नहीं है। जगत को यह रुचे या न रुचे किन्तु तीनलोक और तीनकाल में यह बात अपरिवर्तनीय है। अहो! यह अपूर्व बात जिसकी समझ में आजाती है उसका तो कहना ही क्या है। किन्तु जिसे यह बात प्रेम से सुनने को मिलती है उसका भी अहोभाग्य है। जो हीरा सान पर चढ़ता है उसका मूल्य तो अधिक होता है, किन्तु उसकी जो रज खिरती है उसका भी पर्याप्त मूल्य आता है। वीतराग के मार्ग में मात्र परमतत्व के ही गीत गाये हैं। कोई यथार्थ को न समझे किन्तु सुनने में उत्साह रखे तो भी ऐसा उत्तम पुण्य-बंध हो जाता है कि जिससे भविष्य में ऐसा उत्तम तत्त्व सुनने का योग पुनः प्राप्त होता है। यदि वर्तमान में ही पुण्य का निषेध करके अपूर्व पुरुषार्थ के द्वारा स्वरूप को समझे तो अपूर्व गुण-धर्म का लाभ होता है। पुण्य का आदर करना अविकारी आत्मा का अनादर करना है। अनंत गुण का पिंड ज्ञानस्वरूप आत्मा जब अपने गुण से विपरीत चलता है तब पुण्यादि होता है। पुण्य तो गुण की जलन है। हे प्रभु! पुण्य-पाप से तेरे गुणों की हत्या होती है।

आत्मा अविकारी अखण्ड है। पुण्य-पाप विकार में युक्त होकर हीनता करने से जो पुण्यबंध होता है उसे ठीक मानना ऐसा है जैसे अपने पैर को कटवाकर कोई हर्ष मानता है। आत्मा के गुण जलकर राख हो जाते हैं तब पुण्य होता है। जो कि क्षणभर में उड़ जाता है ऐसे पुण्य में क्या मिठास है! तू तो अपने आनंदरस से परिपूर्ण प्रभु है; तुझे उसकी महिमा की प्रतीति क्यों नहीं होती!

माता पुत्र को 'सयांना बेटा' कहकर सुलाती है, तब उससे विपरीत रीति से ज्ञानीजन स्वरूप की अचिंत्य महिमा दिखाकर तुझे अनादिकालीन

अज्ञानरूपी नींद में से जगाते हैं। पुण्य-पाप-विकार तेरा स्वरूप नहीं है, किन्तु वर्तमान अवस्थामात्र का विकार है, उसका तथा निर्मल अवस्था के भेद का लक्ष गौण करके त्रिकाल एकरूप ज्ञायक को लक्ष में ले तो परमार्थ और व्यवहार दोनों का ज्ञान–सम्यक्‌ज्ञान होता है; किंतु वस्तु को यथार्थतया परिपूर्ण नहीं जानता। यदि यथावत् वर्तमान अवस्था को न जाने तो पुरुषार्थ करके राग-द्वेष का नाश और गुण की निर्मलता का उत्पाद नहीं हो सकता। प्रतीति रहित व्यवहार झूठा है। यहाँ यथार्थ प्रतीति होने के बाद की ही बात है।

जैसे सोने को शुद्ध जानने के बाद ही आँच दी जाती है इसी–प्रकार पहले सर्वज्ञ वीतराग ने जैसा स्वरूप कहा है वैसा ही सर्वज्ञ के न्याय, युक्ति, प्रमाण से और सत्‌समागम से जाने, पश्चात् त्रैकालिक अभेद एकाकार ज्ञायकरूप से अंगीकार करे; श्रद्धा के अभेद विषय में अनुभव करने के बाद यथार्थ वस्तु में निःसंदेहता आती है कि मैं त्रिकाल में ऐसा ही हूँ, स्वतत्र हूँ पूर्ण हूँ, उसमें अवस्था के भेद गौण हो जाते हैं। वह यह जानता है कि एकरूप ध्रुव वस्तु के विषय में अनेक भेद आदरणीय नहीं है। किसी समय उसे जानना (व्यवहारनय) प्रयोजनवान् है तथापि सम्पूर्ण काल (परमार्थ) से अखण्ड ध्रुव स्वभाव लक्ष में लेना ही मुख्य है।

प्रश्नः—आत्मा को जानने के बाद राग-द्वेष कैसे दूर होता है?

उत्तरः—मैं पूर्ण हूँ, अखण्ड हूँ ऐसे पवित्र स्वभाव की प्रतीति के बल से पूर्ण की ओर का झुकाव बढ़ता है, और उससे राग-द्वेष का नाश हुए बिना नहीं रहता। लोग यह मानते है कि बाहर की कोई प्रवृत्ति करने पर गुण–लाभ होता है; ऐसा मानने वाले अपने में विद्यमान अनंतशक्ति से युक्त अनंत गुणों को नहीं मानते। मैं अनत गुणों का पिंड हूँ, पर से तथा विकार से भिन्न हूँ ऐसी प्रतीति करे और अंतरंग में यथार्थ निर्णय करे कि मैं अनादि अनंत स्वतंत्र हूँ, ज्ञानानद से परि-

पूर्ण हूँ, जो क्षणिक विकार दिखाई देता है वह मैं नहीं हूँ, इसप्रकार अखण्ड गुण की दृढ़ श्रद्धा के बल से विकार दूर होता है।

विकार की अवस्था और आंशिक विकार के दूर हो जाने पर जो आंशिक निर्मल अवस्था होती है वह भी अभेददृष्टि में ग्राह्य नहीं है, मात्र व्यवहार से ज्ञातव्य है। उस पर्याय के भेद पर लक्ष करके रुकना नहीं चाहिये। मैं अखण्ड ज्ञायक हूँ, इसप्रकार अभेद श्रद्धा का विषय ही मुख्य है। उसका ज्ञान करके, राग को दूर करके निर्मल गुण में स्थिरता करना सो चारित्र है। यह तीनों निर्मल गुण की अवस्थाएँ हैं। सम्यक्श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र को भगवान ने व्यवहार कहा है, क्योंकि ज्ञायक वस्तु अनंतगुणों का एकरूप पिंड है। उसमें अशुद्धता का नाश और शुद्धता (शुद्ध अवस्था) का उत्पाद अथवा दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप तीन भेद करना सो व्यवहार है। आत्मा का व्यवहार पर में नहीं है।

एकरूप स्वभाव को न मानकर; पुण्य-पाप विकार मेरा कर्तव्य है, मैं पर का कर्त्ता हूँ, पर मुझे हानि–लाभ करता है, इत्यादि मान्यता के साथ रागद्वेषरूप में अनेक विकारों में परिवर्तन होता है, यही संसार* है। स्त्री, धन, पुत्र, शरीर इत्यादि पर में आत्मा का संसार नहीं होता, किन्तु उनमें अपनेपन की जो बुद्धि है सो संसार है। संसार आत्मा की विकारी अवस्था है, और मोक्ष आत्मा की पूर्ण निर्मल अवस्था है। जो संसार–मोक्ष आदि तीनोंकाल की सम्पूर्ण अवस्थाओं का अभेद पिण्ड है, वही अनंत गुणों का पिंड आत्मा है। उसके अभेद लक्ष से सम्यक्दर्शन प्रगट होता है। उस परमार्थस्वरूप में जो अभेद निश्चय-रूप श्रद्धा है सो व्यवहार है। उस श्रद्धा के द्वारा अभेद स्वरूप की ओर एकाकार दृष्टि का बल लगाने पर स्वसंवेदन बढ़ता है अर्थात् अंतरंग अनुभवरूप आनंद का भोग बढ़ता जाता है।

---

*"संसार=ससरति इति संसारः" अर्थात् एकरूप न रहकर भिन्न–भिन्न प्रकार से परिभ्रमण करना अथवा सम्यक्स्वभाव से हट जाना।

पुण्य-पाप रहित स्वावलंवी निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्र की अवस्था का प्रगट होना सो व्यवहार है, तीर्थ है और अभेद स्वभाव की दृष्टि के वल से अंतर गुण की निर्मलता के द्वारा पूर्ण निर्मल केवलज्ञान का प्रगट होना सो तीर्थ का फल है। इसप्रकार पुण्य-पाप के भाव से रहित मोक्ष का मार्ग और मोक्ष दोनों व्यवहार हैं।

सम्यक्दर्शन भी अवस्था है क्योंकि वह प्रतीति गुण की पर्याय है, इसलिये वह व्यवहार है। राग-द्वेष और संकल्प-विकल्प का वेदन करना मेरा स्वरूप नहीं है। मैं अखण्ड ज्ञायकरूप से एकाकार ध्रुव हूँ, ऐसी अभेददृष्टि के वल से अभेद स्वसंवेदनरूप से जो निर्मल अवस्था प्रगट होती है वह व्यवहार है। यह कहना कि—सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप तीन अवस्थाओं के द्वारा निर्मल मोक्ष अवस्था प्रगट हुई है, सो व्यवहार-कथन है, क्योंकि मोक्षमार्ग अर्थात् अपूर्ण पर्याय से मोक्ष प्रगट नहीं होता किंतु उसका अभाव होने पर मोक्ष प्रगट होता है। सम्यक्-दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग कारण और मोक्ष उसका कार्य है—यह व्यवहार है। मोक्ष का निश्चय कारण द्रव्य है। पूर्ण अखण्ड द्रव्य के वल से मोक्षदशा प्रगट होती है वह अखण्ड सामर्थ्यरूप वस्तु की ही महिमा है उस अखण्ड का लक्ष करना सो निश्चय-अभेद दृष्टि है। निश्चय का विषय निरपेक्ष अखण्ड ध्रुव वस्तु है।

ऐसी वात अनादिकाल से कहीं कभी सुनी न हो और अनादि-काल से जिसे मानता आया है उससे भिन्न प्रकार के भाव उत्पन्न हों तो उनका मेल कहाँ और कैसे विठाया जाय! जैसे दुकान में हल्दी आदि विविध मसालों के वहुत से खाने भरे हों और हल्दी की ही जाति के और मसाले आये तो उसी खाने में धर देते हैं किंतु हल्दी से भिन्न जाति का उच्चप्रकार का माल आता है तो उसे रखने के लिये पुराने मसाले के खाने खाली करना पड़ते है; और इसके लिये दुकान-दार जल्दी निर्णय कर लेता है; उसीप्रकार अपूर्व आत्मधर्म के लिये अनादिकालीन विपरीत मान्यता के खाने खाली करने का पुरुषार्थ

आवश्यक होता है। आत्मा अनादि-अनंत है, न तो उसका प्रारम्भ है न अंत है और वह त्रिकाल स्वतंत्ररूप से बना रहेगा। उसे किसी भी काल में, किसी भी क्षेत्र में, अथवा किसी भाव में पर-सत्ता के आधीन होना नहीं होता। संयोग को जानने वाला सदा असंयोगी ज्ञाता स्वरूप है। उसे जाने विना जितना जो कुछ करता है वह सब वृथा है।

अनादिकाल से कभी यथार्थ वस्तु का विचार नहीं किया। 'मैं हूँ' तो मेरे स्वरूप को समझने का, प्राप्त करने का उपाय भी होना ही चाहिये-वह तो है ही। प्रत्येक आत्मा में पूर्ण स्वरूप को समझने की, सूक्ष्म से सूक्ष्म बात को ग्रहण करने की और परमात्मदशा-सिद्धदशा प्रगट करने की शक्ति प्रतिसमय त्रिकाल विद्यमान है। तथापि विपरीत मान्यता की जड़े बहुत गहरे तक पहुँची हुई हैं इसलिये वह उसे नहीं मानता। अपने स्वरूप को समझना अपने को ही कठिन मालूम हो-ऐसा नहीं हो सकता; किंतु रुचि नहीं है और अनादिकाल से अपने स्वरूप का अनभ्यास बना हुआ है तथा पर के प्रति प्रेम है इसलिये उसे कठिन मानता है।

जहाँ पूर्ण स्वरूप निश्चय का आश्रय हो वहाँ भेदरूप व्यवहार होता है। यह बात तीनकाल और तीनलोक में यथार्थ नहीं हो सकती कि व्यवहार करते-करते निश्चय प्राप्त हो जाता है। निश्चय-परमार्थ की श्रद्धा से पूर्व और श्रद्धा के पश्चात् शुभभावरूप व्यवहार होता तो है, किंतु उससे निर्मलता प्रगट नहीं होती। मैं अनन्तगुण का पिंड हूँ, निर्विकार आनन्दकन्द हूँ, इसप्रकार पूर्ण का लक्ष करने पर, निर्मल अखण्ड की महिमा के होने पर सम्यक्‌दर्शन प्रगट होता है, और इस सम्यक्‌दर्शन के साथ प्रत्येक गुण की आंशिक निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

परमार्थदृष्टि का विषय संपूर्ण वस्तु है यह खयाल में आये विना व्यवहार सच्चा नहीं होता। व्यवहार का विषय अवस्था है, वह सदा

स्थिर रहने वाली नहीं है इसलिये ग्राह्य नहीं है। जहाँ जो जैसा हो वहाँ उसे वैसा जानना मात्र ही व्यवहार का प्रयोजन है। पूर्ण पर भार होने से अपूर्ण निर्मल पर्याय पूर्ण हो जाती है। जैसे सोने की डली में उच्च एवं सूक्ष्म कलामय होजाने की शक्ति है यह निश्चयपूर्वक जानने के बाद यह चिंता नहीं करनी पड़ती कि इसमें यह कला प्रगट होगी या नहीं; इसीप्रकार अखण्ड ध्रुव आत्मा को यथार्थतया यह जान लेने पर कि मैं सर्वज्ञ भगवान के समान ही हूँ और उन जैसी ही संपूर्ण शक्ति मुझमें भी है, एवं वह पूर्ण दशा मुझसे ही प्रगट होगी—यह चिन्ता नहीं रहती कि शुद्ध स्वभाव कैसे प्रगट होगा। मैं त्रैकालिक अनन्तशक्ति का पिंड हूँ, उसके बल से निर्मल दर्शन, ज्ञान, चारित्र की अवस्था प्रगट होती है। उस अवस्था को अखण्ड के आश्रय पूर्वक जानना सो निश्चय-व्यवहार की संधि है।

यह सब अंतरंग के अरूपी धर्म की बात है। इसे वही जानता है जिसने अंतरंग मार्ग के रहस्य को प्राप्त किया हो अथवा जो उसे प्राप्त करने का प्रयास करता है; दूसरा कोई नहीं जान सकता।

आत्मा पर-निमित्त के भेद से रहित, अनंत गुणों का पिंड, अनादि-अनंत, एकरूप है। उसकी संसार अवस्था (भूल और अशुद्धता) अनादि शात है, मोक्ष अवस्था सादि अनंत है। इसप्रकार एक अखण्ड तत्व में बंध-मोक्ष, मलिनता—निर्मलता इत्यादि दो-दो पहलुओं के भेदरूप अवस्था को देखने वाली दृष्टि को गौण करके, त्रैकालिक ध्रुव एकाकार पूर्ण वस्तु का निर्मल अभेद लक्ष करने पर उसके बल से निर्मल सम्यक्दर्शन-ज्ञान—चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है, और उस अखण्ड के बल से क्रमशः बढ़ते—बढ़ते पूर्ण निर्मल मोक्षदशा प्रगट होती है। वह दोनों व्यवहार हैं। मोक्षदशा प्रगट होने से पूर्व शुद्धदृष्टि पूर्वक अशुभ से बचने के लिये शुभ का अवलंबन होता है, वह असद्भूत व्यवहार है। उन (व्यवहार और निश्चय) दोनों नयों के ज्ञान की आवश्यका बत-लाते हुए कहा है कि:—

"जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं॥"

अर्थ:—भगवान कहते हैं कि हे भव्यजीवो! यदि तुम जिनमत को प्रवर्तित करना चाहते हो तो अखण्ड परमार्थदृष्टि और तदाश्रित अवस्था में होने वाले भेद को जानने वाली व्यवहारदृष्टि (व्यवहार और निश्चय दोनों नयों) की अविरोधी संधि को मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहार-नय के बिना तीर्थ—व्यवहार मार्ग का नाश हो जायेगा और निश्चयनय के बिना तत्व (वस्तु) का नाश हो जायेगा।

कोई कहता है कि—मुझे 'अच्छा' (कल्याण) करना है तो उसका यह आशय हुआ कि जिसमें बुराई का अंश न आये किंतु संपूर्ण अच्छा रहे, नित्य स्थिर रहे, उसके उपाय में किसी अन्य का आश्रय न लेना पड़े। जो ऐसा होता है वह यथार्थ हित-'अच्छा' कहलाता है।

जिसे हित करना है वह अहितरूप वर्तमान अवस्था को बदलना चाहता है और हितयुक्त अवस्था को प्रगट करके उसमें स्थिर होना चाहता है। क्योंकि यदि अपनी अवस्था विकाररूप—अहितयुक्त न हो तो अहितपन से रहित हितयुक्तता होने की अपेक्षा कहाँ से आयेगी? मैं मात्र हित का इच्छुक हूँ इसलिये जो हित है वह बना रहेगा और उस हित में जो विरोधरूप अहितपन है उसे अलग कर दूँगा, इसप्रकार नित्य-स्थायी और अवस्था को बदलने वाली दो अपेक्षाएं (निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों की दृष्टि) होगईं। जिसे आत्मा का निर्मल स्वभाव प्रगट करना है उसे यह दो नय (ज्ञान की दो अपेक्षाएं) जानना चाहिये।

कोई कहता है कि 'मुझे भूल और विकार दूर करना हैं।' जो दूर हो सकता है वह अपने स्वभाव में नहीं है और जिसका नाश करना चाहता है वह रखने योग्य त्रैकालिक स्वभाव से विरोधी है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो नित्य एकरूप स्थायी है वह अच्छा है—ग्राह्य है, और विरोधभाव दूर करने योग्य है। इसप्रकार ध्रुवस्वभाव के आश्रय से

अविरोधीभाव का उत्पाद और विकारी भाव का व्यय करना सो हित करने का उपाय है।

वस्तु में त्रिकाल सुख है, उसे भूलकर जो विकार के दुःखों का अनुभव कर रहा था उसकी जगह अविकारी नित्य स्वभाव के लक्ष से भूल को दूर करके भूल रहित स्वभाव में स्थिर रहने का अनुभव करने पर प्रतिसमय अशुद्धता का नाश और निर्मलता की उत्पत्ति होती है। इसलिये यदि वीतराग के मार्ग को प्रवर्तित करना चाहते हो तो निश्चय और व्यवहार दोनों अपेक्षाओं को लक्ष में रखना होगा।

जो उत्पाद-व्यय है सो व्यवहार है, और जो एकरूप ध्रुव वस्तु है सो निश्चय है-यह दोनों आत्मा में है। परद्रव्य में, देह की क्रिया में या पुण्य में व्यवहार और आत्मा में निश्चय, इसप्रकार दोनों भिन्न-भिन्न वस्तु में नहीं है।

अखण्ड ध्रुवस्वभाव के अभेद विषयरूप से यथार्थ श्रद्धा करने पर उसमें खोटी श्रद्धा का नाश, सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप निर्मल स्थिरता की अंशतः उत्पत्ति और अखण्ड वस्तु ध्रुव यथावत् अखण्ड और खण्ड को जानने वाले दो नय वीतराग स्वभाव को प्रगट करने के लिये जानना आवश्यक हैं। नित्य एकरूप वस्तु की प्रतीति और आश्रय के बिना बदलकर कहाँ रहा जायेगा? इसलिये यदि परमार्थरूप ध्रुव निश्चय को नहीं जाना जायेगा तो वस्तु का नाश ही जायगा, और वस्तु का नाश मानने से अवस्था का भी नाश हो जायेगा। और यदि वर्तमान अवस्था को वह जैसी है वैसा न जाने तो व्यवहारनय का विषय पुरुषार्थरूप मोक्षमार्ग लोप हो जायगा। क्योंकि अखण्ड वस्तु का लक्ष वर्तमान पर्याय के द्वारा होता है और पर्याय का सुधार द्रव्य के लक्ष से होता है। पर्याय तो वर्तमान वर्तनरूप अवस्था है, उसे वह जैसी है वैसा न जाने तो व्यवहार धर्म-मोक्षमार्ग का लोप हो जायेगा।

आत्मा अनादि अनन्त वस्तु है, पर से भिन्न और अपने अनन्त गुण एवं त्रिकाल की अवस्था से अभिन्न है। उसमें प्रतिक्षण अवस्था

बदलती रहती है। यदि अवस्था न बदले तो दुःखरूप अवस्था को दूर करके सुख नहीं हो सकता। सभी जीव आनन्द-सुख चाहते हैं किंतु उन्हे यह खबर नहीं है कि वह कहाँ है और उसे प्राप्त करने का क्या उपाय है। सुख और सुख का उपाय अपने में ही है किन्तु उसकी सच्ची श्रद्धा नहीं है। पर में कल्पना से सुख मान-रखा है किन्तु वास्तव में पर के आश्रय से सुख नहीं हो सकता। सबको चिरस्थायी सुख चाहिये है, किसी को दुःख अथवा अपूर्ण सुख नहीं चाहिये। अनन्तकाल से सुख के लिये सभी प्रयत्न करते हैं इसलिये यह स्वतः सिद्ध है कि लोग कहीं सुख के अस्तित्व को स्वीकार तो करते ही हैं, और उसे प्राप्त करने का उपाय भी अपनी कल्पना के अनुसार करते हैं। दूसरे को मारकर, परेशान करके, अपमान के प्रसंग में उसकी हत्या करके भी आई हुई प्रतिकूलता का नाश करना चाहते हैं। अज्ञानी जीव पहले मरण को महात्रासदायक मानता था किंतु कोई अनादर अथवा बाह्य प्रतिकूलता का प्रसंग आने पर उससे दूर होने के लिये अब जीने में दुःख मानकर मरण को सुख का कारण मानता है। इसप्रकार जगत के प्राणी किसी भी प्रकार से सुख को प्राप्त करने के लिये हाथ पैर खेपते हैं इसलिये यह सिद्ध है कि वे सुख का और सुख के उपाय का अस्तित्व तो स्वीकार करते ही हैं; किंतु उन्हें यह खबर नहीं है कि वास्तविक सुख क्या है, वह कहाँ है और कैसे प्रगट हो सकता है, इसलिये वे दुखी ही बने रहते है।

अब यहाँ यह कहते हैं कि निश्चय और व्यवहार किसप्रकार आता है।

लोग धर्म के नाम पर बाह्य-प्रवृत्ति में व्यवहार मानते हैं। वे यह मानते हैं कि यदि पुण्य करेंगे या शुभभाव करेंगे तो लाभ होगा। किंतु वे उसमें नहीं देखते जो आत्मा ही अनन्तगुण का धाम-पूर्ण सुख का सत्तास्थान है। सुख के लिये मृत्यु का इच्छुक अज्ञानभाव से वर्तमान समस्त संयोगों से छूटना चाहता है, इसलिये परवस्तु के बिना-

अकेला रहूँ तो सुख होगा ऐसा मानकर एकाकी रहकर सुख लेना चाहता है, इसलिये यह स्वीकार करता है कि-मात्र अपने में ही अपना सुख है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो पर के आश्रय से रहित सुख रहता है वही सच्चा सुख है। इससे तीन बातें निश्चित होती हैं:—

(१) सुख है (२) सुख का उपाय है (३) पर के आश्रय से रहित स्वयं अकेला पूर्ण स्वाधीन सुखस्वरूप स्थिर रहने वाला है। ऐसा होने पर भी अपने को भूलकर दूसरे से सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। सुख की पूर्ण प्रगट दशा मोक्ष है और पूर्ण सुख को प्रगट करने का उपाय मोक्षमार्ग है।

आनंद आत्मा में है, इसकी खबर न होना सो अज्ञानभाव है। और ज्ञान-आनंद मुझमें ही है, पर के संबंध से मेरा ज्ञान-आनद नहीं है, ऐसी श्रद्धा का होना ज्ञानभाव है।

मात्र तत्त्व (अपने शुद्धस्वभाव) में विकार (पुण्य-पाप के शुभाशुभ-भाव) नहीं हो सकते; किन्तु आत्मा के साथ कर्म-जड़ रजकण का जो निमित्त है वह पर के अवलम्बन से वर्तमान विकार होता है। अशुभ भाव को छोड़कर तृष्णा को कम करने के लिये शुभभाव ठीक है, किन्तु उन शुभभावों से अविकारी आत्मा का धर्म नहीं हो सकता। आत्मस्वरूप को यथार्थतया नहीं समझता और आँखें बन्द करके बैठा रहता है, तब अंधेरा ही तो दिखाई देगा और बाहर जड़ की प्रवृत्ति दिखाई देगी। अज्ञानी यह मानता है कि रुपया पैसा देने से धर्म होता है —परमार्थ होता है किन्तु रुपया पैसा तो जड़ है, उसके स्वामित्व का भाव ही विकारी है। जड़ वस्तु जीव के आधीन नही है। जो स्वामित्व भाव से राग और पुण्य के काम करता है उसे अरूपी, अतीन्द्रिय, साक्षीस्वरूप, ज्ञाता-दृष्टास्वभाव की प्रतीति नहीं है। पहले से ही किसी भी ओर से कोई विरोध न आये ऐसी दृढ़ श्रद्धा के द्वारा सर्वज्ञ के न्यायानुसार आत्मा में अखण्ड पूर्ण वस्तु का निर्णय करना चाहिये; उसके बिना पर का कर्तृत्व-स्वामित्व माने बिना नहीं रहता।

मोक्षरूपी फल के लिये निश्चयनय और व्यवहारनय—इन दो अपेक्षाओं को जानना चाहिये। दही को बिलोकर मक्खन निकालने के लिये जब मथानी चलाई जाती है तब उसमें रस्सी तो एक होती है किन्तु उसके छोर दो होते हैं; उसमें से जब एक छोर को खींचते हैं तब दूसरे छोर को छोड़ देने से काम नहीं चल सकता, और जब दूसरी ओर के छोर को खींचते हैं तब पहले छोर को नहीं छोड़ देते। और एक ही साथ दोनों छोरों को खींचने से काम नहीं चलता तथा एक ही साथ दोनों छोरों को छोड़ देने से भी काम नहीं बनता, किन्तु एक को खींचते समय दूसरे को ढ़ीला करने से मथानी चलती है, दही बिलोया जाता है और तब मक्खन निकलता है। इसीप्रकार भगवान आत्मा अनादि अनन्त है, अपनी अनन्त गुणरूपी शक्ति से एकरूप है; उसे अभेद ध्रुवरूप जानना सो निश्चय है। उस निश्चय के द्वारा जब अखण्ड वस्तु पर भार देना होता है तब विकार और निर्मल अवस्था के भेद गौण हो जाते हैं। अवस्था के बिना द्रव्य का लक्ष नहीं होता और वस्तु के लक्ष के बिना अवस्था निर्मल नहीं होती। ग्यारहवीं गाथा में त्रैकालिक अखण्ड स्वभाव की मुख्यता होने से और अवस्था के जितने भेद होते हैं वे सब क्षणिक होने से उन्हे अभूतार्थ कहकर व्यवहारनय को गौण किया था किंतु यदि अवस्था का निषेध करे तो विकार का नाश और अविकारी निर्मल अवस्था का प्रगट होना कैसे बन सकता है? मोक्षमार्ग में दो प्रकार जिस–जिस भूमिका में जैसे होते हैं उन्हें यदि वैसा न जाने तो ज्ञान की भूल होजाती है और ज्ञान की भूल से व्यवहार तथा परमार्थ दोनों में भूल हो जाती है; इसलिये सच्चा पुरुषार्थ नहीं हो सकता और जिनमार्ग (वीतराग मार्ग) का नाश हो जाता है। इसलिये भगवान ने कहा है कि—यदि निर्मल आनन्द की पूर्ण अवस्था प्रगट करना चाहते हो तो दोनों अपेक्षाओं को लक्ष में रखना।

यदि वर्तमान में विकार न हो तो दुःख का संवेदन किसे हो? देह को तो कुछ खबर होती नहीं है और ज्ञाता ने अपनी वर्तमान अवस्था

में जो परसम्बन्ध के लक्ष से भूल तथा विकार किया है वह क्षणिक अवस्था मात्र के लिये है। विकार अविकार की विपरीत दशा है। वर्तमान अवस्था में प्रवर्तमान विकार अखण्ड ध्रुवस्वभाव के लक्ष से दूर होजाता है। विकार का नाश और अविकारी अवस्था का होना तथा उसे जानने वाली व्यवहारदृष्टि एवं नित्य अखण्ड वस्तु की लक्षभूत निश्चयदृष्टि दोनों प्रयोजनवान हैं। अर्थात् ज्ञान करने योग्य है।

निश्चय और व्यवहार दोनों भीतर अरूपी तत्व में हैं, उसे जाने बिना निर्मलता का पुरुषार्थ नहीं होता। अखण्ड तत्व के आश्रयपूर्वक जानने में हेय-उपादेय का विवेक करने वाला ज्ञान निर्मल होता है; पूर्ण निर्मल होने पर भेदरहित केवलज्ञान संपूर्ण ज्ञान प्रमाण होता है। जैसे मक्खन के तैयार हो जाने पर मथानी की रस्सी के दोनों छोर को पकड़ने का काम पूरा हो जाता है, उसीप्रकार पूर्ण वीतरागतारूप केवलज्ञान के हो जाने पर पूर्ण प्रमाण हो जाता है, और तब वहाँ दो नयों का भेद नहीं रहता, उसमें निश्चय व्यवहार के दो पहलू गौण-मुख्य नहीं होते।

जहाँ पूर्ण वीतरागदशा नहीं होती वहाँ बीच में शुभभावरूप व्यवहार आये बिना नहीं रहता। वह शुभभाव असद्भूत व्यवहार है। वह वस्तु में नहीं होता किंतु परावलंबन से नया होता है। अखण्ड निर्मल के लक्ष से जितनी स्थिरता होती है वह सद्भूत व्यवहार है। निश्चयदृष्टि में भंग की अपेक्षा नहीं होती। आत्मा अखण्ड, ध्रुव, एकाकार, ज्ञायक है, ऐसे अकषायभाव के लक्ष से अमुक अंश में निर्मलभाव प्रगट होते है, उसके साथ जितना शुभभाव होता है उसे उपचार से गुण में निमित्त कहना सो असद्भूत व्यवहार कहलाता है। किंतु जिसकी यथार्थ निरावलम्बी गुण की दृष्टि नहीं है उसका शुभभाव उपचाररूप व्यवहार भी नहीं है।

अशुभ से बचने के लिये शुद्धस्वरूप के सन्मुख रहकर अपनी भूमिका के अनुसार ज्ञानी के शुभभाव होता है किन्तु उससे वह लाभ नहीं

मानता। वह यह जानता है कि-जितना राग दूर हुआ उतना भाव निर्मल होता है। वह यह कदापि नहीं मानता कि-शुभभाव में युक्त होना राग को दूर करने का उपाय है; किन्तु वह यह मानता है कि अखण्ड निर्मलस्वभाव पर निर्मलश्रद्धा की शक्ति लगाने से, अभेद में एकाग्र दृष्टि से उन्मुख होने से निर्मल पर्याय प्रगट होती है। शुभ की प्रवृत्ति से राग मंद होता है किन्तु उसका अभाव नहीं होता। शुभ प्रवृत्ति धर्म का सच्चा उपाय नहीं है; किन्तु निवृत्त स्वरूप के अभेद लक्ष से स्थिर होना सच्चा उपाय है। अंतरंग विषय का मेल किसी बाह्य प्रवृत्ति के साथ नहीं होता, गुण-गुणी से प्रगट होता है; इसकी विधि अंतरंग तत्त्वदृष्टि वाले ही जानते हैं।

भावार्थ---सौटंची सोना प्रसिद्ध है, यदि सौटंच से किंचित् न्यून हो तो उसमें पर-संयोग की कालिमा रहती है, इसलिये ताँवे के उपचार से सोना अशुद्ध कहलाता है। वही सोना जब ताव देते देते अंतिम-ताव से उतरता है तब सौटंची शुद्ध सोना कहलता है। जिन लोगों को सौटंची सोने का ज्ञान श्रद्धान और प्राप्ति हो चुकी है उन्हें उससे कम के सोने का कोई प्रयोजन नहीं होता किन्तु जिन्हें सौटची शुद्ध सोने की प्राप्ति नहीं हुई है उन्हे सौटंची से कम का सोना भी प्रयोजनवान होता है। इसीप्रकार यह जीव नामक पदार्थ पुद्गल के संयोग से अशुद्ध-अनेकरूप हो रहा है। सर्व परद्रव्यों से भिन्न, एक ज्ञायकत्व मात्र का ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरणरूप प्राप्ति-यह तीनों जिसे हो गये हैं उसे पुद्गल संयोगजनित अनेक रूपता को कहने वाला अशुद्धनय कुछ प्रयोजनवान (किसी मतलब का) नहीं होता; किन्तु जहाँतक शुद्ध भाव की प्राप्ति नहीं हुई वहाँतक जितना अशुद्धनय का कथन है उतना यथापद प्रयोजनवान है। जिन जीवों को सौटंची शुद्ध स्वर्ण की भाँति पूर्ण केवलज्ञान प्राप्त हो गया है उन्हें श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र के भेदों को जानना शेष नहीं रहता, उन्हें उनका ज्ञान तो पहले ही हो चुका है। आत्मा में उन्नतिक्रम की चौदह भूमिकाऐं है। उसमें धर्म का प्रारंभ

चौथी भूमिका (चतुर्थ गुणस्थान) से निर्विकल्प अनुभव सहित, श्रद्धा के द्वारा पूर्णस्वरूप आत्मा की प्रतीति होने पर होता है। पश्चात् अखण्ड निर्मल वस्तु के लक्ष के बल से क्रमशः निर्मलता बढ़कर पूर्ण निर्मल केवलज्ञान प्रगट होता है। वहाँ पूर्णरूप स्व-वस्तु में पूर्ण निर्मल पर्याय की एकता होकर अखण्ड प्रमाण होता है। फिर निश्चय-व्यवहार की गौणता-मुख्यता के भेद नहीं रहते।

यद्यपि गन्ने में रस होता है किंतु छिलके के संयोग को देखने पर रस अलग नहीं दिखाई देता; तथापि रस और छिलका भिन्न है ऐसे ज्ञान के बल से रस और छिलका अलग किया जाता है। तिल में जो खली होती है वह तैल का स्वरूप नहीं है, तथापि उसमें वर्तमान में तैल है यह जानने पर तैल के लक्ष से खली को जुदा किया जाता है। इसीप्रकार भगवान आत्मा के पुद्गल कर्म के संयोग से अवस्था में राग, द्वेष, अज्ञान के विकारीभाव होते है वे वर्तमान एक-एक समयमात्र के है, और अन्तरंग में अखण्ड स्वभाव पूर्ण अविकारी ध्रुव है, यह जानले तो विकार दूर किया जा सकता है। भेद के लक्ष से राग होता है, और अखण्ड गुण के लक्ष से राग दूर होता है।

आचरण का अर्थ इसप्रकार है:- आ = अनादि अनन्त एकाकार ज्ञान-आनन्दस्वरूप आत्मा है उसकी मर्यादा में, चरण=चलना, जमना, स्थिर होना। पुण्य-पाप के भेद से रहित अकषाय भाव की स्थिरता को सर्वज्ञ भगवान ने चारित्र कहा है। ऐसा समझे बिना मात्र बाह्य-प्रवृत्ति को चारित्र मानले और व्यवहार-व्यवहार किया करे किन्तु समझे कुछ भी नहीं तो उसे धर्म कहाँ से होगा ?

स्फटिक मणि में जैसे अपनी योग्यता[1] से लाल-काला प्रतिबिम्ब दिखाई देता है तथापि वह उसका मूल स्वभाव[2] नहीं है, इसीप्रकार आत्मा

१ योग्यता=क्षणिक अवस्था जिसे बदला जासकता है।

२ स्वभाव=जो पर-निमित्त के आश्रय के बिना एकरूप स्थिर रहे।

में अज्ञानभाव से पुण्य-पापरूप अवस्था होने की योग्यता है। वह विकारी अवस्था आत्मा में होती है, उसका कर्ता अज्ञानी जीव स्वयं है; उसमें परवस्तु निमित्त कहलाती है। मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, पर का कर्ता हूँ ऐसी मान्यता-भूल करने की योग्यता जीव में न हो और पर-निमित्त बलात् भूल कराये, ऐसा नहीं हो सकता।

क्षणिक विकार मेरा स्वभाव नहीं है, देहादिक कोई परवस्तु मेरी नहीं है, मैं त्रैकालिक एकरूप ज्ञायक हूँ, विकार का नाशक हूँ-ऐसी श्रद्धा सम्यक्दर्शन है।

मुझमें कर्म का आवरण नहीं है, जड़कर्म अपनी जड़ अवस्था के रूप में अपने क्षेत्र में रहता है; उसके आश्रय से होने वाला विकार भी परमार्थ से मेरा नहीं है, मै अज्ञान भाव से उसका कर्ता बन गया था। मेरा स्वभाव त्रिकाल अविकारी है, ऐसे स्वभाव की प्रतीति में पर-निमित्त का भेद-विकार दिखाई नहीं देता। आत्मा के साथ एक आकाश क्षेत्र में दूसरी वस्तु है, उसके निमित्त से अपनी योग्यता से भूल के कारण पुण्य-पाप के भाव वर्तमान अवस्थामात्र तक होते हैं; वे मेरे हैं, करने योग्य हैं, इसप्रकार जो मानता है उसे यह श्रद्धा नहीं है कि आत्मा विकार का नाशक और सदा अविकारी स्वभाव है। मेरे स्वभाव में कर्म नहीं है, विकार नहीं है, पर का संयोग नहीं है, मेरा स्वभाव किसी के आधीन नहीं है, ऐसी स्वतंत्र ध्रुवस्वभाव की श्रद्धा होने पर निर्विकल्प अनुभव सहित,अखण्ड ध्रुवदृष्टि में पूर्ण की प्रतीति होती है।

इस यथार्थ समझ के बिना, दृष्टि में परिपूर्ण स्वभाव यथार्थतया लक्ष में आये बिना निर्मल स्वभाव के लक्ष से विकारी अवस्था का नाश, निर्विकारी अवस्था का उत्पाद (व्यवहार) और अविनाशी चैतन्य वस्तु ध्रुव है (निश्चय) ऐसी व्यवहार-निश्चय की अविरोधी संधि नहीं होसकती।

कोई रजकण की क्रिया मेरी नहीं है। अंगुलि संचारन भी आत्मा के आधीन नहीं है। परवस्तु का कोई कार्य कोई आत्मा व्यवहार से

भी नहीं कर सकता, क्योंकि प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक जड़वस्तु भिन्न-भिन्न है, स्वतंत्र है। प्रत्येक वस्तु में अवस्था की उत्पत्ति, विनाश और वस्तुत्व के रूप में स्थिर रहना (उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य) निज से ही होता है। किसी की क्रिया किसी के आधार से नहीं होती। किसी को किसी से हानि-लाभ नहीं हो सकता। पर के अवलंबन से आत्मा में होने वाला विकारीभाव क्षणिक अवस्था तक ही है, वह आत्मा का ध्रुवस्वभाव नहीं है। मैं विकार का नाशक और गुण का रक्षक हूँ-ऐसी यथार्थ प्रतीति के बिना पूर्ण स्वरूप की प्रतीतिरूप सम्यक्दर्शन की आत्मानुभव सहित प्राप्त नहीं होती। जो बाह्य प्रवृति से और बाह्य में ही धर्म मान बैठे हैं वे तत्वज्ञान का विरोध करते है, क्योंकि उन्हे पर से भिन्न अविकारी परमार्थस्वरूप का अनादिकाल से विस्मरण और पर का स्मरण विद्यमान है। सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कही गई वस्तु अनादिकालीन अनभ्यास के कारण समझना दुर्लभ होगई है; वैसे वह स्वभावतः सहज है, यदि स्वतः तैयार होकर समझना चाहे तो दुर्लभ नहीं है। पुण्य-पाप की भावना प्रतिक्षण बदलती रहती है, वह आत्मा का ध्रुवस्वभाव नहीं है। ऐसे अविकारी स्वभाव की प्रतीति होने के बाद जबतक वीतराग नहीं हो जाता तबतक ज्ञानी जीव शुभाशुभभाव में युक्त होकर भी अन्तरंग से उसका कर्ता नहीं होता और उस भाव को करने योग्य नहीं मानता।

जहाँतक आत्मा पर से निराला, अखण्ड, ज्ञायक, असंग है; उसकी परमार्थ से यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान की प्राप्तिरूप सम्यक्दर्शन की प्राप्ति न हुई हो वहाँतक जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है ऐसे जिन-वचनों का सुनना और धारण करना आवश्यक है। किन्तु जिसे श्रवण ही नहीं करना है अथवा श्रवण करने के बाद जिसे सत्य-असत्य की तुलना नहीं करनी है वह यह क्योंकर निश्चय करेगा कि सच्चा उपदेश कौनसा है। पहले इतनी तैयारी के बिना वह न तो सत्य का जिज्ञासु है और न सत्य का शोधक या इच्छुक ही है।

जगत के समस्त धर्म, सभी देव और सभी गुरु सच्चे हैं, यह मानना सत्य और असत्य को एकसा मानने की मूढ़ता के समान है, अविवेक है। जब बाजार में एक पैसे की हण्डी लेने जाता है तब उसे खूब ठोक-बजाकर परीक्षा करके लेता है, तथा बाजार की अन्य कोई भी चीज जो जैसी दुकानदार देता है, उसे वैसी ही आँख बन्द करके नहीं ले लेता; तब फिर जो परमहितरूप आत्मा है जिसके यथार्थ स्वरूप को जानने पर अनंतभव की भूख मिट जाती है, उसमें अजान क्यों रहता है? अपूर्व वस्तु को समझाने में सच्चा निमित्त कौन हो सकता है इसकी पहले यथार्थ पहिचान करनी चाहिये। जो श्रोता यथार्थ वस्तु को समझने की परवाह नहीं करते और मध्यस्थ रहकर शोधकरुप से सत्य क्या है इसकी तुलना नहीं करते एवं चाहे जैसा उपदेश सुनकर उसमें 'हाँ जी हाँ' किया करते हैं वे ध्वजपुच्छ के समान हैं।

जैसे बरषा के दिनों में बालक धूल के घर बनाते हैं किंतु वे रहने के काम में नहीं आते उसीप्रकार चैतन्य अविनाशी स्वभाव क्या है? उसे समझे बिना अपनी विपरीत मान्यता के अनुसार शुभ विकल्प से, बाह्य क्रिया से, पुण्य-पाप में धर्म माने मनावे, किन्तु उससे अनित्य, अशरण और दुखरूप संयोग ही मिलता है। वह असंयोगी शाश्वत शांति का लाभ प्राप्त कराने के काम में नहीं आता। इसलिये जो सुखस्वरूप आत्मा है उसकी पहिचान स्वयं अपने आप निश्चित करनी पड़ेगी। अवस्था में भूल करनेवाला मैं हूँ, भूल को–दु·ख को जानने वाला 'मैं' भूलरूप या दु:खरूप नहीं हूँ, संयोगी अवस्था बदलती है किन्तु मैं बदल कर इसी में मिल नहीं जाता अथवा नाश को प्राप्त नहीं होता, भूल और विकारी अवस्था का नाश, अभ्रान्त–अविकारी अवस्था की उत्पति, और त्रिकाल एकरूप स्थिर रहने वाला मैं ध्रुवस्वरूप हूँ। यह उपदेश पूर्वापर विरोध रहित, है अथवा नहीं इसका निर्णय जिज्ञासुओं को करना चाहिये।

बहुमत को देखकर खोटे को खरा नहीं कहा जा सकता। 'हमारी देवी के बराबर बड़ा और कोई विश्व में नहीं है' ऐसा तो भील इत्यादि भी कहा करते हैं। भला, अपनी मानी हुई वस्तु को कौन हलका कहेगा ? प्रत्येक दुकानदार अपने माल को ऊँचा कहकर उसकी प्रसंशा करता है किन्तु ग्राहक उसकी परीक्षा किये बिना योंही नही ले लेता, देख-भालकर ही लेता है। इसीप्रकार जिससे यथार्थ उपदेश मिलता है ऐसे वीतरागी वचन कौन से है, और उनमे क्या कहा गया है, इसकी परीक्षा करनी चाहिये। वीतराग के वचन मे कही से भी कोई विरोध नहीं आसकता। प्रत्येक तत्व भिन्न और स्वतन्त्र है। जीव अनादि-काल से समय-समय पर वर्तमान क्षणिक अवस्था में भूल और विकार करता चला आया है, वह भूल और विकार त्रैकालिक शुद्धस्वभाव के लक्ष से स्वाधीनतया दूर किया जा सकता है। राग-द्वेष की अवस्था को जानकर, राग-द्वेष रहित अविनाशी स्वरूप को जाना और उसकी श्रद्धा के द्वारा राग को दूर करने का उपाय करके वीतरागदशा प्रगट की; इसमें निश्चय और व्यवहार दोनों की अपेक्षा आगई। इसप्रकार एक तत्व मे दो प्रकार है-जिसे यह खबर नहीं है उसे वीतराग के वचन की यथार्थ पहिचान नहीं है।

पहले यह जानना होगा कि-यथार्थ उपदेश कहॉ से प्राप्त होता है, उसकी परीक्षा करनी पडेगी। जहॉं अपने में अपूर्व तत्व को समझने की जिज्ञासा होती है वहॉ सत्य को समझाने वाले मिल ही जाते है, समझाने वाले की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती यदि कदाचित् ज्ञानी का योग न मिले तो सच्ची आंतरिक लगन वाले जीव को पूर्वभव के सत् समागम का अभ्यास याद आजाता है। उपदेश के सुन लेने मे तत्व को समझ ही लिया जाता हो सो बात नही है, किन्तु जब समझने की तैयारी हो तब उपदेश का निमित्त उपस्थित होता है। और जब स्वय समझता है तब निमित्त का आरोप करके उसे उपकारी कहा जाता है। यदि मात्र सुनने से ही ज्ञान होजाता हो तो वह सबको होना

चाहिये । घड़े के साथ घी का संयोग होने से वह (घी के आरोप से) व्यवहार से 'घी का घड़ा' कहा जाता है, और पानी के घड़े के संयोग से पानी का घड़ा कहलाता है किन्तु वास्तव में वे घड़े मिट्टी के होते हैं । इसीप्रकार जिसमें सत्य को समझने की शक्ति थी उसने जब सत्य को समझा तब साथ ही संयोग भी विद्यमान था इसलिये विनय-भाव से व्यवहार में यह आरोपित करके कहा जाता है कि–उस संयोग से धर्म को प्राप्त किया है । यदि निश्चय से ऐसा मानले तो कहना होगा कि उसने दो तत्वों को भिन्न नहीं माना है । जब जन्म-मरण के दुःख और पराधीनता की वेदना मालूम हो और यह श्रद्धा में आये कि कोई अनित्य संयोग मुझे शरणभूत नहीं है; तब शरणभूत वस्तु क्या है, सत् क्या है यह जानने की अंतरंग से उत्कट आकांक्षा उत्पन्न होती है; इसप्रकार अपूर्व सत् क्या है यह जानने के लिये तैयार हुआ और सत् को जाना तब जिस ज्ञानी का संयोग होता है वह निमित्त कहलाता है।

प्रश्नः—समझने वाला बिना ही सुने यथार्थ-अयथार्थ का निश्चय कैसे करेगा ?

उत्तरः—जहाँ आत्मा की पात्रता होती है वहाँ श्रवण करने को मिलता ही है, किन्तु यथार्थ–अयथार्थ का निश्चय करने वाला आत्मा स्वय ही है । एकबार स्वयं जागृत होने पर संदेह नहीं रहता । जहाँ मुक्त होने की तैयारी हुई, अनन्तकाल के जन्म-मरण का नाश और अविकारी मोक्षभाव की उत्पत्ति तथा प्रारम्भ हुआ वहाँ संदेह रह ही नहीं सकता। मैं नित्य स्व-रूप से हूँ पर-रूप से नहीं हूँ, तब फिर मुझे परवस्तु लाभ या हानि नहीं कर सकती । जो ऐसा निःसंदेह विश्वास करता है कि स्वतंत्र हूँ, पूर्ण सामर्थ्यरूप हूँ, मुझमें पराधीनता नहीं है उसके भव शेष नहीं रहता । किंतु जिसके भव का संदेह दूर नहीं होता उसे निःसंदेह स्वभाव का संतोष और सर्व-समाधानरूप शांति प्रगट नहीं होती।

यथार्थ वस्तु की प्रतीति होने के बाद चारित्र की अल्प अस्थिरता रहती है किंतु स्वभाव में और पुरुषार्थ में संदेह नहीं रहता ।

अज्ञात स्थान में अन्धे आदमी को निधड़क पैर उठाकर चलने का साहस नहीं होता, क्योंकि उसे यह शंका बनी रहती है कि यह मार्ग सीधा होगा या कहीं कुछ टेढ़ा-मेढ़ा होगा ?

प्रश्नः—जब कोई मार्ग बताये तभी तो वह चल सकेगा ?

उत्तरः—दूसरा तो मात्र दिशासूचन ही कर सकता है कि भाई ! सीधे नाक की सीध में चले जाओ । यह सुनकर जब अपने को उसकी सज्जनता का विश्वास होता है तभी उस दिशा में निःशंक होकर कदम बढ़ाता है । इसीप्रकार सच्चे उपदेश को सुनकर भी यदि स्वयं निःसंदेह न हो तो उसका आंतरिक बल निर्मल स्वभाव की ओर उन्मुख नहीं हो सकता । वह यह मानता है कि 'बहुत सूक्ष्म बातों को समझकर और बहुत गहराई में जाकर क्या लाभ है ? अपने से जो कोई करने को कहता है सो किया करो, ऐसा करते करते कभी न कभी लाभ हो जायेगा' । किन्तु जबतक अपने स्वाधीन पूर्णरूप स्वभाव को जानकर उसमें निःसंदेह दृढ़ता न करे तबतक स्वभाव में स्थिर होने का काम नहीं हो सकता ।

प्रश्नः—कोई विश्वास पूर्वक कहे तभी तो माना जायेगा ?

उत्तरः—जब निज को अंतरंग से विश्वास का संतोष होता है और जो अपने को अनुकूल बैठता है उसे मानता है तब निमित्त में आरोपित होकर कहता है कि मैने इससे माना है; किन्तु वास्तव में तो मानने वाला उसे ही मानता है जो अपने भाव से अनुकूल बैठता है । जैसे कोई धनवान की प्रशंसा करता है तो वह वास्तव में उस धनिक व्यक्ति की प्रशसा नहीं करता, किन्तु अपने मन में धन का बड़प्पन जम गया है इसलिये उस जमावट के गुण गाता है; इसीप्रकार जब अपने अन्तरंग में बात जम जाती है तब निमित्त में आरोपित करके यह कहा जाता

है कि-मैंने यह प्रस्तुत व्यक्ति से समझा है। (जैसे घी का घड़ा कहा जाता है)

जो अनादिकाल से सत्यस्वरूप को नहीं जानता, उसने सत् को समझने की जिज्ञासा पूर्वक तैयारी करके यह कहा कि जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है उन वीतराग वचनों को सुनना चाहिये और धारण करना चाहिये, उसमें जहाँ सत् उपादान होता है वहाँ सत् निमित्त उपस्थित होता है—ऐसा मेल बताया है। असत् उपदेश सत् के समझने में निमित्त नहीं होता। सत्समागम की महिमा बताने के लिये श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि "दूसरा कुछ मत ढूँढ़; मात्र एक सत् पुरुष को ढूँढ़कर उसके चरणकमल में (आज्ञा* में) सर्वभाव समर्पित करके प्रवृत्ति किये जा; फिर भी यदि मोक्ष न मिले तो मेरे पास से लेना"। त्रिकाल के ज्ञानियों ने जिसप्रकार निःशंक स्वभाव की प्रतीति की है, करते हैं और करेंगे उसी के अनुसार जो निःशंक होकर चला जाय वह वापिस हो ही नहीं सकता—मोक्ष को अवश्य प्राप्त करेगा;—ऐसा विश्वास दिलाते हैं।

जिसे सत् की यथार्थ आकांक्षा उत्पन्न हुई है उसे यथार्थ उपदेश मिले विना नहीं रहता। जैसे जंगल में जो अंकुर बढ़ने के लिये उगे हैं उन्हे वरषा का निमित्त मिले बिना नहीं रहता। इसीप्रकार जिसने अन्तरंग स्वभाव से पूर्ण सत् को प्राप्त करने की तैयारी की है उसके लिये अनुकूल निमित्त (निमित्त के स्वतंत्र कारण से) उपस्थित होता ही है। किसी को भी तैयार होने के वाद निमित्त के लिये रुकना नहीं पड़ता ऐसा त्रिकाल नियम है। ऐसा वस्तुतत्व स्वतंत्र है। निमित्त की संयोग-रूप से उपस्थिति मात्र है, किन्तु वह उपस्थिति वस्तु के लिये किंचित् मात्र सहायता नही कर सकती, क्योंकि प्रत्येक वस्तु सदा भिन्न-भिन्न है और सम्पूर्ण स्वतंत्र है। स्वतंत्र वस्तु को किसी दूसरी वस्तु की सहायता नहीं होती।

---

*आज्ञा=जैसा स्वतंत्र स्वभाव है उसका ज्ञान। आ=मर्यादा, ज्ञा=ज्ञान।

जो ऐसे तत्त्वज्ञान का विरोध करते है वे वनस्पति आदिक एकेन्द्रिय पर्याय में उत्पन्न होकर तुच्छदशा को प्राप्त होते है; और उसी में अनत-काल तक अनन्त जन्म-मरण करते है। तब सत् का विरोध करने से चैतन्यशक्ति अत्यन हीन होकर ढक जाती है और वह अनन्तकाल में दो इन्द्रिय के रूप में भी उत्पन्न नही होते।

जिन्हे सत् के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं चाहिये, मात्र ज्ञानी के द्वारा कही गई विधि से स्वतंत्र सत् को ही समझना है और मोक्ष ही प्राप्त करना है ऐसे यथार्थ जिज्ञासा के अकुर जिनके अन्तरंग में अंकुरित हुए हैं उन्हे सदुपदेशक का समागम अवश्यमेव प्राप्त होता है।

अमुक उपदेश में यथार्थता है या नहीं, इसका यथार्थ निर्णय करने में आत्मा स्वय ही कारण है। वह किसी के आधीन नही है-ऐसा अकारण स्वतंत्र द्रव्य है। क्योंकि वह स्वय अनादि-अनत सत्स्वरूप है। अपनी परवाह करे तो सत् समझ में आये-समझने का उत्साह निज मे से ही आता है और उसमे स्वय ही कारण होता है। जहाँ यथार्थ का निर्णय करने की अपनी तैयारी है वहाँ वैसा ही निमित्त उपस्थित होता है। समझने के बाद उपचार से विनय के लिये कहा जाता है कि:—

क्या प्रभु चरणन में धरूँ, आत्मा से सब हीन।
वह तो प्रभु ने ही दिया, रहूँ चरन आधीन॥

[आत्मसिद्धि पद १२५]

इसप्रकार जिसके गुण का प्रकाश हुआ है वह सत् की पहिचान होने से बहुमान करके उसकी महिमा को गाता हुआ कहता है कि-हे प्रभु! आपने मुझे निहाल कर दिया, आपने मुझे तार दिया। किन्तु वह अतरंग में जानता है कि मैं स्वत: करने वाला हूँ और तरने का उपाय भी मुझमें ही विद्यमान है, तथापि निमित्तारोपण करके उसका बहुमान करना है। इसमे अपनी ही स्वतन्त्रता की विज्ञप्ति है।

शास्त्रों में व्यवहार से बहुत कुछ कथन आता है, जो कि घी के घड़े और पानी के घड़े की भांति व्यवहारिक संक्षिप्त कथन शैली है; उसका परमार्थ अलग होता है। कोई द्रव्य पर-सत्ता के आधीन नहीं है। जिसने अनादिकाल से सत्स्वरूप को नहीं समझा वह भी जब समझने को तैयार होता है तब सत् को समझाने वाला निमित्त अवश्य उपस्थित होता है। जब स्वयं भीतर लक्ष करके स्वयं-स्वतः समझता है तब पर वस्तु निमित्तमात्र होती है, तथापि वह उपकारी कहलाती है। समझने के समय निमित्त को और सुनने की ओर के राग को भूलकर, अंतरंग में स्वलक्ष से ही समझा है, इसका कारण स्वयं अनंत शक्तिरूप स्वतंत्र द्रव्य है।

इसप्रकार यथार्थ जिन वचन-वीतराग वचन से समझना चाहिए, उसमें समझने वाले का भाव अपने उपादान का है। वह अपने पुरुषार्थ के द्वारा इसका निर्णय करता है कि यथार्थ उपदेश का निमित्त कौन है, वह सच्चे पुरुषार्थ से निज की अपूर्व जागृति करता है। यह पहले निश्चय करना चाहिये कि किसका वचन सत्य माना जाय। जो कुछ सुनने को मिलता है वह पूर्व-पुण्य का फल है। पुण्य परवस्तु है, वह परवस्तु का संयोग कराता है किन्तु उससे धर्म नहीं होता। वर्तमान में जीव सत्य को सुनने की जिज्ञासा करता है तथा ऐसा भाव करता है कि-संसार सम्बंधी राग को छोड़कर सत् समागम करूँ, सत्य को सुनने जाऊँ; इसप्रकार की सत् की ओर की रुचि तथा शुभ भावों का करना पूर्वकृत पुण्य का फल नहीं, किन्तु वर्तमान का नया पुरुषार्थ है।

वर्तमान के अशुभभाव को बदलकर नवीन प्रयत्न से शुभभाव किया जा सकता है। धर्म को सुनने की ओर की वृत्ति भी शुभभाव है। अशुभभाव को बदलकर नवीन शुभभाव करने से नवीन पुण्य-बंध होता है तथापि वह कुछ अपूर्व नहीं है, क्योंकि इस जीव ने पुण्य तो अनंतबार किया है। किन्तु यह उपदेश यथार्थ है या नहीं, और उसके कहने का आशय क्या है, इसे ठीक समझकर वस्तु का यथार्थ निर्णय करना सो वर्तमान में किया गया अपूर्व पुरुषार्थ है।

ग्यारह-बारहवीं गाथा की टीका में कुछ अपेक्षाएं आती है, उनका विवेचन यहाँ किया जारहा है:—

ग्यारहवीं गाथा में कहा है कि–सम्यक्दर्शन का लक्ष अखंड ध्रुव वस्तु पर है। उसके बल से सम्यक्दर्शन–ज्ञान–चारित्र और मोक्ष की अवस्था होती है। वह अवस्था है–भेद है। जैसे पानी का सहज स्वच्छ स्वभाव ढक गया है यह कहना व्यवहार–उपचारमात्र है; क्योंकि स्वभाव में अंतर नहीं पड़ता। अवस्था ढ़कती है और अवस्था प्रगट होती है; तथापि पर्याय के उपचारमात्र से कहदिया जाता है कि पानी का स्वभाव ढक गया। इसीप्रकार उपचार से कहा जाता है कि–प्रबल कर्म के मिलने से आत्मा का सहज ज्ञायकभाव ढक गया है, किन्तु सहजभाव नित्य एकरूप स्वभाव है, उसमें ढकने और प्रगट होने की अपेक्षा परमार्थ से नही होती; मात्र अवस्था (पर्याय) में मलिनता-निर्मलता का भेद होजाता है। वर्तमान अवस्था पर-संयोग के आधीन हुई है वैसा ही जो अपने को मान लेता है उसे यह खबर नहीं होती कि अपना अखण्ड सहज ध्रुव स्वभाव कैसा है। जिसे सहज वस्तु-स्वरूप की प्रतीति नहीं होती उसका सम्पूर्ण आत्मा ढक गया है–ऐसा पर्यायदृष्टि से कहा जाता है। जिसे त्रैकालिक वस्तु की प्रतीति होगई है उसकी निर्मल पर्याय प्रगट हुई है और उसका द्रव्य प्रगट हुआ है ऐसा उपचार से कहा जाता है। एक ज्ञायकभाव प्रकाशमान है ऐसा अनुभव करता है–ऐसा कहा सो त्रैकालिक ज्ञायकभाव का वर्त-मान पर्याय में अनुभव हुआ इस अपेक्षा को लक्ष में रखकर कहा गया है। जिसे निर्मल पर्याय का अनुभव नहीं है उसे अपनी अखण्ड वस्तु का अनुभव नही है ऐसा कहा है।

सम्यक्दृष्टि भूतार्थनय के आश्रित है, व्यवहारनय अभूतार्थ है, अर्थात् बंध-मोक्ष की अवस्था, सम्यक् और मिथ्याज्ञान की अवस्था तथा अशुद्ध और शुद्ध इत्यादि अवस्था के भेद व्यवहारनय का क्षणिक और अनेकरूप विषय है। उस भेद के लक्ष से निर्मलता प्रगट नहीं

होती। अल्पज्ञ को भेद के ऊपर लक्ष जाने पर राग हुए बिना नहीं रहता। और अनंतशक्तिरूप अखंड वस्तु ध्रुव है–भूतार्थ है, उसका विषय करने पर निर्मल पर्याय प्रगट होती है, विकल्प दूर होजाता है। इसलिये विकल्प और भेदरूप क्षणिक भाव को अभूतार्थ कहा है। भूतार्थ और नित्य स्थायीवस्तु का विषय करने पर निर्मल श्रद्धा और निर्मल ज्ञानरूप अवस्था प्रगट हुई इसलिये उपचार से सहज ज्ञायकभाव वस्तु प्रगट हुई–यह कहा है।

किसी तालाब में बहुत मोटी काई जमी हुई थी। कुछ समय के बाद काई फट गई, उसमें से एक कछुए ने जो कि जन्म से ही काई के नीचे पानी में रह रहा था ऊपर आकर आकाश की ओर देखा तो उसे पहली बार ही तारामंडल और उसके मध्य में चमकता हुआ पूर्णिमा का चन्द्रमा दिखाई दिया। प्रकृति के इस चमकते हुऐ दृश्य को देखकर–चन्द्रमा के दर्शन करके कछुए ने सोचा कि–आज यह चन्द्रमा नया ही उदित हुआ है, ऐसा तो पहले कभी नही देखा था। इस प्रकार उस कछुए की दृष्टि से चन्द्रमा नया ही उदित हुआ है। इसी-प्रकार जब यह जाना कि--आतमा पर से निराला, अविकारी, त्रिकाल पूर्ण है; तब ऐसा परम अद्भुत द्रव्यस्वरूप पहले कभी नहीं जाना था इसलिये यहा कहा जाता है कि सम्पूर्ण आत्मा नया ही जाना है। यहॉं भेदविज्ञान सहित शुद्धनय के द्वारा अखंड त्रिकाल पूर्णस्वरूप का लक्ष करने पर वर्तमान अवस्था में अखण्ड ज्ञायकस्वभाव ज्ञात होने पर पर्याय का अनुभव हुआ है उसे सम्पूर्ण ज्ञायक स्वभाव ज्ञात हुआ है इसप्रकार अर्थ का कथन समझना चाहिये।

जैसे कछुए ने कभी चन्द्रमा नही देखा था वह दूसरे कछुओ से कहे कि–मैंने आज सारा चन्द्रमा अपनी ऑंखो से देखा है। किन्तु जिसने कभी चन्द्रमा की बात भी न सुनी हो और कभी उसके सम्बध में कुछ जाना भी न हो ऐसे उसके कुटुम्बीजन तो यही कहेंगे की तेरी बात मिथ्या है, तू यह नई गप्प कहॉं से लाया? सच तो यह है कि

चन्द्रमा नया नहीं है किन्तु कछुए के दृष्टि उस पर नहीं थी और अब उसकी दृष्टि चन्द्रमा पर नई पडी है, इसलिये वह कहता है कि–मैंने नया चन्द्रमा देखा है। चन्द्रमा को देखने वाले कछुए की बात को दूसरे कछुए नहीं मानते। आत्मा स्वभाव से असंग, मुक्त ही है, किन्तु अवस्थादृष्टि से आवृत या अनावृत (पर-निमित्त के भेद की अपेक्षा से) कहा जाता है, सो व्यवहार है। वास्तव में तो अपनी अज्ञान और विकाररूप अवस्था से हीन परिणमन किया था जो कि आवरण है। पर से आवृत हुआ अथवा सम्पूर्ण आत्मा ढका हुआ है यह कहना उपचार मात्र है; इसीप्रकार उपचार से कहा जाता है कि:–

> क्या प्रभु चरणन में धरूँ, आत्मा से सब हीन।
> वह तो प्रभु ने ही दिया, रहूँ चरण आधीन॥

हे प्रभु! आपने मुझे सम्पूर्ण आत्मा दिया है ऐसा विनय से कहते हैं, किन्तु क्या संचमुच कोई आत्मा दे सकता है अथवा उसकी पर्याय दी जासकती है। कोई किसी को नहीं दे सकता तथापि यहाँ उपचार से कहते हैं कि–हे प्रभु! आपने मुझे अखण्ड आत्मा प्रदान किया है। इसीप्रकार वर्तमान अवस्था से अखण्ड के लक्ष से पर्याय के प्रगट होने पर कहा जाता है कि सपूर्ण द्रव्यस्वभाव प्रगट हुआ है। उस प्रतीति-रूप प्रगट निर्मल अवस्था में उसकी विषयभूत अखण्ड वस्तु का आरोप करके उस अपेक्षा से यह कहा जाता है कि संपूर्ण वस्तु नई ही प्रगट हुई है। जो शुद्धनय तक पहुँचे है (यहाँ बारहवीं गाथा में शुद्धनय का विषय केवलज्ञान पर्याय ली है, किन्तु वास्तव में शुद्धनय का विषय अखण्ड-पूर्ण वस्तु है।) जो पुरुष अंतिम ताव से उतरे हुए शुद्ध स्वर्ण के समान उत्कृष्ट भाव का (केवलज्ञान का) अनुभव करते है, (शक्तिरूप से पूर्ण उत्कृष्ट स्वभाव तो था किन्तु शुद्धनय के द्वारा अखण्ड को लक्ष में लेकर प्रतीति पूर्वक स्थिर होकर जो अंतिम अवस्थारूप पूर्ण केवलज्ञान का अनुभव करते है) उनके शुद्धनय का विषय अपूर्ण नही

रहा, किंतु वे उसके फल वीतरागता का ही अनुभव करते हैं। केवलज्ञान अखण्ड प्रमाणरूप है, उसमें नयभेद नहीं होता इसलिये उसे व्यवहारनय का विषय नहीं माना तथापि केवलज्ञान ज्ञानगुण की अवस्था है इसलिये व्यवहार है।

सोने को प्रथम-द्वितीय आदि ताव देने पर—अवस्था शुद्ध होने पर सोना शुद्ध हुआ कहलाता है, उसीप्रकार यहाँ शुद्धनय से अचलित एक स्वभावरूप एक भाव प्रगट हुआ कहा है। वहाँ वस्तु तो शुद्ध ही थी किन्तु शुद्धनय के द्वारा अखण्ड का लक्ष करने पर श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र की क्रमशः पूर्ण पर्याय प्रगट हुई, उस अपेक्षा से संपूर्ण आत्मा प्रगट किया ऐसा शुद्धनय केवलज्ञान समान होने से जाना हुआ प्रयोजनवान है। (यहाँ जो पूर्ण निर्मल पर्याय प्रगट हुई उसमें सारी वस्तु का आरोप है) शुद्धनय को केवलज्ञान का विषय करने वाला कहा है और सबसे ऊपर की एक प्रतिवर्णिका के समान (सौटंची शुद्ध सोने के समान) केवलज्ञान के समान कहा है; इसप्रकार जो केवलज्ञानरूप विषय प्रगट हुआ, उसे और विषय करने वाले—दोनों को समान कहा है। उसमें से केवलज्ञान का लक्ष करने वाले शुद्धनय को कारण मानकर उसका कार्य- (शुद्धनय का फल) वीतरागता—केवलज्ञान हुआ, उसका कारण में आरोप करके केवलज्ञान की अखण्ड अवस्था को शुद्धनय कह दिया है। शुद्धनय ज्ञान का अंश है, उसके द्वारा जो अखण्ड केवलज्ञान हुआ है वह उसका (शुद्धनय का) प्रगट हुआ विषय है, उसका उपचार करके जो विषय प्रगट हुआ उसे शुद्धनय कह दिया है।

(१) द्रव्य प्रगट नहीं होता, किन्तु पर्याय के द्वारा द्रव्य के लक्ष से निर्मल अवस्था प्रगट होती है, तथापि स्वाश्रय से जो नवीन अवस्था प्रगट हुई उसे कारण में कार्य का उपचार करके यह कह दिया है कि द्रव्य प्रगट हुआ है। जैसे वस्तु की यथार्थ प्रतीति होने पर यह कहा जाता है कि—सम्पूर्ण वस्तु की प्राप्ति हुई है।

(२) शुद्धनय का विषय अखण्ड द्रव्य होने पर भी केवलज्ञान पर्याय को उपचार से ही शुद्धनय का विषय कहा है। पर्याय के अनुभव को उपचार से द्रव्य का अनुभव कहा है।

(३) शुद्धनय ने जिस केवलज्ञान को अपना विषय बनाया उसे शुद्धनय के फलरूप से (विकल्प रहित प्रगट भाव को) शुद्धनय कह दिया है। केवलज्ञान में विकल्प-भेद नहीं है इस अपेक्षा से यद्यपि केवलज्ञान प्रमाण है तथापि उसे शुद्धनय कह दिया है।

(४) केवलज्ञान पर्याय है, व्यवहार का विषय है, तथापि उसे प्रमाण की अपेक्षा से शुद्धनय का विषय कह दिया है।

यद्यपि कथन पद्धति भिन्न है तथापि उसमें अपेक्षा का मेल कैसे है, यह कहते है.—यद्यपि यह कहा है कि शुद्धनय को केवलज्ञान में अनुभव करते है किन्तु वहाँ अनुभव तो सम्पूर्ण प्रमाणज्ञान का है; उसमे द्रव्य अथवा पर्याय को विषय करने वाला क्रमरूप ज्ञान नहीं है इसलिये केवलज्ञान में नय नही है। नय तो अपूर्ण ज्ञान में होता है, तथापि वहाँ शुद्धनय जाना हुआ प्रयोजनवान है, अर्थात् तत्सम्बन्धी ज्ञान अखण्ड होगया है, उसमें युक्त होना (जुड़ना) शेष नहीं रह गया है; और यह ज्ञात हो गया है कि—केवलज्ञानरूप सम्पूर्ण स्वरूप क्या है; अब कुछ विशेष जानना शेष नहीं रहा, यही प्रयोजन है। केवलज्ञान-प्रमाण प्रगट हुआ है, नय प्रगट नही हुआ; किन्तु नय का विषय अखण्ड द्रव्य में अभेदरूप से जुड गया है।

केवलज्ञान प्रमाण है तथापि उसे शुद्धनय का विषय कहा है। जो केवलज्ञान और सिद्धदशा प्रगट हुई है वह व्यवहार है, उसे शुद्धनय का विषय प्रगट हुआ कहा है, अर्थात् जो पर्याय प्रगट हुई है उसे द्रव्य का प्रगट होना कहा है; इसप्रकार जिसे यथार्थ वस्तु की प्रतीति की प्राप्ति हुई उसे वस्तु की—ज्ञायक स्वभाव की प्राप्ति हुई ऐसा कहने मे प्रतीतिरूप प्रगट हुई पर्याय में पूर्ण वस्तु का विषय किया गया कहलाता है,

क्योंकि—द्रव्य का लक्ष करने वाली पर्याय स्व-द्रव्य के आश्रय से नई प्रगट हुई है, उसमें द्रव्य प्रगट हुआ है अथवा सहज एक ज्ञायकस्वभाव प्रगट हुआ है इसप्रकार कारण में कार्य का उपचार करके कहा जाता है। द्रव्य का अनुभव नहीं हो सकता किन्तु पर्याय का अनुभव होता है, वस्तु वेदी नहीं जाती। यदि अवस्था को अपनी ओर करे तो अच्छे—बुरे की भेदरूप आकुलता का वेदन नहीं होगा; किन्तु परलक्ष से अच्छा—बुरा मानकर मैं सुखी हूँ—मैं दुखी हूँ यों कल्पना करके आकुलता का वेदन करता है। शुभाशुभ-पुण्य-पाप की भावना ही आकुलता है।

सर्वज्ञ भगवान का उपदेश तलवार की धार के समान है। उसके द्वारा जो यथार्थ वस्तु को समझ लेता है वह भव-बंधन को काट देता है। अनंतकाल से सत्य को नहीं समझा था, उसे जब समझा तब अखंड ध्रुव वस्तु के लक्ष से निर्मल पर्याय प्रतीति भाव से प्रगट हुई, उसका अभेद स्व-विषय अखंड आत्मा है इसलिये उसकी प्रतीति की प्राप्ति को स्वरूप की प्राप्ति कहा जाता है, और यह कहा जाता है कि—सम्पूर्ण आत्मा का अनुभव कर लिया किन्तु सम्पूर्ण आत्मा का अनुभव नहीं होता, लेकिन वर्तमान में रहने वाली अवस्था का अनुभव होता है।

आत्मा में शक्तिरूप से सदा ध्रुवरूप में अनंतगुण विद्यमान हैं, 'गुण प्रगट हुआ' इस कथन का अर्थ यह है कि—गुण की निर्मल पर्याय प्रगट हुई। शास्त्रों में पर्याय का गुण में और गुण का द्रव्य में आरोप करके कथन करने की पद्धति है। यदि अखंड वस्तु की पहिचान करानी हो तो प्रस्तुत समझने वाला आत्मा वर्तमान अवस्था के द्वारा समझता है और वर्तमान प्रगट होने वाली अवस्था द्रव्य के लक्ष से द्रव्य से सुधरती है।

बारहवीं गाथा में चारित्र का जघन्य भाव पाँचवे गुणस्थान से लिया है। अनुत्कृष्ट का अर्थ मध्यम है। प्रारम्भ का चौथे गुणस्थान का जघन्य अंश यहाँ नहीं लेना है। अंशतः जघन्य भाव स्वरूपाचरण चारित्र सम्यक्‌दर्शन के होते ही चौथे गुणस्थान में आजाता है; क्योंकि

सामान्य अकेला (विशेष रहित) नहीं होता। प्रथम द्वितीय चतुर्थ आदि पाकों की परपरा अर्थात् सम्यक्दर्शन के बाद अन्तर स्थिरतारूप एकाग्रता की वृद्धि का प्रारम्भ पॉचवे के बाद छट्ठे-सातवे गुणस्थान से लेकर जहाँतक पूर्ण वीतराग न हो वहाँतक मध्यम भाव की भूमिका है।

जहाँ यथार्थ अनुभव सहित स्वाश्रित अभेद का लक्ष किया वहाँ विकल्प का ख्याल नही होता। फिर जब विकल्प आता है तब साधक भाव का व्यवहार अवश्य आता है। अभी चारित्र की अशक्तिरूप वर्तमान अवस्था हीन है, इसलिये पूर्ण निर्मलदशा तक पहुँचने का व्यवहार (साधक भाव अर्थात् मोक्षमार्ग) है, उसका अनुभव पूर्ण उत्कृष्ट भाव को प्राप्त करने से पूर्व रहता ही है।

जबतक पूर्णरूप शुद्ध आत्मा की यथार्थ श्रद्धा की प्राप्तिरूप सम्यक्दर्शन की प्राप्ति न हुई हो तबतक जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है ऐसे जिन वचनों का श्रवण करना आवश्यक है। यथार्थता का लक्ष होने में किसी निमित्त कारण की अपेक्षा नही होती। जब यथार्थ स्वरूप का अश स्वलक्ष से उदित होता है तब यथार्थ उपदेश अपने भाव से स्वीकृत कहलाता है; उसमें श्रवण कारण नहीं है। सुनने की ओर का जो शुभराग है वह भी सम्यक्दर्शन का कारण नहीं है। जिससे यथार्थ उपदेश मिलता है उस यथार्थ पर भार है। यथार्थ का कारण स्व-द्रव्य स्वय ही है। जो उपदेश मिलता है सो तो संयोगी शब्द हैं, और उसमें जो आशयरूप यथार्थ उपदेश है अर्थात् जो अपनी यथार्थता असग ज्ञायक अविकारीपन लक्ष में आता है वह स्वाश्रित लक्ष निमित्त से नहीं होता; निमित्त और सुनने के राग को भूलकर जहाँ स्वोन्मुख हुआ और यह ज्ञान किया कि यह वस्तु यथार्थ है वह यथार्थ का छोटे से छोटा अश है। राग से आंशिक छूटकर जहाँ यथार्थ नि.सदेहपन की प्रगट रुचि होती है वहाँ स्व-विषय से सम्यक्दर्शन होता है, उसमें निमित्त कुछ नहीं करता।

धर्म को समझने के लिये पहले जो व्यवहार आता है वह क्या है, यह यहाँ कहा जाता है। सुनने से पात्रता नहीं आती, क्योंकि–साक्षात् सर्वज्ञ भगवान के पास जाकर अनन्तबार सुना है तथापि कुछ नहीं समझा। किन्तु जब तत्व का जिज्ञासु होकर, जो कहा जाता है उसका यथार्थ भाव अपने यथार्थपन से समझ लिया तब अहो! यह अपूर्व वस्तु है, मैं पूर्ण हूँ, निरावलम्बी; अविकारी, असंयोगी, ज्ञायक हूँ, ज्ञातास्वरूप हूँ, विकल्पस्वरूप नहीं हूँ इसप्रकार अन्तरंग में स्व-लक्ष से प्रतीति की तब वाणी में जो यथार्थता कहना है वह स्वतः निश्चित् करता है।

सम्यक्त्व होने से पूर्व पाँच लब्धियाँ होती है, उनमें से जो यथार्थ उपदेश है सो देशनालब्धि है। इसका नियम यह है कि एकबार पात्र होकर सत्समागम से ज्ञानी के पास से ऐसा शुद्धनय का उपदेश कान में पड़ना चाहिये कि मैं अखण्ड ज्ञानानन्द हूँ, असंग हूँ, अविकारी हूँ। इसमें पराधीनता नहीं है किन्तु जहाँ उपादान तैयार होता है वहाँ सच्चे उपदेश का संयोग अवश्य होता है।

आठवीं गाथा में भी पाँच लब्धियों के रूप में बात की गई है। "आँखे फाड़कर टुकुर-मुकुर देखता ही रहता है" इसमें क्षयोपशम, देशना, प्रायोग्य और विशुद्ध यह चार लब्धियाँ हैं और "अत्यंत आनंद से सुन्दर बोध तरग उछलती है" यह पाँचवीं करणलब्धि है। यथार्थता क्या है, आशय क्या है इत्यादि विकल्प उपदेश सुनते हुए यथार्थता को समझने से पूर्व उठते हैं, जोकि व्यवहाररूप भेद हैं। किन्तु जो वस्तुस्वभाव का यथार्थ लक्ष किया सो अकारण है। संयोग की ओर के रुख को भूल गया और स्वाश्रय में निश्चित् करने के लिये कुछ रुक गया सो उसमें अपना ही कारण है।

उपादान में तैयारी का जैसा पुरुषार्थ होता है वैसा ही निमित्त (उसके कारण से) उपस्थित होता ही है। कोई किसी के आधीन नहीं है। उपादान और निमित्त दोनों स्वतंत्र हैं। जिसकी सत् को समझने

की तैयारी होती है उसके ऐसा पुण्य तो होता ही है कि–यथार्थ का विचार करने पर यथार्थ संयोग अवश्य मिलता है।

निमित्त के विना कार्य नहीं होता, किन्तु निमित्त से भी नहीं होता। यदि निश्चय से यह माने कि निमित्त से समझा है तो आशय में बड़ा अतर होता है; स्वतंत्र उपादान–निमित्त का ऐसा मेल है। किन्तु उसका अर्थ परमार्थ से जैसा है वैसा ही समझना चाहिये। श्रीमद् राजचद्र ने कहा है कि:—

"बुझी चहत जो प्यास को, है बूझन की रीति,
पावे नहिं गुरुगम विना, यही अनादि स्थीति।
यही नहीं है कल्पना, ये ही नही विभंग,
कयि नर पंचमकाल में, देखी वस्तु अभंग।"

साक्षात् ज्ञानी के पास से सुनना ही चाहिये–यह कल्पना नही है, किन्तु जिसके उपादान मे सत् की तैयारी होचुकी है उसे ऐसा साक्षात् निमित्त अवश्य मिलता है। जब तृषातुर को पानी की चाह होती है और उसे पानी की तीव्र आकांक्षा होती है तब यदि उसकी पात्रता हो तो उसे पानी मिले विना नहीं रहता, इसीप्रकार जहाँ अन्तरग से परमार्थ तत्व को समझने की अपूर्व आकांक्षा होती है, सत् की ही तीव्र आकांक्षा होती है वहाँ सत् उपदेश का निमित्त उसके स्वतत्र कारण से उपस्थित होता है। जो प्रत्यक्ष मे सद्गुरु के आशय को समझकर स्व-लक्ष करता है वह यथार्थ तत्व के रहस्य को इस काल में भी प्राप्त कर लेता है, इसप्रकार उपादान और निमित्त का सहज सयोग तो होता ही है ऐसा अनादिकालीन विषय है। अन्तरग में यथार्थता है इसलिये उसके आदर से जो सत की वात रुचती है वह अपने भाव से ही रुचती है, पर से नहीं।

प्रश्न:—इसमें व्यवहार क्या है?

उत्तर:—जिनसे उपदेश सुना उनपर शुभराग से भक्ति-बहुमान होता है। कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र और मिथ्या आचरण का आदर दूर करके राग की दिशा बदली जाती है। संसार के स्त्री, पुत्र, धन प्रतिष्ठा कुटुम्ब, तथा देहादि का राग कम करके, संसारपक्ष के राग से अधिक राग देव, गुरु, शास्त्र और धर्म सम्बन्धी रहता है। जितना अशुभराग कम किया जाता है, उतना शुभराग होता है। वहाँ शुभराग का भी निषेध करके यथार्थ तत्व को समझे तो शुभभाव को व्यवहार कहा जाता है किन्तु उस शुभराग की सहायता से यथार्थता नही आती। अशुभ से बचने के लिये शुभराग करे किन्तु मात्र राग ही राग रहे और यथार्थ कुछ भी न करे तो राग से बाँधा हुआ पुण्य भी अल्पकाल में छूट जाता है।

यदि जिन-वचनो के आशय का विचार करते हुए यथार्थता का अंश प्रगट करे और अपनी ओर अंशतः आये तो उस यथार्थता को निश्चय कहा जासकता है। उपदेश को सुना तथा सुनने का शुभराग किया उसे व्यवहार (उपचार से निमित्त) कहा जाता है।

इसमें 'यथार्थ' के गूढ़ अर्थ की बात है, वह समझने योग्य है। यद्यपि उपादान से काम हुआ है निमित्त से नहीं हुआ तथापि निमित्त की उपस्थिति थी। मन से आत्मा का खूब विचार करने से यथार्थ प्रतीति नहीं होती। आत्मा तो मन, वाणी, देह शुभराग और उसके अवलंबन से प्रथक् उसपार है। उसको ग्रहण करने का विषय गंभीर है। एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ परमार्थ से कोई संबंध नहीं है, किन्तु अज्ञान से पर के साथ संबध मान लिया है। जो स्वतंत्र सत् स्वभाव को पर से लाभ हुआ मानता है वह पर को और आत्मा को एक हुआ मानता है, और वह अपने को अशक्त मानता है—अपने में शक्ति नहीं मानता। किन्तु जो 'नहीं' है उसे कहाँ से लायेगा? यथार्थता का अर्थ पराधीनता नहीं किन्तु पूर्ण स्वाधीनता है। उसमें कभी हीनता या विकारिता नहीं होती।

साक्षात् त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर और उनकी दिव्यध्वनि भी परवस्तु है सुनने वाले और समझने वाले को उसका निमित्तमात्र संयोग है, तत्सम्बन्धी सुनने का राग पराश्रित विकारभाव है । उससे असंयोगी अविकारी तत्व को लाभ कैसे हो सकता है ? यदि निमित्त पर दृष्टि रखे तो निमित्त के लक्ष से होने वाला ज्ञान संयोगाधीन कहलायेगा । और संयोग तथा राग क्षणिक है । क्षणिक संयोग (परवस्तु) के आश्रय से होने वाला परावलंबी ज्ञान भी नाशवान है ।

लोगों की ऐसी धारणा है कि किसी दूसरे की सहायता से लाभ हो सकता है, कोई मुझे देदे, किसी के आशीर्वाद से कल्याण हो जाये, इसप्रकार जीव पर से आत्मा का लाभ चाहता है किन्तु यदि अपनी निज की अनंत शक्ति पर विश्वास न करे तो कोई सत्समागम में रहकर भी क्या करेगा ? किसी को दूसरे से तीनलोक और तीनकाल मे भी कोई हानि-लाभ नहीं होसकता । यदि अपनी सावधानी से सत् के प्रति आदरभाव लाकर, सत्समागम करे तथा सच्चे देव, गुरु, शास्त्र का आदर स्थिर रखकर कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र का किंचित्मात्र भी आदर न करे तो उसे सत् के निमित्त की ओर के शुभराग में यथार्थ उपदेश सुनने पर जब निज-ग्राहितारूप आंतरिक सत् की स्वीकृति होती है-यथार्थता ग्रहण की जाती है तब देव गुरु शास्त्र का शुभराग तथा उपदेश निमित्त कहलाता है ।

जिन-वचन को सुनकर उसके आशय को ग्रहण करने के बाद यथार्थ की धारणा होती है। जिन से यथार्थ उपदेश मिलता है ऐसे वीतराग वचनों का श्रवण करना चाहिये; जहाँ ऐसा कहा है वहाँ स्वाधीन वीतरागता पर भार दिया है । किसी का तत्व किसी के आधीन होकर प्रगट होता है ऐसा बताने वाले वीतराग के वचन नहीं होसकते । इसमें से अनेकानेक सिद्धान्त निकलते हैं । प्रत्येक आत्मा तथा आत्मा के अतिरिक्त प्रत्येक चेतन तथा जडवस्तु अनादि-अनंत, स्वतंत्र वस्तु है । किसी का द्रव्यगुण पर्याय किसी अन्य के आधीन नहीं है ।

कोई किसी के गुण अथवा किसी पर्याय को नहीं बनाता, कोई किसी का कर्ता नहीं है। प्रत्येक वस्तु की संपूर्ण शक्ति स्वतंत्रता से सदा परिपूर्ण बनी रहती है, उस शक्ति को प्रगट करने के लिये किसी संयोग, क्षेत्र, काल या आश्रय की आवश्यकता नहीं होती। गुण के लिये किसी निमित्त की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। अपने गुण की दूसरे से आशा रखना अपने को अकिंचित्कर मानना है। वीतराग के निस्पृहता होती है, वे सबको पूर्ण स्वतंत्र प्रभुरूप घोषित करते हैं।

यदि कोई यह कहे कि—मैं तुमको समझाये देता हूँ तो समझना चाहिये कि—उसने उस व्यक्ति को परतंत्र माना है और उसकी स्वतंत्रता का अपहरण किया है। लोगों को परोपकार की बातें करने वाला बहुत अच्छा मालूम होता है किन्तु वास्तव में तो अपना उपकार या अपकार अपने भावों से अपने में ही होता है। उसे पर-संयोग से हुआ कहना घी का घड़ा कहने के समान व्यवहारमात्र है, इसलिये वह परमार्थ से बिल्कुल अयथार्थ है। लोग व्यवहार में घी के संयोग से मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहते हैं, तथापि वे उसके वास्तविक अर्थ को समझते हैं।

इसीप्रकार शास्त्र में कहीं-कहीं निमित्त से कथन होता है किन्तु उसका परमार्थ भिन्न होता है। उस कथन को समझते हुऐ यह निष्कर्ष निकाल लेना चाहिये कि किसी से किसी का कोई कार्य नहीं होता।

कोई विचार करता है कि—जिसका सत् स्वतः स्वभाव है ऐसी पूर्ण वस्तु को समझने वालों के अभिप्राय का निष्कर्ष निकाल लेना चाहिये, जैसा वे समझे हैं वैसा ही हमें भी समझना है; इसप्रकार अपने को ग्रहण करने के आदर भाव से सत् समागम करे तो वह सत्समागम व्यवहार से निमित्त कहलाता है।

सत्समागम में स्वतंत्र सत् की घोषणा होती है कि—अनंत आत्मा प्रत्येक पर से भिन्न है। मैं सदा निजरूप से हूँ और पररूप से नहीं हूँ, तथा परवस्तु मेरेपन से त्रिकाल में भी नहीं है। प्रत्येक वस्तु

में अपने आधार से स्वतंत्रतया स्थिर रहकर पर्याय से वदलना होता है। प्रतिसमय वर्तमान पर्याय का व्यय, नई पर्याय की उत्पत्ति और वस्तु का अपनेरूप में त्रिकाल स्थिर रहना; इसप्रकार प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, गुण, पर्याय से है और पर की अपेक्षा से नहीं है। सत्समागम और केवली की वाणी भी परवस्तु है मेरी वस्तु नहीं है; वह अपनी अपेक्षा से सत् है और पर की अपेक्षा से असत् है।

देव गुरु शास्त्र वीतराग स्वरूप है; वे क्या कहते है यह सुनकर अपने यथार्थ अस्तित्व को स्वीकार करने में यथार्थ का आंशिक वल परमार्थ की ओर उन्मुख होता है। वहॉ सत् तथा सच्चे निमित्त का बहुमान होने से अशुभराग दूर होकर देव, गुरु, शास्त्र सम्बन्धी शुभ भाव हुऐ बिना नही रहते।

पं. भागचन्द्रजी कृत 'सत्ता स्वरूप' में अरहंत का स्वरूप बताकर गृहीत मिथ्यात्व को दूर करने का उपाय भलीभॉति समझाया है। परमार्थ तत्व के विरोधी कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र को ठीक मानना सो गृहीत मिथ्यात्व है। मैं पर का कर्ता हूँ, कर्मो से घिरा हुआ हूँ, पर से भिन्न-स्वतत्र नहीं हूँ, शुभराग से मुझे लाभ होता है, इसप्रकार की जो विपरीत मान्यता अनादिकाल से चली आरही है, सो अगृहीत अथवा निश्चय मिथ्यात्व है। उस निश्चय-मिथ्यात्व को दूर करने से पूर्व गृहीत मिथ्यात्व अथवा व्यवहार-मिथ्यात्व को दूर करना चाहिये।

एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पन्चेन्द्रिय के जीव कुगुरु कुदेव आदि के कदाग्रह को गृहण नहीं कर सकते, किन्तु सैनी पंचेन्द्रिय होकर वीतराग कथित तत्वों से विरुद्ध कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र को मानने लगता है। व्यवहार में भी ऐसी विपरीत धारणा बना लेता है कि-अमुक की मानता की जाय तो सतान होगी, शीतला की पूजा करने से वालक नहीं मरेगा, अमुक देव हमारी रक्षा कर सकता है इत्यादि। इतना ही नहीं किन्तु जो लोकोत्तर वीतराग धर्म के नाम पर सर्वज्ञ भगवान से

विरुद्ध दर्शन, ज्ञान, चारित्र का उपदेश देते हैं और परिग्रही को भी मुनि मानते हैं वे सब गृहीत मिथ्यात्व के कीचड़ मे फँसे हुए हैं, उनकी विनय का परित्याग करना चाहिये। इसमें द्वेष नहीं किन्तु सत्य का ही समादर है।

जो जीव धर्म के नाम पर उत्कृष्ट पुण्यबंध करके अनतवार नववें ग्रैवेयक तक गया और नग्न दिगंबर मुनि होकर निरतिचार महाव्रतों का पालन किया तथा ग्रहीत मिथ्यात्व का त्याग किया तथापि 'शुभराग से लाभ होता है' ऐसे पराश्रयरूप व्यवहार की सूक्ष्म धारणा से उसके निश्चय–मिथ्यात्व बना रहा। उसे अंतरंग से अपने ऐसे स्वतंत्र स्वभाव की बात नहीं रुची कि–मैं पर से भिन्न, निरावलम्बी, अविकारी हूँ; इसलिये उसका भव–भ्रमण दूर नहीं हुआ।

मैं जन्म–मरण को दूर करने वाला अखण्ड गुणस्वरूप हूँ, इस-प्रकार की रुचि से होने वाला सत् का आदर यथार्थ है–निश्चय है, और उपदेश व्यवहार है। यथार्थ की देशना को ग्रहण करने वाला यथार्थ को ग्रहण करता है तब पहले प्रारंभिक अंश (यथार्थ का अंश) निरावलम्बीरूप से प्रगट होता है; वह यथार्थ चारित्ररूप निर्मलभाव का कारण है।

जिससे जन्म–मरण और भ्रान्ति का नाश होता है ऐसे यथार्थ जिन–वचनों को सुनना, धारण करना तथा उनके कथन के आशय का निर्णय करके ऐसी दृढ़ता करना चाहिये कि–कोई कुतर्कवादी धर्म के नाम पर अन्यथा कथन करेगा तो उसका तत्काल ही स्पष्ट निषेध कर देंगे। पर से, शुभभाव से, शुभराग की क्रिया से अथवा इसीप्रकार बाह्य से कोई लाभ होना बताये अथवा झूठे तर्क से कोई यह कहे कि शुभ कार्य करते-करते क्रमशः गुण प्रगट होंगे तो उसका भी स्पष्ट निषेध कर देना चाहिये; और नित्य–सत्य वस्तु के बोध की ऐसी दृढ़ता के साथ धारण कर रखे कि कालान्तर में किसी भी संयोग में स्वयं संशय में न पड़े।

मतिज्ञान के चार भेद हैं:—

(१) अवग्रह—वस्तु के बोध को ग्रहण करना ।

(२) ईहा—वस्तु क्या है इसके निश्चय करने का विचार करना।

(३) अवाय—यह वस्तु ऐसी ही है, अन्यथा नही है ऐसा निर्णय करना ।

(४) धारणा—जिस ज्ञान से जाने हुए पदार्थ में कालान्तर में सशय तथा विस्मरण न हो।

इसप्रकार नित्य स्वभावाश्रित जिस स्वतत्व की धारणा से धारण किया उस सत् के निर्णय की अस्ति है, यदि उससे विरोधी असत् बात को सुने तो उसे उसकी नास्ति होती है अर्थात् निषेध होता है। इसप्रकार यथार्थ वस्तु क्या है इसका बोध मतिज्ञान मे धारण कर रखे।

जबतक निःसंदेह होकर यथार्थ तत्त्व को न जाने तबतक बार-बार उसी बात को अस्ति-नास्ति पूर्वक सुने और अस्ति की ओर भार देकर लक्ष को स्थिर करे तो वहाँ सहज ही शुभराग होजाता है। लोग कहते है कि यदि "शुभ व्यवहार न किया जाय अथवा शुभराग न करे तो धर्म कैसे किया जायेगा ?" किन्तु अस्तिस्वभाव की ओर लक्ष और भार दिया कि वहाँ राग की दिशा बदल ही जाती है।

यहाँ जिस वस्तु को सुना है उसे अविरोधी रूप में ऐसा दृढ़ करे कि उसमें कदापि संशयरूप विरोध न आये इसप्रकार भलीभाँति परिचय करके, विरोध को दूर करके अविरोधी तत्व को भलीभाँति समझना चाहिये, और परमार्थ तत्व क्या है तथा उसे बताने वाले सच्चे देव, गुरु, शास्त्र एव नव तत्व का यथार्थ स्वरूप क्या है यह जानना चाहिये; क्योंकि यह प्रारम्भ से ही प्रयोजनभूत तत्व है ।

जैसे दूर देश में माल का लेनदेन करने के लिये आढ़तिया रखा जाता है, उसके साथ थोड़ा सा परिचय होने के बाद यह विश्वास

जम जाता है कि वह ईमानदार है–उसने न तो किसी को ठगा है और न हमे ही धोखे में डाल रहा है। इसके बाद बहुत लम्बे समय तक वह विश्वास बना रहता है और उसके प्रति कोई शंका नहीं होती। इसीप्रकार सच्चे देव गुरु शास्त्र को अविरोधरूप से जानने पर अल्प परिचय से ही यह निश्चय होजाता है कि उनमें कहीं किसी भी प्रकार से कोई विरोधी तत्व नहीं है। इसके बाद कोई मिथ्यात्यागी साधुवेशी अथवा कोई भी चाहे जैसी युक्तिपूर्वक विरोध भाव को लेकर धर्म सबंधी तर्क करे तो भी स्वतत्व में और देव गुरु, शास्त्र में किंचित्-मात्र भी शंका नहीं होती, तथा किसी भी प्रकार मन नहीं उलझता। किन्तु जिसे सत्य का मूल्य नहीं है और जिसे सत्य के प्रति सुदृढ़ श्रद्धा नही है वह कहता है कि 'हम क्या करे ? हमें तो त्यागी–साधु युक्ति और तर्क द्वारा जो जैसा समझाते हैं अथवा कहते है वह हमें स्वीकार करना ही होता है।' किन्तु उन्हे यह खबर नहीं होती कि इससे तो उनका सम्पूर्ण स्वतंत्र तत्व ही लुट जाता है। इसलिये सद्गुरु की ठीक परीक्षा करनी चाहिये। यह कहना घोर अज्ञान है कि हमारी तो कुछ समझ में ही नहीं आता और अज्ञान कोई भला बचाव नहीं है।

सद्गुरु को यथार्थतया पहिचानने के बाद उनके प्रति सच्ची भक्ति होती है। जिनसे यथार्थ वस्तु सुनने को मिली है उनके प्रति भक्ति का शुभराग होता ही है। तत्व को यथार्थ समझने के बाद भी उसको विशेष दृढ़ता से रटते हुए उसे वारंवार रुचिपूर्वक सुने और उस सच्चे निमित्त को उपकारी जानकर उसका बहुमान किया करे। उसमें परमार्थ से अपने गुण का बहुमान है. इतना ही नहीं किन्तु व्यवहार से सच्चे देव, गुरु, शास्त्र को यथार्थ तत्व का कहने वाला जानकर उनकी ओर भक्ति विनय बहुमान होता है, अर्थात् भक्ति का शुभराग हुए विना नहीं रहता। अविकारी यथार्थ स्वभाव का जो लक्ष है और उसका जो रटन है, उसके बल से जितना राग कम

होता है उतना अपने लिये लाभ मानता है, और जो रागद्वेष है उसे बंध का कारण जानकर अन्तरंग से समस्त राग को त्याज्य मानता है। यदि कोई देव, गुरु, शास्त्र संबंधी शुभराग को ग्राह्य माने अथवा उस शुभराग को लाभकारक माने या उसे करने योग्य समझे तो वह वीतराग के प्रति का राग नहीं किन्तु राग का राग है। क्योंकि उस राग में ऐसी वीतरागता के गुण की प्रतीति नहीं है कि मैं राग का नाशक हूँ।

वीतराग का उपदेश आत्मा को पर–सम्बन्ध से रहित, अविकारी, पूर्ण निर्मल स्वतंत्र बताने वाला होता है। आत्मा के साथ जो संयोगी कर्म (एक क्षेत्र मे) है उससे आत्मा बद्ध नहीं है, किन्तु परमार्थ से अपनी भूल के बंधनभाव से बद्ध है। बन्ध और मोक्ष किसी की पराधीनता से नहीं होते, किन्तु आत्मा के भाव से होते है। यहाँ ऐसे यथार्थ वचन है या नहीं इसप्रकार श्रवण करने वाले को अपनी निज की तैयारी और उपदेश की परीक्षा करने का उत्तरदायित्व लेना होगा।

आत्मा का ऐसा पराधीन और शक्तिहीन स्वरूप नहीं है कि किसी पर से लाभ हो अथवा कोई दूसरा समझाये तो तत्व प्रगट हो। तत्व को श्रवण करने का भाव भी शुभविकल्प या शुभराग है। उस पर-संयोग से और राग से असंयोगी, अविकारी, वीतराग स्वरूप प्रगट नहीं होता। किन्तु स्वतंत्र यथार्थता क्या है इसके अंश को जब स्वयं उमग-पूर्वक प्रगट करे तब उपदेश और उसे सुनने की ओर के शुभराग पर आरोप करके उसे निमित्त कहा जाता है।

जो वचन आत्मा को पर से बंधनयुक्त बतलाते है उनका अर्थ यह हुआ कि जब पर–पदार्थ मुक्त करे तब आत्मा मुक्त होगा। और ऐसा होने से आत्मा पराधीन एवं शक्तिहीन कहलायेगा। जो शक्तिहीन होता है या पराधीन होता है वह स्वतंत्र पृथक् तत्व नहीं कहा जासकता। कोई यह मानते हैं कि समस्त आत्मा एक परमात्मा के अंश है, सब मिलकर एक ब्रह्मरूप वस्तु है, किन्तु ऐसा मानने से स्वाधीन सत्ता का

अभाव होजायेगा। वास्तव में तो इस मान्यता में प्रत्यक्ष विरोधआता है, क्योंकि संसार में रहकर भी प्रत्येक आत्मा अलग-अलग अकेला ही दुःख भोगता है।

कोई कहता है कि "देह से मुक्त होने पर आत्मा एक परमात्मा की सत्ता में मिल जाता है।" किन्तु यदि यह सच हो तो-अर्थात् दुःखों के भोगने में अकेला और सुखदशा में किसी की सत्ता में मिल जाने वाला हो तो उसमें स्वतंत्रता कहाँ रही? इसलिये उपरोक्त मान्यता मिथ्या है। इसप्रकार यथार्थ स्वतंत्र स्वरूप में विरोधरूप मान्यताओं को दूर करके यथार्थ परिपूर्ण स्वतंत्र वस्तु का निर्णय करने के लिये आत्मा में से निश्चय का अंश प्रगट करना होता है। अविकारी निरावलम्बी, अलग स्वभाव की श्रद्धा विकार का नाश करने वाली है; ऐसे यथार्थ तत्व को बनाने वाले का निर्णय करने वाला भी आत्मा ही है।

प्रथम उपदेश सुनने पर परमार्थ की अप्रगट रुचि की है, उस उपदेश में यथार्थता कैसे आशय की है, मैं किसप्रकार असंग, अविकारी, निरावलम्बी हूँ; यह परमार्थ से सुनकर जो निराला स्वतत्व की ओर झुकने वाला निश्चय का अंश है सो परमार्थ से श्रद्धा का कारण है।

मैं पर से बद्ध नहीं हूँ, परवस्तु मेरा हानि-लाभ नहीं कर सकती, मैं रजकण तथा राग से प्रथक् हूँ, मात्र अज्ञान से (अपनी भूल से) बंधा हुआ था। विकार क्षणिक है, वह मेरा नित्यस्वभाव नहीं है मैं नित्य ज्ञायक हूँ, इसप्रकार का अप्रगट आशय जब अंतरंग में आता है तब भाव-बंधन को दूर करने का आंशिक उपाय प्रारम्भ होता है। जब अव्यक्त रुचि यथार्थ तत्व की ओर प्रारम्भ हुई तब सुनने का अवलम्बन छोड़कर अपनी ओर लक्ष किया और सत् को स्वीकार करने वाले यथार्थ को स्वीकार किया; उतना ही अयथार्थ से भिन्नरूप को समझने का यथार्थ उत्तरदायित्व आजाता है। इसप्रकार श्रवण होने पर अपने भाव से स्वतः लाभ निकाल लेता है, राग से लाभ नहीं होता। जहाँ परवस्तु पर लक्ष होता है वहाँ राग का विषय होता है, वह

राग विकार है। मैं रागरूप नहीं हूँ, ज्ञानरूप हूँ; इसप्रकार अविकारी असंगभाव उपदेश में कहना चाहते है, ऐसा अभिप्राय वह अंतरंग लक्ष से निश्चित करता है।

अहो! यह वस्तु ही निराली है, पूर्ण है, अविकारी है, इसप्रकार यथार्थ को जिस भाव से निश्चित् करता जाता है वह भाव यथार्थ निश्चय का अंश होने से यथार्थ निर्विकल्प परमार्थ का कारण है। किंतु राग से, पर से अथवा साक्षात् त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर प्रभु की वाणी से परमार्थतः अंशमात्र धर्म नहीं होता। किन्तु परावलंबन के छूटने पर अन्तरंग से निर्णय करे कि वे जो कुछ कहते है सो ऐसा ही है; और जब यह समझ लेता है तब देव, गुरु के प्रति बहुमान उत्पन्न होता है, तथा वह उनकी भक्ति करता है। उसमें गुण के प्रति भक्ति है अर्थात् यथार्थ स्वतंत्र तत्व की पहिचानयुक्त गुणरूप होने का लक्ष है। राग-द्वेष, अज्ञान, पराश्रय से होता है, जो कि क्षणिक है वह मेरा स्वरूप नहीं है। इसप्रकार जो गुण की प्रतीतिपूर्वक राग-द्वेष और अज्ञान का नाश करता है वह जिन (जीतने वाला) है। इसमें अनेक अर्थों का समावेश होजाता है; जैसे-विकार जीतने योग्य है, उसे जीतने वाला अविकारी है; विकार क्षणिक और एक समय की अवस्था वाला है तथा उसका नाश करने वाला स्वभाव विकार रहित त्रिकाल-स्थायी है। यद्यपि विकार में अनन्तकाल व्यतीत होगया है तथापि स्वभाव में ऐसी अपार-शक्ति है कि वह एक समय में ही उस विकार अवस्था को बदलकर अनन्त अविकारी शुद्ध शक्ति को प्रगट कर सकता है। विकारी अवस्था में पर के आश्रय से अनन्त विकार कर रहा था, उसे दूर करके जब स्वतंत्र स्वाश्रय के द्वारा ध्रुवस्वभाव की ओर जाता है तब जो अनन्त अविकारी भाव अपने में पहले से ही विद्यमान था वही भीतर से प्रगट होजाता है; वह कहीं पर से अथवा बाहर से नहीं आता। विकार के होने में अनेक प्रकार के निमित्त होते है, शुभराग भी पर के लक्ष से होता है। मुझमें परवस्तु की नास्ति है। पर के द्वारा मुझे त्रिकाल मे

भी कोई गुण-दोष या हानि-लाभ नहीं होसकता और मैं भी पर का कुछ नहीं कर सकता। शुभराग भी विकार है, विकार अविकारी गुण के लिये सहायक नहीं होसकता। इसप्रकार पूर्ण स्वतंत्रता को बताने वाला यथार्थ ज्ञानी है। अपने में यथार्थ को स्वीकार करने वाले, समझाने वाले वीतरागी गुरु को उपकारी निमित्त मानने से शुभरागरूप भक्ति-भाव छलके बिना नहीं रहता। अभी रागदशा विद्यमान है इसलिये उसे कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र की ओर न लेजाकर सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के प्रति परिचय के बहुमान से शुभ-भक्ति और विनय करता है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त करने से पूर्व सच्चे निमित्त की ओर का शुभ-व्यवहार अवश्य होता है। किन्तु यदि दूसरा समझा दे अथवा दूसरे से समझा हुआ माने तो स्वयं पराधीन सिद्ध होगा, किन्तु त्रिकाल में भी आत्मा पराधीन नहीं है, उसे कोई दूसरा सहायक नहीं होसकता।

परमार्थ जिनेन्द्र के स्वरूप को बताने वाला वीतरागी गुरु कौन है, क्या जीतना है, जीतने वाला कौन है, अवगुण का नाश करके सदा गुणरूप स्थिर रहने वाले का क्या स्वरूप है, इत्यादि का यथार्थ निर्णय न करे और मात्र सुनता रहे तो कोई बाहर से कुछ नहीं दे देगा। स्वयं जैसा भाव करेगा वैसा फल मिलेगा। मैं निरावलंबी, अविकारी, स्वतंत्र हूँ, असग हूँ ऐसी प्रतीति के बिना पुण्य-पाप करके अनन्तवार चौरासी में जन्म-मरण किया। धर्म के नाम पर शुभभाव से अनेक क्रियाये करके अनन्तवार देवलोक में गया। पाप करके देवलोक में नहीं जाया जाता किन्तु पुण्य करके ही जासकते हैं, इसलिये उस पुण्य के शुभभाव नवीन (अपूर्व) नहीं है। अपूर्व क्या है यदि ऐसी यथार्थ को समझने की उमंग हो तो यथार्थ-सत् को समझाने वाले वीतरागी गुरु को पहिचानले और उनका आदर करे, किन्तु यदि अपनी शक्ति को स्वीकार करके स्वयं न समझे तो उसे निमित्त नहीं समझा सकता। जो समझता है वह अपनेआप समझता है, तब वह अपनी पहिचान का बहुमान करने के लिये गुरु को उपकारी मानकर उनकी

विनय करता है। समझने के बाद जबतक राग दूर नहीं होजाता तबतक सत् के निमित्तो की ओर शुभराग रहता ही है। जिसे अपने स्वरूप को समझने की रुचि होती है उसे मुमुक्षु रहकर सत्समागम को ढूँढ़ना होता है और सत् की पहिचान होने पर देव, गुरु, शास्त्र के प्रति शुभराग का होना इतना सुनिश्चित होता है जैसे प्रात: के बाद सन्ध्या का होना। क्योंकि उसमें स्व-लक्ष से चिदानन्द सूर्य का अखण्ड–अनन्त प्रकाश प्रगट होना है।

वीतराग के वचनों को धारण कर रखने का अर्थ है कि–वे जो कुछ कहते हैं उसे यथार्थ समझना। परवस्तु, से पुण्य-पाप से त्रिकाल में भी धर्म नहीं हो सकता। अन्य की सहायता से आत्मा के गुण प्रगट नहीं होते। अन्य से कोई लाभ हानि नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक वस्तु त्रिकाल भिन्न है। लाभ-अलाभ अपने भाव से होता है। ऐसी प्रतीति गृहस्थ और त्यागी दोनों के लिये है। अन्य पदार्थ से अथवा द्रव्य दान आदि से पुण्य नहीं होता किन्तु यदि तृष्णा कम करे तो अपने भाव से पुण्य होता है। मात्र पर की हिंसा पाप का कारण नहीं है किन्तु अपना हिंसारूप प्रमाद–भाव ही वास्तव में हिंसा है, वह अपने ही गुण का घात है। इसमें स्वतंत्र तत्व का निर्णय होता है। वीतराग मार्ग में कोई पक्षपात नहीं है, वीतराग सबको वस्तुरूप में स्व-तन्त्र घोषित करते है।

किसी की कृपा से स्वतन्त्र आत्मतत्व के गुण प्रगट होते है, ऐसे पराधीनता को बताने वाले वीतराग के वचन नही हैं। पुण्य से शुभ-राग से अथवा शरीरादि परवस्तु से लाभ होता है, आत्मधर्म होता है, आत्मा के गुण के लिये वैसा व्यवहार करना चाहिये ऐसा कथन करने वाले वीतराग के वचन नहीं होते। पुण्य-पाप और धर्म अपने भावानुसार ही होता है।

संसार में दूसरे के लिये कोई कुछ नहीं करता। कोई पुरुष अच्छे वस्त्राभूषण अपनी स्त्री के लिये नही लाता किन्तु स्त्री के प्रति ममता

है, राग है इसलिये उस राग को पुष्ट करने के लिये जिसे लक्ष बनाया है उस स्त्री आदि में (राग के खिलोने में) इच्छित शोभा न होने से वह अपने को अनुकूल नहीं लगती। और जब अपना इच्छित पहनाव-उढ़ाव दिखाई देता है तब उस पर आँखें जमती हैं; इसलिये वह जो कुछ करता है अपने राग को पुष्ट करने के लिये करता है। इसीप्रकार लोग अपने पुत्र को पढ़ाते हैं, उसका ब्याह रचाते हैं और उसके नाम पर बैंक में रुपया जमा कराते है यह सब अपने उस लड़के के लिये नहीं किया जाता किन्तु अपने को तत्सम्बन्धी ममता में उसके अतिरिक्त कोई दूसरा समाधान दिखाई नहीं देता इसलिये स्वयं उसके नाम से अपनी मोह-ममता को पुष्ट करने की सम्पूर्ण चेष्टाये अपने ही राग को पुष्ट करने के लिये करता है। घर में, समाज में मान प्रतिष्ठा और प्रभाव बना रहे इसलिये मैं दूसरों का कुछ काम करूँ और दूसरों के साथ अनुकूल सम्बन्ध बनाये रखूँ, ऐसा भाव करके अपने बड़प्पन के राग को पुष्ट करने के लिये यह सब चेष्टाये करता है। कोई पर के प्रति कर्तव्य पालन नहीं करता, किन्तु विपरीतदृष्टि से पर में अपने राग को आरोपित करता है; अर्थात् वह परवस्तु को अपने राग का विषय बनाकर उसकी रुचि के अनुसार सब कुछ अनुकूल करना चाहता है।

जन्म-मरण इत्यादि सब पराधीनता है। आत्मा पर से भिन्न है, वही आदरणीय है; इसप्रकार जिसे परमार्थ में प्रीति होती है वह यथार्थ की रुचि को पुष्ट करने में निमित्तरूप सच्चे देव गुरु शास्त्र की भक्ति के बिना नहीं रहता। स्मरण रहे कि-भगवान की भक्ति भगवान को अच्छा लगाने के लिये नहीं होती। सत् की पहिचान के बाद सम्पूर्ण गुण का बहुमान होने से वीतराग की भक्ति उमड़े बिना नहीं रहती।

मैं स्वतंत्र, अविनाशी, पूर्ण परमात्मा के समान हूँ; विकल्प अथवा परमाणुमात्र मेरे स्वरूप में नहीं हैं; यह बताने वाले श्री जिनगुरु और प्रगट परमात्मा की प्रतिमा के प्रति अपने गुणो के स्मरण के लिये तथा अशुभभाव से बचने के लिये बहुमान, स्मरण भक्ति इत्यादि होते

है। उन देव, गुरु के लिये कोई कुछ नहीं करता, किन्तु विनय से देव की भक्ति आदि कही जाती है। जैसे कोई मनुष्य राजा की प्रशंसा इसलिये करता है कि–उसे निज को वह राजत्व अनुकूल लगता है, इसी–प्रकार जन्म–मरण का अंत कैसे होता है यह बताने वाले की पहिचान होने पर उसके बहुमान में भक्ति प्रवाहित हुये बिना नहीं रहती।

जब किसी धनवान के यहाँ इकलौते पुत्र का विवाह होता है तब उसका वैभव और उमंग–तरंग उछले बिना नहीं रहती (इस दृष्टान्त का एक अंश सिद्धान्त में लागू होता है) इसीप्रकार आत्मा के यथार्थ स्वरूप की ओर अप्रगट लक्ष हुआ है किन्तु अभी निश्चय अनुभव सहित सम्यक्दर्शन प्रगट नहीं किया है. वहाँ भी निर्दोष वीतराग गुरु मेरी स्वतंत्रता को प्रगट करने वाले है, मुझे मोक्ष देने वाले है, इसप्रकार अत्यन्त विनय पूर्वक बहुमान से भक्ति किये बिना नहीं रहता।

जिसे परमार्थ की रुचि पुष्ट करनी है वह सच्चे देव, गुरु, शास्त्र, के प्रति शुभराग करके यह पहले जान लेता है कि–सच्चे गुरु कौन है। सच्चे गुरु परमार्थ स्वरूप को बताने वाले है (निश्चय से तो आत्मा ही अपना गुरु है) वे (गुरु) शिष्य को बतलाते है कि सिद्ध और अरहत केवलज्ञानी परमात्मा कैसे होते है, उनका स्वरूप क्या है, जिनसे आत्मा की प्रतीति होती है। इसलिये प्रत्यक्ष सद्गुरु विशेष उपकारी है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने आत्मसिद्धि में कहा है कि:—

"प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार;
ऐसा लक्ष हुए बिना, उगे न आत्म–विचार।"

सद्गुरु के प्रत्यक्ष उपकार का निर्णय किये बिना वास्तव में आत्मा के विचार का उद्भव नहीं होता। यह बताने वाले प्रत्यक्ष श्री सद्गुरु ही है कि–परोक्ष उपकारी श्री जिनदेव कैसे थे और उन्होंने क्या कहा था। यदि सम्पूर्ण स्वभाव को बताने वाले साक्षात् श्री सद्गुरु को न पहिचाने और उनका बहुमान न करे तो पूर्णानंद परमात्मा के स्वरूप को नहीं

जाना जासकता, और उनके यथार्थ स्वरूप को समझे बिना परमार्थ स्वरूप नहीं समझा जासकता, इसलिये साक्षात् ज्ञानी को पहिचान-कर उनकी विनय करने को पहले कहा है। यदि साक्षात् उपकारी श्रीगुरु की विनय न करे तो अपने परिणामों का अवलोकन करना नहीं आसकता, जोकि विवेक की अपनी बहुत बड़ी भूल है। जो साक्षात् ज्ञानी को नहीं पहिचानता, उनकी विनय नहीं करता, और परोक्ष जिनेन्द्र भगवान के गुणों के नाम पर भक्ति-पूजा में ही लगा रहता है उसके अपूर्व आत्मविचार का उद्भव नहीं हो सकता।

साक्षात् गुरु से यथार्थता को समझने और मानने में असत् को न मानने का उत्तरदायित्व और यथार्थ को धारण करने की अपनी तत्परता परिज्ञात होजाती है। इसलिये प्रत्यक्ष ज्ञानी को परम-उपकारी कहा है। जैसे लोक-व्यवहार में सब कहते हैं कि-हमारी दुकान का माल उत्कृष्ट है, इसीप्रकार यदि कोई अपने माने हुए धर्म को अनेक तर्कों से सत्-उत्कृष्ट कहे तो इससे जो असत् है वह कहीं सत् नहीं होसकता।

मुझे कोई दूसरा समझादे, दूसरा तारदे, पुण्यादिक पर की सहायता मिले तो धर्म हो, इसप्रकार पर से धर्म की आशा रखने वाला सत् का जिज्ञासु नहीं है। किन्तु जिसे स्वतः सुधरना है, पर से कुछ निश्चित् नहीं करना है और इसप्रकार जो अपने उत्तरदायित्व से सत् की जिज्ञासा में यथार्थता लाता है वह सत् का सच्चा शोधक है, वह ज्ञानी को भलीभाँति पहिचान लेता है। इसके पास अविरोधी सत् है। यहाँ यथार्थ ज्ञानी है, ऐसा यथार्थ निर्णय किये बिना यदि भगवान की प्रतिमा के समक्ष भक्ति करे तो समझना चाहिये कि वह मात्र राग की भक्ति करता है। जिसे सच्चे गुरु की और पूर्णानन्द परमात्मा की पहिचान है उसे पूर्ण की महिमा परिज्ञात होती है, इसलिऐ वह निर्विकार शान्त वीतराग मूर्ति को देखकर अपने में पूर्ण की रुचि का स्मरण करके, वीतरागी देव, गुरु के प्रति बहुमान से भक्ति में डूब जाता है।

उसमें सत् की रुचि होती है और बाहर सच्चे निमित्त का बहुमान-भक्ति करता है। ऐसा शुभराग एक तो पूर्ण वीतराग के नहीं होता और दूसरे अज्ञानी, अविवेकी के नहीं होता। जहाँतक अरागी पूर्ण तत्व की रुचि है और राग दूर नहीं हुआ वहाँतक ज्ञानी के अनेक-प्रकार का राग बना रहता है, और उससे राग के निमित्त भी अनेक प्रकार के होते हैं। उसमें सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के प्रति होने वाली भक्ति का शुभराग मुख्यता से रहता है। जिनप्रतिमा शुभभाव में निमित्त है तथा वीतराग का स्मरण करने में निमित्त है ऐसा जो नहीं मानते उन्हे यह खबर नहीं होती कि पूर्ण साध्य एव प्रारम्भ और बीच का मोक्षमार्ग कैसा होता है तथा वह कैसे प्राप्त किया जाता है।

क्योंकि अभी साधकदशा में राग है इसलिये वहाँ शुभराग के निमित्त का आदर और बहुमान रहता ही है। जिसे रजकण के भी राग से रहित, विकल्प रहित पूर्ण वीतराग के स्वरूप को पहिचानने की रुचि है उसे सत् की रुचि का मथन करने में वीतरागी जिनप्रतिमा निमित्त होती है, यह जानकर पूर्ण वीतराग की महिमा गाते है। पूर्ण वीतराग साक्षात् परमात्मा के विचार मे अपनी रुचि है, इसलिये उनके विरह में उनका स्मरण करने में भगवान जिनेन्द्र की प्रतिमा निमित्त होती है। अपने अभिप्राय में परवस्तु लाभ-हानि का कारण नहीं है। अपनी रुचि और तत्परता के अनुसार स्वय ही अपने आप हिताहितरूप भाव कर सकता है। इसप्रकार जो न समझे और भगवान की मूर्ति के पास ही बैठा रहे तथा स्वतंत्र निरावलम्बी अकषायदृष्टि से, अपने स्वरूप की संभाल न करे तो भगवान कुछ दे नहीं देगे।

सम्यक्दर्शन होने से पूर्व भी वीतराग के वचनों का श्रवण, जिन-प्रतिमा का दर्शन, पूजा, प्रभावना इत्यादि शुभभाव में जीव की प्रवृत्ति होती है क्योंकि पाप से बचने के लिये शुभभाव योग्य हैं, और यथार्थ तत्वदृष्टि होने के बाद भी जब आत्मा निर्विकल्प स्थिरता में नहीं रह सकता तब सच्चे देव गुरु की भक्ति और सच्चे उपदेश का श्रवण

इत्यादि शुभभाव का अवलम्बन अशुभभाव से बचने के लिये आये बिना नहीं रहता। किन्तु दृष्टि में उस शुभराग का भी आदर नहीं है, मात्र अखण्ड निर्विकारी गुण का ही बहुमान है। वह पूर्ण अविकारी की रुचि आत्मा को आगे बढ़ाती है।

चार ज्ञान के धारी श्री गणधर देव भी निरंतर निर्विकल्प ध्यान में स्थिर नहीं रह सकते इसलिये अशुभ से बचने के लिये विशेष ज्ञान का मनन करने को बारंबार साक्षात् तीर्थंकर प्रभु का उपदेश सुनते हैं और अपने पद के अनुसार (जबकि— छट्ठे गुणस्थान में होते है तब) शुभभाव में भी प्रवृत्ति करते हैं। गृहस्थों को अशुभराग के अनेक निमित्त हैं अतः अशुभराग से बचने के लिये बारम्बार यथार्थ तत्व का उपदेश तथा उपरोक्त शुभ व्यवहार आते हैं किंतु उस शुभराग की मर्यादा पुण्य-बन्ध जितनी ही है, उससे धर्म नही होता। तथापि परमार्थ की रुचि में आगे बढ़ने के लिये बारंबार धर्म का श्रवण एवं मनन करना पड़ता है। जिसे संसार की रुचि है वह बारंबार नाटक सिनेमा देखता है, उपन्यास-कहानियाँ पढ़ता है—सुनता है, नई बात को जल्दी जान लेता है, इसीप्रकार जिसे धर्म के प्रति रुचि है वह धर्मात्मा बारंबार यथार्थ तत्व का परिचय करके अशुभ से बचने और स्वरूप की ओर की स्थिरता—रुचि रखने के लिये बारंबार शास्त्र—स्वाध्याय करता है, उपदेश सुनता है, जिनप्रतिमा के दर्शन करता है, पूजा करता है और गुरु—भक्ति इत्यादि शुभभाव में युक्त रहता है तथा राग को दूर करने की दृष्टि रखकर उसमें प्रवृत्ति करता है। विशेष राग को दूर करने के लिये परद्रव्य के अवलंबन के त्यागरूप अणुव्रत महाव्रतादि का ग्रहण करके समिति-गुप्तिरूप प्रवृत्ति, पंचपरमेष्ठी का ध्यान, सत्संग और शास्त्राभ्यास इत्यादि करता है। यह सब अशुभ से बचने और विशेष राग-रहित भाव की ओर जाने के लिये है।

व्रतादि का शुभभाव आस्रव है, और अविकारी श्रद्धा, ज्ञान तथा निर्विकल्प स्थिरता का भाव बन्ध-रहित निरास्रव है। दृष्टि में पूर्ण वीत-

राग निरावलम्बिता है। वर्तमान अवस्था में जितना परद्रव्य का अवलम्बन छोड़कर निरावलम्बी स्वरूप में रागरहित स्थिरता रखे उतना चारित्रभाव है। तत्वज्ञान के यथार्थ होने पर भी गृहस्थदशा में स्त्री, कुटुम्ब, धन, देहादि की ओर अशुभभाव होता है। यथार्थ प्रतीति होते ही सबके त्यागीपन नहीं होता, इसलिये अशुभ अवलम्बनरूप पाप-राग से बचने के लिये और पुण्य-पापरहित अखण्ड स्वभाव की ओर रुचि बढ़ाने के लिए अकषाय निर्मल दृष्टि का प्रबल आन्दोलन करने पर विशेष राग टूटकर जो अणुव्रत-महाव्रत के शुभभाव आते हैं उसे व्यवहार मोक्षमार्ग में व्रत कहा है। परवस्तु को छोड़ना या त्यागना व्रत का वास्तविक अर्थ नहीं है। परवस्तु को छोड़ने-त्यागने का व्यवहार आत्मा में त्रिकाल में भी नहीं होता। किसी भी अपेक्षा से परवस्तु का लेनदेन आत्मा के आधीन नहीं है, क्योंकि आत्मा सदा अरूपी है। दृष्टि के बल से जो परवस्तु की ओर का राग छूटता है वह व्यवहार से यों कहा जाता है कि आत्मा ने परवस्तु का त्याग किया है। जहाँ परवस्तु का अवलम्बनरूप राग नहीं रहता वहाँ उसके स्वतंत्र कारण से परवस्तु का संयोग छूट जाता है। आत्मा के पर का कर्तृत्व या स्वामित्व किसी भी प्रकार से नहीं होता, जिसे ऐसी प्रतीति नहीं होती वह देहादिक पराश्रित प्रवृत्ति में या राग में लीन होकर रुक जाता है।

जो यह मानता है कि परवस्तु छूट गई इसलिये राग छूट गया अथवा देह की या पुण्य की इतनी प्रवृत्ति हुई इसलिये लाभ होगया, उसे पृथक् आत्मतत्व के स्वतंत्र गुण की प्रतीति नहीं है। तत्वदृष्टि सहित राग को दूर करने पर राग की निमित्तभूत परवस्तु अपने ही कारण से छूट जाती है। शुभाशुभ राग का निमित्त प्राप्त करके जड़-रजकण पुण्य-पापरूप से अपनेआप अपने ही कारण पुराने कर्मों के साथ बधते है, और रागरहित स्वरूप मे जितनी स्थिरता की जाती है उस वीतरागभाव का निमित्त पाकर जड़-रजकण उसके ही कारण छूट जाते हैं। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है, किन्तु किसी की अवस्था किसी अन्य के अधीन नहीं होती, इसलिये ज्ञानी देहादि की

प्रवृत्ति से अपने परिणाम का माप नहीं निकालते। ज्ञानी की दृष्टि अखण्ड गुण पर है, उसके बल से जितना राग दूर होता है उतना लाभ मानता है। राग और परद्रव्य कुछ मेरा नहीं है इसप्रकार पर का कर्तृत्व और स्वामित्व छोड़कर एकरूप अविकारी ज्ञानानन्द स्वभाव का स्वामित्व रखता है। दृष्टि में (श्रद्धा में) पर की ओर के राग की आसक्ति छूटने पर चारित्र की स्थिरता के बल से विशेष राग का त्याग करे तो गृहस्थदशा छूटकर बाह्य में पंच महाव्रतादि शुभ-व्यवहार सहित नग्नदिगम्बर मुनिपद और अन्तरंग में राग को दूर करके भाव मुनिपद ग्रहण करता है। किन्तु यथार्थ दृष्टि के होने पर भी वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण जो विशेष राग कम नहीं कर सकता वह गृहस्थ-दशा में रहकर आंशिक राग कम करके, अकषायदृष्टि सहित, अंशतः स्वरूप-स्थिरता को बनाये रखता है। उसके अशुभराग में न जाने के लिये दान, पूजा, भक्ति, प्रभावना, अणुव्रत आदि शुभभाव का व्यवहार हुये बिना नहीं रहता। वास्तव में अकषाय अखण्ड ज्ञायक दृष्टि के बल से अशुभराग दूर होकर व्रतादि के शुभभाव संवर नहीं, धर्म नहीं है किन्तु आस्रव हैं। किन्तु उस शुभभाव का व्यवहार अशुभभाव को दूर करने में निमित्त होता है, और राग के दूर होने पर जो निर्मलता होती है उसे शुभराग में आरोपित करके व्रतादि को व्यवहार से (उप-चार से) मोक्षमार्ग कहते हैं, किन्तु यदि निरावलम्बी अविकारी की प्रतीति न हो तो उपचार से भी व्यवहार नहीं कहलाता।

ज्ञानी के निम्नदशा में प्रशस्त राग हुए बिना नहीं रहता किन्तु दृष्टि में वह शुभराग का भी कर्ता नहीं होता। जो राग के स्वामित्व को मानकर शुभराग को करने योग्य समझता है, उससे लाभ मानता है उसे राग के प्रति आदर है, और निरावलम्बी वीतरागी गुण के प्रति आदर नहीं है।

दृष्टि में शुभ-व्यवहार का अभाव करके (स्वामित्व को छोड़कर,) शुभराग को भी करने योग्य न मानकर, परमार्थ से अखण्ड स्वभावी हूँ

इसप्रकार स्वभाव पर भार देना परमार्थ-श्रद्धा का कारण है। जो उत्पन्न हुई शुभाशुभ वृत्ति का अपने को कर्ता मानता है वह अज्ञानी है। ज्ञानी रागादि का मात्र ज्ञाता होता है; वह रुचिपूर्वक विकार का कर्ता नहीं किन्तु उसका नाशक होता है। वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति से यद्यपि राग रहता है तथापि वह उसका स्वामी नहीं होता और न उसके प्रति आदर होता है। हाँ, वह बिल्कुल निर्विकल्परूप से स्थिर नहीं रह सकता इसलिये अशुभ में प्रवृत्त न होने के लिये शुभभाव का अवलम्बन होता है।

यदि कोई यह माने कि मैं समझ-बूझकर शुभभाव करता हूँ इसलिऐ शुभभाव से मुझे सम्यक्दर्शन होजायगा-उससे आगे बढ़ सकूँगा तो यह मान्यता बिल्कुल विपरीत है-गुण की हत्या करने के समान है। कोई ज्ञानी शुभभाव को छोड़कर अशुभ में जाने को नहीं कहता।

सम्यक्दर्शन होने के बाद भी शुभ व्यवहार होता है, और विषय कषाय का अशुभराग दूर करके, अकषायदृष्टि के बल से स्वरूप-स्थिरता के बढ़ने पर पाँचवे गुणस्थान में बारह व्रत की शुभवृत्ति हुए बिना नहीं रहती; इसप्रकार राग के छेदते-छेदते शुभराग रह जाता है; वहाँ परद्रव्य का अवलम्बन छोड़ने के लिये सहज ही अणुव्रत-महाव्रत होते है, जो किसी की देखादेखी से अथवा आग्रह से व्रत धारण करता है और यह मानता है कि-मैं व्रत कर रहा हूँ उसे मात्र व्रत का अभिमान ही समझना चाहिये। धीर होकर, मध्यस्थ होकर यह समझना चाहिये कि सर्वज्ञ वीतराग ने क्या कहा है। संसार तो अनंतकाल तक रहेगा। अपनी चिन्ता करके सत् के प्रति उत्साहित होकर जो यह भाव करता है कि-अब भव नहीं चाहिये, इतना ही क्यों किन्तु कुछ भी नहीं चाहिये, मुझे तो मात्र सत्य को ही समझना है; जिसके ऐसा भाव है वही सत् को समझ सकता है। सत् सत् से प्रगट होता है, किसी क्रियाकाण्ड से अथवा बाह्य-प्रवृत्ति से प्रगट नहीं होता।

अंधकार को दूर करने के लिये प्रकाश ही आवश्यक होता है, इसीप्रकार अज्ञान को दूर करने के लिये यथार्थ ज्ञान आवश्यक है।

निर्मल दृष्टि के बाद राग को दूर करने पर जो शुभराग रह जाता है सो असद्भूत व्यवहार है, और जितनी निर्मल स्थिरता होती है सो सद्भूत व्यवहार है। असंग, अविकारी, ध्रुव, अखण्ड, ज्ञायकस्वरूपी आत्मा की श्रद्धा करना सो निश्चय है। श्रद्धा के अखण्ड विषय में निर्मल पर्यायरूप मोक्षमार्ग और मोक्ष का भी भेद नहीं होता; ऐसी शुद्ध निरावलम्बी दृष्टि के बल से जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है वह संवर–निर्जरा है। व्रतादि का शुभ–व्यवहार आस्रव है–बंधका कारण है, क्योंकि एकरूप ज्ञायक स्वभाव में पर की ओर का उत्थान होता है जो कि स्वाश्रित गुण का अविकारी भाव नहीं है। जहाँ शुद्ध में स्थिर नहीं हुआ जासकता वहाँ यदि शुभ का अवलम्बन न हो तो अशुभ में प्रवृत्त होजाता है। जबतक पुण्य–पाप से रहित अविकारी निरावलम्बी स्वभाव की दृढ़ता सहित विकार के नाश की प्रतीतिरूप अखण्ड गुण की श्रद्धा और ज्ञान नहीं होता वहाँतक व्रत–चारित्र सच्चे नहीं होते। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि:–

लिया स्वरूप न वृत्ति का, व्रत का कर अभिमान।
गहे नहीं परमार्थ को, लेता लौकिक मान॥

[आत्मसिद्धि पद २८]

मध्यस्थ होकर सर्वज्ञ वीतराग कथित अविरोधी तत्व को न समझे और बाह्य–प्रवृत्ति में धर्म माने एवं शुभ विकार से लाभ माने; किन्तु देह की क्रिया से तो कहीं पुण्य होता नहीं है। यदि शुभभाव हो तो पापानुबंधी पुण्य का बंध होता है। साथ ही मिथ्यादर्शन शल्य की पुष्टि करके, तत्वज्ञान का विरोध करके, पुण्य की स्थिति पूरी करके अनंतकाल के लिये निगोद में जाता है।

निमित्त की उपस्थिति मात्र होती है, किन्तु वह निमित्त मुझे कहीं सहायक नहीं हो सकता; पुण्य से–शुभ से कोई लाभ नहीं है, ऐसी

अविकारी पूर्ण स्वभाव की अविरोधी श्रद्धा जिसे नहीं है वह सम्यक्दृष्टि नहीं है, तब फिर वह श्रावक अथवा मुनि तो हो ही कहाँ से सकता है ?

यदि अच्छे निमित्त से लाभ होता हो तो ऐसी उत्कृष्ट संगति अनंत-बार प्राप्त हुई है किन्तु किसी को पर के आश्रय से लाभ क्यों नहीं हुआ ? जिसने स्वावलम्बी तत्व की दृष्टि प्राप्त की है, निमित्त का और राग का श्रद्धा में अभाव किया है उसने गुण की प्रतीति से गुण प्रगट किया है। जिसने यथार्थ को समझा है वह वास्तव में निज से ही समझा है, तथापि वह गुरु का बहुमान किये बिना नहीं रहता। वह सत्समागम को प्राप्त करके भी यह मानता है कि मेरी जितनी अपनी तैयारी होगी उतनी ही शक्ति मुझसे प्रगट होगी। अशुभ से बचने के लिए शुभभाव निमित्त है; उस शुभराग से मुझे लाभ नहीं है, किंतु मेरे स्वरूप में जितनी स्थिरता और निराकुलता होगी उतना ही लाभ होगा। ऐसा जानने पर भी जबतक निर्विकल्प स्थिरता न कर सके तबतक शास्त्राभ्यास और विशेष ज्ञान के लिये उपदेश श्रवण करे, इन्द्रिय–संयम में विशेषता करे और ऐसे ही शुभभाव में लगे, तथापि यह न माने कि उससे लाभ होगा। किन्तु अविकारी तत्व की रुचि और उसके बल से जो राग दूर होता है तथा स्थिरता बढ़ती है उससे लाभ माने।

यदि अपनी तैयारी हो तब शास्त्र दिशासूचन करता है। यदि शास्त्रों से अथवा उनके पृष्ठों और अक्षरों से ज्ञान होता हो तो क्या आत्मा में ज्ञान नहीं था ? आत्मा अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य इत्यादि अनन्तगुणों की शक्ति का अखण्ड पिंड प्रतिसमय परिपूर्ण है; उसकी यथार्थ पहिचान करके, अशुभ से बचने के लिये राग को मन्द करके, व्रत भक्ति आदि शुभ का अवलम्बन लिया जाता है, इतने मात्र के लिये शुभभाव ठीक होता है, किंतु वह धर्म में सहायक नहीं है।

व्यवहारनय को कथंचित् अभूतार्थ कहा है। कर्म के निमित्त में युक्त होने से जो लाभ होता है वह सर्वथा अविद्यमान नहीं है। यदि

पर्याय को सर्वथा असत्य माना जाय तो पुरुषार्थ करने की आवश्यकता ही न रहे। अशुभराग को दूर करने के लिये शुभभावरूप व्यवहार पुरुषार्थ से होता है, अपनेआप नहीं होता। भूतार्थ–शुद्धदृष्टि की प्रतीति में अखण्ड की रुचि के बल में स्थिरता करने पर राग दूर होजाता है। उस अपेक्षा से राग को अभूतार्थ कहा है। अभूतार्थ का अर्थ आत्मा के स्वभाव में न होना है। यहाँ पर शुभभाव को असद्भूत व्यवहारनय का विषय कहा है। आत्मा का स्वरूप नहीं है इसलिये असद्भूत और अवस्था में कर्म के संयोग से होता है सो एक समय की अवस्था मात्र को होता है, नित्यस्थायी नहीं है इसलिये व्यवहार है।

अखण्ड ध्रुव स्वभाव के लक्ष से स्थिरता के अंश बढ़ते हैं सो दर्शन, ज्ञान, चारित्र की अवस्था सद्भूत है अथवा आत्मा में शक्तिरूप से जो अनंत निर्मल गुण हैं वे अखण्ड के लक्ष से निर्मलता के अंश प्रगट हुए हैं, इसलिये शक्ति में से व्यक्त होने वाली पर्याय सद्भूत है; और अखण्ड स्वभाव के लक्ष से भेद होते हैं इसलिये वह व्यवहार है।

यदि अकषायदृष्टि न हो और मात्र शुभरागरूप महाव्रतादि हों तो उसे असद्भूत व्यवहार भी नहीं कहा जासकता। यद्यपि शुभभाव बंधन है तथापि अशुभभाव को छोड़ने के लिये शुभभाव ठीक है, यदि ऐसा न माने और शुभभाव को छोड़दे तो, अभी वीतराग तो हुआ नहीं है इसलिये पापबंध करके नरकादि गतियों में होकर परंपरा से निगोद में जायेगा।

शुभभाव करते–करते धीरे–धीरे लाभ होता हो सो भी नहीं है। शुभाशुभ राग मेरा स्वरूप नहीं है, मैं निरावलम्बी ज्ञायक हूँ, ऐसी दृष्टि करके पहले राग का श्रद्धा में अभाव करे और पूर्ण निर्मल ज्ञायक स्वभाव को ही आदरणीय माने तो अंतरंग में यथार्थ की ओर की रुचि होने से सम्यक्दर्शन प्रगट होता है।

छट्ठे गुणस्थान तक शुभ व्यवहार कैसा होता है यह बात उसकी क्रमिक भूमिका के अनुसार बारहवीं गाथा में कही है। सातवें गुणस्थान

में व्रतादि का शुभ-व्यवहार भी नहीं होता; वहाँ तो बुद्धिपूर्वक विकल्प छूटकर अखंड रुचि में लीनता-एकाग्रता होती है। छट्ठे गुणस्थान से ही कषायत्रय-चौकड़ी का अभाव होता है, इसलिये सातवें और उससे ऊपर के गुणस्थानवर्ती मुनि के उपदेश ही नहीं होसकता। आचार्य महाराज कहते हैं कि चौथे-पाँचवे और छट्ठे गुणस्थान में गुण की रुचि से वीतरागी उपदेश सुनने के सहज शुभभाव होते है। जिसे यह खबर नहीं है वह बाह्य-प्रवृत्ति को गुण का साधन मानकर उसमें लग जाता है। बाह्य-प्रवृत्ति से अंतरंग परिणाम नहीं सुधरते, क्योंकि किसी की अवस्था किसी के आधीन नहीं है। गृहस्थ दशा में परवस्तु के सयोग अधिक हैं, किन्तु उन संयोगों से भाव नहीं बिगड़ते। किन्तु स्वयं उनमें इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करके अशुभभाव कर रहा है; उन्हे बदलकर अपने पुरुषार्थ से शुभभाव होते है वे अपनेआप नहीं होते।

जिसे सम्यक्दर्शन की खबर नहीं है और न जो यह जानता है कि सच्चे देव, गुरु शास्त्र कौन है तथा वे जन्म-मरण को दूर करने के उपाय को समझने में किसप्रकार निमित्त होते है, और जिसे सत्यो-न्मुख होकर शुभभाव नहीं करना है वह अपने परिणाम को भूलता है, वह मात्र पाप करके नरक में और परम्परा से एकेन्द्रिय निगोद में जाता है। जो तत्वज्ञान का विरोध करता है यह निगोद को प्राप्त करके संसार में परिभ्रमण करता है।

आलू आदि कन्दमूल में उत्पन्न होने वाले एकेन्द्रियधारी जीव निगोदिया हैं। राई के छोटे से टुकड़े के बराबर भाग में असंख्यात शरीर होते हैं और ऐसे एक शरीर में अनंत जीव होते है, जो कि तीव्र मूढ़ता और आकुलता वश एक श्वासोच्छ्वास में अठारह बार जन्म-मरण करते है। उन्हे नारकीय जीवों से भी अनन्तगुना अधिक दुःख होता है। बाह्य-संयोग दुःख नहीं है किंतु अज्ञान और आकुलता दुःख है। पहले तत्त्वज्ञान का विरोध किया था इसलिये ज्ञान की अनन्तशक्ति कम होगई और गुण की अनन्त हीनदशा प्राप्त हुई, उसी में आकुलता का

दुःख है। ज्ञायकस्वरूप में जो सावधानी है सो सुख है और विकारी भाव में जो सावधानी है सो दुःख है।

लोग बाहर के संयोगों को लेकर सुख-दुःख का नापतौल करते हैं, किंतु वह झूठा है। किसी के पास लाखों रुपयों का संयोग हो और शरीर निरोगी हो किंतु भीतर इच्छा के प्रतिकूल होने से कोई खटक लगी हो, अपमान हुआ हो, भाई-भाई के बीच क्लेश होगया हो, स्त्री कहने में न चलती हो-जिसे कि बाहर नहीं कहा जासकता, तथा ऐसे ही और अनेक कारण होसकते हैं जिनकी परेशानी को लेकर भीतर ही भीतर अनेक कल्पनायें करके आकुलित होकर जलता रहता है। बाहर से अनुकूल संयोग दिखाई देते हों तथापि भीतरी मान्यता में आकुलता का दुःख खटकता रहता है। तात्पर्य यह है कि बाह्य-संयोग से सुख-दुःख नहीं होता। यदि भ्रम को छोड़कर यथार्थ ज्ञान करे तो सुखी होसकता है। किसी को बाहर से प्रतिकूलता का संयोग हो तथापि मैं पर से भिन्न हूँ, पर के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, मैं पवित्र ज्ञानानन्दरूप हूँ, परवस्तु मुझे हानि-लाभ का कारण नही है, इसप्रकार यदि शात ज्ञानस्वभाव को देखे तो चाहे जिस देश में अथवा चाहे जिस काल में दुःख नहीं है। नरक में भी सयोग दुःख का कारण नहीं है, किन्तु भ्रम से पर में अच्छा-बुरा मानने की जो बुद्धि है वही दुःख है। नरक में भी आत्मप्रतीति करके शाति का अनुभव किया जासकता है, क्योंकि आत्मा किसी भी काल में और किसी भी क्षेत्र में अपने अनन्त आनन्द गुण से हीन नहीं है। वह सदा अपने में ही रहता है। आत्मा को परक्षेत्रगत कहना व्यवहारमात्र है।

एकेन्द्रिय दशा को प्राप्त जीवों ने पहले तत्वज्ञान का उग्र-विरोध किया था इसलिये उनकी अवस्था अनन्तगुनी हीन होगई है, वहाँ पर जीव तीव्र कषाय और मोह की तीव्रता में अनन्ती आकुलता का अनुभव करता है। शरीर के प्रति जो मोह है सो दुःख है। जो शरीर है सो मैं नहीं हूँ, इसप्रकार स्वाधीन अविनाशी पूर्ण स्वरूप की प्रतीति

करके जितना स्वभावोन्मुख होता है उतने ही अंश में दुःखानुभव नहीं होता ।

शुद्धनय का विषय साक्षात् शुद्ध आत्मा है उसे पहले यथार्थ रीति से जानकर पूर्ण–निर्मल स्वरूप की श्रद्धा करने के बाद जवतक पूर्ण नहीं होजाता तवतक भूमिका के अनुसार प्रयोजनभूत अवस्था समझनी चाहिये। सराग और वीतराग अवस्था जैसी हो उसे उसप्रकार जानना सो व्यवहार है और पूर्ण अखण्ड स्वरूप को जानना सो निश्चय है; इन दोनों का यथार्थ ज्ञान करने वाला सच्चा ज्ञान प्रमाण कहलाता है, किन्तु वह परोक्ष–प्रमाण है। राग का भाग मेरे लिये सहायक नहीं है वह त्याज्य है। मेरा अखण्ड ज्ञायक ध्रुवस्वभाव सहायक है इसप्रकार प्रथम श्रद्धा में आने के वाद निश्चय और व्यवहार अर्थात् अखण्ड वस्तु और भेदरूप अवस्था–दोनों का ज्ञान करता है। व्यवहार से निश्चय प्रगट नहीं होता किन्तु निश्चय में व्यवहार गौणरूप से आजाता है; लेकिन वह व्यवहार निश्चय में सहायक नहीं होता ।

लोगों को व्यवहार का यथार्थ ज्ञान नहीं है इसलिये व्यवहार से धर्म मानते हैं; जो कि मिथ्या है। जहाँ यथार्थ निश्चय वस्तुदृष्टि है वहाँ राग के दूर करने पर शुभराग रहता है और निर्मल अवस्था के अंश वढ़ जाते हैं। उसे यथावत् जानना सो व्यवहार है। शुभरागरूप व्यवहार से धीरे-धीरे परमार्थ प्राप्त होजाता है, ऐसी श्रद्धा त्रिकाल में भी यथार्थ नहीं है ।

व्यवहारदृष्टि–निमित्ताधीनदृष्टि–रागदृष्टि का आश्रय करने वाला मिथ्यादृष्टि है। निरावलम्वी नित्य स्वभावदृष्टि का अर्थ है भूतार्थदृष्टि या निश्चयदृष्टि, उसके आश्रित सम्यक्दृष्टि है, इस वात को ग्यारहवीं गाथा में कहकर वारहवीं गाथा में व्यवहार का यह ज्ञान करने को कहा है कि निश्चय के यथार्थ आश्रय में कहाँ-कहाँ कैसी अवस्था होती है। यदि अवस्था को भुला दिया तो निर्मलता करने का पुरुषार्थ नहीं होगा; और यदि अवस्था पर–व्यवहार पर ही दृष्टि रखी तो निर्मल अवस्था

नहीं होगी। यदि निश्चय का लक्ष नहीं रखा तो निरावलम्बी अखण्ड गुण की प्रतीति का नाश होजायेगा।

निरपेक्ष, निर्विकारी ज्ञायक स्वभाव को यथार्थ न्याय से लक्ष में लेने पर उसके बल से विकार का नाश होता है, और विकार के लक्ष से अथवा निर्मल अवस्था के लक्ष से राग का नाश नहीं होता। जिसे ऐसी श्रद्धामय यथार्थ स्वरूप का निश्चय होता है उसे वर्तमान अवस्था का यथार्थ विवेक अवश्य होता है, तथापि यहाँ पर व्यवहारनय का विशेष स्पष्टीकरण करने के लिये उपदेश में व्यवहार से कहना पड़ता है कि तू अशुभराग को छोड़ने के लिये शुभभाव का आश्रय ले। और फिर दूसरा आशय यह है कि कोई ग्यारहवीं गाथा का आशय न समझे और यह मानकर कि मात्र अखण्डतत्व है, अवस्था नहीं है—व्यवहार का ज्ञान न करे तो पुरुषार्थ नहीं कर सकेगा; इसलिये निश्चय और व्यवहार की अविरोधी संधि को लेकर दोनों गाथाओं में मोक्षमार्ग का स्वरूप समझाया है।

इसे समझे बिना यदि व्यवहार से चिपका रहे तो तत्व की श्रद्धा का नाश होजायेगा, और अवस्था के प्रकार को न जाने तो मोक्षमार्ग का नाश होजायेगा; अर्थात् जो व्यवहार को न मानता हो उसे स्पष्ट समझाने के लिये यह बारहवीं गाथा है।

पराश्रय से होने वाला अज्ञानभाव वर्तमान अवस्थामात्र के लिये क्षणिक है, और उसका नाश करने वाला स्वभावभाव त्रिकालस्थायी भूतार्थ है। उस निरावलम्बी, असंग, अविकारी ज्ञायक स्वभाव को जीव ने अनादिकाल से नहीं जाना इसलिये वह वर्तमान अवस्था में विकार में टिका हुआ है। शरीर, मन, वाणी तो पर है, उनके साथ आत्मा का कोई भी संबंध नहीं है। आत्मा अविकारी ज्ञायक एकरूप वस्तु है, उसमें पर के संबंधरूप विकल्पवृत्ति का जो उत्थान होता है सो विकार है। फिर चाहे वह दया, दान, पूजा, भक्ति इत्यादि का शुभराग हो या हिंसा, चोरी इत्यादि का अशुभभाव हो, किन्तु वे दोनों विकार हैं। वे

क्षणिक अवस्थामात्र तक होने से वदले जासकते हैं-नष्ट किये जासकते हैं। दोष का नाश, निर्मल अवस्था की उत्पत्ति और उस निर्मल अवस्था को धारण करने वाला नित्य ध्रुव है। यदि वह नित्य एकरूप स्थिर न रहता हो तो विकार को दूर करूँ और विकार रहित सुखी होजाऊँ यह कथन ही नहीं होसकता। स्वतन्त्र अर्थात् विकार रहित, पराश्रय रहित एकरूप निर्मल पूर्ण ज्ञानानंदभाव से रहना, यही स्वभावभावरूप मोक्ष है। पूर्ण निर्मल पवित्र दशा मोक्ष है और उसकी कारणरूप हीन निर्मलदशा मोक्षमार्ग है।

विकारी अशुद्धभाव जीव की वर्तमान अवस्था में नये होते है, किन्तु वह अपना स्वाश्रित ध्रुवस्वभाव नहीं है। मैं अविकारी पूर्ण हूँ, पर के कारण से मेरा बनना-बिगड़ना नहीं होता इसलिये मैं स्वतन्त्र हूँ, इस-प्रकार त्रैकालिक पवित्र स्वभाव का निश्चय करके अखण्ड स्वाश्रितदृष्टि के बल से क्षणिक विकार का नाश होसकता है, और जो निर्मल अवस्था शक्तिरूप से है वह प्रगट होसकती है। इसमें दो पक्ष आते हैं-मैं पूर्ण हूँ सो निश्चय और उसकी वर्तमान अवस्था के विकार-अविकाररूप दो भंगो को देखना सो व्यवहार है। उन भेदों पर दृष्टि डालने से विकल्प होता है और नित्यस्थायी, अखण्ड भूतार्थ स्वभाव पर लक्ष करने से राग का भेद छूट जाता है और अवस्था निर्मल होकर द्रव्य में मिल जाती है।

श्रद्धा के लक्ष से पूर्णदशा प्रगट नहीं होती क्योंकि श्रद्धा तो आत्मा के गुण की पर्याय है। उस अपूर्ण अवस्था के बल से पूर्ण निर्मल मोक्षदशा प्रगट नहीं होसकती, किन्तु सर्वशक्ति की पूर्ण सामर्थ्य-रूप स्ववस्तु की ओर बलवती एकाग्रता करने पर पहले अपूर्ण निर्मल अवस्था और फिर पूर्ण निर्मल अवस्था प्रगट होती है।

एकरूप स्वभाव पर यथार्थ निश्चय की दृष्टि का जोर देने पर भ्रम और विकारी अवस्था का नाश, निःशंक सम्यक्दर्शन और आंशिक निर्मलता की उत्पत्ति होती है तथा वस्तु एकरूप ध्रुव रहती है। वर्तमान

होने वाली अवस्था को देखने वाली व्यवहारदृष्टि को गौण करके निर्मल, निरपेक्ष, निरावलम्बी असंग एकरूप सदृश स्वभाव को अखण्ड-रूप से लक्ष में लेना सो सम्यक्दर्शन है। श्रद्धा का विषय अभेद है; किन्तु जैसी अवस्थाये होती हैं उन्हे यदि ज्ञान से वैसा न जाने तो ज्ञान में भूल होती है और ज्ञान में भूल होने पर दृष्टि में भूल होती है इसलिये सम्पूर्ण निर्मल, निरपेक्ष स्वभाव को देखना सो निश्चय और अवस्था को देखना सो व्यवहार है। इसप्रकार दोनों को एक वस्तु में जानने वाला ज्ञान प्रमाण है। विकार उपादेय नहीं है, ज्ञेयमात्र है।

इसप्रकार ग्यारहवीं और बारहवी गाथा में निश्चय और व्यवहार की अविरोधी संधि किसप्रकार है सो चतुर्थ कलश में कहते हैं:—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके
जिनवचसि रमंते ये स्वयं वांतमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एवं ॥ ४ ॥

अर्थः—निश्चय और व्यवहार–इन दो नयों में विषय के भेद से परस्पर विरोध है; इस विरोध का नाश करने वाले 'स्यात्' पद से चिन्हित जिनेन्द्र भगवान के वचन में जो पुरुष रमते हैं (प्रचुर प्रीति के साथ अभ्यास करते है) वे पुरुष अपने आप (अन्य कारणों की सहायता के बिना) मिथ्यात्व कर्म के उदय का वमन करके इस अतिशय-रूप परमज्योति प्रकाशमान शुद्ध आत्मा को तत्काल ही देखते हैं। कैसा है वह समयसाररूप आत्मा? नवीन उत्पन्न नहीं हुआ, पहले कर्म से आच्छादित था जोकि प्रगट व्यक्तिरूप होगया है। और फिर कैसा है? सर्वथा एकान्तरूप कुनय के पक्ष से खण्डित नहीं होता, निर्बाध है।

पराश्रितरूप से होने वाला भाव एक प्रकार का नहीं होता, इसलिये आत्मा में जो भूल होती है वह भी अनेक प्रकार की होती है और आत्मा का ध्रुवस्वभाव एक प्रकार का है।

आत्मा व्यवहार से निर्मल अवस्था का कर्ता-भोक्ता है। व्यवहार का विषय भेदरूप होने से निश्चयनय के अभेद विषय से उसका विषय विरोधरूप है तथापि व्यवहार है जिसका निषेध नहीं है, किन्तु उसका लक्ष अभेददृष्टि में गौण है।

जो पर-लक्ष से शुभाशुभ वृत्ति करता है, अर्थात् रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द में राग को लेकर अच्छे-बुरे भाव से लक्ष करने पर उसमें जो लीनता होती है सो विषय है। धर्म के नाम से पर में जो अच्छी-वृत्ति होती है वह भी पर-विषय में-राग में जाती है। मै पर-संयोग तथा रागादिरूप नहीं हूँ, किन्तु त्रिकाल एकरूप ज्ञायक हूँ, इसप्रकार स्वलक्ष करे तो भूल और मलिन अवस्था का नाश तथा यथार्थ प्रतीति-युक्त निर्मल श्रद्धा और अविकारी प्रतीति की प्राप्ति होती है। (प्राप्ति होने का अर्थ यह है कि निज में जो शक्ति थी वह स्वभाव के बल से व्यक्त होती है।)

जो अवस्था जैसी है उसे वैसी ही जाननी चाहिये। यदि वस्तु बिल्कुल अखण्ड एकरूप ध्रुव हो और उसमें अवस्था का बदलना न हो-कूटस्थ ही रहे तो विकार का और भ्राति का नाश तथा अविकारी अवस्था का प्रादुर्भाव नहीं होसकेगा। तथापि जिसे दोनों अपेक्षाओं के प्रकार की खबर नहीं है उसे एक तत्व का ज्ञान करने में खण्ड-अखण्ड-रूप दो विषयों के भेद से दो अपेक्षाओ में परस्पर विरोध मालूम होता है, किंतु उस विरोध का नाश करने वाली स्यातपद लक्षण वाली वीत-राग की स्याद्वाद वाणी न्याय से स्वतंत्र वस्तु को अविरोधरूप से निश्चित् करती है। जिस अपेक्षा से वस्तु नित्य है उसी अपेक्षा से अनित्य नहीं है, किंतु वस्तुदृष्टि से नित्य और पर्यायदृष्टि से अनित्य है। विकार मेरा स्वरूप नहीं है, मैं विकार का नाशक हूँ, इसप्रकार अविकार के लक्ष से भेददृष्टि को (व्यवहार को) गौण करके पूर्ण अखण्ड वस्तु को लक्ष में न ले तो त्रिकाल एकरूप स्वभाव का आश्रय नहीं होता। और यदि अवस्था को न माने तो पुरुषार्थ नहीं होगा; क्योंकि वस्तु का लक्ष

अवस्था के द्वारा होता है और वस्तु के आश्रय से निर्मलता प्रगट होती है ।

यदि व्यवहारनय का विषय अवस्था न हो तो यह उपदेश मिथ्या सिद्ध होगा कि तू रागद्वेष को दूर करके निर्मल हो; भ्राति को छोड़कर अभ्रान्त हो। संसार अवस्था के समय भी आत्मा में त्रिकाल वस्तुस्वभाव की दृष्टि से शुद्धत्व ही है, और पर-सम्बन्ध से वर्तमान अवस्थादृष्टि से अशुद्धत्व है। सर्वज्ञ भगवान ने जिस अपेक्षादृष्टि से जिसप्रकार वस्तु का वर्णन किया है उसीप्रकार वस्तु को जाने तो मोह का अवश्य नाश होता है। इस बात को समझने के लिये जो प्रेमपूर्वक और ध्यान से सुनेगा वह उच्च पुण्यबन्ध करेगा और जो समझेगा वह कृतकृत्य होजायेगा ।

आत्मा परमार्थतः पर से और विकार से भिन्न है तथा पूर्ण निरावलम्बी है। उसकी महिमा को सुनकर वस्तु के प्रति बहुमान करे, अन्तरंग से उमंगपूर्वक स्वीकार करे कि अहो! यह बात अपूर्व है। इस-प्रकार यथार्थ की ओर जाते हुए सहज स्वीकृति हो तो स्वभावोन्मुख हुए बिना नहीं रहेगा। यदि किसी को यह बात जल्दी समझ में न आये तो भी उसके प्रति आदरभाव रखकर वह समझने की जिज्ञासा रखे कि यह क्या कहा जारहा है, तो मन ऐसा एकाग्र होजाता है कि जिससे महान पुण्यबन्ध होता है, जिसके फलस्वरूप इसीप्रकार तत्व को सुनने का योग पुनः-पुनः मिलता है। जो यह जानते हैं कि हमें यथार्थ तत्व सुनने को मिला है वे पुण्यबंध के लिये नहीं सुनते। जिस अपेक्षा से अथवा जिस न्याय से वस्तुस्थिति कही जाती है उसमें यदि शब्द आगे पीछे समझ में आये तो मेल नहीं खाता ।

स्यात् पद से चिन्हित जो श्री जिनेन्द्र भगवान के वचन है वे अनेकधर्म स्वरूप स्वतंत्र वस्तु को पर से भिन्न तथा अपने ज्ञानादि अनंत गुण और पर्यायों से अभिन्न बतलाते है। जब नित्य अभिन्न वस्तु स्वभाव को मुख्य बनाया जाता है तब वर्तमान अनित्य अवस्था का लक्ष गौण

समझना चाहिये; इसप्रकार सर्वज्ञ वीतराग की स्याद्वाद वाणी अविरोधी वस्तु को दो अपेक्षाओं से बतलाती है।

जो वस्तु को एकान्त अखण्ड शुद्धरूप मानकर अवस्था को उड़ा देना चाहते हैं वे अवस्था को-पर्याय को समझे ही नहीं इसलिये उनका ज्ञान मिथ्या सिद्ध होता है। अवस्था बदलती है तथापि वह भ्रम है यह कहने वाला स्वयं ही भ्रमरूप सिद्ध होता है। अशुद्धता अपने ध्रुवस्वभाव में नहीं है, किन्तु यदि यह माने कि वर्तमान अपूर्ण अवस्था में विकार नहीं है तो विकार को दूर करने का पुरुषार्थ ही नहीं होसकेगा।

सर्वज्ञ वीतराग की वाणी के न्याय से जो निश्चय और व्यवहार-दोनों नयों के द्वारा यथार्थ वस्तुस्थिति का निर्णय करके एकरूप स्वाधीन वस्तु को जाने कि मैं निश्चय से त्रिकाल एकरूप निर्मल हूँ, पूर्ण हूँ और व्यवहारदृष्टि से वर्तमान अवस्था ऐसी है तथा जो पराश्रय से विकारी एवं स्वलक्ष से निर्मल पर्याय प्रगट होती है वह अवस्था मुझमें होती है—इसप्रकार दोनों नयों को जाने और एक को मुख्य तथा दूसरे को गौण करके वस्तु को लक्ष में ले तो यथार्थता निश्चित होती है।

मिथ्या-व्यवहार के भेद के आग्रह की बात घर-घर सुनाई देती है। मैं पुण्य-पाप का कर्ता हूँ, शुभविकार से मुझे लाभ होगा, हम देह की क्रिया कर सकते हैं तथा दूसरे को बना या बिगाड़ सकते हैं ऐसा लोक व्यवहार आत्मा को सिखाना नहीं पड़ता, उसका तो अनादि-काल से परिचय चला आरहा है। किन्तु मैं चिदानंद निर्विकार ध्रुव हूँ, विकार का या पर का कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ, मेरा स्वभाव मलिन अवस्थारूप नहीं है यह जानकर भेद को गौण करके, यथार्थ शुद्धदृष्टि के विषय का ज्ञान कराने वाले और उसका उपदेश देने वाले बहुत विरल है।

कोई आत्मा को सर्वथा अखंड-अविकारी मानकर अवस्था के भेदों को उड़ाना चाहता है अर्थात् जो यह मानता है कि-परावलंबन से अनित्यतया होने वाले परिणाम सर्वथा जड़ के ही हैं, इन्द्रियाँ अपने (इन्द्रियों के) विषय को भोगती है, मैं नहीं भोगता वह स्वच्छन्दी है, और इसीलिये संसार में परिभ्रमण करता है। जड़-इन्द्रियविषय को आत्मा नहीं भोग सकता तथापि स्वयं अपने को भूलकर पर में सुख की कल्पना करता है, और अच्छा-बुरा मानकर राग में एकाग्र होकर आकुलता का वेदन करता है। जड़ में विकार नहीं है किन्तु आत्मा स्वयं विकारी भाव से विकारी अवस्था को धारण करता है; उस विकार में परवस्तु निमित्त होती है। राग की वृत्ति पर-लक्ष से होती है जो कि नित्य-स्वभाव के लक्ष से दूर होती है; इसलिये जो दूर होती है वह अभूतार्थ है, मेरे ध्रुवस्वभाव में वह नहीं है; यह जानकर अभेद स्वभाव को लक्ष में लेना सो सच्चीदृष्टि का विषय है।

जो पुरुष सर्वज्ञ की वाणी के न्यायानुसार यथार्थ तत्व का निर्णय करने के लिये निश्चय और व्यवहार के अविरोधी न्याय में रमते रहते है, अर्थात् प्रचुर प्रीति सहित-वास्तविक तीव्र रुचि के साथ अभ्यास करते है वे जहाँ-जहाँ जिस-जिस अपेक्षा के भाव का कथन होता है वहाँ उसीप्रकार समझते है, और दूसरे भाव की अपेक्षा गौण समझते हैं।

निश्चय से स्वभाव को देखना और व्यवहार से अवस्था को यथावत् जानना चाहिये; इसप्रकार यथार्थ वस्तु का निर्णय करने के लिये उसका अभ्यास करना चाहिये। संसार की रुचि के लिये जागरण करता है, उपन्यास पढ़ता है, नाटक देखता है किंतु सर्वज्ञ वीतराग के शास्त्र में क्या कथन है और सच्चा हित कैसे होसकता है उसकी चिंता नहीं करता। उसके लिये कोई किसी से न तो कुछ पूछता है और न याद करता हैं। लोक व्यवहार में पुत्र अपने पिता से यह नहीं पूछता कि आप मरकर कहाँ जायेगे? आपने यथार्थ हित क्या समझा है? क्योंकि देखने वाला स्वयं भी वाह्य परिस्थिति में ही विश्वास करता है इसलिये

वह न तो यह देखता है और न यह जानता है कि भीतर ज्ञातास्वरूप कौन है ! उसे तो देह पर राग है इसलिये वह अपने बीमार पिता से पूछा करता है कि आपको जो केन्सर रोग हुआ है वह अब कैसा है? इसप्रकार दूसरे की खबर पूछता है किंतु अनादिकाल से जो अपने को ही अज्ञानरूपी केन्सर हुआ है, जन्म-मरण का कारणभूत विपरीत मान्यता का महारोग लगा हुआ है उसके लिये कोई नहीं पूछता। बाजार में से चार पैसे की वस्तु लेते समय बड़ी सावधानी से देखता है कि-कहीं ठगे तो नहीं जारहे हैं; क्योंकि घर पर उस सम्बन्ध में पूछने वाले बैठे हैं। किंतु अन्तरंग में भूल की चिंता कौन करता है? कौन पूछता है? न तो पिता को पुत्र की भलाई की खबर है और न पुत्र को पिता के हित का ध्यान है। मरकर पशु-पक्षी अथवा नारकी होंगे इसलिये अपूर्व ज्ञान प्राप्त करने का यह सच्चा अवसर है; यदि इसप्रकार निज को चिंता हो तो अपने को जो अनुकूल पड़े उसका दूसरे को भी आमंत्रण दे, किन्तु वह तो अनादिकाल से देहादिक बाह्य-संयोगों को आत्मा मानता आया है और उसे वह अनुकूल पड़ता है इसलिये उसी को बारम्बार याद करता है। लड़का मर गया है यह मानकर अज्ञानी जीव रोता है किन्तु वह यह नहीं जानता है कि शरीर के परमाणुओं का अथवा आत्मा का-किसी का भी नाश नहीं होता, मात्र पर्याय बदलती है। क्योंकि संयोग में सुख-दुःख मान रखा है इसलिये असंयोगी भाव नहीं रुचता। देह पर राग है इसलिये देह की सुविधा के लिये जिस संयोग को अनुकूल मानता है उसका आदर करके राग करता है और जिस संयोग को प्रतिकूल मानता है उसका अनादर करके द्वेष करता है। यह सब अपने भाव में ही करता है पर में कुछ नहीं कर सकता, तथापि पर का करने की आकुलता होती है, यही दुःख है। संयोग से सुख नहीं होता किन्तु वह अपनी स्वाधीन सत्ता में ही विद्यमान है। आश्चर्य तो यह कि-कोई आत्मा की नाड़ी देखकर उसका यह निदान नहीं करना चाहता कि वह विद्यमान सुख कैसे प्रगट हो।

यदि निज को सच्चे धर्म की रुचि हो तो उसकी भावना भाये और धर्म के प्रति राग उत्पन्न हो। यदि अनन्त भाव-मरणों को दूर करना हो तो इसे समझना ही चाहिये; इसे समझने के लिये तीव्र इच्छा और संपूर्ण सावधानी होनी चाहिये। जिसे सत्य को सुनने का प्रेम जागृत होजाता है उसे स्वप्न में भी वही मंथन होता रहता है। वह अन्य चिन्ताओं को छोड़कर मात्र एक आत्मा की ही रुचि में रमता रहता है।

जो निश्चय-व्यवहार के अविरोधी पहलुओं का ज्ञान निश्चित करके सर्वज्ञ के न्याय-वचन से यथार्थ तत्व का बारंबार अभ्यास करता है उसका मिथ्यात्व-मोह (पर में सुख-दुःख की बुद्धि, कर्तृत्वरूप अज्ञान और उसका निमित्त मोहकर्म) स्वयं नष्ट होजाता है। अपने अखण्ड स्वभाव में वास्तविक रुचि से एकाग्र होने पर अयथार्थ श्रद्धा के निमित्त-कारण दर्शन-मोह का स्वयं वमन (नाश) होजाता है। जिसका वमन कर दिया उसे कोई भी ग्रहण नहीं करना चाहता।

दूज के चन्द्रमा के उदित होने पर वह बढ़कर पूर्णिमा का चन्द्र अवश्य होगा, उसीप्रकार यथार्थ पूर्ण स्वभाव के लक्ष से सम्यक्‌दर्शन का निर्मल अंश प्रगट होने पर वह पूर्ण निर्मल हुए बिना नहीं रहेगा। मैं पूर्ण अखण्ड निर्मल स्वभाव वाला हूँ ऐसी रुचि की प्रबलता से जो वारंवार यथार्थ अभ्यास करता है वह अस्ति के बल से मिथ्यात्व मोहकर्म और उसमें संयुक्त विपरीत मान्यता का वमन करके अपने ध्रुवस्वभाव की महिमा से पूर्ण अतिशयरूप परमज्योति निर्मल ज्ञायकरूप पूर्ण प्रकाशमान अपने शुद्ध आत्मा को तत्काल ही देखता है।

निश्चय से अर्थात् नित्य स्वभावदृष्टि से देखने पर आत्मा अखण्ड शुद्ध है और वर्तमान अवस्था से देखने पर पर-संबंध से होने वाला विकार (पुण्य-पाप की वृत्ति) भी है। अज्ञानभाव से आत्मा विकार का-रागद्वेष का कर्ता है, और ज्ञानभाव से अज्ञान तथा विकार का नाशक है। परमार्थ से आत्मा का स्वभाव त्रिकाल एकरूप शुद्ध ही है। ऐसा

स्वरूप समझे बिना लौकिक समस्त नीति का पालन करे अथवा धर्म के नाम पर पुण्यबंध करे किन्तु उससे परमार्थ तत्व को कोई लाभ नहीं होता। किसी बाह्य क्रिया से पुण्य नहीं होता किन्तु यदि अंतरंग से शुभभाव रखे, अभिमान न करे और तृष्णा को कम करे तो पुण्य-बंध होता है किन्तु उससे भव कम नहीं होते। अज्ञान पूर्वक के शुभभाव में पापानुबंधी पुण्य का बंध करके उसके फल से कभी देव होता है, किन्तु अज्ञान के कारण वहाँ से मरकर पशु और फिर नरकादिक पर्याय में परिभ्रमण करता है। किन्तु यहाँ तो भव न रहने की बात है।

कैसा है समयसाररूप शुद्ध आत्मा? नवीन उत्पन्न नहीं हुआ, प्राप्त की ही प्राप्ति है, अखंड स्वभाव के लक्ष से निज वस्तु में से यथार्थ श्रद्धा ज्ञान आनंद की प्राप्ति होती है। जैसे चने का स्वाद स्वभाव से मीठा है किन्तु वर्तमान अवस्था में कचाई के कारण वह अप्रगट है। कच्चे चने को (परिपूर्ण मानकर) खाने से वास्तविक स्वाद नहीं आता, चने की वर्तमान कच्ची अवस्था प्रगट है और भीतर स्वादयुक्त गुण शक्तिरूप से विद्यमान है, इसप्रकार एक चने में दोनों अवस्थाओं को न जाने तो कोई चने को भूँजकर उसका स्वाद प्रगट करने का प्रयत्न ही न करे; इसीप्रकार भगवान आत्मा चिदानंद नित्य एकरूप है, उसमें वर्तमान अवस्था में राग-द्वेष-अज्ञानरूपी कचास है और शक्तिरूप से निराकुल आनंद का स्वाद वाला पूर्ण स्वभाव है, उन दोनों प्रकारों को जाने तथा सम्पूर्ण अखंड ध्रुव ज्ञायक स्वभाव के लक्ष से भार देने पर जैसा शुद्ध पूर्ण स्वभाव है वैसा ही प्रगट होता है, यथार्थ की प्रतीति होने पर विपरीत मान्यतारूप अवस्था का नाश और सच्ची मान्यता की उत्पत्ति होती है, तथा वस्तु तो ध्रुवरूप से स्थायी है ही।

प्रश्नः—गुण के लिये हमें क्या करना चाहिये?

उत्तरः—तू स्वय ही गुण को जानने वाला गुणस्वरूप है, उसकी जानकारी प्राप्त करनी चाहिये। आत्मा के ज्ञान की जानकारी और

ज्ञान की स्थिरतारूप क्रिया करनी चाहिये। आत्मा देह की क्रिया अथवा पर का कोई कार्य नहीं कर सकता।

मध्यस्थ होकर इस वस्तु को ज्यों की त्यों समझनी चाहिये। पुण्य-पापादि के अंश को मिलाये बिना अविकारी ज्ञायक स्वभाव की दृष्टि शुद्ध करनी चाहिये और व्यवहारनय के विषय को ज्यों का त्यों जानकर, उसे गौण करके, निर्मल अखंडस्वभाव के लक्ष से एकाग्र होना ही प्रारंभ का-पूर्ण निर्मलता को प्रगट करने का उपाय है। निज को भूलकर पर को विषय बनाकर जो रागद्वेष तथा अज्ञानरूप परिणाम किये सो ही अज्ञानभाव का कार्य है। विपतरीत मान्यता से अपना पर से भिन्नत्व भूल गया है और इसलिये सम्पूर्ण आत्मा अज्ञान से आच्छादित हो गया है। किन्तु मेरे स्वभाव में विकार नहीं है, विकार पर के सम्बन्ध से वर्तमान एक-एक समय की अवस्थामात्र के लिये होता है, उसका स्वभाव के बल से नाश हो सकता है, इसप्रकार नित्यस्वभाव के लक्ष से एकाग्र होने पर जिसे आच्छादित माना था वह प्रगट होगया अर्थात् उसकी यथार्थ प्रतीति प्रगट हो गई।

आत्मा का स्वभाव किसी परवस्तु से रुका हुआ अथवा बद्ध नहीं है, तथापि जहाँतक अवस्था में जैसा विकार होता है वैसा ही जड़कर्म निमित्त होता है और उससे व्यवहारदृष्टि से आत्मा बंधा हुआ कहलाता है, किन्तु जड़वस्तु आत्मा में त्रिकाल में भी नहीं है। प्रत्येक वस्तु पर की अपेक्षा से नास्तिस्वरूप है। जो अपने में है ही नहीं वह क्या हानि कर सकती है? यह दृष्टि विपरीत है कि पर का-कर्म का बन्धन दूर होजाये तो सुखी होजाऊँ, अथवा मै इस बन्धन के आने से दुःखी होरहा हूँ। विकार करने की आत्मा की योग्यता है, उसमें निमित्तरूप से जड़कर्म अपने स्वतंत्र कारण से उपस्थित होता है। यदि आत्मा अपनी ओर लक्ष रखे तो अपने में विकार न हो किन्तु जब स्वयं निज को भूलकर पर की ओर लक्ष करता है तब विकार होता है, उसमें जड़कर्म निमित्त होता है, वह विकार वर्तमान एक अवस्थामात्र के

लिये होता है। यदि स्वभाव का लक्ष करे तो दूसरे ही क्षण विकारी अवस्था को बदलकर अविकारी अवस्था प्रगट कर सकता है। भीतर स्वभाव में गुण की पूर्ण शक्ति भरी हुई है, उसके लिये बाह्य में कुछ नहीं करना पड़ता। जैसे लेंडीपीपर में चरपराहट की शक्ति भरी हुई है, जोकि उसके घोंटने से उसी में से प्रगट होती है। वर्तमान में उसकी चरपराहट प्रगट नहीं है तथापि उसकी शक्ति पर विश्वास किया जाता है कि इसमें वर्तमान में चौसठ पुटवाली चरपराहट शक्ति-रूप से विद्यमान है, जोकि सर्दी को दूर कर देगी। इसप्रकार पहले विश्वास किया जाता है पश्चात् उसे घोंटकर उसका गुण प्राप्त किया जाता है। इसीप्रकार आत्मा में वर्तमान अपूर्ण अवस्था के समय भी अनन्तज्ञान और अनन्तसुख इत्यादि अनन्तगुणों की पूर्ण अखण्ड शक्ति भरी हुई है, उसका विश्वास करके उसमें एकाग्र होने पर वह प्रगट होती है। निज-स्वभाव का विश्वास नहीं किया अर्थात् जो देह है सो मैं हूँ, राग-द्वेष मेरे काम हैं, इसप्रकार अज्ञान के द्वारा आत्मा के स्वभाव को ढक दिया और यह मान लिया कि मैं ऐसा पूर्ण नहीं हूँ, किन्तु यथार्थ स्वभाव के द्वारा जब पूर्ण स्वभाव की प्रतीति की तब कहा जाता है कि शुद्ध आत्मा प्रकाशित हुआ है-प्रगट हुआ है।

कैसा है शुद्ध आत्मा ? सर्वथा एकान्तरूप कुनय के पक्ष से खण्डित नहीं होता, निरबाध है। यदि सर्वथा एक पक्ष से आत्मा को नित्य कूटस्थ ही माना जाये तो रागद्वेष की विकारी अवस्था नहीं बदली जासकती। यदि कोई आत्मा को क्षणिक सयोगमात्र तक ही सीमित माने तो पाप का भय न रहे और नास्तिक स्वच्छंद होजायेंगे। किन्तु द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से नित्य शुद्ध, अखण्ड स्वतंत्र वस्तुरूप से जाने और व्यवहारदृष्टि से भेदरूप अवस्था जाने; इसप्रकार यथार्थता से यदि आत्मा की प्रतीति करे तो एकान्तपक्ष का खण्डन किया जासकता है।

भावार्थः—सर्वज्ञ वीतराग की स्याद्वाद वाणी अविरोधी स्वरूप को जानने वाली है। वस्तु में दो अपेक्षाओं (निश्चय और व्यवहार)

को यथावत् न जाने तो एक वस्तु में भेद और अभेद दोनों मानने में विरोध आएगा; किन्तु वीतराग की वाणी कथंचित् विवक्षा से वस्तुस्वरूप को कहकर विरोध को मिटा देती है।

सत्= होना; प्रत्येक आत्मा अपनी अपेक्षा से त्रिकाल है।

असत्= न होना; प्रत्येक आत्मा पर की अपेक्षा से असत् है, अर्थात् पर की अपेक्षा से आत्मा नहीं है—असत् है।

इसप्रकार तत्व जैसा है उसे उसीप्रकार अविरोधी दृष्टि से न जाने तो यथार्थ निःसन्देहता की शाति नहीं होगी और स्वरूप में स्थिर होने की शक्ति प्रगट नहीं होगी।

प्रश्नः—सत् और असत् दोनों एक ही वस्तु में कैसे हो सकते हैं?

उत्तरः—एक ही वस्तु में सत् और असत् एक ही साथ रहते है। जैसे चाँदी चाँदी के रूप में है सोने के रूप में नहीं है; इसीप्रकार प्रत्येक वस्तु अपनेरूप से सत् और पररूप से (पर की अपेक्षा से) असत् है, वस्तु को स्वतंत्रतया देखने पर वह वस्तु ही यह बताती है कि मैं पररूप से नहीं हूँ।

प्रश्नः—जबकि वस्तु सत् है तब उसमें अस्ति ही मानना चाहिये, उसमें असत् का—नास्ति का क्या काम है?

उत्तरः—पर से पृथक्त्व—असत्भाव मानने पर ही प्रत्येक वस्तु का सत्भाव, नित्यत्व और असंयोगीपन सिद्ध होता है। अपनेरूप में होना और पररूप में न होना ऐसा सत्—असत्पन का गुण प्रत्येक वस्तु में एक साथ रहता है। परवस्तु का अपनेरूप से न होना और अपना परवस्तुरूप से न होना सभी वस्तुओं का स्वभाव है।

स्वयं जिसरूप से है उसरूप से अपने को नहीं समझा, नहीं माना इसलिये पर में निजत्व मानकर देहदृष्टि से यह मान लेता है कि—पुण्य—पाप, रागद्वेष मेरे हैं और मैं देहादिरूप हूँ, मैं देहादि की क्रिया करता हूँ, इत्यादि। बोलता है, चलता है, दिखाई देता है सो यह

सब जड की क्रिया है; उसकी जगह मैं वही हूँ, इसप्रकार अनादिकाल से पर में अपनापन मानता आया है, तथापि आत्मा में न तो विकार घुस गये है और न गुण ही कम हो गये है; वर्तमान प्रत्येक समय की अवस्था में भूल और विकार करता आया है। यदि स्वाधीन अस्ति-स्वभाव को जानले तो भूल और विकार का नाश करके निर्मल दशा को प्रगट कर सकता है।

प्रत्येक वस्तु अपनेरूप से है और पररूप से नहीं है। स्वयं पररूप से असत् है परवस्तु दूसरी वस्तु में (आत्मा में) असत् है, इसलिये कोई तेरे आधीन नहीं है और तू किसी की अवस्था का कर्ता नहीं है। किसी एक वाक्य के कहने पर उसमें दूसरी अपेक्षा का ज्ञान आजाता है; एक के कहने पर दूसरे की अपेक्षा निश्चय से आजाती है। नित्य कहने पर अनित्य की अपेक्षा आजाती है। प्रत्येक वस्तु एक दूसरे से भिन्न है। एक आत्मा में नित्यत्व, अभेदत्व, एकत्व, शुद्धत्व कहने पर उसमें अनित्यत्व, भेदत्व, अनेकत्व और अशुद्धत्व अपनी अपेक्षा से आजाता है, इसलिये पर से भिन्नरूप में एक-एक आत्मा में निश्चय-दृष्टि तथा व्यवहारदृष्टि से दो प्रकार देखे जाते है।

परवस्तुरूप से यह वस्तु नहीं है, यह कहने पर पर की अपेक्षा आती है। इसलिये परवस्तु उसरूप से है और परस्वरूप से नहीं है। जब कोई नहीं समझता तब समझाने वाला उससे अलग होता है। आत्मा देहादि संयोग से रहित है, इससे इन्कार करने वाला वर्तमान मे इन्कार भले ही करे तथापि वह सयोग-रहित ही है। जैसे अनत ज्ञानी-जन ज्ञान का स्वभाव समझकर पुरुषार्थ करके मोक्ष को प्राप्त हुऐ है उसीप्रकार यदि श्रद्धा न करे, अविरोधी वस्तु को न समझे तो स्वभाव की शाति नहीं मिल सकती। 'यह सत् है' यह कहते ही उसमें से यह अर्थ निकलता है कि- 'यह पररूप नहीं है' इसप्रकार अस्ति में पर की नास्ति आजाती है।

यदि कोई एकांत पक्ष को पकड़कर कहे कि—जो एक है उसे अनेक-रूप से नहीं कहा जासकता, एक वस्तु में दो विषयों का विरोध है; तो वह विरोध सम्यक्ज्ञान को नष्ट कर देता है। जैसे स्वर्ण में पीला-पन, चिकनाहट भारीपन और स्निग्धता इत्यादि अनेक गुण तथा उन समस्त गुणों की पर्यायें एक साथ रहती हैं तथापि यदि उसे अनेक गुण-रूप तथा पर्यायरूप देखें तो सोना अनेकरूप है और यदि सम्पूर्ण सोना ही सामान्यरूप से लक्ष में लिया जाये तो वह एकरूप है; इसीप्रकार आत्मा उसके अखण्ड स्वभाव से एकरूप है और ज्ञानादिक गुण तथा पर्याय की दृष्टि से अनेकरूप है। यदि एक–अनेकरूप से संपूर्ण तत्व को न जाने तो यथार्थता ध्यान में नहीं आती, और यथार्थ का पुरुषार्थ भी प्रगट नहीं होता।

वस्तु सत् है ऐसा जानना सो निश्चयदृष्टि अथवा द्रव्यार्थिकनय का विषय है; असत्–पररूप से नहीं है ऐसा जानना सो व्यवहारनय का विषय है।

एकत्व:—यदि त्रिकाल अनन्तगुण और अवस्थारूप अखण्ड पिंड एकाकार वस्तुरूप से देखा जाये तो निश्चयदृष्टि से आत्मा एकरूप है।

अनेकत्व:—व्यवहारदृष्टि से अनन्त गुण–पर्याय को लेकर अनेक-रूप है।

निश्चय से उसका लक्ष करके पूर्ण एकत्व के लक्ष से स्थिर होने पर संसार की विकारी अवस्था का नाश, मोक्ष की अविकारी अवस्था की उत्पत्ति और वस्तु का एकरूप ध्रौव्यत्व बना रहता है। जो इसप्रकार यथार्थरूप से समझ लेता है वह एकांतपक्ष का विकल्प और विरोध मिटा-कर एक वस्तु में एकत्व–अनेकत्व का ज्ञान एक साथ कर लेता है, पर में अपना एकत्व नहीं मानता।

नित्यत्व:—आत्मा चिदानन्द एकरूप बना रहता है, इसप्रकार वस्तु-दृष्टि से नित्य है।

अनित्यत्वः—प्रत्येक द्रव्य स्थिर रहकर प्रतिसमय अपनी पर्याय को बदलता रहता है इसलिये पर्यायदृष्टि से अनित्य है ।

जिस अपेक्षा से नित्यत्व है उस अपेक्षा से अनित्यत्व नहीं है । इसप्रकार नित्यत्व और अनित्यत्व अर्थात् वस्तुदृष्टि से स्थिर रहना और पर्यायदृष्टि से बदलना-यह दोनों मिलकर एक स्वरूप है। यदि बिल्कुल एकरूप अखण्ड हो तो विकारी अवस्था बदलकर अविकारी नहीं होसकेगा। कर्ता-कर्म अथवा क्रिया कुछ भी नहीं रहेगा । और यदि वस्तु अनित्य ही हो तो नित्यत्व के आधार के बिना अनित्यत्व ही नहीं कहा जासकेगा ।

अभेदत्वः—प्रत्येक आत्मा अपने वस्तुस्वभाव से अभिन्न है। आत्मा और गुणों में प्रदेशभेद नहीं है ।

भेदत्वः—व्यवहारदृष्टि से आत्मा में भिन्नता है। नाम, संख्या, लक्षण और प्रयोजन से भेद किये जाते हैं ।

(१) नामभेद—(संज्ञाभेद) आत्मा ज्ञानरूप से है इसप्रकार वस्तु और गुण के नामभेद न किये जाये तो आत्मा किसप्रकार बताया जायेगा ? इसलिये अखण्ड स्वरूप बताने के लिये नामभेद होता है।

(२) संख्याभेद—आत्मा एक है, उसमें ज्ञानादिक अनेक गुण हैं; इसप्रकार संख्याभेद है किन्तु प्रदेशभेद नहीं है ।

(३) लक्षणभेद—अनन्त गुणों को धारण करना आत्मा का लक्षण है । ज्ञान का लक्षण जानना, श्रद्धा का लक्षण प्रतीति करना, चारित्र का लक्षण स्थिर होना, वीर्य का लक्षण आत्मबल को स्थिर रखना, इत्यादि अनन्तगुण हैं, उनके लक्षण (कार्य) भिन्न-भिन्न है, इसलिये लक्षणभेद है। पर्याय का लक्षण प्रतिसमय अवस्था का बदलना है ।

(४) प्रयोजनभेद—आत्मा का प्रयोजन सम्पूर्ण द्रव्य का कार्य करना है । ज्ञान का प्रयोजन हिताहित का निर्णय करके हितरूप से

प्रवृत्ति करना है, चारित्र का प्रयोजन रागद्वेषरूप न होकर निर्मल स्थिर-तारूप रहना है इत्यादि ।

इसप्रकार एक वस्तु में अभिन्नता-भिन्नता और निश्चय-व्यवहार, इन दोनों दृष्टियों से यथावत् जाने तो एक पक्ष का विरोध मिट जाता है।

शुद्धत्वः—पर-निमित्त की अपेक्षा से रहित, नित्यस्वभाव को देखने वाली निश्चयदृष्टि से देखा जाये तो आत्मा शुद्ध ही है।

अशुद्धत्वः—पर-निमित्त की अपेक्षा से वर्तमान अवस्था में अशुद्धता, (पुण्य-पाप, राग-द्वेषरूप) क्षणिक विकारीभाव जीव में होते हैं। पर को अपना मानकर ऐसी विपरीत धारणा बना लेना कि मैं रागद्वेष का कर्ता हूँ और शुभाशुभ भाव करने योग्य है सो अशुद्ध अवस्था है, और यही संसार है।

अज्ञानी जीव के पर-संयोगाधीन विकारभाव का कर्तृत्व-भोक्तृत्व व्यवहार से है; किन्तु विकार मेरा स्वरूप नहीं है, स्वभाव की प्रतीति पूर्वक स्थिरता से वह विकार दूर किया जासकता है। संयोगाधीन विकारी अवस्था वर्तमान में है ऐसा जानना सो व्यवहारनय की अपेक्षा है। जब स्वयं विकारीभाव करता है तब विकार होता है। वह विकार क्षणिक अवस्थामात्र के लिये है। जो नित्यस्वभाव की दृष्टि से उसका स्वामी नहीं होता और उसे अपना स्वभाव नहीं मानता वह ज्ञानी है। अवस्था-दृष्टि को गौण करके एकरूप यथार्थ वस्तुस्वभाव को लक्ष में ले तो निश्चय सम्यक्दर्शन की प्राप्ति होकर अपूर्व आत्मप्रतीति होती है और एकान्तपक्ष की मान्यता दूर होजाती है।

यदि वस्तुस्वभाव को यथार्थ समझले तो उसके प्रति बहुमान हुए बिना नहीं रहता। इल्ली अथवा केंचुआ जैसा दोइन्द्रिय प्राणी भी शरीर की ममता के बल से पत्थर के नीचे दबकर उससे अलग होने के लिये इतना प्रयत्न करता है कि पत्थर के नीचे दबे हुए शरीर का एक भाग टूट तक जाता है, तथापि वह पत्थर के उस भार से हटकर

स्वतंत्र रहना चाहता है, इसीप्रकार जिसने पर से भिन्नरूप असंयोगी ज्ञानस्वरूप को ही अपना माना है वह उसे विपरीत मान्यता और परावलंबन-रूप विकार से दबा हुआ नहीं रहने देगा। जिसे अपना माना है उसे परिपूर्ण स्वतंत्र रखना चाहता है। मैं त्रिकाल निर्मल असग हूँ, इसप्रकार शुद्ध स्वतंत्र स्वभाव की दृष्टि के बल से वर्तमान संयोगाधीन विकारी झुकाव से और विपरीत दृष्टि से स्वयं अपने को बचा लेता है। मैं शुद्ध स्वतत्र ज्ञानानन्दरूप हूँ, ऐसी प्रतीति नहीं थी तब स्वयं कहीं अन्यत्र अशुद्धरूप अथवा संयोगरूप अपने को मानता था। यदि अपने अस्तित्व को नित्यस्थायीरूप न माने तो कोई सुख के लिये प्रयत्न ही न करे। जिसे अवगुण इष्ट नहीं है वह अवगुणों को दूर करने की शक्ति का लक्ष करके अवगुणों को दूर करके, गुणरूप से स्वतत्र रहना चाहता है।

जैसे यह मानना मिथ्या है कि-यदि विकार करेंगे तो उसके निमित्त से गुण प्रगट होंगे, इसीप्रकार यह मानना भी मिथ्या है कि पुण्य-पाप की भावना में से पुण्य की भावना को बढ़ाये तो गुण-लाभ होगा। पाप में प्रवृत्त न होने के लिये अथवा अशुभराग से बचने के लिये शुभभाव करे सो तो ठीक है, किन्तु यह मान्यता मिथ्या है कि उससे पवित्र गुण प्रगट होंगे; क्योंकि जिस भाव से बन्धन होता है उस भाव से अविकारी गुण नहीं होसकते।

जो व्यवहारनय अर्थात् पर्यायदृष्टि का आश्रय लेता है वह यह भूल जाता है कि वस्तुस्वभाव अखण्ड निर्मल अनन्त शक्ति से पूर्ण है, इसलिये उसे राग के अभाव करने का पुरुषार्थ प्रगट नही होता। यदि वह अशुभराग को दूर करे तो वर्तमान मात्र के लिये राग सूक्ष्म होजाता है, परमार्थतः शुभभाव से राग कम नहीं होता। निश्चय अखण्ड निर्मल वस्तु में पूर्ण शक्ति जैसी है वैसी ही उसे पहिचानकर, अवस्था को गौण करके यदि अखण्ड स्वभाव के लक्ष पर भार दे तो राग का सहज ही अभाव होता है और निर्मल आनन्द की वृद्धि होती है, विरोधमात्र दूर होजाता है।

सर्वज्ञ वीतराग की वाणी में कथंचित् विवक्षा के भेद से एक-एक वस्तु में (एक अपेक्षा को मुख्य करके और दूसरी अपेक्षा को गौण करके अस्तित्व, एकत्व, नित्यत्व और शुद्धत्व इत्यादि निश्चयदृष्टि की अपेक्षा का विषय और नास्तित्व, अनेकत्व, अनित्यत्व, भेदत्व तथा अशुद्धत्व इत्यादि व्यवहारदृष्टि की अपेक्षा का विषय होता है। यदि दोनों को मिलाकर सम्पूर्ण वस्तु का ज्ञान करे तो प्रमाण ज्ञान-यथार्थ ज्ञान होता है। सत्य में से सत्य आता है। इसप्रकार वीतराग की वाणी के न्याय से जानने पर विरोधी अभिप्राय दूर होजाता है। वीतराग की वाणी में मिथ्या की कल्पना तक नहीं है।

परद्रव्य के आश्रयरूप उन्मुखता होने से पुण्य-पाप की विकारी अवस्था होती है. वह व्यवहारदृष्टि मुख्य करने की आवश्यक्ता नहीं है; उसे गौण करके अनादि-अनन्त एकरूप निर्मल, असंग, अविकारी, निरा-वलम्बी पूर्ण ज्ञानानन्द स्वभाव को निश्चयदृष्टि से लक्ष में लेना, और उस स्वाश्रित अखण्ड दृष्टि से स्वभाव का वारम्बार मनन करना सो यही प्रयोजनभूत-मुख्य करने योग्य कहा है। अनादिकाल से ससार का बहुभाग पराश्रित व्यवहार के पक्ष को मान रहा है और यह मानता है कि-राग-द्वेष के कार्य करने योग्य हैं, परवस्तु और शुभभाव का स्वामित्व रखकर हमें व्यवहार नहीं छोड़ना चाहिये; तथा ऐसा कहने वाले की वात को जल्दी मान लेता है कि यदि पुण्य करोगे और देह की क्रिया करोगे तो धर्म होगा; और वह मानता है कि हम देव होकर सुख प्राप्त करेंगे। इसप्रकार जिसकी दृष्टि बाह्य-संयोग पर जाती है उसे पुण्य में मिठास मालूम होती है, क्योंकि उसे तत्वज्ञानरूप अविरोधी सत् की खबर ही नहीं है; तत्व से द्वेष और विकार के आदर का फल एकेन्द्रिय में जाना है।

आचार्यदेव कहते हैं कि इन ग्यारहवीं और बारहवीं गाथा में जिस अपेक्षा से जिसप्रकार कहा गया है उसे समझकर जो अखण्ड ज्ञानानंद-

स्वरूप निश्चय स्वभाव को मुख्य करके भेदरूप व्यवहार की दृष्टि को गौण करेगा उसके समस्त विरोधरूप संसार का नाश होजायेगा।

जो यह मानता है कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ वह परवस्तु को पराधीन मानता है, और ऐसा मानने से कि अन्य मेरा कुछ कर देगा-स्वयं भी अकर्मण्य-पराधीन सिद्ध होता है। समस्त तत्व इसप्रकार स्वतंत्र है कि किसी को किसी की आशा नही रखनी चाहिये। सब आत्मा भी स्वतंत्र हैं, अपनी अनन्त शक्ति से प्रत्येक आत्मा पूर्ण है। जो इसप्रकार नहीं समझता और जैसे उपचार से लोक व्यवहार में घड़े को 'घी का घड़ा' कहा जाता है इसीप्रकार इसने इसका भला किया अथवा उपकार किया है इत्यादि व्यवहार की लौकिक भाषा में कहा जाता है; यदि उसके अर्थ को उस भाषा के शब्दों को ही पकड़कर किया जाये तो वह मिथ्यादृष्टि है।

आचार्यदेव कहते है कि-मैं पर का कर्ता-भोक्ता हूँ, विकार मेरा कार्य है ऐसी विपरीत दृष्टि को दूर करके अखण्ड ध्रुवस्वभाव को मुख्य करो। और व्यवहार के भेदविकार की दृष्टि का त्याग करो। परवस्तु तुझरूप नहीं है, इसलिये पर के लक्ष से होने वाले विकार (पुण्य-पाप के शुभाशुभभाव) भी तेरे नहीं है, वे तुझमें स्थायीरूप से रहने वाले नही है; इसलिये उस व्यवहार का विषय भेदरूप विकार आवश्यक नहीं है इसलिये उसमें नहीं लगना चाहिये। एकरूप ध्रुव विषय आवश्यक है उसे मुख्य करके वारंवार अखण्ड स्वभाव के बल से पूर्णज्ञानानन्द स्वभाव को मुख्य करके, शुद्धद्रव्यार्थिकदृष्टि[1] का करना सो निश्चयनय है; अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय को शुद्धद्रव्यार्थिकदृष्टि से पर्यायार्थिकनय[2] अथवा व्यवहार कहते हैं।

१-द्रव्यार्थिक=(द्रव्य+अर्थ) द्रव्य=वस्तु, अर्थ=प्रयोजन। वस्तु को द्रव्यस्वभाव से बताना सो द्रव्यार्थिकनय है।

२-पर्यायार्थिक=पर्याय (अवस्था) को बताने का जो प्रयोजन है सो पर्यायार्थिक-नय है।

तुझमें जो विकार होता है सो अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है।

तेरी पर्याय में जो विकार होता है सो पर्यायार्थिकनय है।

पराश्रय से विकार होता है इसलिये व्यवहारनय है।

ऐसे वीतराग कथित न्याय-वचनों के द्वारा जो अविरोधी तत्व का अभ्यास करता है सो वह योग्य जीव शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है, यथार्थदृष्टि को प्राप्त करता है और यथार्थ प्रतीति को प्रगट करता है। यह समस्त विषय अंतरंग का है, इसमें नय का विषय सूक्ष्म है जोकि यहाँ सरल भाषा में कहा जाता है; किन्तु जो अंतरंग से उसकी चिन्ता नहीं करता और उसे स्मरण करके उसका मनन नही करता वह उसे नहीं समझ सकता। यदि स्वाधीन होकर उसे समझे तो अनेक प्रकार की विपरीत मान्यताएं दूर होजाती है। जैसे शरीर के रोगग्रसित होने पर उसे दूर करने का सावधानी पूर्वक प्रयत्न किया जाता है इसीप्रकार आत्मा को अनादिकाल से आकुलतारूपी रोग लगा हुआ है उसे दूर करने की अपूर्व विधि यहाँ कही जारही है, उसे सावधानी पूर्वक समझना चाहिये।

सर्वज्ञ वीतराग द्वारा कथित अविरोधी न्याय से जैसा कहा जाता है वैसा ही समझना चाहिये; यथार्थता को सुनकर स्वयं यथार्थता का निश्चय करना और पूर्ण निर्मल अखण्ड ज्ञानानन्द स्वभाव को निश्चय-दृष्टि के बल से मुख्य करके उसका मनन करना चाहिये; वर्तमान विकारी अवस्था को जोकि आत्मा में है जड़ में नहीं जानना और अवस्था-दृष्टि को गौण करना चाहिये; ऐसे प्रयोजन को जानकर अवस्था और अखण्ड वस्तु दोनों का यथार्थ ज्ञान करके, अंतरग में निर्मल ध्रुवस्वभाव की रुचि से उसकी दृढ़ता का अभ्यास बढ़ाना चाहिये। इसप्रकार तत्वज्ञान के विषय में रमणता करने से मोह का नाश होकर स्वभाव की प्रतीति होने से निर्मलदशा का अनुभव होता है।

इसे समझे बिना छुटकारा नहीं है। ऊपर से ऐसा मानता है कि मैंने समझ लिया है, मेरे समभाव है, मुझे बुरा नहीं करना है

किन्तु अच्छा ही करना है और इसप्रकार अपने मन को समझाया करता है; किन्तु सर्वज्ञ वीतराग के न्यायानुसार अच्छा क्या है यह निश्चय न करे तो यह मालूम नहीं होसकता कि विपरीत मान्यता कहाँ पुष्ट होरही है। जैसे गर्मी के दिनों में किसी छोटे बालक को पतला दस्त हो जाये और वह उसे चाटने लगे तो वह उसकी ठंडक से संतुष्ट होता है, यह उसकी मात्र अज्ञानता ही है; इसीप्रकार चैतन्य-मूर्ति भगवान अविकारी आत्मा मन के विकल्पों से प्रथक् है, उसे भूलकर अपनी कल्पना से (विपरीत मान्यता से) माने गये धर्म के नाम पर और अपने हित करने के नाम पर शुभभाव (चैतन्य स्वभाव के गुण की विकाररूपी विष्टा) को ठीक मानकर संतुष्ट होता है और मानता है कि इससे कुछ अच्छा होगा; वह उस बालक के समान अज्ञानी है जो विष्टा को अच्छा मान रहा है। सर्वज्ञ के न्याय से, सत्समागम से, पूर्वा पर विरोध से रहित, यथार्थ हित क्या है इसकी परीक्षा न करना सो अज्ञान है, और अज्ञान कोई बचाव नहीं है।

ससार की रुचि के लिये बुद्धि का विलोडन कर रहा है, उसमें (संसारमें) अच्छे-बुरे का निश्चय कर सकता है किन्तु यदि उस रुचि को बदलकर अपनी ही रुचि करे और भलीभाँति निश्चय करे कि यही सच्चा हित है तो यथार्थ हित हो इसलिये परीक्षा करनी चाहिये, किन्तु अन्ध-श्रद्धा से उसे नहीं मान लेना चाहिये।

समयसार में जो विविध न्याय निहित है वे अत्यत बहुमूल्य है। इस काल में वैसी यथार्थ बात कानों में पडना दुर्लभ है। यह निवृत्ति का मार्ग है। अपूर्व आत्मधर्म में संसार का अभाव है, उस धर्म की रुचि में समस्त ससार को उड़ा देना है। अपूर्व स्वभाव की रुचि में संसार की रुचि नहीं पुसा सकती।

लोकोत्तर पात्रता के बिना अतरग के सूक्ष्मभाव समझ में नहीं आते और न वस्तु के प्रति बहुमान ही होता है। अनतकाल से न तो परमतत्व की संगति की है और न परिचय ही किया है तथा जब

ज्यों–त्यों करके यथार्थ तत्व को समझने का अवसर आता है वहाँ उसकी प्रीति नहीं करता; इसका कारण यह है कि उसे सामाजिक–लौकिक मोह अनुकूल पड़ गया है और इसलिये वह उसमें लगा रहता है।

यह ऐसा सुअवसर है कि जब जन्म–मरण कैसे दूर हो इसकी स्वयं चिंता करके अपना सुधार कर लेना चाहिये; सबको एक साथ लेने का अथवा पर में लग जाने का या रुक जाने का यह समय नहीं है। यह तो परम आध्यात्मिक विषय है, इसमें जीव को अत्यंत सावधानी रखनी चाहिये। दूसरा सब कुछ भूलकर तत्व का परिचय करने के लिये अत्यन्त निवृत्ति आवश्यक है। तत्व की भाषा ही अति गूढ़ होती है, और उसका भाव बहुत गम्भीर होता है। यथार्थ पात्रता के बिना यथार्थ समझ नहीं जमती। पात्रता के अभाव में यह सब बाते ऊपरी सी मालूम होती हैं और वस्तु की महिमा–प्रतीत नहीं होती।

जो पुरुष निर्दोष वीतराग के वचनों में रमण करता है, अभ्यास करता है वह यथार्थतया शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है। दूसरे सर्वथा एकान्तपक्ष वाले लोग यथार्थ स्वरूप को प्राप्त नहीं होते। कोई आत्मवस्तु को सर्वथा एक पक्ष से ही मानते हैं कि आत्मा बिल्कुल अखंड शुद्ध है, पर्याय में भी विकार नहीं है अथवा पर्याय ही नहीं है, मात्र नित्यता ही है, राग–द्वेष विकार जड़कर्म की प्रवृत्ति को करता है और भोगता है, ऐसा कहने वाले की बात मिथ्या है।

आत्मा के ध्रुवस्वभाव में पुण्य–पाप के विकार प्रविष्ट नहीं होगये है यह बात सच है, किन्तु वर्तमान अवस्था में विषय–भोगरूप तृष्णा और रागद्वेष स्वयं करता है इसे न मानकर दूसरे पर डालता है, उसे सामान्य त्रिकाल एकरूप शुद्ध द्रव्यत्व और विशेष वर्तमान अवस्थाभाव दोनों मिलकर पूर्ण वस्तु है इसकी यथार्थ प्रतीति नहीं होती। यदि कोई ऐसा माने कि त्रिकाल नित्यता ही है और वर्तमान अनित्य अवस्था का परिवर्तन न माने तो वास्तव में ऐसा स्वरूप नहीं है अर्थात् उसकी मान्यता मिथ्या है।

मिर्च और कालीमिर्च की चरपराहट का अन्तर ज्ञान में प्रतीत होता है, किन्तु उसके स्वाद का वर्णन वाणी द्वारा संतोष पूर्वक नहीं किया जासकता; इसीप्रकार अखण्ड ध्रुव ज्ञानानंद एकाकार स्वभाव को लक्ष में लेने पर सहज निर्मल अवस्था का आनन्द प्रगट होता है; उसका भेद नहीं करना पड़ता तथापि वह ज्ञान में प्रतीत होता है। वर्तमान पर्याय में भेददृष्टि करने पर रागद्वेष-विकल्प होता है, यदि उसमें शुभभाव करे तो मंद आकुलता और पापभाव करे तो तीव्र आकुलता का स्वाद आता है, उसके अंतर को ज्ञानी जानता है। स्थिरता का लक्ष करने पर बीच में व्यवहार के भेद आते हैं, तथापि उन्हे मुख्य नहीं करते। इसप्रकार अखण्ड ध्रुवस्वभाव की श्रद्धा के बल से क्रमशः निर्मल अवस्था बढ़ती जाती है और राग कम होता जाता है। शुद्धनय का फल वीतरागता है, मात्र भेदरूप व्यवहार में अटकने वाली अशुद्धदृष्टि का फल संसार है; ज्ञानी उसका आदर नहीं करते।

किसी बाह्य पदार्थ की शरण लेने से गुण प्रगट नहीं होते। सच्चे देव, गुरु, शास्त्र की शरण से भी अंतरग तत्व को गुण-लाभ नहीं होता। देव गुरु वीतराग हैं, तुझसे पररूप हैं वे तुझमें नास्तिरूप हैं; जो अपना होता है वह काम आता है, मन और मन के सम्बन्ध के योग से विचार करने में विकल्प होता है, किन्तु यदि उसकी ओर के लक्ष को भूल जाये तब स्वाश्रय अखण्डदृष्टि होती है। अंतरग का मार्ग ऐसा परम अद्भुत है उसे यथार्थ समागम के द्वारा अपूर्व पात्रता से जागृत होकर समझना चाहिये। श्रवण के बाद यथार्थ क्या है इसका मनन करना सो लाभ का कारण है। भव के भय से मुक्त होकर जिसे निर्भय सत् की शरण चाहिये हो और अविकारी, अविनाशी, स्वतंत्रता की नीव डालना हो उसे पहले से ही ऐसी यथार्थ की श्रद्धा करनी होगी कि जिसमें किसी ओर से विरोध न रहे, उसके बाद ही चारित्र हो सकेगा।

लौकिक व्यवहार के साथ इस बात का मेल नहीं खाता। अखण्ड सत् वस्तु के समझने पर विचार में भेद होता है तथापि वह सहायक

नहीं है, उससे कोई गुण-लाभ नहीं होता। अखण्ड के यथार्थ लक्ष से अखण्ड का ज्ञान, श्रद्धा और स्थिरतारूप चारित्र होता है। भेदरूप व्यवहार गौण होजाता है किन्तु ज्ञान में भेदरूप अवस्था लक्ष से वाहर नहीं जाती। इस सबका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये अधिकाधिक मनन करना चाहिये। इसप्रकार बारह गाथाओं तक सम्पूर्ण समयसार की भूमिका हुई। जैसे वृक्ष की रक्षा के लिये उसके तने के चारों और चबूतरा बनाया जाता है इसीप्रकार आत्मा के सार को संक्षेप में समझने के लिये आचार्यदेव ने भूमिकारूपी चबूतरा बाँधा है। विशेषरूप से विविध पहलुओं से दृढ़ता पूर्वक समझाने का अधिकार इसके बाद कहा जायेगा।

शंकाः—समयसार में तो मुनियों के लिये उपदेश है, उसमें बहुत उच्च भूमिका की बात है?

समाधानः—ऐसा नहीं है, किन्तु प्रथम धर्म के प्रारंभ की ही बात है, यह तो वीतराग मार्ग की सबसे पहली इकाई है।

अब आचार्यदेव शुद्धनय को प्रधान करके निश्चयसम्यक्त्व का स्वरूप कहते हैं। जीव-अजीव आदिक नवतत्व की श्रद्धा को व्यवहार से सम्यक्त्व कहा है। नवतत्व के भेद-विकल्प से रहित, एकरूप, अखण्ड, ज्ञानस्वरूप पूर्ण वस्तु को शुद्धदृष्टि के द्वारा जानने से विकल्प टूटकर अखण्ड के लक्ष से सम्यक्दर्शन होता है, तथापि बीच में नव-तत्व के भेद कर देने वाले शुभविकल्प का व्यवहार आता है, किन्तु वह कहीं सहायक नहीं होता। एकरूप यथार्थता का निश्चय करने के लिये भेदरूप व्यवहारनय की मुख्यता को लेकर शुभविकल्पों से नव-तत्वों को जानना सो व्यवहार-सम्यक्त्व कहा है। उन नवतत्वों का स्वरूप यहाँ कहा जारहा है:—

(१.) जीवः—जीव=आत्मा। वह सदा ज्ञाता, पर से भिन्न और त्रिकालस्थायी है। जब पर-निमित्त के शुभ अवलम्बन में युक्त होता है तब शुभभाव (पुण्य) होता है, और जब अशुभ अवलम्बन में युक्त

होता है तब अशुभभाव (पाप) होता है; और जब स्वावलम्बी होता है तब शुद्धभाव होता है।

(२) अजीव:—जिनमें चेतना-ज्ञातृत्व नहीं है ऐसे पाँच द्रव्य है। उनमें से धर्म, अधर्म, आकाश और काल अरूपी है तथा पुद्गल रूपी-वर्ण, गंध, रस और स्पर्श युक्त है।

अजीव वस्तुऐ आत्मा से भिन्न है तथा अनन्त आत्मा भी एक दूसरे से स्वतंत्र-भिन्न हैं। परसंयोग से रहित एकाकी तत्व हो तो उसमें विकार नहीं होता। परोन्मुख होनेपर जीव के पुण्य-पाप की शुभाशुभ विकार की भावना होती है। जब जीव रागादिक करता है तब जड़कर्म की सूक्ष्म धूल जो क्षणिक संयोग सम्बन्ध से है निमित्त होती है।

(३) पुण्यः—दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत इत्यादि के भाव जीव के होते हैं सो अरूपी विकारीभाव हैं, जोकि भावपुण्य है और उसके निमित्त से जड़ परमाणुओं का समूह स्वयं (अपने कारण से-स्वतः) एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध से जीव के साथ बँधता है सो द्रव्यपुण्य है।

(४) पापः—हिंसा, झूठ, चोरी, अव्रत इत्यादि का अशुभभाव भावपाप है और उसके निमित्त से जड़ की शक्ति से परमाणुओं का जो समूह स्वयं बँधता है सो द्रव्यपाप है।

परमार्थ से पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है। आत्मा में क्षणिक अवस्था में पर-सम्बन्ध से विकार होता है, वह मेरा नहीं है।

(५) आस्रव:—विकारी शुभाशुभ भावरूप जो अरूपी अवस्था जीव में होती है सो भावास्रव है; और नवीन कर्म-रजकणों का आना (आत्मा के साथ एक क्षेत्र में रहना) सो द्रव्यास्रव है।

(६) संवर:—पुण्य-पाप के विकारी भावों (आस्रव) को आत्मा के शुद्ध भावों से रोकना सो भावसंवर है और तदनुसार नवीन कर्म बँधने से रुक जाये सो द्रव्यसंवर है।

(७) निर्जरा:—अखंडानन्द शुद्ध आत्मस्वभाव के बल से स्वरूप-स्थिरता की वृद्धि के द्वारा अशुद्ध (शुभाशुभ) अवस्था का आंशिक नाश करना सो भावनिर्जरा है और उसका निमित्त पाकर जड़कर्म का अंशतः खिर जाना सो द्रव्यनिर्जरा है।

(८) बंध:—आत्मा का राग-द्वेष, पुण्य-पाप के भाव में अटक जाना सो भावबन्ध है और उसके निमित्त से पुद्गल का उसकी शक्ति से कर्मरूप बँधना सो द्रव्यबंध है।

(९) मोक्ष:—अशुद्ध अवस्था का सर्वथा सम्पूर्ण नाश होकर पूर्ण निर्मल पवित्रदशा का प्रगट होना सो भावमोक्ष और निमित्तकारण द्रव्यकर्म का सर्वथा नाश (अभाव) होना सो द्रव्यमोक्ष है।

इसप्रकार जैसा नवतत्व का स्वरूप है वैसा शुभभाव से विचार करता है, उस शुद्ध का लक्ष हो तो व्यवहार-सम्यक्त्व है। व्रतादि के शुभभाव को संवर-निर्जरा में माने तो आस्रव तत्व की श्रद्धा में भूल होती है। व्यवहारश्रद्धा में किसी भी ओर से भूल न हो इसप्रकार नवभेदों में से शुद्धनय* के द्वारा एकरूप अखण्ड ज्ञायक स्वभावी आत्मा को परख लेना सो परमार्थश्रद्धा—सम्यक्दर्शन है। धर्म के नाम पर लोगों में अपना माना हुआ सम्यक्त्व दूसरे को देते हैं या कहते है किन्तु वैसा सम्यक्त्व नहीं होसकता, क्योंकि किसी का गुण तथा गुण की पर्याय किसी दूसरे को नहीं दी जासकती।

प्रथम व्यवहारश्रद्धा में किसी भी ओर से कोई विरोध न आये ऐसी समझ होनी चाहिये। जो मिथ्या देव, गुरु, शास्त्र से अपना हित मानता है-शंकर, हनुमान और ऐसे ही अन्य देवी,-देवताओं की मनौती मनाता है, इनसे सन्तान प्राप्ति होगी, धन मिलेगा, रोग दूर होगा ऐसी विविध धारणाएँ बना लेता है उसके तीव्र तृष्णा का पाप होता है। बाह्य

---

* वर्तमान अवस्था के भेद को लक्ष में न लेकर (गौण करके) त्रिकाल एकरूप वीतराग स्वभाव को अभेदरूप से लक्ष में लेना सो शुद्धनय है।

अनुकूलता-प्रतिकूलता का संयोग तो पूर्वकृत पुण्य-पाप के अनुसार होता है, देवी-देवता किसी भी प्रकार की अनुकूलता या प्रतिकूलता करने में समर्थ नहीं हैं। यदि ऐसा विश्वास अपने में लाये तो व्यवहार से शुभ-भाव है, उससे पुण्यबन्ध होता है। वीतराग कथित सच्चे देव, गुरु, शास्त्र और उनके स्वरूप को पहिचानकर माने तो शुद्ध का लक्ष होता है तब वह व्यवहार से सच्ची श्रद्धा कहलाती है, वह भी वास्तव में निमित्तमात्र है। कोई किसी को तारने के लिये समर्थ नहीं है।

शुभभावरूप नवतत्वों की श्रद्धा से निश्चयसम्यक्दर्शन नहीं होता, तथापि प्रथम निश्चयस्वरूप की यथार्थता को जानने के लिये शुभविकल्प आते तो हैं किन्तु सम्यग्दर्शन और धर्म उससे भिन्न वस्तु है। जैसे किसी मंजिल पर जाते हुए बीच में सीढ़ियाँ आती है किन्तु उनसे ऊपर नहीं चढ़ा जाता, किन्तु जब सीढ़ियों को छोड़ते हैं (छोड़ने की दृष्टि से पैर रखते हैं) तब ऊपर पहुँचा जाता है; इसीप्रकार यथार्थ वस्तु का निर्णय करने के लिये श्रवण-मनन के द्वारा अनेक पहलुओं से विचार करने के लिये पहले शुभभाव आता है, तथा अशुभ से बचने के लिये दया, दान, व्रत, तप, पूजा भक्ति इत्यादि शुभभाव आते है किन्तु वह कर्म-निमित्तक योग का भेद है। नवतत्व के भेदों का विचार करना भी मन के सम्बन्ध से होनेवाले शुभभाव के विकल्प है, अखंड स्वभाव नहीं है। नवतत्व के भेद से-विकल्प से आत्मा का विचार करना सो शुभराग है, व्यवहार है, उसमें धर्म नहीं है।

वस्तु त्रिकाल में ऐसी ही है। सत्य बदल नहीं सकता किन्तु जिसे सत्य समझना हो उसे बदलना होगा। पहले अनन्तकाल में अनन्त-वार व्यवहार के विकल्प जीव ने किये है; भगवान के द्वारा कही गई व्यवहार श्रद्धा अभव्य जीव भी करता है, किन्तु उस भेद से गुण नहीं होते।

जो अज्ञानी पहले समझना चाहता है उससे मात्र आत्मा अथवा अखंड आत्मा कह देने से नहीं समझ सकेगा, इसलिये उसे समझाने के

लिये व्यवहार से नवतत्व के भेद करके विकल्प के द्वारा अखंड का लक्ष कराते हैं। मैं जीव हूँ, अजीव नहीं, पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है, इसप्रकार नवतत्वों के शुभविकल्परूप श्रद्धा के भेद में से आत्मा का एकत्व ग्रहण करके त्रिकाल एकरूप स्थायी ज्ञायकरूप से पूर्ण स्वभाव को शुद्धनय से श्रद्धा के लक्ष में लेना सो सम्यक्दर्शन है।

समझने वाला किसी प्रस्तुत वस्तु से अथवा विकल्प करने से नहीं समझता किन्तु स्वतः समझता है। जो जानता है सो जीव है उसमें पररूप न होने वाले अनन्त गुणों की अनन्त शक्ति है, इसका विश्वास करने वाले के शुभभाव की प्रधानता नहीं है। तत्व का विचार करने पर जितने भेद होते हैं उनमें से अभेद वस्तु की ओर झुककर अभेदत्व का निश्चय करता जाता है; वह पर से या मन के द्वारा निश्चय नहीं करता किन्तु स्वयं ज्ञाता होने से स्वयं निश्चय करता है। जबतक मन के सम्बन्ध से शुभविकल्प से श्रद्धा करता है तबतक निश्चयसम्यक्दर्शन नहीं है, किन्तु जब विकल्प का श्रद्धा में अभाव करके, अखंड स्वभाव के लक्ष से व्यवहार के भेद को गौण करके एकरूप वस्तु का एकाग्र लक्ष करके, अभेद स्वरूप का अनुभव करता है तब निश्चय-सम्यक्दर्शन होता है।

शुभभाव राग है। राग के द्वारा आत्मा को मानना सो पुण्यरूप शुभभाव का व्यवहार है, धर्म नहीं। जीवादिक तत्व की शुद्धता के लक्ष से श्रद्धा करना सो व्यवहारसम्यक्त्व है।

व्यवहार का अर्थ है एक का दूसरे में उपचार। बिल्ली को सिंह कहना सो उपचार है। जिसने कभी सिंह को न देखा हो उसे समझाने के लिये बिल्ली में सिंह का उपचार करके सिंह की पहिचान कराई जाती है, किन्तु बिल्ली वास्तव में सिंह नहीं है। जिसे उपचार की—व्यवहार की प्रतीति नहीं है वह बिल्ली को ही वास्तविक सिंह मान लेता है; इसीप्रकार सर्वज्ञ भगवान ने अखण्ड आत्मा की पहिचान कराने के लिये उपचार से—व्यवहार से नवतत्व के भेद कहे हैं। यदि वह नवतत्वों के विकल्प

वाली श्रद्धा के भेद को ही यथार्थ आत्मा का स्वरूप मान बैठे तो उसे व्यवहार की ही खबर नहीं है। व्यवहार किसी परवस्तु में या देहादि की क्रिया में नहीं है। कोई जीव शरीरादिक परवस्तु की क्रिया का या परवस्तु का व्यवहार से भी कर्ता नहीं है। आत्मा त्रिकाल में भी न तो पररूप होसकता है और न पर की पर्यायरूप होसकता है। अज्ञानी जीव पुण्य-पाप के विकारी शुभाशुभभाव का कर्ता है। ज्ञानी के अखण्ड स्वभाव की प्रतीति होने पर भी वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति से राग होता है, किन्तु वह उसका स्वामिभाव से कर्ता नही होता।

जो जीव यथार्थ तत्वों का विचार करता है और यथार्थ स्वभाव का निश्चय करना चाहता है उसे नवतत्वों की श्रद्धा निमित्तभूत होती है, किन्तु निर्विकल्प एकाकार ध्रुवरूप से ज्ञायक वस्तु की निर्मल श्रद्धा न करे तो शुभभाव मात्र पुण्य होने से बाह्य फल देकर छूट जाता है। व्यवहारनयाश्रित निमित्त संबंधी जो वृत्ति उद्भूत होती है उसकी शुभराग पर्यंत मर्यादा है, किन्तु भेद का निषेध करके शुद्ध अखण्ड वस्तु की यथार्थ दृष्टि से अतरंग में स्थिर हो तो भेद का लक्ष गौण होकर एकाकार पूर्ण स्वभाव के लक्ष से निर्मल श्रद्धा प्रगट होती है, वहाँ उपचार से नवतत्वों की श्रद्धा व्यवहार से निमित्त कहलाती है। जहाँ निश्चयश्रद्धा नहीं होती वहाँ शुभ व्यवहाररूप श्रद्धा को निमित्त भी नहीं कहा जाता।

नवतत्व के भेद को जानने वाला आत्मा ज्ञायकरूप से त्रिकाल अखण्ड है। शुभाशुभ विकल्प की जो वृत्ति उत्पन्न होती है उसका ज्ञायकस्वभाव में अभाव है। मैं असग एकरूप ज्ञायक हूँ, इसप्रकार निर्विकार निरावलम्बी निरपेक्ष स्वभाव को अखण्डस्वरूप से श्रद्धा का विषय बनाये तो यथार्थ सम्यक्दर्शन होता है। जो अनन्तकाल में कभी प्रगट नहीं हुई ऐसी श्रद्धा यथार्थ के बल से प्रगट होती है और नवतत्वो के भेद तथा पर-निमित्त का बुद्धिपूर्वक विचार छूट जाता है। ऐसी यथार्थ वस्तुस्थिति मे क्या है सो यह बताने के लिये तीन श्लोक कहते है।

प्रथम श्लोक में कहते हैं कि व्यवहारनय को कथंचित् प्रयोजनवान कहा है तथापि वह कहीं वस्तुभूत नहीं है सहायक भी नहीं है, क्योंकि निश्चय परमार्थ के अनुभव में वह छूट जाता है इसलिये अभूतार्थ है।

प्रश्नः—कहीं तो व्यवहार का विधान है और कहीं उसका निषेध है, एकबार तो व्यवहार को स्वीकार किया जाता है और दूसरे ही क्षण उसका निषेध कर दिया जाता है; ऐसी स्थिति में किसे यथार्थ समझा जाये ?

उत्तरः—जिस अपेक्षा से व्यवहार का विधान है उस अपेक्षा से वह वैसा है और जिस अपेक्षा से उसका निषेध है उस अपेक्षा से वह नहीं है, इसप्रकार वह जैसा है वैसा ही कहा जाता है। वस्तुस्वभाव से त्रिकाल एकरूप अखण्ड है उसे निश्चय से स्वीकार किया जाता है और वर्तमान अवस्था में पर-सम्बन्ध से विकार होता है तथा स्वभाव के लक्ष से निर्मल अवस्था होती है उसे व्यवहार से स्वीकार किया जाता है; अखण्डस्वभाव को ध्रुव एकाकार देखने वाले निश्चय के बल से स्वभाव में विकार-रागद्वेष नहीं है, निमित्ताधीन होने से निषेध किया जाता है, भूतार्थदृष्टि में व्यवहारभेद नहीं है।

शंकाः—राग-द्वेष, अज्ञान जड़ प्रकृति कराती है ?

समाधानः—स्वयं उसका कर्ता होकर जड़कर्म के सिर पर थोपता है, किन्तु जड़ तो अन्ध-अचेतन है उसे कुछ खबर नहीं है। यदि कोई माने कि हम तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा ही हैं और इन्द्रियों के विषय को इन्द्रियाँ ही भोगती हैं तो यह ठीक नहीं है। विषयों के भोगने का विकारीभाव स्वयं ही करता है, अर्थात् दोष स्वयं करता है और उसे दूसरे पर डालता है; ऐसा 'अन्धेर नगरी बेबूक राजा' का राज्य वीतराग मार्ग में नहीं है।

जहाँ गुण है वहाँ गुणों की विपरीत अवस्था (विकार) होसकती है और विकार का नाश भी वहीं होसकता है। मुझमें न तो विकार

है और न उसकी अवस्था ही; मैं तो शुद्ध ही हूँ, ऐसा मानने वाला दोनों पहलुओं को नहीं समझा है। यदि त्रिकालस्वभाव और वर्तमान अवस्था दोनों को यथावत् मानकर स्वभाव को मुख्य करे तो अविकारी-स्वभाव का आनन्द प्रगट हो।

सम्यक्दर्शन होने से पूर्व सच्चे देव गुरु शास्त्र की पहिचान, श्रद्धा, पूजा, भक्ति तथा तत्वविचार इत्यादि शुभभाव आते हैं। यथार्थ में जाते हुए बीच में व्यवहार का आश्रय दृढ़तापूर्वक आजाता है जोकि खेद का विषय है; वह सारभूत वस्तु नहीं है। अब तद्रूप कलश कहते हैः—

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदानां हंत हस्तावलम्बः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमंतः पश्यतां नैष किंचित् ॥ ५ ॥

आचार्यदेव कहते है किः– जो व्यवहारनय है सो यद्यपि इस पहली पदवी में (जबतक शुद्धस्वरूप की प्राप्ति न होजाये तबतक) जिन्होंने अपना पैर रखा है ऐसे पुरुषों को, यथार्थ स्वरूप का अविरोध निर्णय करने के लिये खेद है कि हस्तावलंबन तुल्य कहा है, तथापि जो पुरुष चैतन्य-चमत्कारमात्र, परद्रव्य भावों से रहित (शुद्धनय के विषयभूत) परम 'अर्थ को' अन्तरंग में अवलोकन करते हैं, उसकी श्रद्धा करते है तथा तद्रूप लीन होकर चारित्रभाव को प्राप्त होते हैं उनके लिये यह व्यवहारनय किंचित्मात्र भी प्रयोजनवान नहीं है।

जबतक यथार्थ वस्तु का निश्चय करके आत्मा में स्थिर नहीं हुआ जाता तबतक व्यवहारनय हस्तावलम्बन तुल्य कहा गया है, वास्तव में उसका अवलम्बन नहीं है। किसी मंजिल पर चढ़ते हुए जीने की सीढ़ियों पर पैर रखते है और दीवाल का सहारा लेते हैं किन्तु वह छोड़ने के लिये ही होता है; इसीप्रकार यथार्थ स्वरूप के विरोध से रहित निर्णय करने के लिये शुभविकल्प में लगना पड़ता है सो व्यवहार है, किंतु

खेद है कि निमित्ताश्रित भेद में रुकना पड़ता है। परमार्थ में जाते हुए बीच में तत्व के विकल्प का आँगन आता तो है किन्तु उसे लेकर आगे नहीं बढ़ा जाता। अपने बल से जब स्वयं उसे लाँघ जाता है तब वहाँ जो विकल्प का अभाव है सो निमित्त कहलाता है। जब मंजिल पर चढ़ने वाला कूदकर अंतिम सीढ़ी को छोड़ देता है तब यह कहा जाता है कि जो छूट गया है वह निमित्त था; इसीप्रकार अनादिकाल से पराश्रयरूप व्यवहार की पकड़ से राग-द्वेष, पुण्य-पाप, पर का स्वामित्व-कर्तृत्व मान रहा था वहाँ से कुलाँट खाकर अखण्ड अविकारी निरावलम्वी स्वभाव के बल से विकल्प का अंश टूटकर प्रारंभ के तीन गुणस्थानों को लाँघकर सीधा चौथे गुणस्थान में पहुँचता है।

विकार का नाशक स्वभाव नित्य एकरूप ज्ञायक है, उसका ऐसा स्वरूप नहीं है कि विकार में अटक जाये। आचार्यदेव कहते हैं कि जीव को परमार्थ में ही जाना है तथापि नवतत्व के और गुण-गुणी के भेदविचार और शुभविकल्परूप व्यवहार आये बिना नहीं रहता, तथापि वह कोई प्रयोजनवान नहीं है। जैसे कोई माल-मिठाई लेते समय उसकी किस्म तय की जाती है, भाव तय किया जाता है और फिर तौल कराई जाती है, इसप्रकार लेते समय यह सब कुछ करना पड़ता है; किन्तु माल लेने के बाद उसे खाते समय (स्वाद लेते समय) तराजू बाँट और भाव इत्यादि साथ में नहीं रखे जाते, इसीप्रकार परमार्थस्वरूप आत्मा का निर्णय करने के लिये पहले जीवादि नवतत्व क्या है यह जानने का तथा विकल्परहित यथार्थ तत्व क्या है इसका माप करने का विचार गुरुज्ञान से यथावत् करना पड़ता है, किन्तु उसके एकरूप अनुभव-स्वाद के लिये नवतत्व और माप लेने का विकल्प आदि सब छोड़ देना पड़ता है, क्योंकि उस शुभविकल्प से आत्मानुभव प्रगट नहीं होता।

वास्तविक सम्यक्दर्शन ही धर्म का प्रथम प्रारंभ है। यदि पहले अपूर्ण अवस्था में नवतत्व का यथार्थ ज्ञान न करे तो आत्मा का पूर्ण

स्वभाव ज्ञात नहीं होता। जीवादिक नवतत्वों को यथावत् शुद्धता के लक्ष से जानना सो व्यवहार है। अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव और बंध एकदम त्याज्य हैं, तथा शुद्ध, जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष व्यवहार से आदर योग्य हैं। ऐसा व्यावहारिक यथार्थ विवेक करने पर शुभभाव होता है। नवतत्वों को यथार्थतया जाने तो वह सम्यक्‌दर्शन के लिये हस्तावलंबन-आधार कहलाता है। उस अवस्था अथवा आधार से सम्यक्‌दर्शन नहीं होता किन्तु वह पुरुषार्थ से होता है। जो इतना नहीं समझता वह धर्म के निकट भी नहीं पहुँच पाया, ऐसा समझे बिना धर्म नहीं होता। धर्म तो मन और इन्द्रियों से परे (बिल्कुल भिन्न) मात्र अन्तरंग ज्ञानदृष्टि से अनुभवगम्य है। उसकी प्रतीति करने से बाह्यदृष्टि एवं दशा बदल जाती है। प्रतीति करना सर्वप्रथम कर्तव्य है, वह चतुर्थ गुणस्थान सम्यक्‌दर्शन है, उसीसे धर्म का, आनन्द का प्रारंभ होता है। तत्पश्चात् श्रावक और मुनिदशा होती है और अंशतः निर्मलता-स्वरूपस्थिरता होती है, जोकि बहुत ऊँची बात है।

सुख का प्रारम्भ करने के लिये पहले यथार्थ ज्ञान करना होता है। निराकुल स्वाधीन सुखरूप आत्मा को जानने के लिये पहले नवतत्व के यथार्थ भेद जानना पड़ते हैं। वह विकल्प राग का अंश है। नवतत्व को गुरुज्ञान से यथार्थतया जानने पर परमार्थस्वरूप के निकट पहुँचा जाता है। वह जीव स्वरूप के आँगन में आकर उपस्थित है, घर में-स्वभाव में प्रविष्ट नहीं हुआ, स्वभाव की ऋद्धि ही अलग है। पहले से ही उन समस्त विकल्पों को त्याज्य समझकर यथार्थतया नवतत्वों को न जाने तो निर्विकल्प अनुभव सहित अखंडतत्व की श्रद्धा नहीं होती, निज-पर की भिन्नता का विवेक करने वाला यथार्थ ज्ञान नहीं होता और अंतर रमणतारूप चारित्र नहीं होता।

निर्विकल्प पूर्ण परमार्थस्वभाव को प्रगट करने के लिये, तत्सम्बन्धी ज्ञान करने के लिये नवतत्वों के विचार में रुकना पड़ता है, इसका भी आचार्य को खेद है। किन्तु जिसे यही खबर नहीं है कि सच्चे देव

गुरु तत्व कौन हैं और मिथ्या कौन है उनकी तो यहाँ बात ही नहीं है। जो सच्चे देव गुरु का विपरीत स्वरूप मानते हैं, पुण्य से धर्म मानते हैं, पाप से बचने के लिये जो पूजा-भक्ति इत्यादि के शुभभाव होते हैं उस पुण्य बंध के कारण को (आस्रव तत्व को) गुण का कारण मानते हैं अथवा पाप की अशुभ भावना को धर्म मानते हैं और आकुलता में सुख मानते हैं उन अज्ञानियों को तो व्यवहार से भी नव-तत्वों की खबर नहीं है।

देह पर दृष्टि रखकर क्रियाकाण्ड-तपस्या करे और यह माने कि मैंने कष्ट सहन किया है, तथा एक ओर तो उस कष्ट सहने का खेद करे और दूसरी ओर उसमें धर्म माने कि अहो ! धर्म बहुत कठिन है, लोहे के चने चबाने के समान है। और यह माने कि मैंने बहुत कष्ट सहन किया है इसलिये बहुत धर्म हुआ है, किन्तु उसमें जो खेद होता है सो तो अशुभभाव है, आर्त्तध्यान है, पाप है। जीव की अंतरंग महिमा ज्ञात नहीं हुई और यह मालूम नहीं होसका कि वास्तविक शुभ क्या है इसलिये समझे बिना तपस्या उपवास आदि में लगा रहता है और तज्जन्य खेद-अरुचि-उपेक्षा को धर्म मानता है, आकुलता और अनाकुलता की प्रतीति के बिना हठ, कष्ट एवं अशुभभाव से किये गये क्रियाकाण्ड में धर्म मानता है और यह मानता है कि अधिक कष्ट होगा तो अधिक धर्म होगा; किन्तु धर्म तो आत्मा का पूर्ण निराकुलस्वभाव है, उसमें दुःख हो नहीं सकता और जहाँ दुःख है वहाँ धर्म नही है। धर्म सुख-शाँति देने वाला हो या दुःख देने वाला हो और वह निज में हो या पर में हो इसकी जिसे खबर नहीं है वह पर को देखता है और यह मानता है कि शरीर अधिक सूख गया है इसलिये धर्म बहुत हुआ है। और इसप्रकार बाह्य में दुःख पर खेद प्रगट करके उल्टा असातावेदनी कर्म का उदय करता है।

आत्मा के जिस भाव से शुभाशुभ विकार का भाव रुकता है वह संवर है। पंच महाव्रतादि के शुभभाव आस्रव (नवीन कर्मबंध का

कारण) है। जो उसे धर्म मानता है उसे व्यवहार से भी नवतत्वों का ज्ञान नहीं है। पाप में प्रवृत्त न होने के लिये शुभभाव का होना ठीक है, किन्तु यह बात त्रिकाल असत्य है कि शुभविकार से धीरे-धीरे सम्यक्दर्शन इत्यादि गुण प्रगट होते हैं।

जिसे यथार्थ आत्मस्वरूप का अनुभव-आत्मसाक्षात्कार करना है, निर्विकल्प श्रद्धा के लक्ष में स्थिर होना है उसे पहले तो नवतत्वों को और देव, शास्त्र, गुरु को यथार्थतया जानना होगा किन्तु उसी समय यह ध्यान रखना होगा कि उस विकल्प से (भेद के लक्ष से) सम्यक्दर्शन प्रगट नहीं होता। व्यवहारूप भेद अभेद का कारण नहीं होता। जिसे यथार्थ आत्महित की खबर नहीं है और जिसे नवतत्वों के नाम तक नहीं आते उसे आत्मस्वरूप की प्रतीति अथवा आत्मा का धर्म कहाँ से प्राप्त होसकता है ?

मन के सम्बन्ध से, विकल्प से, नवतत्वों का यथार्थ विचार करने के बाद अवस्था के भेद के लक्ष को गौण करके पूर्णरूप शुद्धात्मा की ओर उन्मुख होकर, मन से भी किंचित् पृथक् होकर अखण्ड की श्रद्धा के विषय में स्थिर हो और निरावलंबी, असंग, अविकारी, ज्ञायकस्वरूप में तद्रूप एकत्व की श्रद्धा लाये सो यथार्थ सम्यक्दर्शन है। जन्म-मरण के दुःख को दूर करने का यह एक ही उपाय है। विपरीत दृष्टि को दूर करने के बाद जहाँतक स्थिर न हुआ जासके वहाँतक अशुभ से बचने के लिये नवतत्व सम्बन्धी विशेषज्ञान की निर्मलता करने के लिये शुभ-भाव में रुकना पड़ता है, किन्तु ज्ञानी उस भेद का आदर करके उसमें अटकता नहीं है। आगे कहा गया है कि मात्र नवतत्व की भेदरूप श्रद्धा का होना मिथ्या-दृष्टि है। विकल्प की सहायता के बिना जबतक चिदानन्द पूर्ण स्वरूप को यथार्थ प्रतीतिपूर्वक न माने तबतक शुभ विकार की श्रद्धा है, किन्तु अविकारी अखण्ड स्वभाव की श्रद्धा नहीं है।

सर्वप्रथम यह समझने योग्य है। चाहे जितनी सांसारिक सावधानी रखे किन्तु उसका परिणाम शून्य से अधिक नहीं होता। जब प्रारम्भ में

शून्य होता है तब उसके योगफल में भी शून्य ही आता है, किन्तु उसके हर्ष का पार नहीं होता और जिससे अविनाशी हित होता है उसकी वह चिन्ता नहीं करता ।

आचार्यदेव ने परम अद्भुत रहस्य को प्रगट कर दिया है । जिसे इस अपूर्व वस्तु का ध्यान नहीं है वह उसका विचार कहाँ से करेगा ? यदि सावधानी के साथ तत्वाभ्यास न करे तो स्थिर होने का कहीं भी ठिकाना नहीं मिल सकता, वह तो मात्र परिभ्रमण ही करता रहेगा । गत अनंतकाल में एक क्षणभर को भी यथार्थ सम्यक्दर्शन प्रगट नहीं हुआ । वस्तु का यथार्थ निर्णय करने के लिये उसका अधिक समय का अभ्यास और यथार्थ श्रवण होना चाहिये । एकाधवार थोड़ा बहुत सुनकर चले जाने से दोनों अपेक्षाओं का मेल नहीं बैठता । यदि अपनी बुद्धि से एक अपेक्षा से अर्धसत्य को पकड़ रखे तो यथार्थ रहस्य समझ में नहीं आसकता । जैसे किसी महिला ने अपनी पड़ौसिन के बच्चे को जीने पर चढ़ते हुऐ देखकर कहा कि 'यदि गिरेगा तो मर जायेगा,' उस बालक की माँ ने इतना ही सुना कि 'मर जायेगा' और इस अधूरी बात को सुनकर वह अपनी पड़ौसिन से लड़ने लगी कि तूने मेरे बालक से मरने की बात क्यों कही ? उत्तर में उस महिला ने कहा कि तुमने मेरी पूरी बात नहीं सुनी, मैंने तो यह कहा है कि यदि 'गिर जायेगा तो मर जायेगा' और इसप्रकार मैंने तुम्हारे बालक से मरने की नहीं किन्तु जीने की बात कही है, तुमने मेरी पूरी बात नहीं सुनी इसमें तुम्हारी ही भूल है । इसीप्रकार पूर्वा पर विरोध से रहित सर्वज्ञ वीतराग के वचनों में क्या कथन है उसे भलीभाँति सम्पूर्ण सुनकर न्याय की संधिपूर्वक न समझे और एक ओर की ही अपूर्ण एकान्त बात को पकड़ रखे तो विरोध का होना स्वाभाविक ही है ।

जिसे व्यवहार तत्व की भी कोई खबर नहीं है और पुण्य-पापरूप आस्रव को जो नहीं समझता वह उससे भिन्न संवर-निर्जरारूप धर्म को भी नहीं समझ सकता । जहाँ प्रथम व्यवहार श्रद्धा में ही भूल हो वहाँ

परमार्थ के आँगन तक कहाँ से आसकता है? परमार्थ से तो शुभास्रव-भाव भी त्याज्य हैं, नवतत्व के भेद-विकल्प भी परमार्थदृष्टि से त्याज्य है। नवतत्वों की श्रद्धा को परमार्थ नहीं कहा है तथापि बीच में हस्तावलंबन की भाँति आजाने से उसमें रुक जाने का भी खेद है। यदि शुभविकल्प के भेद किये बिना सीधा ही परमार्थ में जासकता हो तो व्यवहार में रुकने की कोई आवश्यक्ता नहीं है, किन्तु ऐसा नहीं होता।

भावार्थः—आत्मा की निर्मल श्रद्धा होने के बाद नवतत्वों के विकल्प-रूप व्यवहार का कोई प्रयोजन नहीं रहता। निश्चयश्रद्धा के साथ आंशिक स्वरूपाचरण चारित्र के प्रगट होने पर फिर अशुद्धनय कुछ भी प्रयोजनवान नहीं होता। व्यवहार से नवतत्वों को जानकर शुभभाव करे और उस शुभव्यवहार में लगा रहे तो उसे परमार्थ से कोई लाभ नहीं होता।

अब निश्चयसम्यक्त्व का स्वरूप कहते हैं:—

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यांतरेभ्यः पृथक्।
सम्यक्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं
तन्मुक्त्वा नवतत्वसंततिमिमामात्मायमेकोस्तु नः ॥६॥

आचार्यदेव ने सर्वज्ञ वीतराग के कथन का रहस्य उद्घाटित करके जगत के समक्ष प्रस्तुत किया है। किसी को यह बात जम सकती है अथवा नहीं भी जम सकती। सब अपने-अपने भाव में उल्टा-सीधा करने के लिये स्वतंत्र है। सत् को स्वीकार या अस्वीकार करने के लिये भी सब स्वतंत्र है। प्रभु! तेरी अशुद्धता की विपरीतता भी बहुत बड़ी है। श्रीमद्राजचन्द्र ने लिखा है कि—"भगवान परिपूर्ण सर्वगुणसम्पन्न कहलाते है, तथापि उनमें भी कुछ कम अपलक्षण नहीं है" इसप्रकार आत्मा को संबोधित करके पुरुषार्थ करने को कहा है।

कोई कर्म के संयोग में रत होकर यह माने कि राग-द्वेष मेरे हैं, करने योग्य हैं, और मैं पर का कर्ता हूँ और अविकारी शुद्धतत्व से इन्कार करे तो उसे स्वीकार कराने के लिये कोई समर्थ नहीं है। यदि कोई औंधा गिरता है तो उसमें भी वह स्वतंत्र है। जैसे किसी बालक के हाथ से उसकी चुसनी लेकर दूसरे बालक को देदी जाय तो वह ऊँ-ऊँ करके रोना प्रारंभ करता है और फिर बराबर रोता रहता है; यदि उसके हाथ में पेड़ा देदिया जाये तब भी वह चुप नहीं रहता और यदि उसे वह चुसनी लाकर देदी जाये तो भी वह रोना बन्द नहीं करता, क्योंकि उसे यही ध्यान नहीं रहता कि मैंने क्यों रोना प्रारम्भ किया था, इसीप्रकार चिदानंद भगवान आत्मा पुण्य-पाप से भिन्न है, पुण्य से भी आत्मा का धर्म नहीं होता, आत्मा का आनंद प्रगट होने की श्रद्धा अलग ही है, इसे सुनकर निषेध करने की धुन लगी सो उसके पुण्य-पाप के कर्तृत्व को और पर का स्वामित्व रखने की मान्यतारूप अज्ञान (स्वभाव से इन्कार) छुड़ाने के लिये ज्ञानियों ने पुण्य-पापरहित परमार्थ की बात की तथापि उसे सत्य—असत्य की खबर ही नहीं और न यही खबर है कि मैंने कहाँ भूल की है इसलिये उसके भाव में से उसका विरोध नहीं मिटता। जैसे (उपरोक्त दृष्टांत में) बालक का पिता बालक को चाहे जिस रीति से और चाहे जितना समझाता है किन्तु वह नहीं मानता और फिर अपनेआप चुप रह जाता है; इसीप्रकार औंधे पड़े हुए जीवों को अनंत ज्ञानी समझाते हैं किन्तु वह नहीं मानते; सच तो यह है कि अपना स्वतंत्र पुरुषार्थ हो तभी समझा जासकता है।

आचार्य महाराज कहते हैं कि हम किसी दूसरे के लिये नहीं कहते, किंतु यह तो हमारी रुचि का निमंत्रण है, जो सत् अनुकूल पड़ा है उसीकी घोषणा है किसी का कोई विरोध नहीं है। जैसे अपने घर कोई अतिथि आये तो उसे अपनी रुचि की उत्तम से उत्तम वस्तु परोसी जाती है उसीप्रकार ज्ञानीजन जगत के समक्ष निस्पृह करुणा से सत् की घोषणा

करते हैं क्योंकि वही उनकी रुचि की वस्तु है। कोई दूसरा सत् के मूल्य को आंके या न आंके-उसे वह अनुकूल पड़े या न पड़े, उसपर उनकी दृष्टि नहीं है, किन्तु वे तो अपनी अनुकूलता के गीत गाते हैं।

परद्रव्यों से तथा पुण्य के विकारी भावों से भिन्न आत्मा के त्रैकालिक पूर्ण अखण्डानंद स्वरूप को एकरूप श्रद्धा के लक्ष में लेने की रीति जानकर, व्यवहार दृष्टि को गौण करके एकरूप अखण्ड स्वभाव के लक्ष से मिथ्या मान्यता का निषेध और यथार्थ मान्यता का स्वीकार एवं मैं अखण्ड ज्ञायक परमानंदरूप से पूर्ण हूँ इसप्रकार ध्रुवस्वभाव की यथार्थ श्रद्धा में जो स्वीकृति है सो सम्यक्दर्शन है।

भगवान आत्मा को परद्रव्य से सदा भिन्न देखना, परसम्बन्ध-रहित-विकार रहित मानना अर्थात् प्रतिष्ठा, धन, स्त्री, पुत्र, मन, वाणी, देह तथा देव, गुरु, शास्त्र इत्यादि सब अपने से भिन्न है, पुण्य-पाप के विकार भी अपने स्वभावरूप नहीं हैं; इसप्रकार सर्वथा पर से भिन्न एकरूप शुद्ध आत्मा को मानना श्रद्धा में लेना सो नियम* से सम्यक्दर्शन है। जब दूसरे से अपने को भिन्न माना और यह माना कि त्रिकाल में भी किसी के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है तब पर से लाभ-हानि नहीं होसकती ऐसी श्रद्धा होने से परवस्तु की भ्रान्ति से छूटकर मात्र स्वाधीनभाव में ही (स्वभाव में ही) स्थिर होना रह जाता है। पुण्य-पाप का स्वामित्व छूट गया (अखण्ड गुण की प्रतीति में विकार की नास्ति है) किसी के साथ एकमेक करने की बात न रही, किसी में कर्तृत्व की मान्यता न रही इसलिये अनंत रागद्वेष तो दूर हो गया और आंशिक निराकुल आनंद प्रगट होगया; इसप्रकार एकरूप निरावलंबी आत्मा की प्रतीति करना सो धर्म के प्रारम्भ का मूल सम्यक्दर्शन है।

भगवान आत्मा पर से तो भिन्न है किन्तु अपनेपन से कैसा है? सदा अपने गुण पर्यायों में व्याप्त रहने वाला है, और वह रागादि में

---

* नियम कदापि नहीं बदलता, और यदि बदले तो वह नियम नहीं कहा जासकता।

नहीं रहता। स्वयं ज्ञान दर्शन आनन्द से पूर्ण त्रिकाल एकरूप ध्रुव-भाव से स्थिर होकर अपने गुणरूप से रहकर अपने गुणों की अवस्था में व्याप्त होकर रहनेवाला है। उसे पर से भिन्न अविकारी ज्ञानानंद-रूप मानकर, पर में कर्तृत्व—भोक्तृत्व से रहित मानना ही प्रारम्भ से आत्मा के लिये लाभदायक है।

और फिर कैसा है वह आत्मा? शुद्धनय से एकत्व में निश्चित् किया गया है। शुद्धनय के द्वारा तत्व के नवभेदों में से एक ज्ञायक स्वरूप से अखण्डरूप में आत्मा को लक्ष में लेकर अपने त्रिकाल ध्रौव्यत्व में निश्चित् किया गया है। यद्यपि गुण अनन्त हैं किन्तु अखण्ड की श्रद्धा में भेदविकल्प छोड़ दिया जाता है। जैसे सोने में पीलापन, चिकनापन इत्यादि अनेक गुण एक साथ होते हैं, किन्तु मात्र सोने को ही खरीदने वाले स्वर्णकार को उसके विभिन्न गुणों पर अथवा उसकी रचना इत्यादि पर लक्ष नहीं होता, उसका लक्ष तो एकमात्र सोने पर ही होता है, वह तो यह देखता है कि उसीमें समस्त अवस्थाएँ तथा गुणों की शक्ति वर्तमान में एक ही साथ विद्यमान है। भेद को लक्ष में न लेकर अखण्ड ध्रुव एकरूप पूर्ण स्वभाव को लक्ष में लेना, उसमें किसी निमित्त की अपेक्षा को न मिलाना सो सच्चा धर्म—सम्यक्दर्शन है। इसमें ऐसी बात नहीं है कि यदि हमारी बात को मानो तो ही सम्यक्दर्शन होगा, किन्तु स्वयं निश्चित् करके अपने स्वतंत्र—पूर्ण एकत्व-स्वरूप को अपने से ही मानो तो सम्यक्दर्शन होता है। देव गुरु शास्त्र और वीतराग की साक्षात् वाणी भी परवस्तु है। तू उसके आश्रय से रहित पूर्ण है, ऐसे एकरूप अखण्ड स्वरूप की प्रतीति तुझसे ही होती है।

परमाणुमात्र मेरा नहीं है, रागद्वेष मेरा कर्तव्य नहीं है, मैं पर का कर्ता—भोक्ता नहीं हूँ, किन्तु अखण्ड ज्ञायक हूँ, ऐसी यथार्थ प्रतीति (सम्यक्दर्शन) गृहस्थदशा में (सधन या निर्धन चाहे जिस अवस्था में) होसकती है। गृहस्थदशा के अनेक संयोगों के बीच रहते हुए भी

अपने अविकारी स्वभाव की प्रतीति होसकती है। यदि वह राग को दूर करके विशेष स्थिरता करे तो मुनि होसकता है, वह वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति को जानता है और अंतरंग में उदास रहकर परावलंबन के सम्पूर्ण राग को छोड़ना चाहता है। वह संसार में रहता हुआ भी संसार के संयोगों में अनुरक्त नहीं है किन्तु अपने स्वरूप में ही ज्ञानानंद साक्षीरूप से आत्मा में ही विद्यमान है। जैसे अछूतों के किसी मेले में कोई वणिक् अपनी दूकान लेकर जाता है तो उसे ऐसी शंका कदापि नहीं होती कि मैं इन सब अछूतों के साथ एकमेक होगया हूँ? उसके मन में यह निःशंक निर्णय होता है कि मैं अग्रवाल अथवा श्रीमाली वणिक् ही हूँ। इसीप्रकार मैं आत्मा पुण्य-पापरूप विकार का नाशक, स्वरूप का रक्षक, अखण्ड अविकारीस्वभाव का स्वामी हूँ, विकल्प-संयोग का स्वामी नहीं हूँ, मैं संयोग में एकरूप नहीं होजाता। ऐसी यथार्थ श्रद्धा होने के बाद वर्तमान पुरुषार्थ से वीतरागी अवश्य ही हूँ। आत्मा अछूत–हरिजन अथवा वणिक नहीं है, तथा आत्मा सधन अथवा निर्धन नहीं है, वह तो मात्र ज्ञायकस्वभाव ही है।

पर से भिन्नरूप सिद्ध–परमात्मा के समान पूर्ण पवित्र आत्मा में परमार्थ से एकत्व का निर्णय करना सो उसे भगवान ने सम्यक्दर्शन कहा है। जिसके अविकारी अखण्ड के वल से एकवार ही आंशिक निर्मलदशा प्रगट होगई है वह बारंबार निर्मल एकत्वस्वभाव में एकाग्रता के वल से पूर्ण निर्मलदशा प्रगट करता है।

और वह पर से भिन्न आत्मा कैसा है? पूर्ण ज्ञानानन्दघन है। उसमें विकल्प पुण्य-पाप की रज प्रवेश नहीं कर सकती। जैसे निहाई (ऐरन) में लोहे की कील प्रवेश नहीं कर सकती उसीप्रकार निरपेक्ष, एकरूप, ज्ञानघन आत्मा में पुण्य-पाप की क्षणिक वृत्ति प्रवेश नहीं कर सकती। विकल्प का उत्थान निमित्ताधीन अवस्था से होता है जो कि गौण है। त्रिकाल एकरूप द्रव्यस्वभाव परमार्थ में विकार के कर्तृत्व का किंचित्मात्र अवकाश नहीं है।

प्रथम श्रद्धा में पूर्ण हूँ, कृतकृत्य परमात्मा ही हूँ, ऐसी प्रतीति के बल से कोई विकार की प्रवृत्ति का स्वामित्व नहीं होने देता तथापि वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण शुभाशुभ वृत्ति होती है, अशुभ से बचने के लिये शुभ में प्रवृत्त होता है किन्तु उसमें गुण का होना नहीं मानता। श्रद्धा में प्रत्येक विकार (परावलम्बन) का निषेध है। जैसे अग्नि ईंधन की नाशक है–रक्षक नहीं और सूर्य का स्वभाव अन्धकार को उत्पन्न करना नहीं किन्तु उसका नाश करना है इसीप्रकार मेरा अखण्ड ज्ञायकस्वभाव एकरूप सतत ज्ञातास्वरूप है, किसी में अच्छा-बुरा मानकर रुकनेरूप नहीं है। ऐसे वीतरागी गुण की प्रतीति के बल में राग का स्वामित्व–कर्तृत्व नहीं है, तथापि पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण जो राग होता है उसे मात्र जानता है किन्तु करने योग्य नहीं मानता। वह विकल्प को तोड़कर स्थिर होना चाहता है, और यह मानता है कि अखण्डस्वभाव के बल से अन्तरोन्मुख होना ही उसका उपाय है, विशेष स्थिरता होनेपर अशुभराग टूटकर सहज ही व्रतादि आते हैं, उसमें जितना राग दूर होता है उतना ही गुण मानता है और जो राग रहता है उसका किंचित्मात्र भी आदर नहीं करता।

सर्वज्ञ वीतराग के द्वारा कथित न्यायानुसार नवतत्वों को जानकर पर से और विकार से आत्मा भिन्न है, उसे शुद्धनय से जानना सो सम्यक्दर्शन है, जोकि अनंतकाल में जीव ने कभी भी प्रगट नहीं किया। उससे रहित पुण्यभाव में मिथ्यादर्शन का महा–पाप बंधता है। भक्ति, पूजा, दान, व्रत, तप, त्याग में राग को कम करे तो पुण्यबंध होता है, जिसके फल से कभी बड़ा राजा अथवा निम्नकोटि का देव होता है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील इत्यादि के अशुभभाव करने से पाप-बंध होता है, जिसके फल से तिर्यंच और नरक इत्यादि गति में परि-भ्रमण करता है। पुण्य–पाप की उपाधि से रहित अविकारी, असंग, एकरूप स्वभाव की श्रद्धा और स्वपर के भेदरूप ज्ञान के बिना सच्चा चारित्र नहीं होसकता और वीतराग चारित्र के बिना केवलज्ञान या मोक्ष नहीं होसकता।

जितना सम्यक्‌दर्शन है उतना ही आत्मा है। जितने में मिठास है उतने में मिश्री है, इसीप्रकार पूर्णरूप शुद्ध आत्मा को लक्ष में लेने वाला सम्यक्‌दर्शन उतना ही है जितना आत्मा है, क्योंकि वह (सम्यक्‌दर्शन) आत्मा का ही निर्मल परिणाम है। निरावलंबी शुद्धात्मा की श्रद्धा का भाव आत्मा में आत्मा के आधार से है, मन, वाणी, देह अथवा पुण्य-पाप की शुभाशुभ वृत्ति के आधार पर अवलंबित नहीं है। यदि कोई मात्र शास्त्र से आत्मा की बात को मन में धारणा करले तो वह भी सम्यक्‌दर्शन नहीं है। पूजा, भक्ति, व्रतादि तथा नवतत्वों के शुभभाव की वृत्ति करे तो भी वह संयोगाधीन क्षणिकभाव है कृत्रिम भाव है, वह शाश्वत, अकृत्रिम, अविकारी, एकरूप, ज्ञायकस्वभाव का नहीं है। कुछ भी करने धरने की हॉ या ना के रूप में जितनी वृत्ति उत्पन्न होती है वह सब उपाधिभाव है, उस उपाधिभाव के भेद से रहित यथार्थ श्रद्धा सम्पूर्ण आत्मा के स्वरूप में फैली हुई है, आत्मा से भिन्न नहीं है। ऐसे निरुपाधिक शुद्ध पूर्ण स्वभाव का जो निश्चय किया गया उसे सर्वज्ञभगवान ने सम्यक्‌दर्शन कहा है।

आचार्यदेव प्रार्थना करते है कि "इस नवतत्व की परिपाटी को छोड़कर, हमें यह एकमात्र आत्मा ही प्राप्त हो।" अन्यत्र रुक जाना हमें नहीं पुसाता। उस नवतत्व के विचार में मन के सम्बन्ध से विकल्प करने को रुक जाना भी ठीक नहीं है। आत्मा का स्वरूप ऐसा नहीं है कि नवतत्व के विकल्प से उसका पूरा पड़ सके। समझे बिना अपनी कल्पना से शास्त्र पढ़े अथवा चाहे जितने अन्य प्रयत्न करे किन्तु अन्तरंग का मार्ग गुरुज्ञान के बिना हाथ नहीं आता। यथार्थ निःसंदेह ज्ञान जब स्वयं करे तब स्वतः होता है, किन्तु एकबार यथार्थ गुरुज्ञान होना आवश्यक है।

आत्मा में मात्र आनन्द भरा हुआ है। उसकी श्रद्धा में यथार्थ समझपूर्वक स्थिर होना सो निर्विकल्प चारित्र की क्रिया है। उसी में आनन्द है। जो कष्ट में धर्म मानता है वह कहता है कि "देहे दुःख

महाफलं" अर्थात् यदि कष्ट सहन करो तो गुण प्राप्त होगा। जो यह कहता है कि उपवास तो धूल का ग्रास है उसे उपवास पर अरुचि है। उस अरुचि (द्वेष) भाव को भगवान ने आर्त्तध्यान कहा है। शारीरिक प्रतिकूलता सहन नहीं होती इसलिये जो यह मानता है कि क्षुधा-तृषा से या शरीर के कष्ट से धर्म होता है वह पाप को गुणरूप मानता है। वहाँ व्यवहार से भी नवतत्वों की श्रद्धा नहीं है। जो धर्म करते हुए कष्ट मानता है उसे निराकुल स्वभाव के प्रति अरुचि है जोकि द्वेष है, और द्वेष पाप है, उससे धर्म नहीं होता, पुण्य भी नहीं होता।

प्रश्न:—इतने-इतने कष्ट सहन करने पर भी धर्म नहीं होता ?

उत्तर:—हे भाई! देह की क्रिया से धर्म तो क्या किन्तु पुण्य-पाप भी नहीं होता। स्वय अपने परिणामों को सुधारे और कषाय को जितना सूक्ष्म करे उतना ही शुभभाव होता है, उस भाव से पुण्य होता है धर्म नहीं। पर-सम्बन्धी विकल्प को तोड़कर स्वरूप में स्थिर होना सो निराकुल स्थिरता है और उसी में सुख है। पर से किसी को कष्ट नहीं होता किन्तु पर के ऊपर जितना राग करता है उतना ही दुःख होता है।

प्रश्न:—तपस्या न की जाये तो लड्डू खाकर क्योंकर मोक्ष जाया जासकता है ?

उत्तर:—कोई (आत्मा) लड्डू खा ही नहीं सकता। अज्ञानी जीव लड्डू के राग की आकुलता को भोगता है और ज्ञानी निराकुल स्वभाव के लक्ष में अपने परिणाम का माप निकालता है। शरीर की अनुकूलता या प्रतिकूलता पर उसका लक्ष ही नहीं है। अखण्ड स्वभाव की रुचि के मंथन में आहार की इच्छा सहज ही टूट जाती है, इसप्रकार इच्छा का निरोध करके स्वरूप में लीनता का होना सो भगवान ने तप कहा है और वही तप मोक्ष का कारण है। जो उसे कष्टदाता

मानता है वह धर्म का-स्वभाव का अनादर करता है। उसे वीतराग कथित नवतत्वों की व्यवहार से भी श्रद्धा नहीं है।

यहाँ आचार्यदेव कहते है कि यथार्थ नवतत्वों की परिपाटी की पकड़ में लग जाना नहीं पुसाता। जो परमार्थतत्व को समझने के लिये तैयार होकर आया है उसे इतनी व्यवहार-श्रद्धा की खबर तो होगी ही ऐसा मान लिया है। यहाँ तो व्यवहार के भेद को उलंघन कर जाने की बात है। मात्र व्यवहारतत्व से और पुण्य से धर्म मनवाने वाली दुकानें बहुत-सी हैं। जैसे कालेज वाले यह समझ लेते है कि यहाँ पढ़ने को आने वाले पहली कक्षा से लेकर मेट्रिक तक तैयार होकर ही आये है, उसीप्रकार अनन्त जन्म-मरण को टालने के लिये जो परमार्थतत्व के निकट आया है उसे नवतत्वों के यथार्थ ज्ञान की खबर तो होनी ही चाहिये। यह धर्ममार्ग की सर्वप्रथम इकाई की बात है। सर्वप्रथम वास्तविक इकाई निश्चयसम्यक्दर्शन है।

कितने ही लोग यह कहकर कि समयसार में बहुत ही उच्च कक्षा की बात है, उसे समझने से या उसका परिचय प्राप्त करने से इन्कार करते हैं; किन्तु सर्वप्रथम धर्म का मूल्य परमार्थ सम्यक्त्व क्या है यह पूर्वापर विरोध रहित समझना हो तो उसके लिये यह बात है।

अनन्तकाल में स्वरूप को पहिचानने के अतिरिक्त आत्मा अन्य सब कुछ कर चुका है। "पहले जो कभी नहीं समझा जासका वह परमार्थ स्वरूप कैसा है" यही समझने के लिये जो आये है उन्हे आचार्य देव कहते हैं कि-यथार्थ नवतत्वों के शुभविकल्प की प्रवृत्ति से छूटकर इस ज्ञानानन्द अविकारी आत्मा की प्राप्ति करो। पर से भिन्न और निज से अभिन्न स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान प्राप्त करो।

भावार्थ:—सर्व स्वाभाविक तथा नैमित्तिक अपनी अवस्थारूप त्रैकालिक गुण-पर्याय के भेदों में व्याप्त यह आत्मा एकाकार ज्ञायकरूप से शुद्धनय से बताया है, उसे सर्व अन्य द्रव्यों से तथा अन्य द्रव्य के निमित्त से

होने वाले विकारी भावों से भिन्न देखना और अनुभव सहित यथार्थरूप में श्रद्धा करना सो नियम से सम्यक्दर्शन है। भगवान आत्मा पर से निराला त्रिकाल स्वभाव से निर्मल ही है, वर्तमान प्रत्येक समय की अवस्था में कर्म के संयोग की अपेक्षा से अशुद्धता का अंश है, उसे देखने वाली व्यवहारदृष्टि को गौण करके त्रैकालिक एकाकार सामान्य ज्ञायक स्वभाव को शुद्धनय से अपने एकत्व में निश्चित् किया गया है अर्थात् निःशक श्रद्धा की गई है और वही जन्म-मरण को दूर करने का निश्चित् उपायरूप प्रथम गुण है।

नवतत्वों के जो विचार मन में होते हैं उनके विकल्पों में अटककर आत्मा को अनेक भेदरूप कहकर व्यवहारनय सम्यक्दर्शन को अनेक भेदरूप कहता है वहाँ व्यभिचार (दोष) आता है, एकरूप नियम नहीं रहता। आत्मा एकस्वभावी है उसे नवतत्वों में रोकना अर्थात् एक तत्व को अनेक तत्वों में रोकना सो व्यभिचार है।

यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि अविरोधरूप से सच्चे देव, गुरु, शास्त्र और नवतत्वों की श्रद्धा के भेदों को जानने के बाद भी उसके अनेक प्रकार में शुभराग से रुकना पड़ता है सो गुण नहीं है, किन्तु निर्दोष एकरूप स्वभाव का निश्चय करके उसमें शुद्धनय से श्रद्धा के निर्मल विषय में रुकना सो गुण है। देव गुरु शास्त्र भी परवस्तु है, उसके आश्रय से तथा नवतत्वों के शुभविकल्प में रुकने से एकरूप निर्विकल्प अनुभव नहीं होता, किन्तु पूर्ण ज्ञानानंद निर्विकार, त्रिकालस्वभाव का लक्ष करके अंतरंग में उन्मुख हो तो अभेद, शांत आनन्द का अनुभव होता है। जिसे परावलंबन से तथा शुभराग से गुण प्रगट होने का विश्वास जमा हुआ है उसके धर्म का प्रारंभ भी नहीं हुआ है।

समयसार में तो पहले धर्म के प्रारम्भ की बात है। जो अनादिकाल का अत्यंत अप्रतिबुद्ध-निरा अज्ञानी है वह परमार्थस्वरूप के रहस्य को जान सके इसलिये सर्वप्रथम परमार्थ सम्यक्दर्शन की बात कही है। समयसार में प्रत्येक बात स्पष्ट कही है। जो यथार्थ को समझता

है उसके सम्पूर्ण भ्रम का नाश होजाता है और जैसा परमानन्द पूर्ण स्वाधीन स्वभाव है वैसा ही प्राप्त होता है।

तीनोंकाल में मनुष्य भव महादुर्लभ है, उसमें भी पाँचों इन्द्रियों की पूर्णता और उत्तमधर्म का श्रवण दुर्लभ है। और जब ऐसा अमूल्य सुयोग प्राप्त हुआ है तब यदि जन्म-मरण को दूर करने का उपाय न करे तो फिर अनन्तकाल में भी ऐसा सुयोग मिलने वाला नहीं है। सासारिक कार्यों में भी पिता पुत्र से कहता है कि यदि इस भर मौसम में नहीं कमायेगा तो कैसे चलेगा ? इन दो महीनों में बारह महीनों की रोटी पैदा करनी है। इसीप्रकार आचार्यदेव कहते है कि अब तुझे यह सर्वोत्तम अवसर प्राप्त हुआ है, एक-एक क्षण एकलाख वर्ष के समान जारहा है इसलिये आत्मकल्याण करले। ऐसा महामूल्य मनुष्य भव प्राप्त करके भी यदि अपूर्व श्रद्धा नहीं करेगा तो यह प्राप्त किया हुआ सब व्यर्थ जायेगा, इसलिये पहले पूर्वापर विरोध रहित आत्मा की यथार्थ पहिचान करना चाहिये। यह तो प्रथम भूमिका की रीति है।

शुद्धनय की सीमा तक पहुँचने पर अथवा पवित्र स्वभाव की मर्यादा में पहुँचने पर, नवतत्व का भेदरूप व्यवहार गौण होजाता है। तब विकल्प के आश्रयरूप दोष में रुकना नहीं होता; परमार्थदृष्टि में एकरूप निश्चय का नियम रहता है।

कैसा है वह शुद्धनय का विषयभूत आत्मा ? पूर्ण ज्ञानघन है, सर्व लोकालोक को एक ही साथ सहज जानने वाला ज्ञानस्वरूप है। जैसे दर्पण में जितना दिखाई देता है वह उसकी स्वच्छता की शक्ति है, दिखाई देनेवाली परवस्तु उस दर्पण में प्रविष्ट नहीं होती, इसीप्रकार आत्मा अरूपी पूर्ण ज्ञायकस्वभाव है। जिसका स्वभाव ही जानना है वह किसे न जानेगा ? और कब न जानेगा ? वह सबको जानता है और एक ही साथ जानता है इसलिये मैं पूर्ण ज्ञायक हूँ, किंचित्मात्र

हीन नहीं हूँ; मेरा स्वभाव विकारी या उपाधिमय नहीं है। ऐसे स्वाधीन आत्मा की पहिचान होने पर अनादिकालीन मिथ्या-मान्यता का नाश होकर निर्मल श्रद्धा प्रगट होती है। श्रद्धा कहीं आत्मा से पृथक् पदार्थ नहीं है, वह आत्मा का ही परिणाम है, इसलिये आत्मा ही है। इसलिये जो सम्यक्दर्शन है सो आत्मा है, अन्य नहीं।

इसे समझे बिना धर्म के नाम पर जो कुछ करता है वह सब व्यर्थ जाता है, क्योंकि जिस भाव से भव होता है उस भाव से भव का नाश कदापि नहीं होता। जिस भाव से पुण्य-पाप के विकारी भाव का नाश होता है वैसी श्रद्धा और स्थिरतारूप अविकारी भाव से धर्म का प्रारम्भ होता है। प्रतिक्षण भयंकर भावमरण करके विपरीत भाव से अनन्त भव धारण किये तथापि तुझे अपनी दया नहीं आती! अब भव धारण नहीं करना है इसप्रकार का भाव यदि अन्तरंग में उदित हो तो भव-रहित अविनाशी असयोगी स्वरूप को पहिचानने का पुरुषार्थ करे, किंतु जिसे परभव की श्रद्धा ही नहीं है और जिसे अभी इतनी सामान्य आस्तिकता भी नहीं है कि आत्मा नित्य होगा या नहीं, अथवा आत्मा एकाकी रहे तो उसमें क्या सुख है, और जो वर्तमान संयोग को ही मानता है तथा जिसकी ऐसी धारणा है कि मरने के बाद चाहे जो होता रहे इसकी हमें चिंता क्यों होनी चाहिये, उसके लिये आचार्यदेव कहते है कि तू प्रभु है, तेरी विपरीत मान्यता से तेरे गुणों में क्षयरोग लग गया है और तू अपने स्वभाव के विरोधभाव से चौरासी के अवतार में परिभ्रमण कर रहा है, इसका खेद होना चाहिये। मुझे संसार का कुछ भी नहीं चाहिये और किसी के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है यह जानकर असंग, अविकारी, स्वाधीनस्वभाव की श्रद्धा कर।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि जो नय है सो श्रुतज्ञान-प्रमाण का अंश है, इसलिये शुद्धनय भी श्रुतज्ञान-प्रमाण का ही अंश हुआ। त्रिकालस्थायी सामान्य एकरूप स्वभाव और वर्तमान अवस्था दोनों मिलकर संपूर्ण वस्तु है इसप्रकार ध्यान में लेना सो अपूर्ण अवस्था

में 'परोक्षप्रमाण' अथवा श्रुतज्ञान-प्रमाण कहलाता है, और केवलज्ञानरूप पूर्ण अवस्था को 'प्रत्यक्षप्रमाण' रूप ज्ञान कहते है।

जैसे कोई पुरुष सौ वर्ष का है, उसे वर्तमान रोगी-निरोगी अवस्था के भेदरूप से न देखकर एकरूप सौ वर्ष का देखना सो शुद्धनय अथवा निश्चयदृष्टि है; उस निश्चय की ओर के लक्ष को गौण करके वर्तमान अवस्था को देखना सो व्यवहारनय है और उन दो अपेक्षाओं का भेद न करके पुरुष को जानना सो श्रुतप्रमाण है। इसीप्रकार आत्मा में त्रिकालस्थायी ज्ञायक एकरूप भाव को देखना सो निश्चयनय है, अखण्डता के लक्ष को गौण करके वर्तमान अवस्था को देखना सो व्यवहारनय है और त्रिकाल अखण्डस्वरूप एवं वर्तमान अवस्था के दोनों पहलुओं का एक साथ अखण्ड वस्तुरूप से ज्ञान करना सो प्रमाण अर्थात् श्रुतप्रमाण कहलाता है। एक पहलू का ज्ञान नयज्ञान है और दोनों पहलुओं का एक साथ जो ज्ञान है सो प्रमाणज्ञान है।

प्रश्न:—जब केवलज्ञान होता है तब आत्मा कैसा मालूम होता है?

उत्तर:—जैसा यहाँ है वैसा ही वहाँ है। यहाँ परोक्षप्रमाणरूप श्रुतज्ञान में भलीभाँति आगम-शास्त्र द्वारा स्वयं निज को जान सकता है। जो पंचेन्द्रियों के विषय में सुख माना है सो कहीं पर में देखकर नहीं माना है; यथेच्छ मिष्टान्न आदि के रस में जो मिठास मान रखी है उसे स्वाद पर से निश्चित् नहीं किया है। मैं कहाँ पर सुख का निश्चय कर रहा हूँ इसकी खबर निश्चित् करने वाले को ही नहीं है। पर में सुख है ऐसी कल्पना स्वयं ही भीतर से उत्पन्न की है, यह अरूपी भाव आँखों से दिखाई नहीं देता तथापि अनादिकाल से उसका ऐसा दृढ़-विश्वास है कि उसमें वह शंका नहीं करता। यद्यपि परवस्तु में सुख नहीं है किन्तु स्वयं अपनी विपरीत कल्पना से मिष्टान्न आदि जड़वस्तु के स्वाद में सुख मान रखा है। यह ज्ञान की विपरीतदशा है। यदि पर की ओर से दृष्टि को बदलकर अपनी ओर करे तो स्वयं अपना

निर्णय कर सकता है। सराग अवस्था में आत्मा को परोक्ष श्रुतज्ञान-प्रमाण से जैसा जानता है उसी स्वरूप से केवलज्ञान में प्रत्यक्ष ज्ञात होता है, मात्र दोनों में निर्मलता-मलिनता का भेद है।

प्रश्नः—वर्तमान प्रत्यक्ष अनुभव किसप्रकार होता है ?

उत्तर:—अन्धा मनुष्य मिश्री को नहीं देख सकता किन्तु वह देखने वाले मनुष्य के समान ही स्वाद ले सकता है। इसीप्रकार वर्तमान में परोक्षज्ञानी अपने सम्पूर्ण आत्मा को अनन्त शक्तिरूप प्रत्यक्ष न देखे तथापि उसका ज्ञान तो करही सकता है। जब यथार्थ श्रद्धा के समय बुद्धिपूर्वक विकल्परहित निज में एकाग्र होता है तब और उसके बाद जब-जब ऐसे अनुभव में स्थिर होता है तब-तब केवलज्ञानी अपने आनंद का पूर्ण स्वाद अनुभव में लेता है, उसीप्रकार के आनंद का आंशिक स्वाद श्रुतज्ञान के उपयोग के समय लिया जासकता है। वीतराग कथित शास्त्रज्ञान से. मति, श्रुतज्ञानी आत्मा को पूर्णतया शुद्धनय से परोक्ष जानता है, और अखंडस्वभाव में एकाग्र होनेपर बुद्धिपूर्वक के विकल्प से छूटकर सम्यक्‌दर्शन की निर्मल अवस्था की उत्पत्ति होने के साथ ही आत्मा के निराकुल आनन्द का आंशिक अनुभव होता है।

धर्मों में पहला धर्म सम्यक्‌दर्शन है। धर्म आत्मा का स्वभाव है, वह कहीं बाहर से नहीं आता। श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, अविकारी गुण आत्मा में हैं, कर्मों के निमित्ताधीन शुभाशुभ विकार आत्मा का मूल स्वभावभाव नहीं है। आत्मा का अविकारी अखंड मूलस्वभाव जिस भाव के द्वारा माना जाता है वह भाव निर्मल सम्यक्‌दर्शन है।

'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि' के अनुसार जिसकी निमित्ताधीन विपरीत दृष्टि है उसके विकारी अवस्था की उत्पत्ति होती है, और निर्मल अवस्था प्रगट नहीं होती, ऐसा मिथ्या-दृष्टि का फल है। सम्यक्‌दृष्टि त्रिकाल ध्रुव अखंडस्वभाव को लक्ष में लेता है। यथार्थ ज्ञान अविकारी स्वभाव

को और वर्तमान प्रत्येक समय में होनेवाली विकारी अपूर्ण अवस्था को यथार्थतया जानता है, किन्तु उसमें विकार को नहीं रखना चाहता। जिसकी जैसी दृष्टि होती है उसकी वैसी सृष्टि (पर्याय) होती है। मेरा स्वभाव त्रिकाल में पूर्ण निर्मल शाश्वत अनन्तशक्ति से भरा हुआ है, उसकी प्रतीति के वल से एक समय में पूर्ण आनन्द प्रगट करने की शक्ति है; उसकी यथार्थ स्वीकृति करनेवाला केवली होजाता है, क्योंकि अविकारी पूर्ण केवलज्ञानघन हूँ ऐसी पूर्ण स्वभाव की श्रद्धा के वल से पूर्ण स्वभाव तक पहुँचने वाली प्रतिक्षण निर्मल पर्याय प्रगट होती है। पहले यथार्थ स्वरूप का बहुमान करके यदि उसके लक्ष की रुचि को बढ़ाये तो यथार्थता प्रगट हुए विना नहीं रहती।

ज्ञानी राज्यादि के कार्य में लगा हो, वाह्य में बहुत-सी प्रवृत्ति हो तथापि वह आत्मा की यथार्थ प्रतीति होने के कारण स्वभाव की निःसंदेहता में प्रवृत्तमान रहता है। वर्तमान अशक्ति से शुभाशुभ राग में युक्त होता है, तथापि उसे आदरणीय नहीं मानता, पुण्य-पाप की क्रिया में स्वामित्व या कर्तृत्व नहीं मानता। निरावलम्बी अविकारी स्वभाव पर ही उसकी दृष्टि है इसलिये निर्मलता की उत्पत्ति क्रमशः होती रहती है। जिसकी वर्तमान पर्याय पर दृष्टि है, शुभाशुभ विकार में कर्तृत्व की दृष्टि है और जो बाह्यप्रवृत्ति को अपनी मानता है वह भले ही मुनि होकर ध्यान में बैठा हो तथापि उसकी पर में कर्तृत्वबुद्धि होने से प्रतिसमय अशुद्धता की उत्पत्ति और गुण की अवस्था का नाश होता रहता है।

शुभाशुभ विकार के भाव को अपना मानना सो व्यवहारनयाभास है। संपूर्ण आत्मा का लक्ष करना सो प्रमाण है। एक वस्तु को एक पहलू से लक्ष में लेकर दूसरे पहलू को गौण करना सो नय है। अखण्ड-शुद्ध पहलू से देखना सो शुद्धनय-निश्चयनय है, और मलिन अपूर्ण अवस्था के पहलू से देखना सो व्यवहारनय है। यह दोनों नय श्रुत-प्रमाणरूप संपूर्ण ज्ञान के एक-एक अंश-भाग है। सम्यक्श्रुतज्ञान के

द्वारा अवस्था को और त्रिकालपूर्ण स्वभाव को एक साथ ज्ञान में माप लेना सो श्रुतज्ञान है। शुद्धनय भी श्रुतज्ञानप्रमाण का अंश है। श्रुत-प्रमाण परोक्षप्रमाण है, क्योंकि वस्तु को सर्वज्ञ वीतराग के वचनरूप आगम द्वारा जाना है, इसलिये यह शुद्धनय सर्वद्रव्यों से भिन्न, आत्मा की सर्वपर्यायों में व्याप्त पूर्ण चैतन्य केवलज्ञानरूप-सर्वलोकालोक को जानने वाला, असाधारण चैतन्य धर्म को परोक्ष दिखाता है। श्रुतज्ञान में आत्मा प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता किन्तु व्यवहार से वह प्रत्यक्ष का कारण है। शुद्धनय से, स्वाश्रित लक्ष से अविकारी ध्रुव एकाकार स्वभाव को मानना सो सम्यक्दर्शन है।

यह बात समझने योग्य है। एक आत्मा की यथार्थ समझ के बिना अनंतकाल व्यतीत होगया जिसमें पशु नारक आदि के घोरदुःख अनन्तबार भोगे है, अब अनन्तकाल में यह दुर्लभ मनुष्य भव मिला है, मुक्त होने का सुयोग प्राप्त हुआ है इसलिये यथार्थ मनन करना चाहिये। यदि कोई यह कहे कि अभी मेरे पास साधन नहीं है या निवृत्ति नहीं है तो वह झूठा है। यदि सच पूछा जाय तो इसी समय सर्वसुयोग हैं क्योंकि आत्मा वर्तमान में अन्तरंग के सर्वसाधनों से परिपूर्ण है। अन्तरंग साधन से ही सब कुछ होसकता है। देह, मन, वाणी की प्रवृत्तिरूप आत्मा नहीं होगया है, नरक में भयंकर प्रतिकूल-ताओं के संयोग में रहने पर भी आत्मा में कोई प्रतिकूलता नहीं आगई है, ऐसी प्रतीति करके वहाँ भी प्रतिकूलता के संयोग होने पर भी आत्मा शांति भोग सकता है। अनन्त जन्म-मरण का नाश करने वाले यथार्थ सम्यक्दर्शन को प्राप्त करना ही मनुष्य जीवन का वास्तविक कर्तव्य है, यही मोक्ष का बीज है।

शुद्धनय पूर्ण केवलज्ञान स्वरूप को परोक्ष दिखाता है। यदि पहले परोक्ष प्रतीति न करे तो प्रत्यक्ष प्रतीति भी न हो। जो यह कहता है कि जो कुछ अपनी आँखों से देखा जाय वही मानना चाहिये तो वह नास्तिक है। अनुभव से तो प्रत्यक्ष है ऐसा ज्ञानी कहते हैं; किन्तु जो

यह कहता है कि मैं तो साक्षात् प्रत्यक्ष होने पर ही मानूँगा तो वह नास्तिक ही है, क्योंकि पूर्ण प्रत्यक्ष होने के बाद मानने को क्या शेष रह जाता है।

इस समयसार शास्त्र में किसी वस्तु का स्वभाव शेष नहीं है। "ग्रंथाधिराज तुझमें है भाव ब्रह्माण्ड के भरे"। विश्व की जितनी विपरीत मान्यताएँ है वे सब और स्वभाव की ओर की अनुकूल बाजू एवं तत्सम्बन्धी संपूर्ण प्रश्नों का स्पष्टीकरण इस महान् ग्रन्थ में है। धैर्य-पूर्वक अपूर्व पात्रता के द्वारा सुने, क्रमशः श्रवण-मनन की पद्धति से अभ्यास करे तो कुछ कठिन नहीं है। इस समय तो लोगों ने बाह्य-क्रिया में और पुण्य-पाप की प्रवृत्ति में धर्म मानकर और मनवाकर वीत-राग के शासन को छिन्न-भिन्न कर डाला है, और समयसार में अन्तरंग तत्व की जो प्राथमिक बात सम्यक्‌दर्शन सम्बन्धी कही है उसे उच्च भूमिका की बात मानते—मनवाते हैं; इसलिये तटस्थ भाव से विचार करना चाहिये।

प्रश्न:—जब यह सब बुद्धि में जमेगा तभी तो माना

उत्तर:—किसी साहूकार के यहाँ पचासहजार रुपया व्याज पर रखना हो और वहाँ जाकर वह उस साहूकार से कहे कि पहले यह बताइये कि आपके पास कितनी जायदाद है, तथा उसके लिये अपने वही—खाते भी दिखाओ, साथ ही यह भी कहे कि अपने घर के गहने आदि भी दिखाओ एवं अपनी प्रतिष्ठा का भी प्रमाण दो; तभी मैं आपके यहाँ अपने रुपये व्याज पर रखूँगा। ऐसा कहने वाले को साहूकार स्पष्ट सुना देगा कि मुझे तेरे रुपयो कि आवश्यक्ता नहीं है, तू अपना रास्ता नाप। यदि उस साहूकार के मुनीम से पूछा जाये तो वह भी कहेगा कि सब कुछ नहीं बताया जासकता, किन्तु तू स्वयं आकर दुकान पर बैठ, यह देखकर प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में स्वतः जान-कारी करले कि यहाँ हुँडिया कैसी चल रही है; इसप्रकार कुछ दिन

परिचय करके जानले, इसके बाद यदि तुम्हे स्वयं विश्वास आये तो रुपये जमा करा देना। इसके बाद ऐसा करने पर जब विश्वास जमता है तो रुपया जमा कराता है; तथापि संसार के विश्वास में कहीं अंतर पड़ सकता है, किन्तु परमार्थ में सत् में से सत् ही आता है, उसमें अंतर नहीं पड़ता। किसी की ऋद्धि अपनी आँखों से देखकर ही विश्वास करूँगा ऐसा कभी नही बनता; उसीप्रकार आत्मा में कितनी ऋद्धि भरी हुई है यह दिखाओ तभी मानूँगा, तो ऐसा कभी नही होसकता। किन्तु विचार करे कि जो वस्तु है सो नित्य है, ज्ञातास्वभाव को कोई नहीं रोक सकता, कोई नहीं देसकता इसलिए स्वभाव स्वतंत्र है। जिसका स्वभाव सतत् जाननेरूप है वह अपूर्ण, हीन अथवा पर में अटकने वाला नहीं होसकता यही निश्चित् होसकता है। ज्ञायकरूप से अरूपी आत्मा और उसका अरूपी ज्ञान परोक्षप्रमाण से बराबर जाना जासकता है। जिनके अल्प और अपूर्ण अवस्था या विकार नहीं है वे पूर्ण केवलज्ञानी ही है ऐसा निर्णय करना चाहे तो निश्चय होसकता है। इसलिये सत्-समागम में रहकर परिचय करके ध्यान रखकर सुनना चाहिये और अंतरंग से समझना चाहिये।

जो वस्तु नित्य है उसमें पूर्ण स्वाधीन शक्ति भरी हुई है। यदि स्वाधीनतया पूर्णशक्ति न हो तो वह वस्तु ही नहीं है। जो 'है' उसे 'नहीं' कैसे कहा जासकता है? जो 'है' सो स्वाधीन है, उसे पराधीन कैसे कहा जासकता है? स्वयं नित्य जैसा है वैसा अपने को जानना चाहिये और पररूप से–उपाधिरूप से नहीं है ऐसा जानना चाहिये। इसप्रकार त्रिकाल पूर्ण एकत्व का निर्णय करके अल्पज्ञान में पूर्ण ज्ञान की श्रद्धा करे तो प्रत्यक्ष केवलज्ञानी होसकता है।

जैसे साहूकार की पेढ़ी में हुँडियों के लेन–देन में किसी प्रकार का कोई विरोध न देखे तो फिर उसके घर की सब बात जानने से पूर्व ही उसका विश्वास कर लिया जाता है, इसीप्रकार केवलज्ञानी के वचनो के अविरोधी न्यायरूप आगम का सत् समागम के द्वारा परिचय करके,

श्रवण करके निज को अविरोधी तत्व का जो एक न्याय जम जाता है उसे अपने आत्मा में परिपूर्ण विश्वास होता है। वह श्रुतज्ञानप्रमाण परोक्ष है तथापि प्रत्यक्ष स्वभाव की प्राप्ति का कारण है, यह जानकर छद्मस्थ-मतिश्रुतज्ञानी जीव वीतराग द्वारा कथित आगम को प्रमाण करके, शुद्धनय से ज्ञात अविकारी पूर्ण आत्मा का श्रद्धान करता है सो निश्चय-सम्यक्दर्शन है।

जहाँतक केवल (मात्र) व्यवहारनय के विषयभूत नवतत्व के विचार में जीव रुकता है वहाँतक सम्यक्दर्शन नही होता। निमित्ताधीन अवस्था में शुभाशुभ विकारीभाव के द्वारा मुझे गुण प्राप्त होगा ऐसा माने, अथवा नवतत्व के शुभराग को अपना माने तो उससे मिथ्यादृष्टिता दूर नही होती। सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि जितने शुभाशुभ भाव है वे सब व्यवहार के पक्ष में जाते हैं। पश्चात् उन नवतत्वों की श्रद्धा हो तो भी वह केवल व्यवहार का पक्ष होने से वहाँ मिथ्यादृष्टि ही है। पूर्ण-स्वभाव की यथार्थ श्रद्धा के बाद धर्मात्मा को जहाँ स्थिर नहीं होसकता वहाँ नवतत्व के विचार की शुभवृत्ति उत्पन्न होती है किन्तु उसे उसका अंतरग से आदर नही होता। इसलिये आचार्यदेव ने कहा है कि नव-तत्वों की परिपाटी को छोड़कर शुद्धनय का विषयभूत एक आत्मा ही हमें प्राप्त हो, हम दूसरा कुछ नहीं चाहते। यह वीतराग अवस्था की प्रार्थना है, कोइ नयपक्ष नहीं है। यदि सर्वथा नयों का पक्षपात ही हुआ करे तो मिथ्यात्व ही है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि आत्मा चैतन्य है, इतना ही अनुभव में आये तो इतनी श्रद्धा सम्यक्दर्शन है या नहीं? इतना सब समझने का कष्ट क्यों किया जाय? दो अपेक्षाओं का ज्ञान करना, और फिर प्रमाण करना, और उसमें भी अवस्थादृष्टि को गौण करना एवं निश्चय-दृष्टि को मुख्य करना, इतना सब समझने की अपेक्षा 'आत्मा चैतन्य है' इतना मानने में निर्मलता की उत्पत्ति और मलिन अवस्था का नाश करने वाला सम्यग्दर्शन आया या नहीं?

समाधानः—नास्तिक मतावलंबियों के अतिरिक्त सभी आत्मा को चैतन्य मानते हैं; यदि इतनी ही श्रद्धा को सम्यक्‌दर्शन कहा जाये तो सभी को सम्यक्त्व सिद्ध होजायेगा। सर्वज्ञ वीतराग ने तीनकाल और तीनलोक का यथार्थ स्वरूप अपने ज्ञान से साक्षात् जानकर आत्मा को जैसा स्वतंत्र पूर्ण स्वरूप कहा है वैसा ही सत्समागम से जानकर स्वभाव से निश्चय करके वैसा ही श्रद्धान करने से यथार्थ सम्यक्त्व होता है। सर्वज्ञ के ज्ञान को स्वीकार करने वाले ने यह निश्चय किया है कि अल्पज्ञ जीव अपूर्ण अवस्था के समय भी सर्वज्ञ परमात्मा के रूप में पूर्ण होने की शक्ति वाले हैं, मेरे ज्ञानगुण की एकसमय की अवस्था में तीनकाल और तीनलोक को एकही साथ जानने की अपारशक्ति है। पूर्ण को स्वीकार करने वाला प्रतिसमय पूर्णतक पहुँचने की शक्ति रखता है। परोक्षज्ञान में भी यथार्थ निर्णय आये कि यह वस्तु वर्तमान में भी स्वतंत्र त्रिकाल अखण्ड अविकारीरूप से परिपूर्ण है, इसप्रकार शुद्धनय से जानना सो निश्चयसम्यक्त्व होने का कारण है।

किन्तु जिसे यही खबर नहीं है कि सर्वज्ञ वीतराग कौन हैं, उन्होंने क्या कहा है, सच्चे नवतत्व और देव-गुरु-शास्त्र का स्वरूप क्या है, उसकी तो वात ही क्या की जाये? यदि सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा के यथार्थ स्वरूप को जाने तो उनके कहे हुए को स्वयं यथार्थ समझे और जाने। जैसा सर्वज्ञ भगवान का पूर्ण स्वभाव है वैसा ही परमार्थ से प्रत्येक आत्मा का स्वभाव है। ऐसी श्रद्धा शुद्धनय के आश्रय से होती है। यह वात चौथे श्लोक में टीकाकार आचार्य ने कही है:—

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्।
नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुंचति ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् शुद्धनयाधीन जो सर्व परद्रव्यों से भिन्न, पर-निमित्त के विकारी भावों से भिन्न तथा मन के विकल्पों से परे ऐसी चैतन्य-

चमत्कार मात्र आत्मज्योति है सो प्रगट होती है, जोकि वर्तमान अवस्था में नवतत्वों के विकल्पों में व्यवहार से अटकने पर अनेकप्रकार से दिखाई देती है, तथापि शुद्धनय से देखने पर अपने एकरूप ध्रुवस्वभाव को नहीं छोड़ती। इसप्रकार आत्मा को परिपूर्ण माने और न्याय से बराबर जानकर शुद्धनय के द्वारा पूर्णस्वभाव की श्रद्धा करे तो विकार का नाश, निर्मल अवस्था की उत्पत्ति और अल्पकाल में मोक्ष को प्रगट करने का सच्चा कारणभूत निश्चय-सम्यक्दर्शन प्रगट होता है।

श्री पाटनी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला

प्रकाशित ग्रन्थ

१. अनुभव प्रकाश [अजिल्द, पृष्ठ ११६ पुस्तकाकार] मूल्य ।=)

२. स्तोत्रत्रयी सार्थ [कल्याणमंदिर, विषापहार, जिन चतुर्विंशति का सार्थ] अजिल्द पृष्ठ ८० मूल्य ॥)

३. निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध क्या है ? ,, =)॥

४. आत्मावलोकन [पृष्ठ २२६ सजिल्द पुस्तकाकार] ,, १॥)

५. चिद्विलास [अनुभव प्रकाश के कर्ता शाह पं. दीपचन्दजी कृत] प्रेस में

६. श्री प्रवचनसार सटीक [श्री अमृतचंद्राचार्य की टीका, उसकी अक्षरशः नवीन टीका तथा जयसेनाचार्य कृत संस्कृत टीका के साथ] प्रेस कापी एवं संशोधन में

७. श्री समयसार सटीक [श्री अमृतचन्द्राचार्य की टीका उस पर पं. जयचन्दजी छावडा के आश्रय से नवीन हिन्दी टीका, एवं श्री जयसेनाचार्यकृत संस्कृत टीका के साथ] प्रेस कापी एवं संशोधन में

८. अध्यात्म पाठ संग्रह [भक्ति, वैराग्य, अध्यात्म एवं तत्वज्ञान के स्तोत्र तथा पाठ आदि का अपूर्व संग्रह] संकलन एवं प्रेस कापी में

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त ५ ग्रन्थ और प्रकाशित होचुके हैं जो अब अप्राप्य हैं।

: पुस्तकें मिलने का पता :

श्री पाटनी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला

मारोठ : मारवाड़

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ : सौराष्ट्र